ॐ

श्री–महर्षि--व्यास--प्रणीत

महाभारत ।

(१४) आश्वमेधिकपर्व ।

(भाषाभाष्यसमेत ।)

संपादक और प्रकाशक ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

संवत् १९८९,
शक १८५४,
सन १९३२.

ब्रह्म और मृत्यु।

ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ।
ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ ॥
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ।

म० भा० आश्वमेधिकपर्व अ० १३।३-४

"ममत्व" की कल्पना मृत्यु है और "मेरा नहीं" यह कल्पना अमरत्व देनेवाली है। (अर्थात् अहंकार मृत्यु है और अहंकाररहित बनना अमर होना है।) इस तरह अपनेहि अन्दर मृत्यु और ब्रह्मस्थिति विद्यमान है। ये अपने अन्दर अदृश्य रूपसे रहते हुए निःसन्देह भूतमात्रको परस्पर लडाते हैं।

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्यायमंडल, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

ॐ

श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम्

महाभारतम् ।

१४ आश्वमेधिकपर्व ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ श्रीवेदव्यासाय नमः ॥

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच- कृतोदकं तु राजानं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ।
पुरस्कृत्य महाबाहुरुत्ततााराकुलेन्द्रियः ॥ २ ॥
उत्तीर्य तु महाबाहुर्बाष्पव्याकुललोचनः ।
पपात तीरे गङ्गाया व्याधविद्ध इव द्विपः ॥ ३ ॥
तं सीदमानं जग्राह भीमः कृष्णेन चोदितः ।
मैवमित्यब्रवीचैनं कृष्णः परबलार्दनः ॥ ४ ॥
तमार्तं पतितं भूमौ श्वसन्तं च पुनः पुनः ।
ददृशुः पार्थिवा राजन्धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

नारायण, पुरुषोत्तम नर और सरस्वती देवीको नमस्कार करके जयजयकार करे । (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाबाहु युधिष्ठिर कृततर्पण राजा धृतराष्ट्रको आगे करके व्याकुलचित्तसे गङ्गासे बाहर हुए । वह आंसू डबडबाये हुए नेत्रसे गङ्गासे उत्तीर्ण होकर व्याधके द्वारा विद्ध हाथीकी भांति तटपर गिर पड़े । अनन्तर कृष्णकी आज्ञानुसार भीमने उस अवसन्न युधिष्ठिरको पकड़ा और परबलपीडक कृष्णने युधिष्ठिरसे कहा,

तं दृष्ट्वा दीनमनसं गतसत्त्वं नरेश्वरम् ।
भूयः शोकसमाविष्टाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥ ६ ॥
राजा तु धृतराष्ट्रश्च पुत्रशोकाभिपीडितः ।
वाक्यमाह महाबुद्धिः प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरम् ॥ ७ ॥
उत्तिष्ठ कुरुशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।
क्षत्रधर्मेण कौन्तेय जितेयमवनी त्वया ॥ ८ ॥
भुङ्क्ष्व भोगान्भ्रातृभिश्च सुहृद्भिश्च मनोनुगान् ।
शोचितव्यं न पश्यामि त्वया धर्मभृतां वर ॥ ९ ॥
शोचितव्यं मया चैव गान्धार्या च महीपते ।
ययोः पुत्रशतं नष्टं स्वप्नलब्धं यथा धनम् ॥ १० ॥
अश्रुत्वा हितकामस्य विदुरस्य महात्मनः ।
वाक्यानि सुमहार्थानि परितप्यामि दुर्मतिः ॥ ११ ॥
उक्तवान्विदुरो यन्मां धर्मात्मा दिव्यदर्शनः ।
दुर्योधनापराधेन कुलं ते विनशिष्यति ॥ १२ ॥
स्वस्ति चेदिच्छसे राजन्कुलस्य कुरु मे वचः ।

कि "आप ऐसा न करिये।" हे महाराज! उस समय पाण्डवगण उस नरनाथ धर्मपुत्र युधिष्ठिरको भूतलशायी, शोकार्त, दीनचित्त, ज्ञानरहित और लम्बी सांस छोडते हुए देखकर अत्यन्त शोकयुक्त होके बैठ गये। (२—६)

अनन्तर पुत्रशोकसे सन्तापित प्रज्ञाचक्षु महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र नरनाथ युधिष्ठिरसे बोले। हे कुरुशार्दूल! तुम उठके इसके अनन्तर कर्तव्य कर्मोंको सम्पादन करो। हे कुन्तीनन्दन! तुमने क्षत्रियधर्मके अनुसार इस पृथ्वीको जीता है, इसलिये सुहृदों और भाइयोंके सहित इसे भोग करो। हे धार्मिकश्रेष्ठ! इस समय शोक करना उचित नहीं है, क्यों कि तुम्हारे लिये शोकका कारण कुछ भी नहीं देखता हूं। हे महीपाल! सपनेमें मिले हुए धनकी भांति जिनके एक सौ पुत्र नष्ट हुए हैं, उस गान्धारी और मुझे ही शोक करना उचित है। हे महाराज! मैंने दुर्बुद्धिके वशमें होकर महात्मा हितैषी विदुरके महत् अर्थयुक्त वचनको न सुननेसे इस समय परितापित होता हूं। (७-११)

दिव्यदर्शी महात्मा विदुरने मुझसे कहा था, "हे महाराज! दुर्योधनके अपराधसे ही आपका श्रेष्ठ कुल नष्ट होगा। यदि आप अपने कुलका कुशल

वध्यतामेष दुष्टात्मा मन्दो राजा सुयोधनः ॥ १३ ॥
कर्णश्च शकुनिश्चैव नैनं पश्यतु कर्हिचित् ।
द्यूतसंघातमप्येषामप्रमादेन वारय ॥ १४ ॥
अभिषेचय राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
स पालयिष्यति वशी धर्मेण पृथिवीमिमाम् ॥ १५ ॥
अथ नेच्छसि राजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
मेढीभूतः स्वयं राज्यं प्रतिगृह्णीष्व पार्थिव ॥ १६ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु वर्तमानं नराधिप ।
अनुजीवन्तु सर्वे त्वां ज्ञातयो भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥
एवं ब्रुवति कौन्तेय विदुरे दीर्घदर्शिनि ।
दुर्योधनमहं पापमन्ववर्तं वृथामतिः ॥ १८ ॥
अश्रुत्वा तस्य धीरस्य वाक्यानि मधुराण्यहम् ।
फलं प्राप्य महद्दुःखं निमग्नः शोकसागरे ॥ १९ ॥
वृद्धौ हि तेऽद्य पितरौ पश्य नौ दुःखितौ नृप ।
न शोचितव्यं भवता पश्यामीह जनाधिप ॥ २० ॥

इति श्रीम० शत० संहि० वैया० आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधिके पर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

चाहते हैं, तो मेरे वचनके अनुसार इस दुष्टात्मा मन्दबुद्धि राजा दुर्योधनको परित्याग करिये। जिस प्रकार कर्ण तथा शकुनिके सङ्ग इसकी भेंट न हो और अप्रमादमें इनकी द्यूतक्रीडा निवारित होवे, उसहीका विधान करिये। हे राजन्! धर्मात्मा युधिष्ठिरको ही राज्यपर अभिषिक्त करिये, वह चित्तको वशमें करनेवाला धर्मपुत्र राज्यपर अभिषिक्त होनेसे धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करेगा। अथवा यदि उस कुन्तीपुत्रको राज्यपर अभिषिक्त करनेके लिये आपकी एक बारही इच्छा न हो, तो आप मध्यस्थ होकर स्वयं राज्य ग्रहण करिये। हे ज्ञातिवर्धन नरनाथ! जब आप सब प्राणियोंके विषयमें समभावसे विद्यमान रहके राज्यपालन करोगे, तो स्वजन-वृन्द आपका आसरा करके जीविका निर्वाह करेंगे। (१२-१७)

हे कुन्तीनन्दन! दीर्घदर्शी महात्मा विदुरके ऐसा कहनेपर भी मैं दुर्बुद्धिके वशमें होकर उनके वचनको न मानके पापात्मा दुर्योधनका अनुवर्ती हुआ था। उस धीरवर विदुरके मधुर वचनको टालनेसे ही यह फल पाके महादुःखरूपी शोक-समुद्रमें डूबा हूं। हे प्रजानाथ!

वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तस्तु राज्ञा स धृतराष्ट्रेण धीमता।
तूष्णीं बभूव मेधावी तमुवाचाथ केशवः ॥ १ ॥
अतीव मनसा शोकः क्रियमाणो जनाधिप।
सन्तापयति चैतस्य पूर्वप्रेतान्पितामहान् ॥ २ ॥
यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः।
देवांस्तर्पय सोमेन स्वधया च पितॄनपि ॥ ३ ॥
अतिथीनन्नपानेन कामैरन्यैरकिंचनान्।
विदितं वेदितव्यं ते कर्तव्यमपि ते कृतम् ॥ ४ ॥
श्रुताश्च राजधर्मास्ते भीष्माद्भागीरथीसुतात्।
कृष्णद्वैपायनाच्चैव नारदाद्विदुरात्तथा ॥ ५ ॥
नेमामर्हसि मूढानां वृत्तिं त्वमनुवर्तितुम्।
पितृपैतामहं वृत्तमास्थाय धुरमुद्वह ॥ ६ ॥
युक्तं हि यशसा क्षात्रं स्वर्गं प्राप्तुमसंशयम्।

तुम इन दुःखित वृद्ध पिता माताकी ओर देखो, इस समय तुम्हारे शोकका विषय कुछ भी नहीं दीखता है।(१८-२०)

आश्वमेधिकपर्वमें १ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें २ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, मेधावी युधिष्ठिर बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रका ऐसा वचन सुनके जब मौनभावसे ही स्थित रहे, तब श्रीकृष्णचन्द्रने उनसे कहा। हे प्रजानाथ! जो मन ही मन अत्यन्त शोक करता है, उसके प्रेतीभूत पूर्वपितामहगण अधिक सन्तापित होते हैं; इसलिये आप शोक परित्याग करके दक्षिणायुक्त विविध यज्ञोंका अनुष्ठान कर देवताओंका विधिपूर्वक पूजन और सोमके सहारे तर्पण करके स्वधामन्त्रोंसे पितरोंको तृप्त करिये। हे महाराज! इस समय आपके सदृश महाप्राज्ञ पुरुषको अन्न और जलसे अतिथियों तथा अन्य प्रकारकी कामनासे दरिद्र मनुष्योंके मनकी अभिलाषको पूरा करना ही उचित है, इस प्रकार मुग्ध होना योग्य नहीं है। हे महाराज! आपने गङ्गानन्दन भीष्म, कृष्णद्वैपायन व्यास, नारद और विदुरके निकट सब जानने योग्य कर्तव्य विषयोंको जाना तथा समस्त राजधर्म सुना है, इसलिये आपको इस प्रकार मूढवृत्तिका अनुवर्ती होना उचित नहीं है, आप पितृ-पितामहकी वृत्ति अवलम्बन करके राज्यका भार उठाइये। देखिये, क्षत्रियोंके यशस्वरूप क्षत्रधर्म युद्धके सहारे जो स्वर्गलाभ होना उचित

न हि कश्चिद्धि शूराणां निहतोऽत्र पराङ्मुखः ॥ ७ ॥
त्यज शोकं महाराज भवितव्यं हि तत्तथा ।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं त्वया येऽस्मिन् रणे हताः ॥ ८ ॥
एतावदुक्त्वा गोविन्दो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
विरराम महातेजास्तमुवाच युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच– गोविन्द मयि या प्रीतिस्तव सा विदिता मम ।
सौहृदेन तथा प्रेम्णा सदा मय्यनुकम्पसे ॥ १० ॥
प्रियं तु मे स्यात्सुमहत्कृतं चक्रगदाधर ।
श्रीमन्प्रीतेन मनसा सर्वं यादवनन्दन ॥ ११ ॥
यदि मामनुजानीयाद्भवान्गन्तुं तपोवनम् ।
न हि शान्तिं प्रपश्यामि पातयित्वा पितामहम् ॥ १२ ॥
कर्णं च पुरुषव्याघ्रं संग्रामेष्वपलायिनम् ।
कर्मणा येन मुच्येयमस्मात्क्रूरादरिन्दम ॥ १३ ॥
कर्मणा तद्विधत्स्वेह येन शुध्यति मे मनः ।
तमेवंवादिनं पार्थं व्यासः प्रोवाच धर्मवित् ॥ १४ ॥
सान्त्वयन्सुमहातेजाः शुभं वचनमर्थवत् ।

है, उन लोगोंके विषयमें वैसा ही हुआ है, क्यों कि कोई शूर युद्धमें पराङ्मुख होके नहीं मरे । हे महाराज ! जो होनहार था, वही हुआ है, इस विषयमें आप अब शोक न करिये, शोक परित्याग करिये; आपने जिन्हें संहार किया है, उन्हें फिर कदापि न देखेंगे । (१—८)

हे महाराज ! जब गोविन्द धर्मराज युधिष्ठिरसे ऐसा कहके विरत हुए, तब महातेजस्वी युधिष्ठिर उनसे कहने लगे । युधिष्ठिर बोले, हे गोविन्द ! मुझपर तुम्हारी जैसी प्रीति विद्यमान है और प्रेम तथा सुहृदताके सहित तुमने जो मेरे विषयमें अनुकम्पा की है, वह सब मुझे विदित है । हे श्रीमान् चक्रगदाधारी ! अब यदि तुम मुझे सन्तुष्टचित्तसे तपोवनमें जानेके लिये आज्ञा दो, तो तुम्हारे द्वारा मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य सिद्ध होगा । संग्राममें अपराङ्मुख पुरुषश्रेष्ठ कर्ण और भीष्म पितामहको मारके तपोवनमें जानेके अतिरिक्त किसी प्रकारसे भी मैं शोकशान्तिका उपाय नहीं देखता हूं । हे जनार्दन ! जिस कार्यके करनेसे मैं इस पापसे छूटूं और मेरा चित्त पवित्र हो, तुम उसहीका विधान करो । (९-१४)

अकृता ते मतिस्तात पुनर्बाल्येन मुह्यसे ॥ १५ ॥
किमाकारा वयं तात प्रलपामो मुहुर्मुहुः ।
विदिता क्षत्रधर्मास्ते येषां युद्धेन जीविका ॥ १६ ॥
तथा प्रवृत्तो नृपतिर्नाधिबन्धेन युज्यसे ।
मोक्षधर्माश्च निखिला याथातथ्येन ते श्रुताः ॥ १७ ॥
असकृच्चापि संदेहाश्छिन्नास्ते कामजा मया ।
अश्रद्दधानो दुर्मेधा लुप्तस्मृतिरसि ध्रुवम् ॥ १८ ॥
मैवं भव न ते युक्तमिदमज्ञानमीदृशम् ।
प्रायश्चित्तानि सर्वाणि विदितानि च तेऽनघ ॥ १९ ॥
राजधर्माश्च ते सर्वे दानधर्माश्च ते श्रुताः ।
स कथं सर्वधर्मज्ञः सर्वागमविशारदः ।
परिमुह्यसि भूयस्त्वमज्ञानादिव भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधिके पर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

जब पृथापुत्र युधिष्ठिरने श्रीकृष्णचन्द्रसे ऐसा वचन कहा, तब महातेजस्वी धर्मज्ञ व्यासदेव उन्हें धीरज देते हुए अर्थयुक्त कल्याणकारी वचन कहने लगे। हे तात! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त ही अपरिपक्व है, तुम बारबार बाल्यस्वभावसे ही मुग्ध होते हो; क्या हम लोग उन्मत्तकी भांति बार बार आकाशसे वचन कहेंगे? जिनकी युद्धसे जीविका निभती है, उन क्षत्रियोंको सब धर्म विदित हुए हैं। जो राजा न्यायपूर्वक कार्य करता है, उसे आधिरूपी बन्धनमें बद्ध नहीं होना पडता, तुमने इसे भी जाना और निखिल मोक्षधर्म यथार्थ रीतिसे सुना है, तथा मैंने भी अनेक बार तुम्हारे कामज सन्देहोंको दूर किया है। तुम दुर्बुद्धिके वशमें होकर हम लोगोंके वचनमें श्रद्धा नहीं करते हो, तुम्हारी स्मरणशक्ति निश्चयही लुप्त होगई है, तुम्हें ऐसा न होना चाहिये; तुम्हारे लिये ऐसा अज्ञान अयुक्त है। हे पापरहित! तुम्हें सब प्रायश्चित्त विदित हैं, तुमने राजधर्म और दानधर्म सुना है, इसलिये सब प्रकारके धर्मोंको अच्छी तरह जानके तथा वेदादि सर्व शास्त्रोंमें विशारद होनेपर भी किस निमित्त बारबार अज्ञानकी भांति मोहित होते हो? (१४—२०)

आश्वमेधिकपर्वमें २ अध्याय समाप्त।

व्यास उवाच— युधिष्ठिर तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः ।
न हि कश्चित्स्वयं मर्त्यः स्ववशः कुरुते क्रियाम् ॥ १ ॥
ईश्वरेण च युक्तोऽयं साध्वसाधु च मानवः ।
करोति पुरुषः कर्म तत्र का परिदेवना ॥ २ ॥
आत्मानं मन्यसे चाथ पापकर्माणमन्ततः ।
शृणु तत्र यथा पापमपकृष्येत भारत ॥ ३ ॥
तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिर ।
तरन्ति नित्यं पुरुषा ये स्म पापानि कुर्वते ॥ ४ ॥
यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिप ।
पूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृतकारिणः ॥ ५ ॥
असुराश्च सुराश्चैव पुण्यहेतोर्मखक्रियाम् ।
प्रयतन्ते महात्मानस्तस्माद्यज्ञाः परायणम् ॥ ६ ॥
यज्ञैरेव महात्मानो बभूवुरधिकाः सुराः ।
ततो देवाः क्रियावन्तो दानवानभ्यधर्षयन् ॥ ७ ॥
राजसूयाश्वमेधौ च सर्वमेधं च भारत ।
नरमेधं च नृपते त्वमाहर युधिष्ठिर ॥ ८ ॥
यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता ।
बहुकामान्नवित्तेन रामो दाशरथिर्यथा ॥ ९ ॥

आश्वमेधिकपर्वमें ३ अध्याय ।

व्यासदेव बोले, हे युधिष्ठिर ! मुझे बोध होता है, कि तुम्हारी बुद्धि प्रखर नहीं है, क्यों कि कोई मनुष्य भी स्वयं स्ववश होके कार्य नहीं करता । हे नृप ! पुरुष ईश्वरकी प्रेरणासे जो उत्तम वा अधम कार्य करता है, उसमें क्या परिदेवना है ? हे भारत ! यदि तुम निश्चय ही अपनेको पापी समझते हो, तो जिस प्रकार पाप छूटता है, उसे सुनो । हे युधिष्ठिर ! मनुष्य लोग सदा बहुतसे पापकर्म करके तपस्या, यज्ञ और दानके सहारे उनसे मुक्त हो सकते हैं । हे नरेन्द्रनाथ ! पापी मनुष्य यज्ञ, तपस्या और दानसे ही पवित्र हुआ करते हैं; महात्मा देववृन्द और असुर लोग भी पुण्यके लिये यज्ञकार्यमें समधिक यत्न करते हैं; इस ही निमित्त यज्ञ श्रेष्ठ अवलंबन हुआ है । महानुभाव देवगण यज्ञके द्वारा ही असुरोंसे अधिक हुए, इसही लिये क्रियावान् देवताओंने दानवोंके दलको धर्षित किया है । हे युधिष्ठिर !

यथा च भरतो राजा दौष्यन्तिः पृथिवीपतिः ।
शाकुन्तलो महावीर्यस्तव पूर्वपितामहः ॥ १० ॥
युधिष्ठिर उवाच– असंशयं वाजिमेधः पावयेत्पृथिवीमपि ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तं त्वं श्रोतुमिहार्हसि ॥ ११ ॥
इमं ज्ञातिवधं कृत्वा सुमहान्तं द्विजोत्तम ।
दानमल्पं न शक्नोमि दातुं वित्तं च नास्ति मे ॥ १२ ॥
न तु बालानिमान्दीनानुत्सहे वसु याचितुम् ।
तथैवार्द्रव्रणान् कृच्छ्रे वर्तमानान्नृपात्मजान् ॥ १३ ॥
स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थं द्विजसत्तम ।
करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायणः ॥ १४ ॥
दुर्योधनापराधेन वसुधायां नराधिपाः ।
प्रनष्टा योजयित्वाऽस्मानकीर्त्या मुनिसत्तम ॥ १५ ॥
दुर्योधनेन पृथिवी क्षयिता वित्तकारणात् ।
कोशश्चापि विशीर्णोऽसौ धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ १६ ॥
पृथिवी दक्षिणा चात्र विधिः प्रथमकल्पितः ।

इसलिये दशरथ–पुत्र रामकी भांति तुम राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध और नरमेध यज्ञ करो, तथा विधिपूर्वक दक्षिणायुक्त बहुकाम अन्न और वित्तसमन्वित अश्वमेध यज्ञ करो। तुम्हारे पितामह दुष्यन्त-पुत्र शकुन्तलानन्दन महावीर पृथ्वीपति राजा भरतने इस ही प्रकार सब यज्ञ किये। (१—१०)

युधिष्ठिर बोले, अश्वमेध यज्ञ निःसन्देह पृथिवीको पवित्र करता है, परन्तु इस विषयमें मेरा जो अभिप्राय है, उसे भी आपको सुनना उचित है। हे द्विजोत्तम! मैं यह महत् स्वजनवध करके अल्प दान न कर सकूंगा और बहुत दान करनेके लिये भी मेरे पास धन नहीं है, तथा मैं इन आर्द्रघावयुक्त अत्यन्त कष्टसे वर्तमान राजपुत्रोंके निकट धन मांगनेका उत्साह नहीं कर सकता। हे द्विजसत्तम! मैं स्वयं पृथ्वीका विनाश करके यज्ञके लिये फिर किस प्रकार कर लूंगा? हे मुनिसत्तम! दुर्योधनने ही हमें अकीर्तिकर कार्यमें नियुक्त किया है और उसके अपराधसे ही पृथ्वीके सब राजा मारे गये हैं। उस धृतराष्ट्रपुत्र नीचबुद्धि दुर्योधनने धनलोभसे पृथ्वी क्षय की है और उसका कोष भी विशीर्ण होगया है। इससे इस यज्ञमें पृथ्वी दक्षिणा ही प्रथम कल्प है, यही

विद्वद्भिः परिदृष्टोयं शिष्टो विधिविपर्ययः ॥ १७ ॥
न च प्रतिनिधिं कर्तुं चिकीर्षामि तपोधन ।
अत्र मे भगवन्सम्यक्साचिव्यं कर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥
एवमुक्तस्तु पार्थेन कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
मुहूर्तमनुसंचिन्त्य धर्मराजानमब्रवीत् ॥ १९ ॥
कोशश्चापि विशीर्णोऽयं परिपूर्णो भविष्यति ।
विद्यते द्रविणं पार्थ गिरौ हिमवति स्थितम् ॥ २० ॥
उत्सृष्टं ब्राह्मणैर्यज्ञे मरुत्तस्य महात्मनः ।
तदानयस्व कौन्तेय पर्याप्तं तद्भविष्यति ॥ २१ ॥
युधिष्ठिर उवाच- कथं यज्ञे मरुत्तस्य द्रविणं तत्समाचितम् ।
कस्मिंश्च काले स नृपो बभूव वदतां वर ॥ २२ ॥
व्यास उवाच- यदि शुश्रूषसे पार्थ शृणु कारन्धमं नृपम् ।
यस्मिन्काले महावीर्यः स राजाऽऽसीन्महाधनः ॥२३॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अश्वमेधिके पर्वणि संवर्तमरुत्तीये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥
युधिष्ठिर उवाच- शुश्रूषे तस्य धर्मज्ञ राजर्षेः परिकीर्तनम् ।

विधि विद्वान् पण्डितोंके द्वारा परिदृष्ट हुई है, इसमें अन्यथा होनेसे विधिमें विपर्यय हुआ करता है । हे तपोधन ! मैं इस विधिको प्रतिनिधि करनेकी वासना नहीं करता; इसलिये इस विषय-में आपको पूरी रीतिसे मेरा मन्त्रित्व करना उचित है । (११-१८)

उस समय कृष्णद्वैपायन व्यास पृथा-पुत्र युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनकर मुहूर्तभर चिन्तन करके धर्मराजसे कहने लगे । व्यासदेव बोले, हे पार्थ ! जो खजाना खाली हुआ है, वह परिपूर्ण होगा । महात्मा मरुत्तराजके यज्ञकालका ब्राह्मणोंका उत्कृष्ट धन हिमालय पर्वतमें विद्यमान है; उसही धनको मंगाओ, उसीसे पर्याप्त होगा । युधिष्ठिर बोले, हे वक्तृप्रवर ! मरुत्तराजके यज्ञमें किस प्रकार धन सञ्चित हुआ था और वह किस समय राजा हुए थे ? व्यासदेव बोले, हे पार्थ ! वह महाधनशाली महा-वीर जिस समयमें राजा हुए थे, उसे यदि तुम्हें सुननेकी इच्छा है, तो उस कारन्धम राजाका वृत्तान्त सुनो । १९-२३.

आश्वमेधिकपर्वमें ३ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ४ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे धर्मज्ञ ! मैं उस॰

द्वैपायन मरुत्तस्य कथां प्रब्रूहि मेऽनघ ॥ १ ॥

व्यास उवाच– आसीत्कृतयुगे तात मनुर्दण्डधरः प्रभुः ।
तस्य पुत्रो महाबाहुः प्रसंधिरिति विश्रुतः ॥ २ ॥
प्रसन्धेरभवत्पुत्रः क्षुप इत्यभिविश्रुतः ।
क्षुपस्य पुत्र इक्ष्वाकुर्महीपालोऽभवत्प्रभुः ॥ ३ ॥
तस्य पुत्रशतं राजन्नासीत्परमधार्मिकम् ।
तांस्तु सर्वान्महीपालानिक्ष्वाकुरकरोत्प्रभुः ॥ ४ ॥
तेषां ज्येष्ठस्तु विंशोऽभूत्प्रतिमानं धनुष्मताम् ।
विंशस्य पुत्रः कल्याणो विविंशो नाम भारत ॥ ५ ॥
विविंशस्य सुता राजन् बभूवुर्दश पञ्च च ।
सर्वे धनुषि विक्रान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ६ ॥
दानधर्मरताः शान्ताः सततं प्रियवादिनः ।
तेषां ज्येष्ठः खनीनेत्रः स तान्सर्वानपीडयत् ॥ ७ ॥
खनीनेत्रस्तु विक्रान्तो जित्वा राज्यमकण्टकम् ।
नाशकद्रक्षितुं राज्यं नान्वरज्यन्त तं प्रजाः ॥ ८ ॥
तमपास्य च तद्राज्ये तस्य पुत्रं सुवर्चसम् ।
अभ्यषिञ्चन्त राजेन्द्र मुदिता ह्यभवंस्तदा ॥ ९ ॥

राजर्षि मरुत्तका वृत्तांत सुननेकी इच्छा करता हूं; आप मेरे समीप विस्तारपूर्वक उनकी कथा यथार्थ कहिये । (१)

व्यासदेव बोले, हे तात ! सत्ययुगमें मनु नाम प्रजापालक दण्डधारी राजा थे, उनका पुत्र महाबाहु प्रसन्धि नामसे विख्यात हुआ था; प्रसन्धिका पुत्र क्षुप और क्षुपका पुत्र इक्ष्वाकु राजा हुआ था । हे महाराज ! उस महात्मा इक्ष्वाकुके परम धार्मिक एक सौ पुत्र हुए थे, उन्होंने उन एक सौ पुत्रोंको ही महीपाल किया था । धनुर्धारियोंमें मुख्य विंश उनके बीच जेठे थे, विंशका पुत्र परम सुन्दर विविंश हुआ था, विविंशके पन्द्रह पुत्र हुए थे, विविंशके सब पुत्र धनुर्विद्यामें विक्रान्त, ब्रह्मनिष्ठ, सत्यवादी, दानधर्ममें रत, शान्त और सदा प्रियवादी थे । उनमें जेठे खनीनेत्र थे, उन्होंने सबको पीडित किया था । खनीनेत्र अत्यन्त पराक्रमी थे, उन्होंने अकण्टक राज्य जय किया, तोभी प्रजा उनमें अनुरक्त न हुई; इसीसे वे राज्यकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हुए । हे राजेन्द्र! प्रजा उन्हें त्यागके उनके पुत्र सुवर्चाको

स पितुर्विक्रियां दृष्ट्वा राज्यान्निरसनं च तत् ।
नियतो वर्तयामास प्रजाहितचिकीर्षया ॥ १० ॥
ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शुचिः शमदमान्वितः ।
प्रजास्तं चान्वरज्यन्त धर्मनित्यं मनस्विनम् ॥ ११ ॥
तस्य धर्मप्रवृत्तस्य व्यशीर्यत्कोशवाहनम् ।
तं क्षीणकोशं सामन्ताः समन्तात्पर्यपीडयन् ॥ १२ ॥
स पीड्यमानो बहुभिः क्षीणकोशाश्ववाहनः ।
आर्तिमार्च्छत्परां राजा सह भृत्यैः पुरेण च ॥ १३ ॥
न चैनमभिहन्तुं ते शक्नुवन्ति बलक्षये ।
सम्यग्वृत्तो हि राजा स धर्मनित्यो युधिष्ठिर ॥ १४ ॥
यदा तु परमामार्तिं गतोऽसौ सपुरो नृपः ।
ततः प्रदध्मौ स करं प्रादुरासीत्ततो बलम् ॥ १५ ॥
ततस्तानजयत्सर्वान्प्रातिसीमान्नराधिपान् ।
एतस्मात्कारणाद्राजन्विश्रुतः स करंधमः ॥ १६ ॥
तस्य कारन्धमः पुत्रस्त्रेतायुगमुखेऽभवत् ।

राज्यपर अभिषिक्त करके आनन्दित हुई थी । (२—९)

वह सुवर्चा पिताकी विक्रिया तथा राज्यसे उन्हें निर्वासित होते देखकर प्रजासमूहकी हितकामनासे संयत होकर रहता था । प्रजा उस ब्रह्मनिष्ठ, सत्यवादी, पवित्र, शमदमयुक्त, मनस्वी और धार्मिक सुवर्चामें अनुरक्त थी । अनन्तर जब धर्ममें प्रवृत्त सुवर्चाका कोष और वाहन विशीर्ण हुए तब सामन्तगण उन्हें खूब भांतिसे पीडित करने लगे । खजाना, घोडे तथा वाहनोंसे रहित होनेपर वह राजा सामन्तगणोंके द्वारा पीडित होकर सेवकों और पुरजनोंके सहित परम दुःखित हुए थे । हे युधिष्ठिर ! वह सुवर्चा राजा बल नष्ट होनेपर भी सदा धर्ममें प्रवृत्त थे, इसलिये सामन्तगण उन्हें विनष्ट करनेमें समर्थ न हुए । परन्तु जब वह पृथ्वीपति सुवर्चा पुरजनोंके सहित परम पीडा पाने लगे, तब उन्होंने अपना हाथ अग्निमें डालकर उससे बल उत्पन्न किया । अनन्तर उसही सेनाके सहारे उन्होंने निज सीमाके अन्तर्वर्ती सब राजाओंको जय किया था । हे महाराज ! इसही कारण वह करन्धम नामसे विख्यात हुआ था । (१०—१६)

त्रेतायुगके प्रारम्भमें करन्धमके इन्द्र-

इन्द्रादनवरः श्रीमान्देवैरपि सुदुर्जयः ॥ १७ ॥
तस्य सर्वे महीपाला वर्तन्ते स्म वशे तदा ।
स हि सम्राडभूत्तेषां वृत्तेन च बलेन च ॥ १८ ॥
अविक्षिन्नाम धर्मात्मा शौर्येणेन्द्रसमोऽभवत् ।
यज्ञशीलो धर्मरतिर्धृतिमान्संयतेन्द्रियः ॥ १९ ॥
तेजसाऽऽदित्यसदृशः क्षमया पृथिवीसमः ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या हिमवानिव सुस्थिरः ॥ २० ॥
कर्मणा मनसा वाचा दमेन प्रशमेन च ।
मनांस्याराधयामास प्रजानां स महीपतिः ॥ २१ ॥
य ईजे हयमेधानां शतेन विधिवत्प्रभुः ।
याजयामास यं विद्वान्स्वयमेवाङ्गिराः प्रभुः ॥ २२ ॥
तस्य पुत्रोऽतिचक्राम पितरं गुणवत्तया ।
मरुत्तो नाम धर्मज्ञश्चक्रवर्ती महायशाः ॥ २३ ॥
नागायुतसमप्राणः साक्षाद्विष्णुरिवापरः ।
स यक्ष्यमाणो धर्मात्मा शातकुम्भमयान्युत ॥ २४ ॥
कारयामास शुभ्राणि भाजनानि सहस्रशः ।
मेरुं पर्वतमासाद्य हिमवत्पार्श्व उत्तरे ॥ २५ ॥

सदृश श्रीमान् देवताओंसे भी दुर्जय कारन्धम नाम पुत्र हुआ था। उस समयमें उसने बल और वित्तके सहारे सबका सम्राट् होकर सब राजाओंको अपने वशमें किया था। वही कारन्धम अविक्षित नामसे विख्यात हुए थे, वह धर्मात्मा अविक्षित इन्द्रके समान पराक्रमी, यज्ञशील, धर्ममें रत रहनेवाले, धृतिमान्, संयतेन्द्रिय, सूर्यसदृश तेजस्वी, पृथिवीकी भांति क्षमाशील, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् तथा हिमवान्की भांति स्थिर थे। उस पृथ्वीपति अविक्षितने मन, वचन, कर्म, दम और शमके द्वारा प्रजासमूहके चित्तको आनन्दित किया था। जिस प्रभु अविक्षितने एक सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे, विद्वान् अङ्गिराने स्वयं जिसका यज्ञ कराया था, उस अविक्षितके पुत्र धर्मज्ञ चक्रवर्ती दश हजार हाथियोंके सदृश बलवान् साक्षात् द्वितीय विष्णुरूप महायशस्वी मरुत्तने निजगुणोंके सहारे पिताको अतिक्रम किया था। उस धर्मात्मा मरुत्तने यज्ञ करनेके लिये सुवर्णमय सहस्र पात्र सुशोभित किये थे। उन्होंने हिमालयके

काञ्चनः सुमहान्पादस्तत्र कर्म चकार सः ।
ततः कुण्डानि पात्रीश्च पिठराण्यासनानि च ॥ २६ ॥
चक्रुः सुवर्णकर्तारो येषां संख्या न विद्यते ।
तस्यैव च समीपे तु यज्ञवाटो बभूव ह ॥ २७ ॥
ईजे तत्र स धर्मात्मा विधिवत्पृथिवीपतिः ।
मरुत्तः सहितैः सर्वैः प्रजापालैर्नराधिपः ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधिके पर्वणि संवर्तमरुत्तीये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच- कथं वीर्यः समभवत्स राजा वदतां वर ।
कथं च जातरूपेण समयुज्यत स द्विज ॥ १ ॥
क्क च तत्सांप्रतं द्रव्यं भगवन्नवतिष्ठते ।
कथं च शक्यमस्माभिस्तदवाप्तुं तपोधन ॥ २ ॥
व्यास उवाच- असुराश्चैव देवाश्च दक्षस्यासन्प्रजापतेः ।
अपत्यं बहुलं तात संस्पर्धन्त परस्परम् ॥ ३ ॥
तथैवाङ्गिरसः पुत्रौ व्रततुल्यौ बभूवतुः ।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजाः संवर्तश्च तपोधनः ॥ ४ ॥
तावतिस्पर्धिनौ राजन्पृथगास्तां परस्परम् ।

उत्तर भागमें मेरु पर्वत पाके वहीं उत्तम महान् काञ्चनमय प्रत्यन्त पर्वतपर कर्म किया था। वहांपर सुनारोंने असंख्य सुवर्णमय कुण्ड, पात्र और पीठा आसन बनाये थे; उसके समीपमें ही यज्ञवाट था। धर्मात्मा पृथ्वीपति मरुत्तने सब राजाओंके सहित उस ही स्थानमें यज्ञ किया था। (१७—२८)

आश्वमेधिकपर्वमें ४ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ५ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे वाग्मिवर ! वह मरुत्त राजा कैसे वीर्यसम्पन्न थे और किस भांति उन्होंने सुवर्ण सञ्चय किया था ? हे भगवन् ! इस समय वे सब वस्तु कहां है और हमें किस प्रकार मिलेंगी ? (१—२)

वेदव्यास बोले, हे तात ! जैसे दक्ष-प्रजापतिके सुर और असुर बहुतसे पुत्र होकर सदा परस्पर स्पर्धा करते हैं, उसी भांति अङ्गिराके तुल्यव्रतशाली तपोधन संवर्त और बृहत्तेजस्वी बृहस्पति नाम दो पुत्र हुए थे। हे महाराज ! वे दोनों अत्यन्त स्पर्धित होनेसे पृथक् पृथक् स्थानमें रहते थे; परन्तु बृहस्पति

बृहस्पतिः स संवर्तं बाधते स्म पुनः पुनः ॥ ५ ॥
स बाध्यमानः सततं भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत ।
अर्थानुत्सृज्य दिग्वासा वनवासमरोचयत् ॥ ६ ॥
वासवोऽप्यसुरान्सर्वान्विजित्य च निपात्य च ।
इन्द्रत्वं प्राप्य लोकेषु ततो वव्रे पुरोहितम् ॥ ७ ॥
पुत्रमङ्गिरसो ज्येष्ठं विप्रज्येष्ठं बृहस्पतिम् ।
याज्यस्त्वाङ्गिरसः पूर्वमासीद्राजा करंधमः ॥ ८ ॥
वीर्येणाप्रतिमो लोके वृत्तेन च बलेन च ।
शतक्रतुरिवौजस्वी धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ ९ ॥
वाहनं यस्य योधाश्च मित्राणि विविधानि च ।
शयनानि च मुख्यानि महार्हाणि च सर्वशः ॥ १० ॥
ध्यानादेवाभवद्राजन्मुखवातेन सर्वशः ।
स गुणैः पार्थिवान्सर्वान्वशे चक्रे नराधिपः ॥ ११ ॥
संजीव्य कालमिष्टं च सशरीरो दिवं गतः ।
बभूव तस्य पुत्रस्तु ययातिरिव धर्मवित् ॥ १२ ॥
अविक्षिन्नाम शत्रुंजित्स वशे कृतवान्महीम् ।
विक्रमेण गुणैश्चैव पितेवासीत्स पार्थिवः ॥ १३ ॥
तस्य वासवतुल्योऽभून्मरुत्तो नाम वीर्यवान् ।

सदा संवर्तको दुःख देते थे। हे भारत! वह संवर्त जेठे भाई बृहस्पतिके द्वारा सदा पीडित होनेसे दिगम्बर होकर समस्त अर्थ परित्यागकर वनवासकी अभिलाष करके वनमें चले गये। (३–६)

इधर वासवने असुरोंको जय तथा मारके तीनो लोकोंका इन्द्रत्व पाकर अङ्गिराके जेठे पुत्र ब्राह्मणश्रेष्ठ बृहस्पतिको अपना पुरोहित बनाया। जगत्के बीच अप्रतिम बलधिसवीर्यसम्पन्न इन्द्रके समान तेजस्वी संशितव्रती धर्मात्मा राजा कारन्धम पहले अङ्गिराके यजमान थे। उनके यहां अत्यन्त सुन्दर वाहन, बलवान् योद्धा, बुद्धिमान् विविध मित्र और महामूल्यवान् शय्या थी। उन्होंने ध्यानबलसे राजा होकर निज गुणों तथा मुखवायुसे सब राजाओंको वशीभूत किया था। वह निज अभिलषित समय-पर्यन्त जीवित रहके सशरीर स्वर्गमें गये। अनन्तर ययातिकी भांति धर्म जाननेवाले शत्रुञ्जित् अविक्षित नाम उनके पुत्रने पृथ्वीको अपने वशमें करके

पुत्रस्तमनुरक्ताऽभूत्पृथिवी सागराम्बरा ॥ १४ ॥
स्पर्धते स स्म सततं देवराजेन नित्यदा ।
वासवोऽपि मरुत्तेन स्पर्धते पाण्डुनन्दन ॥ १५ ॥
शुचिः स गुणवानासीन्मरुत्तः पृथिवीपतिः ।
यतमानोऽपि यं शक्रो न विशेषयति स्म ह ॥ १६ ॥
सोऽशक्नुवन्विशेषाय समाहूय बृहस्पतिम् ।
उवाचेदं वचो देवैः सहितो हरिवाहनः ॥ १७ ॥
बृहस्पते मरुत्तस्य मा स्म कार्षीः कथंचन ।
दैवं कर्माथ पित्र्यं वा कर्ताऽसि मम चेत्प्रियम् ॥ १८ ॥
अहं हि त्रिषु लोकेषु सुराणां च बृहस्पते ।
इन्द्रत्वं प्राप्तवानेको मरुत्तस्तु महीपतिः ॥ १९ ॥
कथं ह्यमर्त्यं ब्रह्मंस्त्वं याजयित्वा सुराधिपम् ।
याजयेर्मृत्युसंयुक्तं मरुत्तमविशङ्कया ॥ २० ॥
मां वा वृणीष्व भद्रं ते मरुत्तं वा महीपतिम् ।
परित्यज्य मरुत्तं वा यथाजोषं भजस्व माम् ॥ २१ ॥

निज विक्रम और गुणोंके सहारे पिताकी भाँति राज्य किया था। इन्द्रके सदृश वीर्यवान् मरुत्त उनके पुत्र थे; समुद्रके सहित सारी पृथ्वी उनपर अत्यन्त अनुरक्त हुई थी। हे पाण्डुनन्दन! वह पृथ्वीपति मरुत्त देवराजके सङ्ग स्पर्धा करते थे। ऐसा ही नहीं परंतु इन्द्र अनेक यत्न करनेपर भी उस गुणवान् पवित्रचित्तवाले पृथिवीपति मरुत्तसे विशिष्टता लाभ न कर सके। (७-१६)

एक बार हरिवाहन इन्द्रने वैशिष्ट्यलाभमें असमर्थ होकर देवताओंको सङ्ग लेकर बृहस्पतिको आह्वान करके उनसे कहा। हे बृहस्पति! आप यदि मेरे प्रिय कार्य करनेकी इच्छा करते हैं, तो आप किसी प्रकार मरुत्तराजाके देव अथवा पितृकर्म न करने पावेंगे। हे बृहस्पति! देवताओंके बीच मैंने ही तीनों लोकोंका आधिपत्य लाभ किया है; मरुत्त केवल पृथिवीका अधिपति हुआ है। हे ब्रह्मन्! आप अमरणधर्मयुक्त सुरपति इन्द्रका याजन कराके किस प्रकार अशङ्कचित्तसे उस मरणधर्मविशिष्ट राजा मरुत्तका याजन करेंगे? हे बृहस्पति! यदि आप अपना कुशल चाहते हैं, तो केवल मुझे अथवा महीपति मरुत्तको स्वीकार करिये, अथवा मरुत्तको परित्यागके सुखपूर्वक

एवमुक्तः स कौरव्य देवराज्ञा बृहस्पतिः ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य देवराजानमब्रवीत् ॥ २२ ॥
त्वं भूतानामधिपतिस्त्वयि लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
नमुचेर्विश्वरूपस्य निहन्ता त्वं बलस्य च ॥ २३ ॥
त्वमाजहर्थ देवानामेको वीरश्रियं पराम् ।
त्वं बिभर्षि भुवं द्यां च सदैव बलसूदन ॥ २४ ॥
पौरोहित्यं कथं कृत्वा तव देवगणेश्वर ।
याजयेयमहं मर्त्यं मरुत्तं पाकशासन ॥ २५ ॥
समाश्वसिहि देवेन्द्र नाहं मर्त्यस्य कर्हिचित् ।
ग्रहीष्यामि स्रुवं यज्ञे शृणु चेदं वचो मम ॥ २६ ॥
हिरण्यरेता नोष्णः स्यात्परिवर्तेत मेदिनी ।
भासं तु न रविः कुर्यान्न तु सत्यं चलेन्मयि ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच- बृहस्पतिवचः श्रुत्वा शक्रो विगतमत्सरः ।
प्रशस्यैनं विवेशाथ स्वमेव भवनं तदा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अश्वमेधिके पर्वणि संवर्तमरुत्तीये पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

मुझेहि भजिये । (१७—२१)

हे कुरुनन्दन ! बृहस्पति देवराज इन्द्रका ऐसा वचन सुनके मुहूर्तभर सोचकर उनसे बोले, हे बलसूदन ! आप सब प्राणियोंके अधिपति हैं, तुम्हारे ही द्वारा सब लोक प्रतिष्ठित हैं, आपने विश्वरूपनमुचि और बलको नष्ट किया है, आपनेही अकेली देवताओंकी वीरश्री हरण की है और आपही सर्वदा पृथिवी तथा स्वर्गको पालन करते हैं। हे पाकशासन! इसलिये मैं आपका पुरोहित होकर किस प्रकार मनुष्य महीपति मरुत्तका यज्ञ कराऊंगा ? हे देवेंद्र ! आप आश्वासित होइये, आप निश्चयही मेरा यह वचन जान रखिये, कि मैं कभी भी उस मनुष्य मरुत्तके यज्ञमें स्रुवा ग्रहण न करूंगा। यदि हिरण्यरेता अग्निमें उष्णता न रहे, पृथिवी उलट जाय और सूर्य प्रकाशित न हो; तोभी मेरा सत्य विचलित न होगा। (२२—२७)

अनन्तर श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उस समय देवराजने बृहस्पतिका ऐसा वचन सुनके मत्सररहित होकर उनकी प्रशंसा करके निज भवनमें प्रवेश किया। (२८)

आश्वमेधिकपर्वमें ५ अध्याय समाप्त।

व्यास उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादं मरुत्तस्य च धीमतः ॥ १ ॥
देवराजस्य समयं कृतमाङ्गिरसेन ह ।
श्रुत्वा मरुत्तो नृपतिर्यज्ञमाहारयत्परम् ॥ २ ॥
संकल्प्य मनसा यज्ञं करंधमसुतात्मजः ।
बृहस्पतिमुपागम्य वाग्मी वचनमब्रवीत ॥ ३ ॥
भगवन्यन्मया पूर्वमभिगम्य तपोधन ।
कृतोऽभिसंधिर्यज्ञस्य भवतो वचनाद्गुरो ॥ ४ ॥
तमहं यष्टुमिच्छामि संभाराः संभृताश्च मे ।
याज्योऽस्मि भवतः साधो तत्प्राप्नुहि विधत्स्व च ॥५॥
बृहस्पतिरुवाच- न कामये याजयितुं त्वामहं पृथिवीपते ।
वृतोऽस्मि देवराजेन प्रतिज्ञातं च तस्य मे ॥ ६ ॥
मरुत्त उवाच- पित्र्यमस्मि तव क्षेत्रं बहु मन्ये च ते भृशम् ।
तवास्मि याज्यतां प्राप्तो भजमानं भजस्व माम् ॥ ७ ॥
बृहस्पतिरुवाच- अमर्त्यं याजयित्वाऽहं याजयिष्ये कथं नरम् ।

आश्वमेधिकपर्वमें ६ अध्याय ।

वेदव्यास मुनि बोले, हे युधिष्ठिर ! इस स्थलमें पण्डित लोग बृहस्पति और बुद्धिमान् मरुत्तके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं । पृथ्वीनाथ मरुत्तने इन्द्रके सहित बृहस्पतिकी निश्चित प्रतिज्ञा सुनकर एक उत्तम महत् यज्ञके आरम्भका विचार किया । करन्धमसुतात्मज वाग्मिवर मरुत्त मन ही मन यज्ञका सङ्कल्प स्थिर करके बृहस्पतिके निकट जाकर उनसे बोले, हे भगवन् ! आपने पहले मेरे समीप आकर जिस यज्ञका प्रस्ताव किया था, मैंने आपके वचनानुसार उस यज्ञकी अभिसन्धि की है । हे साधु ! मैंने उस यज्ञके करनेका अभिलाषी होकर यज्ञकी सब सामग्री सञ्चय की है, मैं आपका यजमान हूं, इसलिये आप उन सामग्रियोंको ग्रहण करके यज्ञसम्पादन करिये। (१-५)

बृहस्पति बोले, हे पृथ्वीनाथ ! मैं आपका यज्ञ-करानेकी इच्छा नहीं करता; मैंने देवराजसे रोके जानेपर उनके निकट प्रतिज्ञा की है । (६)

मरुत्त बोले, मैं आपका पैतृक यजमान होनेसे आपका अत्यन्त सम्मान किया करता हूं, इस समय मुझे आपकी याज्यता प्राप्त हुई है; इसलिये आप मेरा यज्ञ कराइये । (७)

मरुत्त गच्छ वा मा वा निवृत्तोऽस्म्यद्य याजनात् ॥८॥
न त्वां याजयिताऽस्म्यद्य वृणु यं त्वमिहेच्छसि ।
उपाध्यायं महाबाहो यस्ते यज्ञं करिष्यति ॥ ९ ॥
व्यास उवाच- एवमुक्तस्तु नृपतिर्मरुत्तो व्रीडितोऽभवत् ।
प्रत्यागच्छन्सुसंविग्नो ददर्श पथि नारदम् ॥ १० ॥
देवर्षिणा समागम्य नारदेन स पार्थिवः ।
विधिवत्प्राञ्जलिस्तस्थावथैनं नारदोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥
राजर्षे नातिहृष्टोऽसि कच्चित्क्षेमं तवानघ ।
क्व गतोऽसि कुतश्चेदमप्रीतिस्थानमागतम् ॥ १२ ॥
श्रोतव्यं चेन्मया राजन्ब्रूहि मे पार्थिवर्षभ ।
व्यपनेष्यामि ते मन्युं सर्वयत्नैर्नराधिप ॥ १३ ॥
एवमुक्तो मरुत्तः स नारदेन महर्षिणा ।
विप्रलम्भमुपाध्यायात्सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ १४ ॥
मरुत्त उवाच- गतोऽस्म्यङ्गिरसः पुत्रं देवाचार्यं बृहस्पतिम् ।
यज्ञार्थमृत्विजं द्रष्टुं स च मां नाभ्यनन्दत ॥ १५ ॥

बृहस्पति बोले, हे मरुत्त ! मैं अमर्त्य का याजन करके किस प्रकार मर्त्य मनुष्यका याजन करूं ? इसलिये आप जाइये, वा न जाइये; अब मैं फिर यज्ञ करनेमें प्रवृत्त न होऊंगा। हे महाबाहो ! अब मैं आपका यज्ञ न करा सकूंगा, इसलिये आपकी जिसे उपाध्याय करनेकी इच्छा हो और जो आपका यज्ञ करे, आप उसेही स्वीकार करिये। (८-९)

वेदव्यास मुनि बोले, पृथ्वीपति मरुत्त बृहस्पतिका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त लज्जित हुए और सुसंविग्नचित्तसे लौटे। मार्गमें नारदमुनिका समागम होनेपर वे यथारीति हाथ जोडके स्थित हुए। तब नारद मुनि उनसे बोले, हे राजर्षि ! आप अत्यन्त असन्तुष्ट क्यों हुए हैं ? हे पापरहित ! आपका मङ्गल तो है ? आप कहां गये थे ? कहांपर इस प्रकार अप्रीति प्राप्त हुई ? हे पार्थिवर्षभ ! यदि मेरे सुननेके उपयुक्त हो तो आप मुझसे यह विषय कहिये, मैं सब प्रकारसे यत्नपूर्वक आपके मनका दुःख दूर करूंगा। (१०—१३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, मरुत्तने महर्षि नारदका ऐसा वचन सुनके उपाध्याय बृहस्पतिका समस्त विसंवाद उन्हें सुनाया। मरुत्त बोले, मैं अङ्गिराके पुत्र देवगुरु बृहस्पतिको यज्ञमें ऋत्विक्

प्रत्याख्यातश्च तेनाहं जीवितुं नाद्य कामये ।
परित्यक्तश्च गुरुणा दूषितश्चास्मि नारद ॥ १६ ॥
व्यास उवाच- एवमुक्तस्तु राज्ञा स नारदः प्रत्युवाच ह ।
आविक्षितं महाराज वाचा संजीवयन्निव ॥ १७ ॥
नारद उवाच- राजन्नङ्गिरसः पुत्रः संवर्तो नाम धार्मिकः ।
चङ्क्रमीति दिशः सर्वा दिग्वासा मोहयन्प्रजाः ॥१८॥
तं गच्छ यदि याज्यं त्वां न वाञ्छति बृहस्पतिः ।
प्रसन्नस्त्वां महातेजाः संवर्तो याजयिष्यति ॥ १९ ॥
मरुत्त उवाच- संजीवितोऽहं भवता वाक्येनानेन नारद ।
पश्येयं क नु संवर्तं शंस मे वदतां वर ॥ २० ॥
कथं च तस्मै वर्तेयं कथं मां न परित्यजेत् ।
प्रत्याख्यातश्च तेनापि नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ २१ ॥
नारद उवाच- उन्मत्तवेषं बिभ्रत्स चङ्क्रमीति यथासुखम् ।
वाराणस्यां महाराज दर्शनेप्सुर्महेश्वरम् ॥ २२ ॥

करनेके लिये उनका दर्शन करने गया था, उन्होंने मुझे अभिनन्दित नहीं किया, बल्कि मुझे परित्याग किया है। हे नारद! इसलिये जब मैं गुरुके द्वारा दूषित और परित्यक्त हुआ, तब अब जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करता। (१४—१६)

वेदव्यास मुनि बोले, हे महाराज! देवर्षि नारद राजा मरुत्तका ऐसा वचन सुनके अविक्षितपुत्र मरुत्तको वाक्यके द्वारा जीवित करते हुए कहने लगे। नारद मुनि बोले, अंगिराके पुत्र धर्मशील संवर्त दिगम्बर होकर प्रजासमूहको मोहित करते हुए सब दिशाओंमें भ्रमण करते हैं। यदि बृहस्पति एक बारही आपका याजन करनेकी इच्छा नहीं करते हैं, तो आप उस महातेजस्वी संवर्तके निकट जाइये; वह प्रसन्न होकर आपका यज्ञ करेंगे। (१७-१९)

मरुत्त बोले, हे वाग्मिवर नारद! आपके इस वचनके सहारे मैं जीवित हुआ; परन्तु आप बताइये, कहांपर मैं उस संवर्तका दर्शन पाऊंगा और मुझे किस प्रकार उनके समीप रहना होगा? किस प्रकार वह मुझे परित्याग न करेंगे? वह उपाय उपदेश करिये; मैं उनसे परित्यक्त होनेपर जीवित न रह सकूंगा। नारद मुनि बोले, हे महाराज! वह संवर्त उन्मत्त वेष बनाके महेश्वरके दर्शनकी अभिलाषसे काशीमें सुखपूर्वक

तस्या द्वारं समासाद्य न्यसेथाः कुणपं क्वचित् ।
तं दृष्ट्वा यो निवर्तेत संवर्तः स महीपते ॥ २३ ॥
तं पृष्ठतोऽनुगच्छेथा यत्र गच्छेत्स वीर्यवान् ।
तमेकान्ते समासाद्य प्राञ्जलिः शरणं व्रजेः ॥ २४ ॥
पृच्छेत्त्वां यदि केनाहं तवाख्यात इति स्म ह ।
ब्रूयास्त्वं नारदेनेति संवर्त कथितोऽसि मे ॥ २५ ॥
स चेत्त्वामनुयुञ्जीत ममानुगमनेप्सया ।
शंसेथा वह्निमारूढं मामपि त्वमशङ्कया ॥ २६ ॥
व्यास उवाच–स तथेति प्रतिश्रुत्य पूजयित्वा च नारदम् ।
अभ्यनुज्ञाय राजर्षिर्ययौ वाराणसीं पुरीम् ॥ २७ ॥
तत्र गत्वा यथोक्तं स पुर्या द्वारे महायशाः ।
कुणपं स्थापयामास नारदस्य वचः स्मरन् ॥ २८ ॥
यौगपद्येन विप्रश्च पुरीद्वारमथाविशत् ।
ततः स कुणपं दृष्ट्वा सहसा संन्यवर्तत ॥ २९ ॥
स तं निवृत्तमालक्ष्य प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।

विचरते हैं। हे पृथ्वीनाथ! आप उस काशीपुरीके द्वारपर उपस्थित होके उसके किसी स्थानमें एक मुर्दा रखियेगा, उस मुर्देको देखके जो वहांसे निवृत्त होगा, उसे ही संवर्त जानना। वह वीर्यवान् संवर्त जिस स्थानपर जावें, आपभी हाथ जोडके उनका अनुगमन करते हुए उन्हें एकान्त स्थानमें पानेसे हाथ जोडके कहना, कि "मैं आपका शरणागत हुआ।" यदि वह संवर्त आपसे पूंछे, कि 'मेरा सन्धान तुम्हें किसने बताया?' तो आप कहना कि 'नारदने मुझसे आपका पता कह दिया है।' यदि वह आपको मेरे अनुगमन करनेकी आज्ञा करें, तो आप निःशङ्कचित्तसे कहना, कि उन्होंने अग्निमें प्रवेश किया है। (२०–२६)

वेदव्यास मुनि बोले, राजर्षि मरुत्तने नारद मुनिका वचन स्वीकार करके उनकी पूजा की और उनकी अनुमतिसे वाराणसी पुरीमें गये। महायशस्वी मरुत्तने वाराणसी पुरीमें जाकर नारद मुनिके वचनको स्मरण करते हुए उस नगरीके द्वारपर यथोक्त शव स्थापित किया। विप्रवर संवर्त समकालमें ही पुरीद्वारमें प्रविष्ट होकर द्वारदेशसे सहसा शवदर्शन करके वहांसे निवृत्त हुए। अविक्षितपुत्र पृथ्वीनाथ मरुत उन्हें

आविक्षितो महीपालः संवर्तमुपशिक्षितुम् ॥ ३० ॥
स च तं विजने दृष्ट्वा पांसुभिः कर्दमेन च ।
श्लेष्मणा चैव राजानं ष्ठीवनैश्च समाकिरत् ॥ ३१ ॥
स तथा बाध्यमानो वै संवर्तेन महीपतिः ।
अन्वगादेव तमृषिं प्राञ्जलिः संप्रसादयन् ॥ ३२ ॥
ततो निवर्त्य संवर्तः परिश्रान्त उपाविशत् ।
शीतलच्छायमासाद्य न्यग्रोधं बहुशाखिनम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधिके पर्वणि संवर्तमरुत्तीये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

संवर्त उवाच- कथमस्मि त्वया ज्ञातः केन वा कथितोऽस्मि ते ।
एतदाचक्ष्व मे तत्त्वमिच्छसे चेन्मम प्रियम् ॥ १ ॥
सत्यं ते ब्रुवतः सर्वे संपत्स्यन्ते मनोरथाः ।
मिथ्या च ब्रुवतो मूर्धा शतधा ते स्फुटिष्यति ॥ २ ॥
मरुत्त उवाच- नारदेन भवान्मह्यमाख्यातो ह्यटता पथि ।
गुरुपुत्रो ममेति त्वं ततो मे प्रीतिरुत्तमा ॥ ३ ॥
संवर्त उवाच- सत्यमेतद्भवानाह स मां जानाति सत्रिणम् ।

निवृत्त होते देखकर उनके निकट शिक्षित होनेके निमित्त हाथ जोडके उनके पीछे पीछे चले। संवर्तने महाराज मरुत्तको पीछे देखके निर्जन स्थानमें उन्हें पांसु, कर्दम, श्लेष्मा और ष्ठीवनके सहारे समाच्छन्न किया। पृथ्वीनाथ मरुत्तने संवर्तके द्वारा इस प्रकार बाधित होके भी हाथ जोडके उन्हें प्रसन्न करते हुए उनका अनुगमन किया। कुछ समयके अनन्तर संवर्त थककर अनेक शाखाओंसे युक्त न्यग्रोध वृक्षकी शीतल छायामें बैठ गये। (२७—३३)

आश्वमेधिकपर्वमें ६ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ७ अध्याय।

संवर्त बोले, तुमने मुझे किस प्रकार जाना और किस पुरुषने तुमसे मेरा परिचय कह दिया ? यदि तुम मेरे प्रिय होनेके अभिलाषी हो, तो इसे यथार्थ रीतिसे मेरे निकट कहो। यदि तुम इस विषयमें सत्य कहोगे, तो तुम्हारा मनोरथ सफल होगा; झूठ बोलनेसे तुम्हारा सिर एक सौ टुकडे हो जायगा। (१-२)

मरुत्त बोले, आप मेरे गुरुपुत्र हैं, यह वृत्तान्त मैंने मार्गके बीचमें भ्रमण करनेवाले नारद मुनिके समीप सुना है, तभीसे आपके विषयमें मेरी उत्तम प्रीति उत्पन्न हुई है। (३)

कथयस्व तदेतन्मे क्व नु संप्रति नारदः ॥ ४ ॥
मरुत्त उवाच- भवन्तं कथयित्वा तु मम देवर्षिसत्तमः ।
ततो मामभ्यनुज्ञाय प्रविष्टो हव्यवाहनम् ॥ ५ ॥
व्यास उवाच— श्रुत्वा तु पार्थिवस्यैतत्संवर्तः प्रमुदं गतः ।
एतावदहमप्येवं शक्नुयामिति सोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥
ततो मरुत्तमुन्मत्तो वाचा निर्भर्त्सयन्निव ।
रूक्षया ब्राह्मणो राजन्पुनः पुनरथाब्रवीत् ॥ ७ ॥
वातप्रधानेन मया स्वचित्तवशवर्तिना ।
एवं विकृतरूपेण कथं याजितुमिच्छसि ॥ ८ ॥
भ्राता मम समर्थश्च वासवेन च संगतः ।
वर्तते याजने चैव तेन कर्माणि कारय ॥ ९ ॥
गार्हस्थ्यं चैव याज्याश्च सर्वा गृह्याश्च देवताः ।
पूर्वजेन ममाक्षिप्तं शरीरं वर्जितं त्विदम् ॥ १० ॥
नाहं तेनाननुज्ञातस्त्वामाविक्षित कर्हिचित् ।
याजयेयं कथंचिद्वै स हि पूज्यतमो मम ॥ ११ ॥

संवर्त बोले, वह नारद मुनि मुझे याज्ञिक जानते हैं, यह वचन तुमने मेरे समीप सत्य कहा है। अच्छा, मुझसे बताओ, कि अब वह कहां हैं ? (४)

मरुत्त बोले, उस देवर्षिसत्तम नारद-मुनिने मुझसे आपका परिचय कहके तथा आपके निकट गमन करनेकी अनुमति देकर अग्निमें प्रवेश किया है। (५)

वेदव्यास मुनि बोले, संवर्त पृथ्वीपति मरुत्तका ऐसा वचन सुनके अधिक सन्तुष्ट होकर उनसे बोले, "मैं भी ऐसा कार्य करनेमें समर्थ हूं।" हे राजन् ! अनन्तर संवर्त उन्मत्त होकर कठोर वचनसे मरुत्तकी बार बार निन्दा करते हुए बोले, मैं वायुरोगग्रस्त हूं, इसलिये मेरे चित्तमें जिस समय जो उदय होता है, उस समय वही किया करता हूं; तब तुम ऐसे स्वभाववाले ब्राह्मणके द्वारा क्यों यज्ञ करनेकी अभिलाष करते हो ? यज्ञकार्यमें समर्थ मेरे भाई बृहस्पति इन्द्रके सङ्ग मिलकर उनके याज्य कर्ममें नियुक्त हैं, तुम उन्हींके सहारे अपना कार्य सिद्ध करो। मेरे पूर्वज बृहस्पतिने मेरे इस शरीरके अतिरिक्त जो कुछ गृहमें स्थित सामग्री, गृह्य देवता और यजमान थे, वह सब हर लिया है। हे अविक्षितपुत्र ! वह मेरे पूज्य हैं, उनकी अनुमतिके विना मैं किसी प्रकार

स त्वं बृहस्पतिं गच्छ तमनुज्ञाप्य चाव्रज ।
ततोऽहं याजयिष्ये त्वां यदि यष्टुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥
मरुत्त उवाच- बृहस्पतिं गतः पूर्वमहं संवर्त तच्छृणु ।
न मां कामयते याज्यमसौ वासवकाम्यया ॥ १३ ॥
अमरं याज्यमासाद्य याजयिष्ये न मानुषम् ।
शक्रेण प्रतिषिद्धोऽहं मरुत्तं मा स्म याजयेः ॥ १४ ॥
स्पर्धते हि मया विप्र सदा हि स तु पार्थिवः ।
एवमस्त्विति चाप्युक्तो भ्रात्रा ते बलसूदनः ॥ १५ ॥
स मामभिगतं प्रेम्णा याज्यत्वे न बुभूषति ।
देवराजं समाश्रित्य तद्विद्धि मुनिपुङ्गव ॥ १६ ॥
सोऽहमिच्छामि भवता सर्वस्वेनापि याजितुम् ।
कामये समतिक्रान्तुं वासवं त्वत्कृतैर्गुणैः ॥ १७ ॥
न हि मे वर्तते बुद्धिर्गन्तुं ब्रह्मन्बृहस्पतिम् ।

तुम्हारा यज्ञ न कर सकूंगा । इसलिये यदि तुम यज्ञ करनेकी इच्छा करते हो, तो उस बृहस्पतिके निकट जाकर उनकी अनुमति लेकर आओ, तब मैं तुम्हारा याजनकर्म करूंगा । (६—१२)

मरुत्त बोले, हे संवर्त ! मैं आपके समीप बृहस्पतिका वृत्तान्त कहता हूं, आप उसे सुनिये । मैं पहलेही बृहस्पति के निकट गया था, वह इन्द्रको यजमान करनेकी कामनासे मुझे यजमान करनेके अभिलाषी नहीं हैं । हे विप्र ! मैंने बृहस्पतिके निकट जाकर पहले यज्ञका वृत्तान्त कहा था । वह मुझसे बोले, कि इन्द्रने मुझसे कहा है, कि मरुत्त पृथ्वीपति होकर सदा मेरे सङ्ग स्पर्धा किया करता है, इसलिये आप उसका याज्यकर्म न करने पावेंगे। ऐसा कहके उन्होंने मुझे निषेध किया है, इसलिये मैं देवता यजमान पाकर मनुष्यका याज्यकर्म न करूंगा । हे मुनिपुङ्गव ! इन्द्रने आपके भ्राता बृहस्पतिको मेरा यज्ञकर्म करनेके लिये निषेध किया है, वह उसमें ही स्वीकृत हुए हैं । हे मुनिवर ! आप यह निश्चय जानिये, कि उन्हें देवराजका सहारा मिला है, इसीसे मैं प्रीतिपूर्वक उनके निकट गया था, तथापि वह मुझे यजमान करनेमें अभिलाषी नहीं हुए । उसही हेतु मैं सर्वस्व व्यय करके भी आपके द्वारा यज्ञ कराने तथा आपके गुणोंके सहारे इन्द्रको अतिक्रम करनेकी इच्छा करता हूं । हे ब्रह्मन् ! जब मैं विना अपराधके ही उस

प्रत्याख्यातो हि तेनास्मि तथाऽनपकृते सति ॥ १८ ॥
संवर्त उवाच- चिकीर्षसि यथाकामं सर्वमेतत्त्वयि ध्रुवम् ।
यदि सर्वानभिप्रायान्कर्ताऽसि मम पार्थिव ॥ १९ ॥
याज्यमानं मया हि त्वां बृहस्पतिपुरन्दरौ ।
द्विषेतां समभिक्रुद्धावेतदेकं समर्थये ॥ २० ॥
स्थैर्यमत्र कथं मे स्यात्स त्वं निःसंशयं कुरु ।
कुपितस्त्वां न हीदानीं भस्म कुर्यां सबान्धवम् ॥२१॥
मरुत्त उवाच- यावत्तपेत्सहस्रांशुस्तिष्ठेरंश्चापि पर्वताः ।
तावल्लोकान्न लभेयं त्यजेयं संगतं यदि ॥ २२ ॥
मा चापि शुभबुद्धित्वं लभेयमिह कर्हिचित् ।
विषयैः संगतं चास्तु त्यजेयं संगतं यदि ॥ २३ ॥
संवर्त उवाच- आविक्षित शुभा बुद्धिर्वर्ततां तव कर्मसु ।
याजनं हि ममाप्येव वर्तते हृदि पार्थिव ॥ २४ ॥
अभिधास्ये च ते राजन्नक्षयं द्रव्यमुत्तमम् ।

बृहस्पतिके द्वारा प्रत्याख्यात हुआ हूं, तब मेरा मन फिर उनके निकट जानेके लिये प्रवृत्त नहीं होता है। (१३-१८)

संवर्त बोले, हे पार्थिव! यदि तुम मेरी सब अभिलाष पूरी कर सको, तो मैं तुम्हारे अभिलषित कार्योंको निश्चयरूपसे करनेकी इच्छा करता हूं। परन्तु मुझे एक संशय उपस्थित हुआ है, कि मैं जब तुम्हारा याजनकर्म करनेमें प्रवृत्त होऊंगा तब बृहस्पति और इन्द्र दोनों ही अत्यन्त क्रुद्ध होकर तुमसे द्वेष करेंगे; इसलिये इस विषयमें जिस प्रकार मेरी स्थिरता रहे, तुम उसका निश्चय करो, यदि किसी प्रकारसे उसमें अन्यथा होगी, तो मैं उसी समय तुम्हें बान्धवोंके सहित भस्म करूंगा। (१९—२१)

मरुत्त बोले, हे ब्रह्मन्! यदि मैं आपका सङ्ग छोड़ूं तो जबतक सूर्य प्रकाशित रहेगा तथा समस्त पर्वत विद्यमान रहेंगे, तबतक मुझे उत्तम लोक न प्राप्त होवे और यदि मैं आपका सङ्ग परित्याग करूं, तो मैं कदापि शुभ बुद्धि लाभ न कर सकूं तथा विषयोंके सहित मेरी आसक्ति होवे। (२२—२३)

संवर्त बोले, हे अविक्षितपुत्र! सुनो। जिस प्रकार कर्ममें तुम्हारा सुन्दर मनोयोग हुआ है, मेरे अन्तःकरणमें भी उस ही प्रकार याजन विद्यमान है। हे महाराज! मैं कहता हूं, कि तुम्हारी सब उत्कृष्ट सामग्री अक्षय होगी और

येन देवान्सगन्धर्वान् शक्रं चाभिभविष्यसि ॥ २५ ॥
न तु मे वर्तते बुद्धिर्धने याज्येषु वा पुनः ।
विप्रियं तु करिष्यामि भ्रातुश्चेन्द्रस्य चोभयोः ॥ २६ ॥
गमयिष्यामि शक्रेण समतामपि ते ध्रुवम् ।
प्रियं च ते करिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधिके पर्वणि संवर्तमरुत्तीये सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

संवर्त उवाच– गिरेर्हिमवतः पृष्ठे मुञ्जवान्नाम पर्वतः ।
तप्यते यत्र भगवांस्तपो नित्यमुमापतिः ॥ १ ॥
वनस्पतीनां मूलेषु शृङ्गेषु विषमेषु च ।
गुहासु शैलराजस्य यथाकामं यथासुखम् ॥ २ ॥
उमासहायो भगवान्यत्र नित्यं महेश्वरः ।
आस्ते शूली महातेजा नानाभूतगणावृतः ॥ ३ ॥
तत्र रुद्राश्च साध्याश्च विश्वेऽथ वसवस्तथा ।
यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च सहानुगः ॥ ४ ॥
भूतानि च पिशाचाश्च नासत्यावपि चाश्विनौ ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव यक्षा देवर्षयस्तथा ॥ ५ ॥
आदित्या मरुतश्चैव यातुधानाश्च सर्वशः ।

तुम गन्धर्वों तथा देवताओंके सहित इन्द्रको अभिभव करोगे। परन्तु याज्य वा धनमें मेरी स्पृहा नहीं है, मैं केवल उस भ्राता बृहस्पति और इन्द्र दोनोंका ही विप्रिय कार्य करूंगा। मैं तुमसे यह सत्य वचन कहता हूं, कि निश्चय ही मैं तुम्हें इन्द्रके सहित समता लाभ कराऊंगा। (२४–२७)

आश्वमेधिकपर्वमें ७ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ८ अध्याय।

संवर्त बोले, हिमालय पर्वतके पृष्ठमें मुञ्जवान् नाम एक पर्वत है, भगवान् उमानाथ वहां नित्य तपस्या किया करते हैं। शूलपाणि महातेजस्वी महेश्वर अनेक भूतगणसे घिरकर उमाके सहित उस शैलराजकी गुहा, विषम शृंग और वहांके वनस्पतियों तथा वृक्षोंके तले सदा इच्छानुसार सुखपूर्वक निवास करते हैं। वहां रुद्रगण, वसुगण, यम, वरुण, सहचरोंके सङ्ग कुबेर, भूत, पिशाच, दोनों अश्विनीकुमार, नासत्य, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, देवर्षि, आदित्य,

उपासन्ते महात्मानं बहुरूपमुमापतिम् ॥ ६ ॥
रमते भगवांस्तत्र कुबेरानुचरैः सह।
विकृतैर्विकृताकारैः क्रीडद्भिः पृथिवीपते ॥ ७ ॥
श्रिया ज्वलन् दृश्यते वै बालादित्यसमद्युतिः।
न रूपं शक्यते तस्य संस्थानं वा कदाचन ॥ ८ ॥
निर्देष्टुं प्राणिभिः कैश्चित्प्राकृतैर्मांसलोचनैः।
नोष्णं न शिशिरं तत्र न वायुर्न च भास्करः ॥ ९ ॥
न जरा क्षुत्पिपासे वा न मृत्युर्न भयं नृप।
तस्य शैलस्य पार्श्वेषु सर्वेषु जयतां वर ॥ १० ॥
धातवो जातरूपस्य रश्मयः सवितुर्यथा।
रक्ष्यन्ते ते कुबेरस्य सहायैरुद्यतायुधैः ॥ ११ ॥
चिकीर्षद्भिः प्रियं राजन्कुबेरस्य महात्मनः।
तस्मै भगवते कृत्वा नमः शर्वाय वेधसे ॥ १२ ॥
रुद्राय शितिकण्ठाय पुरुषाय सुवर्चसे।
कपर्दिने करालाय हर्यक्षणे वरदाय च ॥ १३ ॥
त्र्यक्षणे पूष्णो दन्तभिदे वामनाय शिवाय च।
याम्यायाव्यक्तरूपाय सद्वृत्ते शङ्कराय च ॥ १४ ॥

मरुत् और यातुधान सब कोई महात्मारूपी उमापतिकी उपासना किया करते हैं। हे पृथ्वीपति! भगवान् शङ्कर विकृत और विकृताकार क्रीडा करनेवाले कुबेरके अनुचरोंके सहित वहाँ क्रीडा करते हैं। बालादित्यसदृश द्युतिशाली वह शैलपर निज सौन्दर्यसे प्रज्वलित अग्निकी भाँति लोगोंके दृष्टिगोचर हुआ करते हैं। मांसलोचनयुक्त कोई प्राकृत प्राणी उनके रूप तथा अवयवोंको किसी प्रकार निर्दिष्ट करनेमें समर्थ नहीं होता। हे महाराज! वहाँ गर्मी, सर्दी, वायु, सूर्य, जरा, भूख, प्यास, मृत्यु और भय नहीं है। (१–१०)

हे विजयीप्रवर! उस पहाडके चारों ओर सूर्यकिरणसदृश प्रभाशाली सुवर्णकी बहुतसी आकर (खान) विद्यमान हैं। हे महाराज! महात्मा कुबेरके प्रिय करनेवाले उद्यतशस्त्रधारी सहायकवृन्द उन आकरोंकी रक्षा करते हैं। तुम वहाँ जाकर उस भगवान् शर्व, विधाता, रुद्र, शितिकण्ठ, पुरुष, सुवर्च, कपर्दी, कराल, हर्यक्ष, वरद, त्रिलोचन, सूर्यदन्तभेदी, वामन, शिव, दक्षिणामूर्ति,

क्षेम्याय हरिकेशाय स्थाणवे पुरुषाय च ।
हरिनेत्राय मुण्डाय क्रुद्धायोत्तरणाय च ॥ १५ ॥
भास्कराय सुतीर्थाय देवदेवाय रंहसे ।
उष्णीषिणे सुवक्त्राय सहस्राक्षाय मीढुषे ॥ १६ ॥
गिरिशाय प्रशान्ताय यतये चीरवाससे ।
बिल्वदण्डाय सिद्धाय सर्वदण्डधराय च ॥ १७ ॥
मृगव्याधाय महते धन्विनेऽथ भवाय च ।
वराय सोमवक्त्राय सिद्धमन्त्राय चक्षुषे ॥ १८ ॥
हिरण्यबाहवे राजन्नुग्राय पतये दिशाम् ।
लेलिहानाय गोष्ठाय सिद्धमन्त्राय वृष्णये ॥ १९ ॥
पशूनां पतये चैव भूतानां पतये नमः ।
वृषाय मातृभक्ताय सेनान्ये मध्यमाय च ॥ २० ॥
स्रुवहस्ताय पतये धन्विने भार्गवाय च ।
अजाय कृष्णनेत्राय विरूपाक्षाय चैव ह ॥ २१ ॥
तीक्ष्णदंष्ट्राय तीक्ष्णाय वैश्वानरमुखाय च ।
महाद्युतयेऽनङ्गाय सर्वाय पतये विशाम् ॥ २२ ॥
विलोहिताय दीप्ताय दीप्ताक्षाय महौजसे ।
वसुरेतःसुवपुषे पृथवे कृत्तिवाससे ॥ २३ ॥
कपालमालिने चैव सुवर्णमुकुटाय च ।
महादेवाय कृष्णाय त्र्यम्बकायानघाय च ॥ २४ ॥
क्रोधनायानृशंसाय मृदवे बाहुशालिने ।

अव्यक्तरूपी, सद्वृत्त, शङ्कर, मङ्गल, हरिकेश, स्थाणु, पुरुष, हरिनेत्र, मुण्ड, क्रुद्ध, उत्तारण, भास्कर, सुतीर्थ, देवदेव, रंह, उष्णीषी, सुवक्त्र, सहस्राक्ष, मीढ्वान्, गिरीश, प्रशान्त, यतिचीरवासा, बिल्वदण्ड, सिद्ध, सर्वदण्डधारी, मृगव्याध, महान्, धन्वी, भव, वर, सोमवक्त्र, सिद्धमन्त्र, नेत्रस्वरूप, हिरण्य-बाहु, उग्र, दिक्पति, लेलिहान, गोष्ठ, सिद्धमन्त्र, सर्वव्यापी, पशुपति, भूतपति, वृष, मातृभक्त, सेनानी, मध्यम, स्रुवहस्त, पती, धन्वी, मार्गव, अज, कृष्णनेत्र, विरूपाक्ष, तीक्ष्णदंष्ट्र, तीक्ष्ण, अग्निमुख, महाद्युति, अनङ्ग, सर्व, विशांपति, विलोहित, दीप्त, दीप्ताक्ष, महातेजा, वसुरेतःसुवपु, कृत्तिवासा, कपाल-

दण्डिने तप्ततपसे तथैवाक्रूरकर्मणे ॥ २५ ॥
सहस्रशिरसे चैव सहस्रचरणाय च।
नमः स्वधास्वरूपाय बहुरूपाय दंष्ट्रिणे ॥ २६ ॥
पिनाकिनं महादेवं महायोगिनमव्ययम्।
त्रिशूलहस्तं वरदं त्र्यम्बकं भुवनेश्वरम् ॥ २७ ॥
त्रिपुरघ्नं त्रिनयनं त्रिलोकेशं महौजसम्।
प्रभवं सर्वभूतानां धारणं धरणीधरम् ॥ २८ ॥
ईशानं शङ्करं सर्वं शिवं विश्वेश्वरं भवम्।
उमापतिं पशुपतिं विश्वरूपं महेश्वरम् ॥ २९ ॥
विरूपाक्षं दशभुजं दिव्यगोवृषभध्वजम्।
उग्रं स्थाणुं शिवं रौद्रं शर्वं गौरीशमीश्वरम् ॥ ३० ॥
शितिकण्ठमजं शुक्रं पृथं पृथुहरं वरम्।
विश्वरूपं विरूपाक्षं बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३१ ॥
प्रणम्य शिरसा देवमनङ्गाङ्गहरं हरम्।
शरण्यं शरणं याहि महादेवं चतुर्मुखम् ॥ ३२ ॥
एवं कृत्वा नमस्तस्मै महादेवाय रंहसे।
महात्मने क्षितिपते तत्सुवर्णमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
सुवर्णमाहरिष्यन्तस्तत्र गच्छन्तु ते नराः।
इत्युक्तः स वचस्तेन चक्रे कारन्धमात्मजः ॥ ३४ ॥

माली, सुवर्णमुकुटधारी, महादेव, कृष्ण, त्र्यम्बक, अनघ, क्रोधन, अनृशंस, मृदु, बाहुशाली, दण्डी, तपस्वी, अक्रूरकर्मा, सहस्रशिर, सहस्रपाद, स्वधास्वरूप, बहुरूप, दंष्ट्री, पिनाकी, महादेव, महायोगी, अव्यय, त्रिशूलहस्त, वरद, भुवनेश्वर, त्रिपुरघ्न, त्रिलोकेश, सर्वभूत-प्रभव, सर्वभूताधार, धरणीधर, ईशान, शङ्कर, शर्व, शिव, विश्वेश्वर, भव, उमापति, विश्वरूप, महेश्वर, विरूपाक्ष, दशभुज, दिव्यगोवृषध्वज, उग्र, स्थाणु, शिव, रौद्र, गिरीश, ईश्वर, शितिकण्ठ, अज, शुक्र, पृथु, पृथुहर, वर, विश्वरूप, बहुरूप, अनङ्गाङ्गहर, शरण्य, चतुर्मुख महादेवको सिर झुकाकर प्रणाम करके उनका शरणागत होना। (१०-३२)

हे पृथ्वीपति! उस महारंह महात्मा महादेवको इस ही प्रकार नमस्कार करके उनका शरणागत होनेसे तुम वह सुवर्ण पाओगे। जो सब मनुष्य ऐसा

ततोऽतिमानुषं सर्वं चक्रे यज्ञस्य संविधिम् ।
सौवर्णानि च भण्डानि संचक्रुस्तत्र शिल्पिनः ॥ ३५ ॥
बृहस्पतिस्तु तां श्रुत्वा मरुत्तस्य महीपतेः ।
समृद्धिमति देवेभ्यः संतापमकरोद्भृशम् ॥ ३६ ॥
स तप्यमानो वैवर्ण्यं कृशत्वं चागमत्परम् ।
भविष्यति हि मे शत्रुः संवर्तो वसुमानिति ॥ ३७ ॥
तं श्रुत्वा भृशसंतप्तं देवराजो बृहस्पतिम् ।
अभिगम्यामरवृतः प्रोवाचेदं वचस्तदा ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अश्वमेधिके पर्वणि संवर्तमरुत्तीये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इन्द्र उवाच–कच्चित्सुखं स्वपिषि त्वं बृहस्पते कच्चिन्मनोज्ञाः परिचारकास्ते ।
कच्चिद्देवानां सुखकामोऽसि विप्र कच्चिद्देवास्त्वां परिपालयन्ति ॥ १ ॥
बृहस्पतिरुवाच–सुखं शये शयने देवराज तथा मनोज्ञाः परिचारका मे ।
तथा देवानां सुखकामोऽस्मि नित्यं देवाश्च मां सुभृशं पालयन्ति ॥ २ ॥
इन्द्र उवाच–कुतो दुःखं मानसं देहजं वा पाण्डुर्विवर्णश्च कुतस्त्वमद्य ।

ही करके वहां जाते हैं वेही सुवर्ण लाभ कर सकते हैं। अनन्तर कारन्धमपुत्र मरुत्तने संवर्तका ऐसा वचन सुनके वैसाही कार्य करते हुए अमानुषयज्ञीय संविधि सञ्चय की। शिल्पीगण वहांपर सुवर्णमय भाण्ड बनाने लगे। अनन्तर बृहस्पति पृथ्वीनाथ मरुत्तकी देवताओंसे भी अधिक समृद्धि सुनके अत्यन्त सन्ताप करने लगे। बृहस्पति मनही मन "मेरा शत्रु संवर्त वसुमान् होगा" ऐसी चिन्ता करके सन्तप्त, विवर्ण और और कृशताको प्राप्त हुए; तब देवराज बृहस्पतिके सन्तापका वृत्तान्त सुनकर देवताओंके बीच घिरकर उनके समीप आके कहने लगे। (३३-३८)

आश्वमेधिकपर्वमें ८ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ९ अध्याय।

इन्द्र बोले, हे गीष्पति! आपको सुखपूर्वक नींद लगती है न? परिचारक गण आपके मनके अनुसार हुए तो हो हैं? हे प्रवर! आप देवताओंके सुखकी कामना करते हैं न? देवगण आपको पालन करते हैं न? (१)

बृहस्पति बोले, हे देवराज! मैं शय्यापर सुखसे सोता हूं, परिचारकगण मेरे मनके अनुसार हुए हैं, मैं सदा देवताओंके सुखकी कामना किया करता हूं और देवगण भी मुझे परम आदरसे

आचक्ष्व मे ब्राह्मण यावदेतान्निहन्मि सर्वांस्तव दुःखकर्तॄन् ॥ ३ ॥
बृहस्पतिरुवाच- मरुत्तमाहुर्मघवन् यक्ष्यमाणं महायज्ञेनोत्तमदक्षिणेन ।
संवर्तो याजयतीति मे श्रुतं तदिच्छामि न स तं याजयेत ॥ ४ ॥
इन्द्र उवाच-सर्वान्कामाननुयातोऽसि विप्र यस्त्वं देवानां मन्त्रवित्सुपुरोधाः।
उभौ च ते जरामृत्यू व्यतीतौ किं संवर्तस्तव कर्ताऽद्य विप्र ॥ ५ ॥
बृहस्पतिरुवाच- देवैः सह त्वमसुरान्संप्रणुद्य जिघांससे चाप्युत सानुबन्धान्।
यं यं समृद्धं पश्यसि तत्र तत्र दुःखं सपत्नेषु समृद्धिभावः ॥ ६ ॥
अतोऽस्मि देवेन्द्र विवर्णरूपः सपत्नो मे वर्धते तन्निशम्य ।
सर्वोपायैर्मघवन्संनियच्छ संवर्तं वा पार्थिवं वा मरुत्तम् ॥ ७ ॥
इन्द्र उवाच-एहि गच्छ प्रहितो जातवेदो बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
अयं वै त्वां याजयिता बृहस्पतिस्तथाऽमरं चैव करिष्यतीति ॥ ८ ॥

पालन किया करते हैं। (२)

इन्द्र बोले, हे ब्रह्मन् ! तब किस कारण आपको शारीरिक तथा मानसिक दुःख उपस्थित हुआ ? आज किस निमित्तसे आप पाण्डु और विवर्ण हुए हैं ? जिनसे आपको यह दुःख उत्पन्न हुआ है, आप मुझे बताइये, मैं इसी समय उन दुःख देनेवालोंका वध करूं। ३

बृहस्पति बोले, हे मघवन् ! मैंने परम्परासे सुना है कि मरुत्त उत्तम दक्षिणायुक्त एक महायज्ञ करेगा, संवर्त ही उस मरुत्तका यज्ञ करावेगा; इसलिये मेरी यह अभिलाष है, कि जिसमें संवर्त मरुत्तका यज्ञ न कराने पावे, आप वही उपाय करिये। (४)

इन्द्र बोले, हे विप्र ! जब आप देवताओंके मन्त्रज्ञ उत्तम पुरोहित हुए हैं और जरा तथा मृत्यु दोनों ही अतिक्रम किया है, तब संवर्त आपका क्या करेगा ? (५)

बृहस्पति बोले, हे देवेन्द्र ! शत्रुओंके बीच किसीके समृद्धिसम्पन्न होनेसे वह दुःखकर बोध होता है। जैसे आप देवताओंके सहित असुरोंके वंशको खण्डन करके उनके बीच जिसे जिसे समृद्धिसम्पन्न देखते हैं, उन्हीं असुरोंको मारनेकी इच्छा किया करते हैं, उस ही प्रकार मैं भी अपने शत्रु संवर्तको संवर्धित होते हुए सुनके दुःखसे विवर्ण हुआ हूं। हे इन्द्र ! इसलिये आप सब भांतिसे उपायके सहारे उस संवर्त वा मरुत्तको दमन करिये। (६-७)

इन्द्र बृहस्पतिका वचन सुननेके अनन्तर अग्निको सम्बोधनपूर्वक आह्वान करके बोले, हे अग्निदेव ! तुम मेरी आज्ञाके अनुसार बृहस्पतिको मरुत्तके

अग्निरुवाच- अहं गच्छामि मघवन्दूतोऽद्य बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
वाचं सत्यां पुरुहूतस्य कर्तुं बृहस्पतेश्चापचितिं चिकीर्षुः॥ ९॥
व्यास उवाच- ततः प्रायाद्धूमकेतुर्महात्मा वनानि सर्वाणि वीरुधश्चाप्यमृद्नन्।
कामाद्धिमान्ते परिवर्तमानः काष्ठातिगो मातरिश्वेव नर्दन्॥ १०॥
मरुत्त उवाच- आश्चर्यमद्य पश्यामि रूपिणं वह्निमागतम्।
आसनं सलिलं पाद्यं गां चोपानय वै मुने॥ ११॥
अग्निरुवाच- आसनं सलिलं पाद्यं प्रतिनन्दामि तेऽनघ।
इन्द्रेण तु समादिष्टं विद्धि मां दूतमागतम्॥ १२॥
मरुत्त उवाच- कच्चिच्छ्रीमान्देवराजः सुखी च कच्चिदस्मान्प्रीयते धूमकेतो।
कच्चिद्देवा अस्य वशे यथावत्प्रब्रूहि त्वं मम कार्त्स्न्येन देव॥ १३॥
अग्निरुवाच- शक्रो भृशं सुसुखी पार्थिवेन्द्र प्रीतिं चेच्छत्यजरां वै त्वया सः।

समीप देनेके लिये उसके समीप जाकर कहो कि बृहस्पति तुम्हारा याजनकर्म करेंगे और अमर कर देंगे। (८)

अग्निदेव बोले, हे मघवन्! मैं बृहस्पतिको मरुत्तके निकट देनेके लिये आपका दूत होकर इस समय उसके समीप जाता हूं। अग्निने इन्द्रसे ऐसा कहके बृहस्पतिका सम्मानवर्धन और पुरुहूतका वचन सत्य करनेके निमित्त मरुत्तके निकट गमन किया। (९)

व्यासदेव बोले, तिसके अनन्तर महात्मा धूमकेतु अग्निदेव हिमके शेषमें इच्छानुसार घर्षणवान् महावेगशाली शब्दायमान वायुकी भांति समस्त वन और वृक्षोंको विमर्दित करके मरुत्तके निकट उपस्थित हुए। (१०)

मरुत्त समागत अग्निको रूपवान् देखके विस्मयपूर्वक बोले, हे मुनि! आज मैंने यह अत्यन्त विस्मययुक्त व्यापार अवलोकन किया, क्यों कि अग्निदेव निज रूप धारण करके आये हैं, इसलिये आप इन्हें आसन, जल, पाद्य और गऊ प्रदान करिये। (११)

अग्निदेव बोले, हे अनघ! मैं तुम्हारा आसन, जल और पाद्य ग्रहण करता हूं, परन्तु तुम मुझे ऐसा जानो, कि मैं इन्द्रकी आज्ञानुसार उनका दूत होकर तुम्हारे निकट आया हूं। (१२)

मरुत्त बोले, हे धूमकेतु! श्रीमान् देवराज सुखसे तो हैं? वह हमारे विषयमें सन्तुष्ट तो हैं और देवगण उनके वशमें हैं न? हे देव! आप यह सब वृत्तान्त मुझे यथार्थ रीतिसे कहिये। (१३)

अग्निदेव बोले; हे पार्थिवेन्द्र! देवराज परम सुखसे निवास करते हैं और

देवाश्च सर्वे वशगास्तस्य राजन्संदेशं त्वं शृणु मे देवराज्ञः ॥ १४ ॥
यदर्थं मां प्राहिणोत्त्वत्सकाशं बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
अयं गुरुर्याजयतां नृप त्वां मर्त्यं सन्तममरं त्वां करोतु ॥ १५ ॥
मरुत्त उवाच– संवर्तोऽयं याजयिता द्विजो मां बृहस्पतेरञ्जलिरेष तस्य ।
न चैवासौ याजयित्वा महेन्द्रं मर्त्यं सन्तं याजयन्नाद्य शोभेत् ॥ १६ ॥
अग्निरुवाच– ये वै लोका देवलोके महान्तः संप्राप्स्यसे तान्देवराजप्रसादात् ।
त्वां चेदसौ याजयेद्वै बृहस्पतिर्नूनं स्वर्गं त्वं जयेः कीर्तियुक्तः ॥ १७ ॥
तथा लोका मानुषा ये च दिव्याः प्रजापतेश्चापि ये वै महान्तः ।
ते ते जिता देवराज्यं च कृत्स्नं बृहस्पतिर्याजयेच्चेन्नरेन्द्र ॥ १८ ॥
संवर्त उवाच– मा स्मैव त्वं पुनरागाः कथंचिद् बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
मा त्वां धक्ष्ये चक्षुषा दारुणेन संक्रुद्धोऽहं पावक त्वं निबोध ॥ १९ ॥
व्यास उवाच– ततो देवानगमद्धूमकेतुर्दाहाद्भीतो व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत् ।
तं वै दृष्ट्वा प्राह शक्रो महात्मा बृहस्पतेः सन्निधौ हव्यवाहम् ॥ २० ॥

देवगण भी उनके वशीभूत हुए हैं; परन्तु तुम देवराजका वचन सुनो। वह तुम्हारे सहित प्रीति तथा तुम्हें अमर करनेके अभिलाषी हुए हैं और बृहस्पतिको तुम्हें देनेके लिये उन्होंने मुझे तुम्हारे निकट भेजा है। हे राजन्! वह सुरगुरु बृहस्पति तुम्हारा याजनकर्म करेंगे। (१४-१५)

मरुत्त बोले, ये द्विजसत्तम संवर्त ही मेरा याजनकर्म करेंगे, उस बृहस्पतिके निकट मैं हाथ जोडता हूं; उनसे अब मेरा प्रयोजन नहीं है और महेन्द्रका यज्ञ कराके इस समय मरणशील मनुष्यका याजनकर्म करानेसे उनकी वैसी प्रतिमा न रहेगी। (१६)

अग्निदेव बोले, यदि बृहस्पति तुम्हारा याजनकर्म करें, तो देवराजकी कृपासे देवलोकके बीच तुम्हें सब उत्तम स्थान प्राप्त होंगे और तुम महायशस्वी होकर निश्चय ही स्वर्ग जय करोगे। हे नरेन्द्र! इसके अतिरिक्त यदि बृहस्पति तुम्हारा यज्ञकर्म करेंगे, तो तुम मनुष्यलोक, देवलोक, समस्त देवराज्य तथा प्रजापतिके बनाये हुए जितने लोक हैं, उन सबका जय कर सकोगे। (१७-१८)

संवर्त बोले, हे पावक! तुम बृहस्पतिको मरुत्तके निकट देनेके लिये कदापि इस प्रकार फिर न आना। यदि तुम फिर आओगे, तो निश्चय जान रखो, कि मैं क्रुद्ध होकर दारुण दृष्टिके द्वारा तुम्हें भस्म करूंगा। व्यासदेव बोले, अनन्तर धूमकेतु अग्निदेव जलनेके

यस्त्वं गतः प्रहितो जातवेदो बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
तत्किं प्राह स नृपो यक्ष्यमाणः कच्चिद्वचः प्रतिगृह्णाति तच ॥ २१ ॥
अग्निरुवाच- न ते वाचं रोचयते मरुत्तो बृहस्पतेरञ्जलिं प्राहिणोत्सः ।
संवर्तो मां याजयितेत्युवाच पुनः पुनः स मया याच्यमानः ॥ २२ ॥
उवाचेदं मानुषा ये च दिव्याः प्रजापतेर्ये च लोका महान्तः ।
तांश्चेल्लभेयं संविदं तेन कृत्वा तथापि नेच्छेयमिति प्रतीतः ॥ २३ ॥
इन्द्र उवाच- पुनर्गत्वा पार्थिवं त्वं समेत्य वाक्यं मदीयं प्रापय स्वार्थयुक्तम् ।
पुनर्यद्युक्तो न करिष्यते वचस्ततो वज्रं संप्रहर्ताऽस्मि तस्मै ॥ २४ ॥
अग्निरुवाच- गन्धर्वराड्यात्वयं तत्र दूतो बिभेम्यहं वासव तत्र गन्तुम् ।
संरब्धो मामब्रवीत्तीक्ष्णरोषः संवर्तो वाक्यं चरितब्रह्मचर्यः ॥ २५ ॥
यद्यागच्छेः पुनरेवं कथंचिद् बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
दहेयं त्वां चक्षुषा दारुणेन संक्रुद्ध इत्येतदवैहि शक्र ॥ २६ ॥

भयसे अश्वत्थपत्रकी भांति कांपकर देवताओंके निकट गये । तब महात्मा शक्र हव्यवाहक अग्निको बृहस्पतिके निकट देखकर उनसे कहने लगे । इन्द्र बोले, हे जातवेद ! तुम जो बृहस्पतिको मरुत्तके समीप देनेके लिये मेरी प्रेरणासे उसके निकट गये थे, उस विषयमें क्या हुआ ? वह यज्यमान पृथ्वीपति मरुत्त क्या बोला ? उसने उस वचनका स्वीकार किया है न ? (१९-२१)

अग्निदेव बोले, मैंने मरुत्तको बार-बार आपका वचन सुनाया, परन्तु वह उसमें सम्मत न हुआ; किन्तु वह बृहस्पतिको हाथ जोडके बोला, " संवर्त ही मेरा याजनकर्म करेंगे । " और उसने यह वचन कहा, कि मनुष्यलोक, स्वर्गलोक तथा प्रजापतिने जिन सब उत्कृष्ट लोकोंकी सृष्टि की है, मैं उन्हें पानेके लिये अभिलाष नहीं करता; यदि मेरे मनमें वैसी इच्छा होती, तो मैं उनके सङ्ग सम्भाषण करता । (२२-२३)

इन्द्र बोले, तुम फिर उस पृथ्वीपति मरुत्तके समीप जाके मेरे इस अर्थयुक्त वचनसे उसे सावधान करो; यदि वह फिर तुम्हारे वचनको प्रतिपालन न करेगा, तो मैं उसके ऊपर वज्रसे प्रहार करूंगा । (२४)

अग्निदेव बोले, हे वासव ! यह गन्धर्वराज दूत होकर वहां जांय, फिर वहां जानेमें मुझे भय होता है, क्योंकि उस ब्रह्मचर्यसम्पन्न तीक्ष्ण रोषसे युक्त संवर्तने संरम्भपूर्वक मुझे कहा है, कि यदि तुम बृहस्पतिको मरुत्तके समीप देनेके लिये फिर यहांपर आओगे, तो

शक्र उवाच- त्वमेवान्यान्दहसे जातवेदो न हि त्वदन्यो विद्यते भस्मकर्ता।
त्वत्संस्पर्शात्सर्वलोको बिभेति अश्रद्धेयं वदसे हव्यवाह ॥ २७ ॥
अग्निरुवाच- दिवं देवेन्द्र पृथिवीं च सर्वां संवेष्टयेस्त्वं स्वबलेनैव शक्र ।
एवंविधस्येह सतस्तवासौ कथं वृत्रस्त्रिदिवं प्राग्जहार ॥ २८ ॥
इन्द्र उवाच-- नगण्डिकाकारयोगं करोऽणुं न चारिसोमं प्रपिबामि वह्ने ।
न क्षीणशक्तौ प्रहरामि वज्रं को मे सुखाय प्रहरेत मर्त्यः ॥ २९ ॥
प्रव्राजयेयं कालकेयान्पृथिव्यामपाकर्षन्दानवानन्तरिक्षात् ।
दिवः प्रह्लादमवसानमानयं को मे सुखाय प्रहरेत मानवः ॥ ३० ॥
अग्निरुवाच- यत्र शर्यातिं च्यवनो याजयिष्यन्सहाश्विभ्यां सोममगृह्णदेकः
तं त्वं क्रुद्धः प्रत्यषेधीः पुरस्ताच्छर्यातियज्ञं स्मर तं महेन्द्र ॥ ३१ ॥
वज्रं गृहीत्वा च पुरन्दर त्वं संप्राहार्षीश्च्यवनस्यातिघोरम् ।

मैं क्रुद्ध होकर दारुण दृष्टिके सहारे तुम्हें जला दूंगा। (२५—२६)

इन्द्र बोले, हे जातवेद ! तुम सबको जलाया करते हो, तुम्हारे अतिरिक्त कोई भस्मकर्ता विद्यमान नहीं है और तुम्हारे संस्पर्शसे ही सब लोग भयभीत हुआ करते हैं। हे हव्यवाह ! इसलिये तुमने जो कहा, वह मुझे अश्रद्धेय बोध होता है। (२७)

अग्निदेव बोले, हे देवेन्द्र ! आपने निज-बलसे स्वर्ग, मृत्यु और अन्तरिक्ष, इन तीनों लोकोंका वेष्टन किया है, परन्तु ऐसे त्रिलोकविहारी आपके यहां-पर विद्यमान रहते भी पहले वृत्रासुरने किस प्रकार स्वर्गको हरण किया था ? (२८)

इन्द्र बोले, हे अग्नि ! मैं पर्वतोंका मशक प्रभृतिकी भांति सूक्ष्म कर सकता हूं, परन्तु मैं शत्रुओंका सोमपान नहीं करता, इससे वृत्रासुरने मेरी आराधना नहीं की और मैं निर्बल पुरुषके ऊपर वज्र नहीं चलाता, इसीसे वह मेरे द्वारा निर्जित नहीं हुआ; तथापि कोई मनुष्य मेरे ऊपर प्रहार करके सुखसे नहीं रह सकता। हे अग्नि ! इसके अतिरिक्त मैं कालकेय असुरोंको पृथ्वीमें प्रव्राजित किया है, अन्तरिक्षसे दानवोंके दलको दूर किया है और प्रह्लादको स्वर्गमें बसाया है; इसलिये कौन मनुष्य सुखमें रहनेके लिये मुझपर प्रहार करेगा ? (२९—३०)

अग्निदेव बोले, हे महेन्द्र ! पहले च्यवनने अश्विनीकुमारोंके सहित शर्यातिका यज्ञ कराके अकेले ही सोमपान कराया था; आपने उनके ऊपर क्रुद्ध होकर जो शर्यातिका यज्ञ निवारण

स ते विप्रः सह वज्रेण बाहुमपागृह्णात्तपसा जातमन्युः ॥ ३२ ॥
ततो रोषात्सर्वतो घोररूपं सपत्नं ते जनयामास भूयः ।
मदं नामासुरं विश्वरूपं यं त्वं दृष्ट्वा चक्षुषी संन्यमीलः ॥ ३३ ॥
हनुरेका जगतीस्था तथैका दिवं गता महतो दानवस्य ।
सहस्रं दन्तानां शतयोजनानां सुतीक्ष्णानां घोररूपं बभूव ॥ ३४ ॥
वृत्ताः स्थूला रजतस्तम्भवर्णा दंष्ट्राश्चतस्रो द्वे शते योजनानाम् ।
स त्वां दन्तान्विदशन्नभ्यधावज्जिघांसया शूलमुद्यम्य घोरम् ॥ ३५ ॥
अपश्यस्त्वं तं तदा घोररूपं सर्वे वै त्वां ददृशुर्दर्शनीयम् ।
यस्माद्भीतः प्राञ्जलिस्त्वं महर्षिमागच्छेथाः शरणं दानवघ्न ॥ ३६ ॥
क्षात्राद्बलाद्ब्रह्मबलं गरीयो न ब्रह्मतः किंचिदन्यद्गरीयः ।
सोऽहं जानन्ब्रह्मतेजो यथावन्न संवर्तं जेतुमिच्छामि शक्र ॥ ३७ ॥
इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधिके पर्वणि संवर्तमरुत्तीये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥
इन्द्र उवाच–एवमेतद् ब्रह्मबलं गरीयो न ब्राह्मणात्किंचिदन्यद्गरीयः ।

किया था, उसे एक बार स्मरण करिये। हे पुरन्दर ! आप वज्र ग्रहण करके च्यवनके ऊपर घोर प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए थे, उस विप्रने क्रुद्ध होकर तपोबलसे वज्रके सहित आपकी भुजा ग्रहण की थी। अनन्तर उन्होंने क्रुद्ध होकर आपके लिये फिर एक ऐसा शत्रु उत्पन्न किया, कि आपने उस विश्वरूप भयङ्कर मद नाम असुरको देखते ही उस समय नेत्र मूंद लिये थे। उस दानवका एक बड़ा ओठ पृथ्वी और दूसरा स्वर्गमें व्याप्त था, एक सौ योजन-पर्यन्त उसके तीक्ष्ण दांत थे; उनमेंसे चार दांत वृत्त और स्थूल रजतस्तम्भकी भांति सफेद दो सौ योजन लम्बे थे; वह मद आपको मारनेकी इच्छासे दांतोंको कटकटाता हुआ घोर शूल उठाके तुम्हारी ओर दौड़ा था। उस समय उस घोररूपवाले असुरको देखकर आप ऐसे हुए थे, कि सब कोई दर्शनीयकी भांति तुम्हारी ओर देखने लगे। अनन्तर आप उससे डरके हाथ जोड़कर उस महर्षि च्यवनके शरणागत हुए। हे शक्र ! क्षत्रबलसे ब्रह्मबल श्रेष्ठ है, ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ कोई भी नहीं है, इसलिये मैं ब्रह्मतेजको विशेष रीतिसे जानके संवर्तको जय करनेकी इच्छा नहीं करता। (३१—३७).

आश्वमेधिकपर्वमें ९ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें १० अध्याय।

इन्द्र बोले, यह सत्य है, कि सब बलोंसे ब्रह्मबल महत्तम और ब्राह्मणोंसे

आविक्षितस्य तु बलं न मृष्ये वज्रमस्मै प्रहरिष्यामि घोरम् ॥ १ ॥
धृतराष्ट्र प्रहितो गच्छ मरुत्तं संवर्तेन संगतं तं वदस्व।
बृहस्पतिं त्वमुपशिक्षस्व राजन्वज्रं वा ते प्रहरिष्यामि घोरम् ॥ २ ॥
व्यास उवाच- ततो गत्वा धृतराष्ट्रो नरेन्द्रं प्रोवाचेदं वचनं वासवस्य ॥ ३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच- गन्धर्वं मां धृतराष्ट्रं निबोध त्वामागतं वक्तुकामं नरेन्द्र।
ऐन्द्रं वाक्यं शृणु मे राजसिंह यत्प्राह लोकाधिपतिर्महात्मा ॥ ४ ॥
बृहस्पतिं याजकं त्वं वृणीष्व वज्रं वा ते प्रहरिष्यामि घोरम्।
वचश्चेदेतन्न करिष्यसे मे प्राहैतदेतावदचिन्त्यकर्मा ॥ ५ ॥
मरुत्त उवाच- त्वं चैवैतद्वेत्थ पुरन्दरश्च विश्वेदेवा वसवश्चाश्विनौ च।
मित्रद्रोहे निष्कृतिर्नास्ति लोके महत्पापं ब्रह्महत्यासमं तत् ॥ ६ ॥
बृहस्पतिर्याजयतां महेन्द्रं देवश्रेष्ठं वज्रभृतां वरिष्ठम्।
संवर्तो मां याजयिताऽद्य राजन्न ते वाक्यं तस्य वा रोचयामि ॥ ७ ॥
गन्धर्व उवाच- घोरो नादः श्रूयतां वासवस्य नभस्तले गर्जतो राजसिंह।

दूसरा कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। परंतु अविक्षितपुत्र मरुत्तके बलको मैं कदापि न सहूंगा; उसके ऊपर घोर वज्रसे प्रहार करूंगा। हे धृतराष्ट्र! इसलिये तुम मेरे भेजनेसे संवर्तके सहित मिलके उस मरुत्तसे यह वचन बोलो, कि महाराज! तुम बृहस्पतिके निकट शिक्षित हो, यदि तुम ऐसा न करोगे, तो इन्द्र तुम्हारे ऊपर घोर वज्रसे प्रहार करेंगे। व्यासदेव बोले, तिसके अनन्तर गन्धर्व धृतराष्ट्र पृथ्वीपति मरुत्तके समीप जाकर उनसे इन्द्रका वचन कहने लगा। (१—३)

धृतराष्ट्र बोले, हे नरेन्द्र! आप मुझे धृतराष्ट्र गन्धर्व जानिये, मैं आपसे इन्द्रका वचन कहनेकी इच्छासे तुम्हारे समीप आया हूं। हे राजन्! इसलिये लोकाधिपति महात्मा महेन्द्रने आपको जो कहा है, उसे सुनिये। आपको इतना ही कहा है, कि तुम बृहस्पतिको यज्ञमें याजक रूपसे स्वीकार करो। यदि इस वचनको पालन न करोगे, तो मैं तुम्हारे ऊपर घोर वज्रसे प्रहार करूंगा। (४—५)

मरुत्त बोले, आप, पुरन्दर, विश्वदेव, वसुगण और अश्विनीकुमार, ये सब कोई जान रखें, कि इस लोकमें मित्रद्रोही पुरुषकी निष्कृति नहीं होती। मित्रद्रोह महापाप है और वह ब्रह्महत्याके सदृश है। हे राजन्! इस समय बृहस्पति और इन्द्रके वचनमें मेरी अभिरुचि नहीं होती है; बृहस्पति उस वज्रधारी महेन्द्रका याजनकर्म करें और मेरा यज्ञकर्म संवर्त करेंगे। (६—७)

व्यक्तं वज्रं मोक्ष्यते ते महेन्द्रः क्षेमं राजंश्चिन्त्यतामेष कालः ॥ ८ ॥
व्यास उवाच– इत्येवमुक्तो धृतराष्ट्रेण राजन् श्रुत्वा नादं नदतो वासवस्य ।
तपोनित्यं धर्मविदां वरिष्ठं संवर्तं तं ज्ञापयामास कार्यम् ॥ ९ ॥
मरुत्त उवाच– इममात्मानं प्लवमानमाराद्ध्वा दूरं तेन न दृश्यतेऽद्य ।
प्रपद्येऽहं शर्म विप्रेन्द्र त्वत्तः प्रयच्छ तस्मादभयं विप्रमुख्य ॥ १० ॥
अयमायाति वै वज्री दिशो विद्योतयन्दश ।
अमानुषेण घोरेण सदस्यास्त्रासिता हि नः ॥ ११ ॥
संवर्त उवाच– भयं शक्राद्व्येतु ते राजसिंह प्रणोत्स्येऽहं भयमेतत्सुघोरम् ।
संस्तम्भिन्या विद्यया क्षिप्रमेव मा भैस्त्वमस्याभिभवात्प्रतीतः ॥ १२ ॥
अहं संस्तम्भयिष्यामि मा भैस्त्वं शक्रतो नृप ।
सर्वेषामेव देवानां क्षपितान्यायुधानि मे ॥ १३ ॥
दिशो वज्रं व्रजतां वायुरेतु वर्षं भूत्वा वर्षतां काननेषु ।
आपः प्लवन्त्वन्तरिक्षे वृथा च सौदामनी दृश्यते माऽपि भैस्त्वम् ॥१४॥

गन्धर्व बोला, हे राजसिंह ! आप नभस्थलमें गर्जनेवाले इन्द्रका घोर शब्द सुनिये । सहस्रलोचन स्पष्टरूपसे ही आपके ऊपर वज्र छोडेंगे । हे राजन् ! इसलिये अब आप अपने कुशलका विचार करिये । व्यासदेव बोले, पृथ्वीपति मरुत्त धृतराष्ट्र गन्धर्वका ऐसा वचन और नभस्थलमें उत्कट शब्दायमान इन्द्रका शब्द सुनकर धर्मवित् पुरुषोंमें वरिष्ठ संवर्तको शक्रका कार्य सुनाने लगे । ८–९

मरुत्त बोले, हे विप्रेन्द्र ! आज समीपमें ही मेघ उदय होनेसे निकटमें ही इन्द्र दीख पडते हैं, इसलिये अपने सुखलाभकी सम्भावना नहीं देखता । हे विप्रवर ! आप इन्द्रसे मुझे अभयदान करिये । यह वज्रधारी पुरन्दर भयङ्कर अमानुषरूपसे दशों दिशाओंको प्रकाशित कर मेरे सदस्योंको त्रासित करते हुए आ रहे हैं । (१०)

संवर्त बोले, हे राजसिंह ! तुम्हें शत्रुसे भय न होगा; मैं शीघ्र ही स्तम्भिनी विद्याके सहारे तुम्हारे इस घोर भयको खण्डन करूंगा; इसलिये तुम धीरज धरो; इन्द्रके अभिभवसे कदापि भयभीत न होना । हे नरनाथ ! तुम इन्द्रसे मत डरो, मेरे स्तम्भन करनेसे ही देवताओंके सब अस्त्र निष्फल होंगे । वज्र दिशा दिशामें गमन करे, वायु बादल होकर इस स्थानमें आकर वनके बीच जलकी वर्षा करे और समस्त जल आकाशमें प्लावित होवे । हे महाराज ! यह जो बिजली दीख

बृहद्देवस्त्रातु वा सर्वतस्ते कामान्सर्वान्वर्षतु वासवो वा ।
वज्रं तथा स्थापयतां वधाय महाघोरं प्लवमानं जलौघैः ॥ १५ ॥
मरुत्त उवाच- घोरः शब्दः श्रूयते वै महास्वनो वज्रस्यैष सहितो मारुतेन ।
आत्मा हि मे प्रव्यथते मुहुर्मुहुर्न मे स्वास्थ्यं जायते चाद्य विप्र ॥ १६ ॥
संवर्त उवाच- वज्रादुग्राद्व्येतु भयं तवाद्य वातो भूत्वा हन्मि नरेन्द्र वज्रम् ।
भयं त्यक्त्वा वरमन्यं वृणीष्व कं ते कामं मनसा साधयामि ॥ १७ ॥
मरुत्त उवाच- इन्द्रः साक्षात्सहसाऽभ्येतु विप्र हविर्यज्ञे प्रतिगृह्णातु चैव ।
स्वं स्वं धिष्ण्यं चैव जुषन्तु देवा हुतं सोमं प्रतिगृह्णन्तु चैव ॥ १८ ॥
संवर्त उवाच- अयमिन्द्रो हरिभिरायाति राजन्देवैः सर्वैस्त्वरितैः स्तूयमानः ।
मन्त्राहूतो यज्ञमिमं मयाऽद्य पश्यस्वैनं मन्त्रविस्रस्तकायम् ॥ १९ ॥
ततो देवैः सहितो देवराजो रथे युक्त्वा तान्हरीन्वाजिमुख्यान् ।
आयाद्यज्ञमथ राज्ञः पिपासुराविक्षितस्याप्रमेयस्य सोमम् ॥ २० ॥

पडती है, वह व्यर्थ है, उससे मत डरो। हे महाराज! इंद्रने जो तुम्हारे वधके निमित्त जलसमूहसे प्लवमान घोर अशनि यथा-स्थानमें स्थापित किया है, उसे करे, उससे तुम भयभीत न होना; क्यों कि अग्निदेव तुम्हारी सब भांतिसे रक्षा करेंगे तथा समस्त कामना पूर्ण करेंगे। (११—१५)

मरुत्त बोले, हे विप्रवर! वायुके सहित अशनि का यह महास्वनयुक्त भयंकर शब्द मेरे श्रवण-विविरमें प्रविष्ट होनेसे मेरा आत्मा बार बार व्यथित होता है, इसलिये किसी प्रकार भी मेरा स्वास्थ्य नहीं होता है। (१६)

संवर्त बोले, हे नरनाथ! इस उग्र वज्रसे तुम्हारा भय दूर होवे, मैं इसी समय वायु होकर वज्रको निरस्त करता हूं, इसलिये तुम भय परित्याग करो और तुम्हारे मनमें जो अभिलाष हो, वह वर मांगो; मैं उसे सिद्ध करूंगा। (१७)

मरुत्त बोले, हे विप्रवर! इन्द्र प्रत्यक्ष होकर यज्ञमें सहसा आके हवि प्रतिग्रह करें और देवगण अपना अपना यज्ञभाग ग्रहण करके सोमपान करें, मैं यही वर मांगता हूं। (१८)

संवर्त बोले, हे महाराज! आज मैं मन्त्रके द्वारा इन्द्रको सशरीर आकर्षण करता हूं, शीघ्रता के सहित देवताओंके द्वारा स्तूयमान वह इन्द्र मेरे मन्त्रके द्वारा आकर्षित होकर घोडोंके सहारे इस यज्ञमें आ रहा है, तुम प्रत्यक्ष इन्द्रको अवलोकन करो। (१९)

अनन्तर देवराज उन सर्वोत्कृष्ट घोडोंको रथमें युक्त करके देवताओंके

तमायान्तं सहितं देवसङ्घैः प्रत्युद्ययौ सपुरोधा मरुत्तः।
चक्रे पूजां देवराजाय चाग्र्यां यथाशास्त्रं विधिवत्प्रीयमाणः ॥ २१ ॥
संवर्त उवाच– स्वागतं ते पुरुहूतेह विद्वन्यज्ञोऽप्ययं सन्निहिते त्वयीन्द्र ।
शोशुभ्यते बलवृत्रघ्न भूयः पिबस्व सोमं सुतमुद्यतं मया ॥ २२ ॥
मरुत्त उवाच– शिवेन मां पश्य नमश्च तेऽस्तु प्राप्तो यज्ञः सफलं जीवितं मे ।
अयं यज्ञं कुरुते मे सुरेन्द्र बृहस्पतेरवरजो विप्रमुख्यः ॥ २३ ॥
इन्द्र उवाच– जानामि ते गुरुमेनं तपोधनं बृहस्पतेरनुजं तिग्मतेजसम् ।
यस्याह्वानादागतोऽहं नरेन्द्र प्रीतिर्मेऽद्य त्वयि मन्युः प्रणष्टः ॥ २४ ॥
संवर्त उवाच– यदि प्रीतस्त्वमसि वै देवराज तस्मात्स्वयं शाधि यज्ञे विधानम् ।
स्वयं सर्वान्कुरु भागान्सुरेन्द्र जानात्वयं सर्वलोकश्च देव ॥ २५ ॥
व्यास उवाच– एवमुक्तस्त्वाङ्गिरसेन शक्रः समादिदेश स्वयमेव देवान् ।
सभाः क्रियन्तामावसथाश्च मुख्याः सहस्रशश्चित्रभूताः समृद्धाः ॥२६॥

सहित अविक्षितपुत्र अप्रमेयात्मा मरुत्तके यज्ञमें आके सोमपान करने लगे। मरुत्तने पुरोधा संवर्तके साथ देवताओंके सहित समागत इन्द्रको देखके उठकर अभिवादन करके प्रसन्न चित्तसे शास्त्रके अनुसार देवराजकी उत्तम रीतिसे कुशल आदि पूंछके पूजा की और संवर्त देवराजसे स्वागतप्रश्न करने लगे। संवर्त बोले, हे पुरुहूत! आपका कुशल है न? हे विद्वन्! आज आपके यहां आनेसे यह यज्ञ अत्यन्तही शोभित हुआ। हे बलवृत्रहन्! इसलिये आज आप मेरे द्वारा तैयार हुए, यह सोम फिर पान करिये। (२०—२२)

मरुत्त बोले, हे सुरेन्द्र! आपको नमस्कार है, आप कुशलनेत्रसे मुझे देखिये; इस यज्ञमें आपके आनेसे मेरा जीवन सफल हुआ। हे सुरराज! बृहस्पतिके कनिष्ठ भाई यह विप्रश्रेष्ठ संवर्त मेरा यज्ञ करते हैं। (२३)

इन्द्र बोले, हे नरनाथ! तुम्हारे गुरु बृहस्पतिके भ्राता तिग्मतेजस्वी तपोधन संवर्तको मैं जानता हूं, इनके आह्वानसे ही मुझे आना पडा है। आज मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ, तुम्हारे विषयमें जो मेरा कोप था, वह नष्ट हुआ। (२४)

संवर्त बोले, हे देवराज! यदि आप प्रसन्न हुए हैं, तो स्वयं यज्ञका विधान कहिये और स्वयं समस्त करिये। हे देव! इन सब लोकोंको देवराजकृत जानिये। (२५)

व्यासदेव बोले, इन्द्रने अङ्गिरापुत्र संवर्तका ऐसा वचन सुनकर स्वयं देवताओंको आज्ञा दी, कि तुम लोग चित्रित

कलशाः स्थूणाः कुरुतारोहणानि गन्धर्वाणामप्सरसां च शीघ्रम् ।
यत्र नृत्येरन्नप्सरसः समस्ताः स्वर्गोपमः क्रियतां यज्ञवाटः ॥ २७ ॥
इत्युक्तास्ते चक्रुराशु प्रतीता दिवौकसः शक्रवाक्यान्नरेन्द्र ।
ततो वाक्यं प्राह राजानमिन्द्रः प्रीतो राजन्पूज्यमानो मरुत्तम् ॥ २८ ॥
एष त्वयाऽहमिह राजन्समेत्य ये चाप्यन्ये तव पूर्वे नरेन्द्र ।
सर्वाश्चान्या देवताः प्रीयमाणा हविस्तुभ्यं प्रतिगृह्णन्तु राजन् ॥ २९ ॥
आग्नेयं वै लोहितमालभन्तां वैश्वदेवं बहुरूपं हि राजन् ।
नीलं चोक्षाणं मेध्यमप्यालभन्तां चलच्छिश्नं संप्रदिष्टं द्विजाग्र्याः॥३०॥
ततो यज्ञो ववृधे तस्य राजन् यत्र देवाः स्वयमन्नानि जह्रुः ।
यस्मिन् शक्रो ब्राह्मणैः पूज्यमानः सदस्योऽभूद्धरिमान्देवराजः ॥ ३१ ॥
ततः संवर्तश्चैत्यगतो महात्मा यथा वह्निः प्रज्वलितो द्वितीयः ।
हवींष्युच्चैराह्वयन्देवसंघान् जुहावाग्नौ मन्त्रवत्सुप्रतीतः ॥ ३२ ॥
ततः पीत्वा बलभित्सोममग्र्यं ये चाप्यन्ये सोमपा देवसंघाः ।
सर्वेऽनुज्ञाताः प्रययुः पार्थिवेन यथाजोषं तर्पिताः प्रीतिमन्तः ॥ ३३ ॥

की भांति सुन्दर अत्यन्त उत्कृष्ट एक हजार गृह और सभा तैयार करो। गन्धर्वों और अप्सराओंके चढनेके लिये शीघ्र ही समस्त सामान स्थूल तथा दृढ करो; यज्ञवाटके जिस स्थानमें अप्सरा-वृन्द नृत्य करेंगी, उसे स्वर्गकी भांति सुसज्जित करो। हे नरेन्द्र! स्वर्गवासी देववृन्द इन्द्रकी आज्ञानुसार शीघ्र ही उस कार्यमें नियुक्त हुए। अनन्तर इन्द्र पृथ्वीपति मरुत्तसे बोले, हे महाराज! मैं तुम्हारी पूजासे परम प्रसन्न हुआ। हे नरेन्द्र! इस स्थानमें तुम्हारे सङ्ग मेरे मिलनेसे आपके सब पूर्वपुरुषों और देवताओंने सन्तुष्ट होकर तुम्हारी हवि प्रतिग्रह की है। हे महाराज! इस समय ब्राह्मणश्रेष्ठगण, अग्निदेव सम्बन्धीय लोहित वर्ण और विश्वदेव संबन्धीय बहु-रूप तथा नीलवर्ण चलच्छिश्न पवित्र विधिबोधित वृषभ वध करें। (२६-३०)

हे महाराज! तिसके अनन्तर पृथ्वी-पति मरुत्तका यज्ञ वर्धित होने लगा। उस यज्ञमें स्वयं देवगण अन्न ग्रहण करने लगे और हरिमान् देवराज उस यज्ञमें सदस्य हुए। अनन्तर प्रज्वलित अग्निसदृश महात्मा संवर्तने चैत्यगत होकर ऊंचे स्वरसे देवताओंको आवाहन करके प्रसन्नचित्तसे अग्निमें घृताहुति प्रदान की। अनन्तर बलसूदन इन्द्रने पहले सोमपान किया और अन्य सब सोम पीनेवाले देवताओंने इन्द्रकी आज्ञा-

ततो राजा जातरूपस्य राशीन्पदे पदे कारयामास हृष्टः ।
द्विजातिभ्यो विसृजन् भूरि वित्तं रराज वित्तेश इवारिहन्ता ॥ ३४ ॥
ततो वित्तं विविधं सन्निधाय यथोत्साहं कारयित्वा च कोषम् ।
अनुज्ञातो गुरुणा संनिवृत्त्य शशास गामखिलां सागरान्ताम् ॥ ३५ ॥
एवंगुणः संबभूवेह राजा यस्य क्रतौ तत्सुवर्णं प्रभूतम् ।
तत्त्वं समादाय नरेन्द्र वित्तं यजस्व देवांस्तर्पयानो निवापैः ॥ ३६ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततो राजा पाण्डवो हृष्टरूपः श्रुत्वा वाक्यं सत्यवत्याः सुतस्य ।
मनश्चक्रे तेन वित्तेन यष्टुं ततोऽमात्यैर्मन्त्रयामास भूयः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अश्वमेधिके पर्वणि संवर्तमरुत्तीये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच- इत्युक्ते नृपतौ तस्मिन्व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
वासुदेवो महातेजास्ततो वचनमाददे ॥ १ ॥
तं नृपं दीनमनसं निहतज्ञातिबान्धवम् ।
उपप्लुतमिवादित्यं सधूममिव पावकम् ॥ २ ॥
निर्विण्णमनसं पार्थं ज्ञात्वा वृष्णिकुलोद्वहः ।

नुसार पृथ्वीपति मरुत्तके सहित सुख-पूर्वक सोमपान करके प्रसन्न और प्रीतियुक्त होकर प्रस्थान किया । अनन्तर शत्रुनाशन राजा मरुत्त कई स्थानोंमें सुवर्णका ढेर लगाकर ब्राह्मणोंको बहुतसा धन बांटते हुए धनाध्यक्ष कुबेरकी भांति विराजने लगे । अनन्तर उन्होंने उत्साह-पूर्वक विविध वित्त खजानेमें अर्पित करके गुरुकी आज्ञानुसार वहांसे निवृत्त होकर समुद्रसहित वसुन्धराका शासन किया । हे नरेन्द्र ! जिसके यज्ञमें बहुतसा सुवर्ण सञ्चित हुआ था, इस पृथ्वी-पर वह ऐसे गुणसम्पन्न राजा थे । तुम उस सुवर्णको मंगाकर विधिविधान-पूर्वक देवताओंका तर्पण करते हुए यज्ञको करो । (३१—३६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर सत्य-वतीसुत वेदव्यासका वचन सुनकर प्रसन्न होके उस धनसे यज्ञ करनेका निश्चय करके मन्त्रियोंके सङ्ग फिर विचार करने लगे । (३७)

आश्वमेधिकपर्वमें १० अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ११ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जब राजा युधिष्ठिर अद्भुतकर्म वेदव्यासका ऐसा वचन सुन चुके, तब महातेजस्वी वासु-देव कहने लगे । वृष्णिकुलोद्वह कृष्ण

आश्वासयन्धर्मसुतं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ३ ॥
वासुदेव उवाच— सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥ ४ ॥
नैव ते निष्ठितं कर्म नैव ते शत्रवो जिताः ।
कथं शत्रुं शरीरस्थमात्मनो नावबुध्यसे ॥ ५ ॥
अत्र ते वर्तयिष्यामि यथाधर्मं यथाश्रुतम् ।
इन्द्रस्य सह वृत्रेण यथा युद्धमवर्तत ॥ ६ ॥
वृत्रेण पृथिवी व्याप्ता पुरा किल नराधिप ।
दृष्ट्वा स पृथिवीं व्याप्तां गन्धस्य विषये हृते ॥ ७ ॥
धराहरणदुर्गन्धो विषयः समपद्यत ।
शतक्रतुश्चुकोपाथ गन्धस्य विषये हृते ॥ ८ ॥
वृत्रस्य स ततः क्रुद्धो घोरं वज्रमवासृजत् ।
स वध्यमानो वज्रेण सुभृशं भूरितेजसा ॥ ९ ॥
विवेश सहसा तोयं जग्राह विषयं ततः ।
अप्सु वृत्रगृहीतासु रसे च विषये हृते ॥ १० ॥

धर्मपुत्र पृथानंदन राजा युधिष्ठिरको बन्धु तथा स्वजनोंके मारे जानेसे धुएंयुक्त अग्नि और राहुग्रस्त सूर्यकी भांति निष्प्रभ, दीनचित्त तथा खिन्नमन देखकर आश्वास वचनके सहारे आश्वासित करते हुए कहनेको उद्यत हुए। (१—३)

श्रीकृष्ण बोले, हे राजन् ! सब भांतिकी कुटिलता मृत्युका स्थान और सब प्रकारकी सरलता ब्रह्मपद है; इतना ही ज्ञानका विषय है, मनुष्यगण विशेष रीतिसे इसे जाननेसे कुछ भी प्रलाप नहीं कर सकते। हे महाराज ! आपके कर्म निःशेषित और शत्रुगण पराजित नहीं हुए, क्यों कि आप निज शरीरमें रहनेवाले शत्रुको नहीं जान सकते हैं। इसलिये मैं आपके समीप यथाधर्म तथा यथाश्रुत इन्द्र और वृत्रासुरके युद्धका वृत्तान्त वर्णन करता हूं। हे नरनाथ ! पहले समयमें वृत्रासुरके द्वारा पृथ्वी व्याप्त होनेसे गन्धका विषय हृत तथा पृथ्वीहरणजनित दुर्गन्ध उत्पन्न हुई; उसे देखकर इन्द्र वृत्रके ऊपर क्रुद्ध हुए। अनन्तर इन्द्रने क्रुद्ध होकर उसके ऊपर वज्र चलाया। वृत्र उस अत्यन्त तेजस्वी इन्द्रके वज्रसे बहुत ही घायल होकर जलमें प्रविष्ट हुआ। वृत्रके द्वारा जल संगृहीत तथा जलका विषय रस अपहृत होनेपर इन्द्रने अत्यन्त क्रुद्ध होकर

शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।
स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ ११ ॥
विवेश सहसा ज्योतिर्जग्राह विषयं ततः ।
व्याप्ते ज्योतिषि वृत्रेण रूपेऽथ विषये हृते ॥ १२ ॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।
स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ १३ ॥
विवेश सहसा वायुं जग्राह विषयं ततः ।
व्याप्ते वायौ तु वृत्रेण स्पर्शेऽथ विषये हृते ॥ १४ ॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।
स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ १५ ॥
आकाशमभिदुद्राव जग्राह विषयं ततः ।
आकाशे वृत्रभूतेऽथ शब्दे च विषये हृते ॥ १६ ॥
शतक्रतुरभिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।
स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ १७ ॥
विवेश सहसा शक्रं जग्राह विषयं ततः ।
तस्य वृत्रगृहीतस्य मोहः समभवन्महान् ॥ १८ ॥
रथन्तरेण तं तात वसिष्ठः प्रत्यबोधयत् ।

उसके ऊपर वज्र छोडा । तब वृत्र उस अमिततेजस्वी इन्द्रके वज्रसे अत्यन्त घायल होकर सहसा अग्निके बीच प्रविष्ट हुआ । अनन्तर वृत्रने अग्निके बीच प्रवेश करके तेजग्रहण तथा तेजके विषय रूपको हरण किया; तब इन्द्रने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसके ऊपर वज्र छोडा । अनन्तर वृत्रासुरने अमित-पराक्रमी बलसूदनके वज्रसे वध्यमान होकर सहसा वायुके बीच प्रवेश किया । उस समय वृत्रासुरके द्वारा वायु व्याप्त और वायुका विषय स्पर्श अपहृत होनेपर फिर इन्द्रने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसके ऊपर वज्र चलाया । अनन्तर वृत्रासुर अमित-तेजस्वी इन्द्रके वज्रसे घायल होकर आकाशमें गया । उसके अनन्तर वृत्रासुरके द्वारा आकाश व्याप्त और आकाशका विषय शब्द अपहृत होनेपर इन्द्रने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसके ऊपर वज्र चलाया । तब वृत्रासुरने अमित-तेजस्वी इन्द्रके वज्रसे घायल होकर सहसा उन्हें ही ग्रहण किया और इन्द्र वृत्रासुरके द्वारा पकडे जानेपर महान् मोहको प्राप्त हुए । हे तात भरतर्षभ !

ततो वृत्रं शरीरस्थं जघान भरतर्षभ ।
शतक्रतुरदृश्येन वज्रेणेतीह नः श्रुतम् ॥ १९ ॥
इदं धर्म्यं रहस्यं वै शक्रेणोक्तं महर्षिषु ।
ऋषिभिश्च मम प्रोक्तं तन्निबोध जनाधिप ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अश्वमेधिके पर्वणि कृष्णधर्मसंवादे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

वासुदेव उवाच– द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा ।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥
शरीरे जायते व्याधिः शारीरः स निगद्यते ।
मानसे जायते व्याधिर्मानसस्तु निगद्यते ॥ २ ॥
शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणा राजन् शरीरजाः ।
तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ ३ ॥
उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं च बाध्यते ।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रय आत्मगुणाः स्मृताः ॥ ४ ॥
तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ।

हमने ऐसा सुना है, कि जब इन्द्र वृत्रासुरके द्वारा पकडे जानेपर अत्यन्त विमोहित हुए उस समय वसिष्ठने उन्हें सावधान किया, तब उन्होंने अदृश्य वज्रके सहारे निज शरीरस्थ उस वृत्रासुरका वध किया । हे जननाथ ! तुमने जिस विषयको सुना, इस धर्मरहस्यको इन्द्रने पहले महर्षियोंके निकट और महर्षियोंने मेरे समीप वर्णन किया था । (४-२०)

आश्वमेधिकपर्वमें ११ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें १२ अध्याय ।

श्रीकृष्णचन्द्र बोले, हे महाराज ! शारीरिक और मानसिक, ये दो प्रकारकी व्याधि उत्पन्न होती हैं, परन्तु परस्परके सहयोगसे ही उनकी उत्पत्ति हुआ करती है । जो व्याधि शरीरसे उत्पन्न होती है, वह शारीरिक और जो मनसे उत्पन्न होती है, वह मानसिक कहाती है । राजन् ! सर्दी, गर्मी अर्थात् कफ और पित्त तथा वायु, ये शरीरके गुण हैं, इन गुणोंकी साम्यावस्थाको ही पण्डित लोग स्वस्थ शरीरका लक्षण कहा करते हैं । परन्तु सर्दी, गर्मी अर्थात् कफ और पित्त, इन दोनोंके बीच एककी अधिकता होनेसे इतरवर्धक औषधादिके सहारे उससे उत्पन्न हुए दोषोंको दूर करे । सत्त्व, रज और तम,

तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते ॥ ५ ॥
हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते।
कश्चिद्दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति
कश्चित्सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥ ६ ॥
स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी सुसुखस्य च।
स्मर्तुमिच्छसि कौन्तेय किमन्यद्दुःखविभ्रमात् ॥ ७ ॥
अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थावकृष्यसे।
दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम्।
मिषतां पाण्डवेयानां न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ८ ॥
प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम्।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ९ ॥
जटासुरात्परिक्लेशश्चित्रसेनेन चाहवः।
सैन्धवाच्च परिक्लेशो न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ १० ॥
पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधः।
याज्ञसेन्यास्तथा पार्थ न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ११ ॥
यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिन्दम।

ये तीनों ही आत्मगुण कहके वर्णित हुए हैं। इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था को ही पण्डित लोग स्वास्थ्य कहा करते हैं, परन्तु इनके बीच अन्यतमकी वृद्धि होनेपर उसके शान्तिको उपाय करना चाहिये। हे महाराज! शोकसे हर्ष और हर्षसे शोकमें बाधा हुआ करती है। कोई दुःखमें वर्तमान रहके सुखको और कोई सुखमें वर्तमान रहके दुःखको स्मरण करनेकी इच्छा करते हैं। हे कौन्तेय! परन्तु आप सुखदुःखरूपी दोनों व्याधियोंसे रहित होकर सुख वा दुःख किसीकी भी इच्छा नहीं करते हैं, तब क्या आप दुःखविभ्रमसे और कुछ इच्छा करते हैं? (१-७)

हे पृथापुत्र! अथवा यह दुःखित्वादिही आपका स्वभाव है, क्यों कि इसहीके द्वारा आप आकर्षित होते हैं। हे महाराज! आपने जो पाण्डवोंके सम्मुखमें रजस्वला एकवस्त्रवाली द्रौपदीको सभाके बीच आती हुई देखा था, इस समय उसे स्मरण करना आपको उचित नहीं है। नगरसे प्रवासित होना, मृगाजिन पहरना, महावनके बीच निवास, जटासुरसे क्लेश मिलना; चित्रसेनके सङ्ग संग्राम, सैन्धवके द्वारा क्लेश भोगना;

मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ १२ ॥
तस्मादभ्युपगन्तव्यं युद्धाय भरतर्षभ ।
परमव्यक्तरूपस्य पारं युक्त्या स्वकर्मभिः ॥ १३ ॥
यत्र नैव शरैः कार्यं न भृत्यैर्न च बन्धुभिः ।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ १४ ॥
तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि ।
एतज्ज्ञात्वा तु कौन्तेय कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १५ ॥
एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम् ।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अश्वमेधिके पर्वणि कृष्णधर्मसंवादे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

वासुदेव उवाच— न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत ।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा नवा ॥ १ ॥
बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेषु च गृद्ध्यतः ।

अज्ञातवासमें कीचकका द्रौपदीको लात मारना और भीष्म तथा द्रोणके सङ्ग युद्ध, इन विषयोंका अब आप स्मरण न करिये । हे अरिंदमन ! अकेले मनके सङ्ग युद्ध करना होता है; इस समय आपके लिये वही युद्ध उपस्थित हुआ है । हे भरतर्षभ ! इसलिये आप युद्धके निमित्त मनके सम्मुख होकर योग और निज कर्मोंके सहारे उस अव्यक्तरूप मनको जीतकर उससे पार होइये । हे महाराज ! जिस युद्धमें बाण, सेवक और बान्धवोंकी आवश्यकता नहीं है, केवल मनके सङ्ग युद्ध करना होता है, इस समय आपके लिये वही युद्ध उपस्थित हुआ है। उस युद्धको न जीतनेसे आपको दुःखकी बाहुल्यता प्राप्त होगी । हे कुन्तीनन्दन ! इसलिये आप इसे जानकर कार्य करनेसे कृतकार्य होंगे । हे महाराज ! आप इस बुद्धि और प्राणियोंकी गति तथा अगतिको विशेष रीतिसे निश्चय करते हुए पितृपितामह वृत्तिके अनुवर्ती होकर यथोचित राज्यशासन करिये । (८–१६)

आश्वमेधिकपर्वमें १२ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें १३ अध्याय।

श्रीकृष्ण बोले, हे भारत ! बाह्य राज्यादि परित्याग करनेसे सिद्धि अर्थात् मोक्ष नहीं होती; शारीरिक कामादिको परित्याग करनेसे ही मोक्ष हुआ करती है; परन्तु शुष्क वैराग्ययुक्त विवेक-

यो धर्मो यत्सुखं चैव द्विषतामस्तु तत्तथा ॥ २ ॥
द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ३ ॥
ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥ ४ ॥
अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत ।
भित्त्वा शरीरं भूतानामहिंसां प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥
लब्ध्वा हि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
ममत्वं यस्य नैव स्यात्किं तया स करिष्यति ॥ ६ ॥
अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः ।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥ ७ ॥
बाह्यान्तराणां शत्रूणां स्वभावं पश्य भारत ।
यन्न पश्यति तद्भूतं मुच्यते स महाभयात् ॥ ८ ॥
कामात्मानं न प्रशंसन्ति लोके नेहाकामा काचिदस्ति प्रवृत्तिः ।

विहीन मनुष्योंका मोक्षविषयमें निश्चय नहीं है । बाह्यवस्तु राज्यादिमें विरक्ति और शारीरिक वस्तु कामादिमें आसक्ति-युक्त पुरुषोंको जो धर्म और सुख होता है, शत्रुओंको वही प्राप्त होवे । संसार विषयमें ममतारूप द्व्यक्षर मृत्यु कहके वर्णित हुआ है और संसार विषयमें निर्ममतारूप त्र्यक्षर शाश्वत ब्रह्म कहा गया है । हे महाराज ! वह ब्रह्म और मृत्यु दोनोंही अदृश्य भावसे मनुष्य-चित्तके बीच विद्यमान रहके प्राणियोंको युद्धमें प्रवर्तित किया करते हैं । हे भारत ! यदि इस जगत् में अविनाश निश्चित होता तो कोई किसी प्राणीका शरीर भेद करनेसे उसे हिंसाजनित पाप न भोगना पडता । हे पृथापुत्र ! यदि कोई स्थावर जङ्गमोंके सहित समस्त पृथ्वीको पाके उसमें ममता न करता, तो यह पृथिवी उसके लिये फलदायिनी न होती और जो लोग वनवासी होकर वनके फलमूलोंसे जीविका निर्वाह करते हुए, बाह्यवस्तु राज्यादिमें ममता करते हैं, वे मृत्युमुखमें वास किया करते हैं (१—७)

हे भारत ! आप ध्यानयोगसे बाह्य तथा आन्तरिक शत्रु, राज्य और कामादिक मायाममत्वरूप स्वभाव अवलोकन करिये । जो लोग इस अनादि मायामय स्वभावको विशेष रीतिसे जान सकते हैं, वेही महाभयङ्कर संसारसे मुक्त हुआ

सर्वे कामा मनसोऽङ्गप्रभूता यान्पण्डितः संहरते विचिन्त्य ॥ ९ ॥
भूयो भूयो जन्मनोऽभ्यासयोगाद्योगी योगं सारमार्गं विचिन्त्य ।
दानं च वेदाध्ययनं तपश्च काम्यानि कर्माणि च वैदिकानि ॥ १० ॥
व्रतं यज्ञान्नियमान् ध्यानयोगान्कामेन यो नारभते विदित्वा ।
यद्यच्चायं कामयते स धर्मो नयो धर्मो नियमस्तस्य मूलम् ॥ ११ ॥

अत्र गाथाः कामगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
शृणु संकीर्त्यमानास्ता अखिलेन युधिष्ठिर ॥
नाऽहं शक्योऽनुपायेन हन्तुं भूतेन केनचित् ॥ १२ ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं ज्ञात्वा प्रहरणे बलम् ।
तस्य तस्मिन्प्रहरणे पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १३ ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ।
जङ्गमेष्विव धर्मात्मा पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १४ ॥

करते हैं। लोकसमाज कामनावान् पुरुषकी प्रशंसा नहीं करता और इस लोकमें कामना सबके मनकी अङ्गभूत होनेसे कामनाके विना किसी विषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये योगवित् पण्डित लोग बार बार जन्मके अभ्यास-योगसे शुद्धचित्त होकर सदा श्रेष्ठ मोक्षमार्गका ध्यान करते हुए समस्त कामनाओंका संहार किया करते हैं। जो मनुष्य "ये जो कामना करते हैं, वह धर्म नहीं है" इसे विशेष रीतिसे जानके कामनापूर्वक व्रत, यज्ञ और ध्यान योगका अनुष्ठान नहीं करते, वे कामना-निग्रहको ही धर्म और मोक्षमूल समझते है। हे युधिष्ठिर! परन्तु इस विषयमें कामके दुरुच्छेद्यत्ववादी पुराण जानने-वाले पण्डित लोग कामगीत बहुतसी गाथा कहा करते हैं। मैं आपके समीप वह गाथा पूरी रीतिसे कहता हूं, सुनिये। (८—१२)

काम कहता है, निर्ममता और योगाभ्यासरूपी उपायके अतिरिक्त कोई प्राणी भी मुझे जीतनेमें समर्थ नहीं होता। जो कामवान् मनुष्य मनके बीच मेरे बलको मालूम करके वागादि इन्द्रिय-साध्य जपादिरूपी शस्त्रसे मुझे नष्ट करनेके लिये यत्नवान् होता है, मैं उसके चित्तमें "मैंही सबसे उत्कृष्ट और जप-कर्ता हूं"–इसही प्रकार अभिमानरूपसे प्रकट होकर उसके जपादिको विफल किया करता हूं। जो पुरुष विविध दक्षिणायुक्त यज्ञके सहारे मुझे जीतनेमें प्रयत्नवान् होता है, उत्तम योनिमें उत्पन्न हुए धर्मात्मा मनुष्यकी भांति मैं उसके

यो मां प्रयतते नित्यं वेदैर्वेदान्तसाधनैः ।
स्थावरेष्विव भूतात्मा तस्य प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १५ ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं धृत्या सत्यपराक्रमः ।
भावो भवामि तस्याहं स च मां नाववुध्यते ॥ १६ ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं तपसा संशितव्रतः ।
ततस्तपसि तस्याथ पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १७ ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डितः ।
तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च ।
अवध्यः सर्वभूतानामहमेकः सनातनः ॥ १८ ॥
तस्मात्त्वमपि तं कामं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ।
धर्मे कुरु महाराज तत्र ते स भविष्यति ॥ १९ ॥
यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता ।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ॥ २० ॥
मा ते व्यथाऽस्तु निहतान्बन्धून्वीक्ष्य पुनः पुनः ।

चित्तमें दम्भादि रूपसे फिर प्रकट हुआ करता हूं । जो पुरुष वेद और वेदाङ्ग साधनके द्वारा मुझे विनष्ट करनेके लिये यत्नवान् होता है, स्थावर योनिमें अनभिव्यक्त रूपसे उत्पन्न हुए जीवोंकी भांति मैं उसके चित्तके बीच प्रकट हुआ करता हूं । जो सत्यपराक्रम मनुष्य धैर्यके सहारे मुझे जीतनेके लिये यत्नवान् होता है, मैं उसके समीप चित्तरूपसे प्रकट होता हूं; इसलिये वह मुझे नहीं जान सकता । जो संशितव्रत मनुष्य तपस्याके द्वारा मुझे जीतनेके निमित्त यत्नवान् होता है, मैं उसके चित्तमें तपरूपसे उत्पन्न होता हूं, इसलिये वह मुझे नहीं जान सकता । जो पण्डित पुरुष नित्य मुक्त आत्माको न जानकर मोक्षके निमित्त मोक्षमार्ग अवलम्बन करके मुझे नष्ट करनेके लिये यत्नवान् होता है, मैं सब प्राणियोंसे अवध्य सनातन अद्वितीय उस मोक्षरतिस्थ मूर्ख पुरुषकी उपहास करते हुए उसके समीप नृत्य किया करता हूं । (१२—१८)

हे महाराज ! जब निष्कामपूर्वक योगाभ्यासके अतिरिक्त कामजय करनेका दूसरा उपाय नहीं दीखता है, तब उस कामको परित्याग करके विविध दक्षिणायुक्त यज्ञका अनुष्ठान करनेसे ही आपकी कल्याणसिद्धि होगी; इसलिये आप निष्काम होकर विधिपूर्वक दक्षिणायुक्त वाजिमेध तथा दूसरे प्रकारके स-

न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं ये हताऽस्मिन् रणाजिरे ॥ २१ ॥
स त्वमिष्ट्वा महायज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ।
कीर्तिं लोके परां प्राप्य गतिमग्र्यां गमिष्यसि ॥२२॥
इति श्रीमहा० आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधिके पर्वणि कृष्णधर्मसंवादे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥
वैशम्पायन उवाच– एवं बहुविधैर्वाक्यैर्मुनिभिस्तैस्तपोधनैः ।
समाश्वस्यत राजर्षिर्हतबन्धुर्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
सोऽनुनीतो भगवता विष्टरश्रवसा स्वयम् ।
द्वैपायनेन कृष्णेन देवस्थानेन वा विभुः ॥ २ ॥
नारदेनाथ भीमेन नकुलेन च पार्थिव ।
कृष्णया सहदेवेन विजयेन च धीमता ॥ ३ ॥
अन्यैश्च पुरुषव्याघ्रैर्ब्राह्मणैः शास्त्रदृष्टिभिः ।
व्यजहाच्छोकजं दुःखं संतापं चैव मानसम् ॥ ४ ॥
अर्चयामास देवांश्च ब्राह्मणांश्च युधिष्ठिरः ।
कृत्वाऽथ प्रेतकार्याणि बन्धूनां स पुनर्नृपः ॥
अन्वशासच्च धर्मात्मा पृथिवीं सागराम्बराम् ॥ ५ ॥
प्रशान्तचेताः कौरव्यः स्वराज्यं प्राप्य केवलम् ।

दक्षिणा यज्ञोंका अनुष्ठान करिये । आप युद्धमें मरे हुए बान्धवोंको बार बार स्मरण करके वृथा दुःखित न होइये । जो लोग इस रणभूमिमें मारे गये हैं, आप अब उन्हें फिर न देख सकेंगे। इसलिये आप शोकसंवरण करके दक्षिणा-युक्त महायज्ञके द्वारा देवताओंकी पूजा करनेसे इस लोकमें अनुत्तम यश पाके उत्कृष्ट गति लाभ कर सकेंगे। (१९-२२)

आश्वमेधिकपर्वमें १३ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें १४ अध्याय।

श्री वैशम्पायन मुनि बोले, हतबन्धु राजर्षि युधिष्ठिर उन तपोधन मुनियोंके द्वारा ऐसे ही अनेक प्रकारके वाक्यके सहारे पूरी रीतिसे आश्वासित हुए। हे पार्थिव! विभु धर्मराजने भगवान् विष्टरश्रवा, द्वैपायन, कृष्ण, देवस्थान, नारद, भीमसेन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी, बुद्धिमान् अर्जुन तथा अन्यान्य श्रेष्ठ पुरुषों और शास्त्रदर्शी ब्राह्मणोंके द्वारा अनुनीत होकर मानासिक शोकसन्ताप और दुःख परित्याग किया। अनन्तर धर्मात्मा युधिष्ठिरने बान्धवोंका मासिक प्रभृति प्रेतकार्य पूरा करके देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा करते हुए समुद्र-

व्यासं च नारदं चैव तांश्चान्यानब्रवीन्नृपः ॥ ६ ॥
आश्वासितोऽहं प्राग्वृद्धैर्भवद्भिर्मुनिपुङ्गवैः ।
न सूक्ष्ममपि मे किंचिद्व्यलीकमिह विद्यते ॥ ७ ॥
अर्थश्च सुमहान्प्राप्तो येन यक्ष्यामि देवताः ।
पुरस्कृत्याद्य भवतः समानेष्यामहे मखम् ॥ ८ ॥
हिमवन्तं त्वया गुप्ता गमिष्यामः पितामह ।
बह्वाश्चर्यो हि देशः स श्रूयते द्विजसत्तम ॥ ९ ॥
तथा भगवता चित्रं कल्याणं बहु भाषितम् ।
देवर्षिणा नारदेन देवस्थानेन चैव ह ॥ १० ॥
नाभागधेयः पुरुषः कश्चिदेवंविधान्गुरून् ।
लभते व्यसनं प्राप्य सुहृदः साधुसंमतान् ॥ ११ ॥
एवमुक्तास्तु ते राज्ञा सर्वे एव महर्षयः ।
अभ्यनुज्ञाप्य राजानं तथोभौ कृष्णफाल्गुनौ ॥ १२ ॥
पश्यतामेव सर्वेषां तत्रैवादर्शनं ययुः ।
ततो धर्मसुतो राजा तत्रैवोपाविशत्प्रभुः ॥ १३ ॥

सहित पृथ्वीको अपने वशमें किया। कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर निज राज्य पाकर प्रशान्तचित्तसे व्यास, नारद तथा अन्यान्य मुनियोंसे कहने लगे, कि आप लोग मुनियोंके बीच प्रधान, पुरातन और प्राचीन हैं, इसलिये आप लोगोंके द्वारा आश्वासित होनेसे अब मुझे अणुमात्र भी दुःख नहीं है। विशेष करके जिसके सहारे देवताओंकी पूजा करना होगी, वह महान् अर्थ भी मुझे प्राप्त हुआ है; इससे आज हम आप लोगोंको अगाडी करके यज्ञ करेंगे। हे द्विजसत्तम पितामह ! हमने सुना है, कि वह स्थान अत्यन्त ही आश्चर्ययुक्त है; इसलिये जिस प्रकार हम आप लोगोंके द्वारा रक्षित होकर हिमालय पर्वतपर जा सकें वैसा ही उपाय करिये। हे विप्रर्षि ! हमारा वह यज्ञ आप लोगोंके ही अधीन हो रहा है और भी भगवान् देवस्थान तथा देवर्षि नारदने बहुतसा कल्याणयुक्त वचन कहा है; कोई भाग्यहीन मनुष्य व्यसनमें पडके साधुसम्मत सुहृत् तथा इस प्रकार गुरु लाभ नहीं कर सकता। (१—११)

अनन्तर वे महर्षिगण राजा युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके उन्हें और कृष्ण तथा अर्जुनको हिमालय पर्वतपर जानेकी आज्ञा देकर सबके सम्मुखमें

एवं नातिमहान्कालः स तेषां संन्यवर्तत ।
कुर्वतां शौचकार्याणि भीष्मस्य निधने तदा ॥ १४ ॥
महादानानि विप्रेभ्यो ददतामौर्ध्वदेहिकम् ।
भीष्मकर्णपुरोगाणां कुरूणां कुरुसत्तम ॥ १५ ॥
सहितो धृतराष्ट्रेण स ददावौर्ध्वदेहिकम् ।
ततो दत्त्वा बहु धनं विप्रेभ्यः पाण्डवर्षभः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विवेश गजसाह्वयम् ।
स समाश्वास्य पितरं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।
अन्वशाद्वै स धर्मात्मा पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अश्वमेधिके पर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

जनमेजय उवाच- विजिते पाण्डवेयैस्तु प्रशान्ते च द्विजोत्तम ।
राष्ट्रे किं चक्रतुर्वीरौ वासुदेवधनंजयौ ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच- विजिते पाण्डवै राजन्प्रशान्ते च विशांपते ।
राष्ट्रे बभूवतुर्हृष्टौ वासुदेवधनंजयौ ॥ २ ॥
विजह्राते मुदा युक्तौ दिवि देवेश्वराविव ।

वहीं अन्तर्धान हुए और धर्मपुत्र युधिष्ठिर उस स्थानमें बैठे। उस समय पाण्डवगण भीष्मकी मृत्यु होनेपर उनका शौचकर्म करने लगे, उन लोगोंका वह अत्यन्त दीर्घ समय अतिवाहित न हुआ। कुरुसत्तम युधिष्ठिरने भीष्म और कर्ण आदि कौरवोंके और्ध्वदेहिक कार्य पूरा करके ब्राह्मणोंको महत दान प्रदान किया और फिर उन्होंने धृतराष्ट्रके सहित और्ध्वदेहिक कार्य पूरा करके ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दान किया। अनन्तर वह प्रज्ञाचक्षु पिता धृतराष्ट्रको अगाडी करके धीरज देते हुए हस्तिनापुरमें प्रवेश करके भाइयोंके सहित पृथिवी शासन करने लगे। (१२-१७)

आश्वमेधिकपर्वमें १४ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें १५ अध्याय।

राजा जनमेजयने वैशम्पायन मुनिसे पूंछा, हे द्विजसत्तम! पाण्डवोंके द्वारा राष्ट्र विजित और प्रशान्त होनेपर महावीर वासुदेव और धनञ्जयने क्या किया? (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज! पाण्डवोंके द्वारा राष्ट्र जित और प्रशान्त होनेपर श्रीकृष्ण तथा अर्जुन अत्यन्त हर्षित होकर सुरपुरमें प्रविष्ट दो सुरपति

तौ वनेषु विचित्रेषु पर्वतेषु ससानुषु ॥ ३ ॥
तीर्थेषु चैव पुण्येषु पल्वलेषु नदीषु च ।
चंक्रम्यमाणौ संहृष्टावश्विनाविव नन्दने ॥ ४ ॥
इन्द्रप्रस्थे महात्मानौ रेमतुः कृष्णपाण्डवौ ।
प्रविश्य तां सभां रम्यां विजह्राते च भारत ॥ ५ ॥
तत्र युद्धकथाश्चित्राः परिक्लेशांश्च पार्थिव ।
कथायोगे कथायोगे कथयामासतुः सदा ॥ ६ ॥
ऋषीणां देवतानां च वंशांस्तावाहतुः सदा ।
प्रीयमाणौ महात्मानौ पुराणावृषिसत्तमौ ॥ ७ ॥
मधुरास्तु कथाश्चित्राश्चित्रार्थपदनिश्चयाः ।
निश्चयज्ञः स पार्थाय कथयामास केशवः ॥ ८ ॥
पुत्रशोकाभिसंतप्तं ज्ञातीनां च सहस्रशः ।
कथाभिः शमयामास पार्थं शौरिर्जनार्दनः ॥ ९ ॥
स तमाश्वास्य विधिवद्विज्ञानज्ञो महातपाः ।
अपहृत्यात्मनो भारं विशश्रामेव सात्वतः ॥ १० ॥
ततः कथान्ते गोविन्दो गुडाकेशमुवाच ह ।
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा हेतुयुक्तमिदं वचः ॥ ११ ॥

तथा नन्दनकाननविहारी दोनों अश्विनीकुमारोंकी भांति हृष्टान्तःकरणसे विचित्र वन, शिखरयुक्त पर्वत, उत्तमपुण्ययुक्त तीर्थ, पल्वल तथा नदीके बीच विचरते हुए विहार करने लगे। हे भारत! महात्मा कृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुन दोनोंही इन्द्रप्रस्थमें अनेक प्रकार क्रीडा करते हुए सभाके बीच प्रविष्ट होकर विहार करने लगे। उस सभाके बीच वे लोग अनेक प्रकारकी वार्ता करते हुए युद्धके क्लेशोंको वर्णन करने लगे। उस समय पुराण ऋषिसत्तम महात्मा कृष्ण और अर्जुन दोनोंही परम प्रसन्न होकर ऋषियों तथा देवताओंका वंश कहने लगे। निश्चयज्ञ केशिनिषूदन कृष्णने सहस्रों स्वजनों और पुत्रशोकसे सन्तापित पृथापुत्र अर्जुनकी विचित्र अर्थप्रद और निश्चययुक्त मधुर वचनसे सान्त्वना की। विज्ञानज्ञ महातपस्वी कृष्ण अर्जुनको विधिपूर्वक आश्वासित करके मानो शरीरका बोझा हरकर विश्राम करने लगे। तिसके अनन्तर वाक्यकी समाप्ति होनेपर गोविन्द गुडाकेशने अर्जुनकी मधुर वचनके सहारे सान्त्वना करते हुए हेतु-

वासुदेव उवाच– विजितेयं धरा कृत्स्ना सव्यसाचिन्परन्तप ।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राज्ञा धर्मसुतेन ह ॥ १२ ॥
असपत्नां महीं भुङ्क्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनानुभावेन यमयोश्च नरोत्तम ॥ १३ ॥
धर्मेण राज्ञा धर्मज्ञ प्राप्तं राज्यमकण्टकम् ।
धर्मेण निहतः संख्ये स च राजा सुयोधनः ॥ १४ ॥
अधर्मरुचयो लुब्धाः सदा चाप्रियवादिनः ।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सानुबन्धा निपातिताः ॥ १५ ॥
प्रशान्तामखिलां पार्थ पृथिवीं पृथिवीपतिः ।
भुङ्क्ते धर्मसुतो राजा त्वया गुप्तः कुरूद्वह ॥ १६ ॥
रमे चाहं त्वया सार्धमरण्येष्वपि पाण्डव ।
किमु यत्र जनोऽयं वै पृथा चामित्रकर्षण ॥ १७ ॥
यत्र धर्मसुतो राजा यत्र भीमो महाबलः ।
यत्र माद्रवतीपुत्रौ रतिस्तत्र परा मम ॥ १८ ॥
तथैव स्वर्गकल्पेषु सभोद्देशेषु कौरव ।
रमणीयेषु पुण्येषु सहितस्य त्वयाऽनघ ॥ १९ ॥
कालो महांस्त्वतीतो मे शूरसूनुमपश्यतः ।

युक्त वचन कहना आरम्भ किया। २-११

श्रीकृष्ण बोले, हे शत्रुतापन सव्यसाचिन्! राजा युधिष्ठिरने तुम्हारे बाहुबलके अवलम्बनसे इस समुद्रसहित पृथ्वीको जय किया है। हे नरोत्तम! भीमसेन और यमज नकुल तथा सहदेवके प्रभावसे धर्मराज असपत्न पृथ्वीका भोग करते हैं। हे धर्मज्ञ! धर्मराजने धर्मबलसे ही अकण्टक राज्य पाया है और धर्मबलसे ही युद्धमें राजा सुयोधनको मारा है। हे कुरूद्वह! अधर्माभिलाषी सदा अप्रिय वचन कहनेवाले लोभी दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंके बान्धवोंके सहित युद्धभूमिमें सोनेपर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर तुम्हारे द्वारा रक्षित होकर अखिल प्रशान्त भूमण्डल भोग करते हैं और मैं भी तुम्हारे सङ्ग वनके बीच क्रीडा करता हूं। हे अमित्रकर्षण! मैं तुमसे अधिक क्या कहूं,— तुम, पृथा, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर, महाबली भीम और माद्रवतीपुत्र नकुल-सहदेव तुम लोग जहांपर रहते हो, उसही स्थानमें मेरा अत्यन्त ही अनुराग हुआ करता है। हे अनघ! स्वर्गतुल्य

बलदेवं च कौरव्य तथाऽन्यान् वृष्णिपुङ्गवान् ॥ २० ॥
सोऽहं गन्तुमभीप्सामि पुरीं द्वारावतीं प्रति ।
रोचतां गमनं मह्यं तवाऽपि पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥
उक्तो बहुविधं राजा तत्र तत्र युधिष्ठिरः ।
सह भीष्मेण यद्युक्तमस्माभिः शोककारिते ॥ २२ ॥
शिष्टो युधिष्ठिरोऽस्माभिः शास्ता सन्नपि पाण्डवः ।
तेन तत्तु वचः सम्यग्गृहीतं सुमहात्मना ॥ २३ ॥
धर्मपुत्रे हि धर्मज्ञे कृतज्ञे सत्यवादिनि ।
सत्यं धर्मो मतिश्चाग्र्या स्थितिश्च सततं स्थिरा ॥२४॥
तत्र गत्वा महात्मानं यदि ते रोचतेऽर्जुन ।
अस्मद्गमनसंयुक्तं वचो ब्रूहि जनाधिपम् ॥ २५ ॥
न हि तस्याप्रियं कुर्यां प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।
कुतो गन्तुं महाबाहो पुरीं द्वारावतीं प्रति ॥ २६ ॥
सर्वं त्विदमहं पार्थ त्वत्प्रीतिहितकाम्यया ।

रमणीय पुण्यजनक सभाओंके बीच मुझे तुम्हारे सङ्ग रहते हुए बहुत समय बीत गया । वसुदेव, बलदेव और वृष्णिपुङ्गव पुरुषोंको बहुत कालतक न देखनेसे मुझे द्वारकापुरीमें जानेके लिये अत्यन्त ही अभिलाष हुई है; हे पुरुषश्रेष्ठ ! इसलिये मेरे जानेमें तुम्हें सम्मत होना योग्य है। जब राजा युधिष्ठिर अत्यन्त शोकार्त हुए, तब उस शोकको निवारण करनेके लिये भीष्मके सहित हम लोगोंने उन्हें अनेक प्रकारके युक्तियुक्त उपदेशवचन कहे थे । महात्मा युधिष्ठिर हम लोगोंके शास्ता और पण्डित होनेपर भी हमने उन्हें जो अनुशासन वाक्य कहा था, उन्होंने उस वाक्यमें अवहेलना न करके पूरी रीतिसे ग्रहण किया है । धर्मपुत्रके अत्यन्त धर्मज्ञ, कृतज्ञ तथा सत्यवादी होनेसे उनका धर्म तथा उत्कृष्ट बुद्धि और मर्यादा कभी भी विचलित न होगी । (१२—२४)

हे अर्जुन ! यदि तुम मेरे जानेमें संमत हो, तो महात्मा प्रजानाथ युधिष्ठिरके निकट जाकर उनसे मेरे जानेकी बात कहो । हे महाबाहो ! उनकी सम्मतिके अतिरिक्त मैं किसी कार्यको नहीं कर सकता । द्वारकापुरीमें जाना तो दूर रहे, मेरे प्राणत्यागका समय उपस्थित होनेपर भी मैं उनके अनभिलषित कार्यको नहीं कर सकता । हे पृथापुत्र ! मैं तुम्हारा प्रीतिकर तथा हिताभिलाषी होनेसे यह

ब्रवीमि सत्यं कौरव्य न मिथ्यैतत्कथंचन ॥ २७ ॥
प्रयोजनं च निर्वृत्तमिह वासे ममाऽर्जुन।
धार्तराष्ट्रो हतो राजा सबलः सपदानुगः ॥ २८ ॥
पृथिवी च वशे तात धर्मपुत्रस्य धीमतः।
स्थिता समुद्रवलया सशैलवनकानना ॥ २९ ॥
चिता रत्नैर्बहुविधैः कुरुराजस्य पाण्डव।
धर्मेण राजा धर्मज्ञः पातु सर्वां वसुन्धराम् ॥ ३० ॥
उपास्यमानो बहुभिः सिद्धैश्चापि महात्मभिः।
स्तूयमानश्च सततं बन्दिभिर्भरतर्षभ ॥ ३१ ॥
तं मया सह गत्वाऽद्य राजानं कुरुवर्धनम्।
आपृच्छ कुरुशार्दूल गमनं द्वारकां प्रति ॥ ३२ ॥
इदं शरीरं वसु यच्च मे गृहे निवेदितं पार्थ सदा युधिष्ठिरे।
प्रियश्च मान्यश्च हि मे युधिष्ठिरः सदा कुरूणामधिपो महामतिः ॥३३॥
प्रयोजनं चापि निवासकारणे न विद्यते मे त्वदृते नृपात्मज।
स्थिता हि पृथ्वी तव पार्थ शासने गुरोः सुवृत्तस्य युधिष्ठिरस्य च ॥३४॥
इतीदमुक्तः स तदा महात्मना जनार्दनेनामितविक्रमोऽर्जुनः।

सब सत्य वचन कहा है, इसे कदापि मिथ्या न समझना। हे अर्जुन! देखो, सबल, सपद और अनुयायियोंके सहित धृतराष्ट्रपुत्र सुयोधनके मारे जानेसे इस समय यहांपर मेरे वास करनेका प्रयोजन निवृत्त हुआ है। हे तात! पर्वत, वन और काननयुक्त अनेक भांति के रत्नोंसे परिपूर्ण समुद्रसहित पृथ्वी धर्मपुत्र धीमान् धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिरके वशमें हुई है; इस समय वह अनेक भांतिसे महानुभाव सिद्धोंके द्वारा उपासित और बंदिजनोंसे सदा स्तुत होकर धर्मपूर्वक इस समस्त पृथिवीको पालन करें। आज तुम मेरे सङ्ग कुरुवर्धन राजा युधिष्ठिरके समीप चलके उनसे मेरे द्वारकागमनका विषय पूंछो। हे पार्थ! वह कुरुपति महाबुद्धिमान् युधिष्ठिर मेरे माननीय और प्रिय हैं, मैंने यह अपना शरीर तथा गृहस्थित सारा धन उन्हें अर्पण किया है। हे नृपनन्दन! जब यह पृथ्वी तुम्हारे और उत्तम चरितवाले गुरु युधिष्ठिरके वशमें हुई है, तब तुम्हारे अतिरिक्त यहांपर मेरे रहनेका कुछ भी कारण वा प्रयोजन नहीं है। (२५-३४)

हे पार्थिव! उस समय अमित-

तथेति दुःखादिव वाक्यमैरयज्जनार्दनं संप्रतिपूज्य पार्थिव ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अश्वमेधिके पर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

॥ समाप्तं च अश्वमेधिकपर्व ॥

॥ अथानुगीतापर्व ॥

जनमेजय उवाच– सभायां वसतोस्तत्र निहत्यारीन्महात्मनोः ।
केशवार्जुनयोः का नु कथा समभवद् द्विज ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच– कृष्णेन सहितः पार्थः स्वं राज्यं प्राप्य केवलम् ।
तस्यां सभायां दिव्यायां विजहार मुदा युतः ॥ २ ॥
तत्र कंचित्सभोद्देशं स्वर्गोद्देशसमं नृप ।
यदृच्छया तौ मुदितौ जग्मतुः स्वजनावृतौ ॥ ३ ॥
ततः प्रतीतः कृष्णेन सहितः पाण्डवोऽर्जुनः ।
निरीक्ष्य तां सभां रम्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥
विदितं मे महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते ।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच ते रूपमैश्वरम् ॥ ५ ॥
यत्तद्भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात् ।
तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे व्यग्रचेतसः ॥ ६ ॥

पराक्रमी अर्जुनने महात्मा कृष्णका ऐसा वचन सुनके उनका पूरी रीतिसे सत्कार करके दुःखपूर्वक कहा कि " ऐसा ही होगा । " (३५)

आश्वमेधिकपर्वमें १५ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें १६ अध्याय ।

राजा जनमेजय बोले, हे विप्र ! महात्मा केशव और अर्जुनने शत्रुओंको मारके उस सभाके बीच निवास करते हुए कौनसी कथा कही थी ? (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज ! पृथापुत्र अर्जुन निज राज्य पाकर हर्षपूर्वक कृष्णके सङ्ग उस सभामें विहार करने लगे । अनन्तर प्रहृष्टचित्त केशव और अर्जुनने स्वजनोंमें घिरकर इच्छानुसार स्वर्गस्थानसदृश किसी सभामण्डपमें गमन किया । अनन्तर पाण्डुपुत्र अर्जुन कृष्णके सहित उस रमणीय सभाको देखके अधिक सन्तुष्ट होकर उनसे यह वचन बोले । हे महाबाहो देवकीतनय ! उपस्थित संग्रामके समयमें आपका वह ईश्वररूप और माहात्म्य मुझे विशेष रीतिसे विदित हुआ है । हे केशव ! पहले आपने

मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवांस्तु द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तस्तु तं कृष्णः फाल्गुनं प्रत्यभाषत।
परिष्वज्य महातेजा वचनं वदतां वरः ॥ ८ ॥
वासुदेव उवाच-श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान् ॥ ९ ॥
अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साऽद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे संभविष्यति ॥ १० ॥
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय ॥ ११ ॥
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥ १२ ॥
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ॥ १३ ॥
यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्र्यां गमिष्यसि।

सुहृदतापूर्वक मुझसे जो सब कथा कही थी, मेरा चित्तभ्रंश होनेसे वे सब विषय भूल गये हैं। हे माधव! आपभी शीघ्र द्वारकामें जायंगे, परन्तु उन विषयोंको फिर सुननेकी मुझे अभिलाष होती है। (२—७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महातेजस्वी वाग्मिवर श्रीकृष्ण फाल्गुन अर्जुनका ऐसा वचन सुनके उन्हें आलिङ्गन करके कहने लगे। श्रीकृष्ण बोले, हे पार्थ! तुमनें मेरे समीप समस्त गुप्तविषयोंको सुना है और स्वरूपयुक्त सनातन धर्म तथा शाश्वत लोकोंको जाना है। तुमने अज्ञानसे जो मेरे कहे हुए वचनको ग्रहण नहीं किया, वह मुझे अत्यन्त अप्रिय हुआ है; क्यों कि आज मेरी वह स्मृति फिर प्रकट न होगी। हे पाण्डुपुत्र! इसलिये मुझे निश्चय बोध होता है, कि तुम दुर्मेधा तथा श्रद्धाहीन हो; अब मैं उन विषयोंको तुमसे अशेषरूपसे कहनेमें समर्थ नहीं होता हूं। हे धनञ्जय! ब्रह्मपदविज्ञानमें वह धर्म ही यथेष्ट है, मैं फिर तुमसे पहलेकी भांति उसे अशेष रूपसे नहीं कह सकता हूं। पहले मैंने योगयुक्त होकर तुमसे उस परब्रह्मका विषय कहा था; अब उस विषयमें पुरातन इतिहास कहता हूं। हे धार्मिकवर! तुम

शृणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदितं सर्वमेव मे ॥ १४ ॥
आगच्छद्ब्राह्मणः कश्चित्स्वर्गलोकादरिन्दम ।
ब्रह्मलोकाच्च दुर्धर्षः सोऽस्माभिः पूजितोऽभवत् ॥१५॥
अस्माभिः परिपृष्टश्च यदाह भरतर्षभ ।
दिव्येन विधिना पार्थ तच्छृणुष्वाविचारयन् ॥ १६ ॥
ब्राह्मण उवाच- मोक्षधर्मं समाश्रित्य कृष्ण यन्मामपृच्छथाः ।
भूतानामनुकम्पार्थं यन्मोहच्छेदनं विभो ॥ १७ ॥
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि यथावन्मधुसूदन ।
शृणुष्वावहितो भूत्वा गदतो मम माधव ॥ १८ ॥
कश्चिद्विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः ।
आससाद द्विजं कंचिद्धर्माणामागतागमम् ॥ १९ ॥
गतागते सुबहुशो ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
लोकतत्त्वार्थकुशलं ज्ञातार्थं सुखदुःखयोः ॥ २० ॥
जातीमरणतत्त्वज्ञं कोविदं पापपुण्ययोः ।
द्रष्टारमुच्चनीचानां कर्मभिर्देहिनां गतिम् ॥ २१ ॥
चरन्तं मुक्तवत्सिद्धं प्रशान्तं संयतेन्द्रियम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या क्रममाणं च सर्वशः ॥ २२ ॥

वैसी बुद्धि अवलम्बन करनेसे श्रेष्ठ गति लाभ कर सकोगे; इसलिये तुम सावधान होकर मेरा समस्त वचन सुनो। हे अरिंदमन! एक बार कोई दुर्धर्ष ब्राह्मण स्वर्ग और ब्रह्मलोकसे मेरे पास आया, मैंने उसकी पूजा करके धर्मविषय पूछा। उसने दिव्य विधिके अनुसार मुझसे जो कहा था, तुम विचार न करके उसे सुनो। (८-१६)

ब्राह्मण बोला, हे कृष्ण! तुम प्राणियोंके विषयमें अनुकम्पा करके मोक्षधर्म अवलम्बनपूर्वक मोहच्छेद करो। तुमने मुझसे जो विषय पूछा है, उसे मैं यथावत् कहता हूं, सावधान होके सुनो। तपस्वी धर्मवित्तम काश्यप नाम किसी विप्रने धर्मसमूहके आगमज्ञ किसी द्विजवरको पाया था। मेधावी विप्रवर काश्यपने गतागत विषयोंमें अधिक ज्ञानविज्ञान-पारग, लोकतत्त्वार्थकुशल, सुखदुःखके तात्पर्य और जन्ममरणके तत्त्वज्ञ, पाप-पुण्य-कोविद, ऊंचनीच द्रष्टा, कर्मशील देहधारियोंके गतिज्ञ, मुक्तवत् विचरणशील, सिद्ध, प्रशान्त, संयतेन्द्रिय, ब्रह्मतेजसे दीप्यमान, सर्वत्र-

अन्तर्धानगतिज्ञं च श्रुत्वा तत्त्वेन काश्यपः ।
तथैवान्तर्हितैः सिद्धैर्यान्तं चक्रधरैः सह ॥ २३ ॥
संभाषमाणमेकान्ते समासीनं च तैः सह ।
यदृच्छया च गच्छन्तमसक्तं पवनं यथा ॥ २४ ॥
तं समासाद्य मेधावी स तदा द्विजसत्तमः ।
चरणौ धर्मकामोऽस्य तपस्वी सुसमाहितः ।
प्रतिपेदे यथान्यायं दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥ २५ ॥
विस्मितश्चाद्भुतं दृष्ट्वा काश्यपस्तं द्विजोत्तमम् ।
परिचारेण महता गुरुं तं पर्यतोषयत् ॥ २६ ॥
उपपन्नं च तत्सर्वं श्रुतचारित्रसंयुतम् ।
भावेनातोषयच्चैनं गुरुवृत्त्या परन्तप ॥ २७ ॥
तस्मै तुष्टः स शिष्याय प्रसन्नो वाक्यमब्रवीत् ।
सिद्धिं परामभिप्रेक्ष्य शृणु मत्तो जनार्दन ॥ २८ ॥
सिद्ध उवाच- विविधैः कर्मभिस्तात पुण्ययोगैश्च केवलैः ।
गच्छन्तीह गतिं मर्त्या देवलोके च संस्थितिम् ॥२९॥
न क्वचित्सुखमत्यन्तं न क्वचिच्छाश्वती स्थितिः ।
स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात्पुनः पुनः ॥ ३० ॥

गामी और अन्तर्धान-गतिज्ञ उस द्विजवरको यथार्थ रीतिसे जानकर तथा अन्तर्हित चक्रधर सिद्धगणके सहगामी, एकान्तमें सम्भाषमाण उन लोगोंके सङ्ग समासीन, पवनकी भाँति यदृच्छाचारी धर्मकाम उस द्विजवरके वैसे अत्यन्त महत् अद्भुत कार्यको अवलोकन करके विस्मित होकर महती परिचर्याके सहारे उनका परितोष किया। हे परन्तप! काश्यपके विशुद्ध चित्तसे शास्त्र और सच्चरित्रयुक्त सिद्ध द्विजवरको गुरुभक्तिके सहारे सन्तुष्ट करनेसे उसका वह कार्य युक्तियुक्त हुआ था। हे जनार्दन! वह सिद्धने द्विजवर शिष्य काश्यपकी परमा सिद्धिकी पर्यालोचना करते हुए उसपर परितुष्ट होकर प्रसन्नचित्तसे जो विषय कहा था, उसे तुम मेरे समीप सुनो। (१७—२८)

सिद्ध बोला, हे तात! मनुष्य विविध कर्मोंके सहारे इस लोकमें गति और केवल पुण्ययोगके द्वारा देवलोकमें संस्थिति लाभ किया करते हैं। परन्तु उससे उन लोगोंको किसी प्रकारका अत्यन्त सुख वा शाश्वती स्थिति लाभ नहीं होता, बल्कि दुःखसे प्राप्त हुए

अशुभा गतयः प्राप्ताः कष्टा मे पापसेवनात् ।
काममन्युपरीतेन तृष्णया मोहितेन च ॥ ३१ ॥
पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः ।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥३२॥
मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च पृथग्विधाः ।
सुखानि च विचित्राणि दुःखानि च मयाऽनघ ॥३३॥
प्रियैर्विवासो बहुशः संवासश्चाप्रियैः सह ।
धननाशश्च संप्राप्तो लब्ध्वा दुःखेन तद्धनम् ॥ ३४ ॥
अवमानाः सुकष्टाश्च राजतः स्वजनात्तथा ।
शारीरा मानसा वाऽपि वेदना भृशदारुणाः ॥ ३५ ॥
प्राप्ता विमाननाश्चोग्रा वधबन्धाश्च दारुणाः ।
पतनं निरये चैव यातनाश्च यमक्षये ॥ ३६ ॥
जरा रोगाश्च सततं व्यसनानि च भूरिशः ।
लोकेऽस्मिन्ननुभूतानि द्वन्द्वजानि भृशं मया ॥ ३७ ॥
ततः कदाचिन्निर्वेदान्निराकाराश्रितेन च ।
लोकतन्त्रं परित्यक्तं दुःखार्तेन भृशं मया ॥ ३८ ॥

अत्युच्च स्थानसे बार बार उनका पतन ही होता है । हे अनघ ! मैंने विषय-तृष्णासे मोहित, काम तथा मन्युयुक्त होकर बहुतसे पापकार्यों का अनुष्ठान करते हुए अनेक प्रकारकी कष्टकरी अशुभ गति पाई है; बार बार जन्म-मरणकी दुःखपीडा सही है, विविध आहार भोजन, अनेक प्रकारके स्तनपान, विविध माता और पृथग्विध पितादर्शन तथा विचित्र सुख और दुःख भोग किये हैं। मैंने बहुतेरे प्रियजनोंके सहित विवास तथा अप्रिय जनोंके सहित संवास किया है, बहुत कष्टसे जो सब धन अर्जन किया था, उसे भी नष्ट किया है । राजा और स्वजनोंसे अवमान, क्लेश, शारीरिक और मानसिक दारुण वेदना, अत्यन्त विमानता तथा दारुण वधबन्धनको प्राप्त कर चुका हूं । मैं नरकगमन, यमगृहकी यन्त्रणा और मैंने इस लोकमें सदा जरा, रोग, विविध व्यसन प्रभृति अनेक प्रकारके द्वन्द्वज दुःखोंको अनुभव किया है । (२९-३७)

तिसके अनन्तर किसी समयमें मैंने दुःखसे अत्यन्त आर्त होकर वैराग्य और निराकार ब्रह्मभाव अवलम्बन करते हुए इस लोकतन्त्रको परित्याग किया

लोकेऽस्मिन्ननुभूयाहमिमं मार्गमनुष्ठितः ।
ततः सिद्धिरियं प्राप्ता प्रसादादात्मनो मया ॥ ३९ ॥
नाहं पुनरिहागन्ता लोकानालोकयाम्यहम् ।
आसिद्धेराप्रजासर्गादात्मनोऽपि गतीः शुभाः ॥ ४० ॥
उपलब्धा द्विजश्रेष्ठ तथेयं सिद्धिरुत्तमा ।
इतः परं गमिष्यामि ततः परतरं पुनः ॥ ४१ ॥
ब्रह्मणः पदमव्यक्तं मा तेऽभूदत्र संशयः ।
नाहं पुनरिहागन्ता मर्त्यलोकं परन्तप ॥ ४२ ॥
प्रीतोऽस्मि ते महाप्राज्ञ ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यदीप्सुरुपपन्नस्त्वं तस्य कालोऽयमागतः ॥ ४३ ॥
अभिजाने च तदहं यदर्थं मामुपागतः ।
अचिरात्तु गमिष्यामि तेनाहं त्वामचूचुदम् ॥ ४४ ॥
भृशं प्रीतोऽस्मि भवतश्चारित्रेण विचक्षण ।
परिपृच्छस्व कुशलं भाषेयं यत्तवेप्सितम् ॥ ४५ ॥
बहु मन्ये च ते बुद्धिं भृशं संपूजयामि च ।

है । मैंने इस लोकमें सब विषयोंको भोगकर अन्तमें इस योगमार्गका अनुष्ठान करते हुए मनके प्रसादसे ऐसी अन्तर्धान आदि सिद्धि लाभ की है, इसलिये अब मैं इस लोकमें न आऊंगा और सब लोकोंको अवलोकन करूंगा । हे द्विजश्रेष्ठ ! समस्त प्रजाकी सृष्टिसे मोक्षपर्यन्त आत्माकी शुभ गति प्राप्त होनेसे मुझे ऐसी सिद्धि प्राप्त हुई है । इसके अनन्तर मैं ब्रह्मका परम पद पाऊंगा, इसमें तुम कुछ भी सन्देह मत करो । हे परन्तप ! मैं अब इस लोकमें आके मर्त्यलोकका दर्शन न करूंगा । हे महाप्राज्ञ ! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं, इसलिये कहो, तुम्हारे निमित्त क्या करूं । यदि तुम्हें कुछ अभिलाष हो, तो वह सिद्ध होगी; उसका यही समय उपस्थित हुआ है । तुम जिस लिये मेरे समीप आये हो, उसे मैंने जाना है; मैं थोडे ही समयके बीच चला जाऊंगा, इसी लिये तुम्हें आदेश करता हूं । हे विचक्षण ! मैं तुम्हारे स्वभावसे अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ हूं; इसलिये मैं यह वचन कहता हूं, कि तुम्हारी जिसमें कल्याणकामना हो, मुझसे तुम वही पूंछो । हे काश्यप ! जब तुम मुझे जान सके हो, तब मैं तुम्हारी बुद्धिकी बडाई और प्रशंसा करता

येनाहं भवता बुद्धो मेधावी ह्यसि काश्यप ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच- ततस्तस्योपसंगृह्य पादौ प्रश्नान्सुदुर्वचान् ।
पप्रच्छ तांश्च धर्मान्स प्राह धर्मभृतां वरः ॥ १ ॥

काश्यप उवाच- कथं शरीरं च्यवते कथं चैवोपपद्यते ।
कथं कष्टाच्च संसारात्संसरन्परिमुच्यते ॥ २ ॥
आत्मा च प्रकृतिं मुक्त्वा तच्छरीरं विमुञ्चति ।
शरीरतश्च निर्मुक्तः कथमन्यत्प्रपद्यते ॥ ३ ॥
कथं शुभाशुभे चायं कर्मणी स्वकृते नरः ।
उपभुङ्क्ते क्व वा कर्म विदेहस्यावतिष्ठते ॥ ४ ॥
एवं संचोदितः सिद्धः प्रश्नांस्तान्प्रत्यभाषत ।
आनुपूर्व्येण वार्ष्णेय तन्मे निगदतः शृणु ॥ ५ ॥

सिद्ध उवाच- आयुःकीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते ।
शरीरग्रहणे यस्मिंस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः ॥ ६ ॥

हूं और तुम्हें ही मेधावी बोध करता हूं। (३८—४६)

आश्वमेधिकपर्वमें १६ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें १७ अध्याय।

श्रीकृष्ण ब्राह्मणसे बोले, अनन्तर धार्मिकप्रवर काश्यपने उस सिद्ध द्विजवरके दोनों चरण ग्रहण करके उनसे सुदुर्वच प्रश्न किया; तब उन्होंने उससे सब धर्म कहा था। (१)

काश्यप बोले, आत्मा किस प्रकार शरीर परित्याग करता है? किस प्रकार शरीर पाता और कष्टकर संसारमें आगमन करते हुए किस प्रकार उससे मुक्त होता है? प्रकृतिको परित्याग करके किस प्रकार उस शरीरको छोडता है और शरीरसे छूटनेपर किस भांति दूसरा शरीर ग्रहण करता है? यह मनुष्य किस प्रकार शुभाशुभ कर्मोंको भोग करता है और जब मनुष्य देहरहित होता है, तब उसके कर्म कहां निवास करते हैं? (२—४)

ब्राह्मण बोला, हे वार्ष्णेय! सिद्धने काश्यपके पूछनेपर इन प्रश्नोंका जो उत्तर दिया था, उसे विस्तारपूर्वक तुमसे कहता हूं, सुनो। (५)

सिद्ध बोला; जीव वर्तमान शरीरसे आयु और कीर्तिकर जो सब कार्य करता है, अन्य शरीर ग्रहण करनेपर उन

आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते।
बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥ ७ ॥
सत्त्वं बलं च कालं च विदित्वा चात्मनस्तथा।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान् ॥ ८ ॥
यदायमतिकष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते।
अत्यर्थमपि वा भुङ्क्ते न वा भुङ्क्ते कदाचन ॥ ९ ॥
दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च।
गुरु चाप्यमितं भुङ्क्ते नातिजीर्णे द्विवा पुनः ॥ १० ॥
व्यायाममतिमात्रं च व्यवायं चोपसेवते।
सततं कर्मलोभाद्वा प्राप्तं वेगं विधारयेत् ॥ ११ ॥
रसाभियुक्तमन्नं वा दिवा स्वप्नं च सेवते।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषान्प्रकोपयेत् ॥ १२ ॥
स्वदोषकोपनाद्रोगं लभते मरणान्तिकम्।
अपि वोद्बन्धनादीनि परीतानि व्यवस्यति ॥ १३ ॥
तस्य तैः कारणैर्जन्तोः शरीरं च्यवते तदा।
जीवितं प्रोच्यमानं तद्यथावदुपधारय ॥ १४ ॥

कार्योंके क्षय होनेसे क्षीणायु होकर विपरीत कार्य करनेमें प्रवृत्त होता है और उसका विनाशका समय उपस्थित होनेपर विपरीत बुद्धिके अनुवर्ती हुआ करता है; उस समय अपना सत्त्व, बल तथा कालको न जानके आत्मज्ञानसे रहित होकर निजविरुद्ध कर्मोंका पूर्ण रीतिसे आचरण करता है। जब जीवको अनेक प्रकारके बहुतेरे क्लेश उपस्थित होते हैं, उस समय उसे उन क्लेशोंको पूर्ण रीतिसे भोगना पडता है, कदापि नहीं भी भोगना पडता। अत्यन्त जीर्ण न होनेपर दुष्ट अन्न, मांस, पीनेकी वस्तु तथा अन्यान्य विरोधी गुरुतर वस्तुओंका अधिक परिमाणसे भोजन करता है। अधिक कसरत तथा व्यायाम सेवन करता है और सदा कर्मलोभसे उपस्थित वेगोंको धारण किया करता है। भोजन किये हुए अन्नका परिपाक समय उपस्थित न होनेपर रससे अभियुक्त अन्न तथा दिनमें स्वप्नकी सेवा करके स्वयं सब दोषोंको प्रकोपित किया करता है। इस ही प्रकार निज दोषोंको प्रकोपित करनेसे मरणान्तिक रोग लाभ करता तथा उद्बन्धन आदि विपरीत कार्योंका अनुष्ठान किया करता है।

ऊष्मा प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः ।
शरीरमनुपर्येत्य सर्वान्प्राणान् रुणद्धि वै. ॥ १५ ॥
अत्यर्थं बलवानूष्मा शरीरे परिकोपितः ।
भिनत्ति जीवस्थानानि मर्माणि विद्धि तत्त्वतः ॥ १६ ॥
ततः सवेदनः सद्यो जीवः प्रच्यवते क्षरात् ।
शरीरं त्यजते जन्तुश्छिद्यमानेषु मर्मसु ॥ १७ ॥
वेदनाभिः परीतात्मा तद्विद्धि द्विजसत्तम ।
जातीमरणसंविग्नाः सततं सर्वजन्तवः ॥ १८ ॥
दृश्यन्ते संत्यजन्तश्च शरीराणि द्विजर्षभ ।
गर्भसंक्रमणे चापि मर्मणामतिसर्पणे ॥ १९ ॥
तादृशीमेव लभते वेदनां मानवः पुनः ।
भिन्नसंधिरथ क्लेदमद्भिः स लभते नरः ॥ २० ॥
यथा पञ्चसु भूतेषु संभूतत्वं नियच्छति ।
शैत्यात्प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः ॥ २१ ॥
यः स पञ्चसु भूतेषु प्राणापाने व्यवस्थितः ।
स गच्छत्यूर्ध्वगो वायुः कृच्छ्रान्मुक्त्वा शरीरिणः॥२२॥

इन्हीं कारणोंसे उस समय जीवके शरीरका नाश होता है, परन्तु जीवितका विषय मैं पूरी रीतिसे कहता हूं, उसे सुनो । (६-१४)

उष्मा तीव्र वायुके द्वारा सञ्चालित होकर शरीरमें प्रविष्ट होकर प्राणोंको रोध करती है, इसही प्रकार वह शरीरके बीच प्रकोपित और अत्यन्त बलवान् होकर जीवस्थानके सब मर्मोंको भेद किया करती है; अनन्तर जीव उस समय पीडायुक्त होकर प्रकृतिसे च्युत हुआ करता है । हे द्विजसत्तम ! मर्मस्थानोंके कटनेसे जीव पीडासे व्यथित होकर शरीर परित्याग किया करता है । हे द्विजश्रेष्ठ ! जीवगण जन्ममरणसे सदा संविग्न होनेपर भी शरीरको त्यागते हैं । गर्भका संक्रमण और मर्मोंका अत्यन्त विसर्पण होनेसे पुरुषको फिर उस ही प्रकार पीडा प्राप्त होती है; सन्धिस्थानोंके भिन्न होनेपर वह शरीरस्थ जलके सहारे क्लेशित होता है; इसलिये उस समय पञ्च भूतोंका मेल निराकृत होजाता है; तब शीतनिबन्धनसे वायु शरीरके बीच अत्यन्त कुपित हुआ करता है । पञ्च भूतोंके बीच जो वायु प्राण और अपान वायुके सङ्ग

शरीरं च जहात्येवं निरुच्छ्वासश्च दृश्यते ।
स निरूष्मा निरुच्छ्वासो निःश्रीको हतचेतनः ॥२३॥
ब्रह्मणा संपरित्यक्तो मृत इत्युच्यते नरः ।
स्रोतोभिर्यैर्विजानाति इन्द्रियार्थान् शरीरभृत् ॥ २४ ॥
तैरेव न विजानाति प्राणानाहारसंभवान् ।
तत्रैव कुरुते काये यः स जीवः सनातनः ॥ २५ ॥
तथा यद्यद्भवेद्युक्तं सन्निपाते क्वचित् क्वचित् ।
तत्तन्मर्म विजानीहि शास्त्रदृष्टं हि तत्तथा ॥ २६ ॥
तेषु मर्मसु भिन्नेषु ततः स समुदीरयन् ।
आविश्य हृदयं जन्तोः सत्त्वं चाशु रुणाद्धि वै ।
ततः सचेतनो जन्तुर्नाभिजानाति किंचन ॥ २७ ॥
तमसा संवृतज्ञानः संवृतेष्वेव मर्मसु ।
स जीवो निरधिष्ठानश्चाल्यते मातरिश्वना ॥ २८ ॥
ततः स तं महोच्छ्वासं भृशमुच्छ्वस्य दारुणम् ।
निष्क्रामन्कम्पयत्याशु तच्छरीरमचेतनम् ॥ २९ ॥

स्थित होता है, वह अत्यन्त कष्टसे शरीरको परित्याग करनेके निमित्त ऊर्ध्व-गामी हुआ करता है। जीव इसही प्रकार शरीर परित्याग कर उच्छ्वास, उष्मा, श्री और चेतरहित होकर लोगों-को दीखता है। जब मनुष्य पूरी रीतिसे आत्मासे परित्यक्त होता हैं तब लोग उसे मृत कहा करते हैं। (१५—२४)

मनुष्य शरीर धारण करनेपर जिन स्रोतोंके द्वारा इन्द्रियार्थ समूह विदित होते हैं, उन्हीं स्रोतों के सहारे आहारसम्भूत प्राण मालूम हुआ करता है। जो जीव उस शरीरमें प्राणकी रक्षा कर सके उसे ही सनातन जानो। (२४—२५)

उस ही प्रकार किसी किसी सन्निपातमें जो जो युक्त रहता है, शास्त्रदृष्टिके अनुसार उसे ही मर्म जानना चाहिये। उन मर्मोंके भिन्न होनेपर जीव बाहर होकर जन्तुके हृदयमें प्रवेश करते हुए शीघ्र ही सत्त्वको निरोध किया करता हैं; उसके अनन्तर जीव सचेतन होनेपर कुछ भी नहीं जान सकता। मर्मोंके संवृत्त होनेपर तमके द्वारा संवृत ज्ञान वही जीव निरधिष्ठान होकर वायुके सहारे सञ्चालित होता है। अनन्तर अत्यन्त उच्छ्वास परित्याग करते हुए निकलकर

स जीवः प्रच्युतः कायात्कर्मभिः स्वैः समावृतः ।
अभितः स्वैः शुभैः पुण्यैः पापैर्वाऽप्युपपद्यते ॥ ३० ॥
ब्राह्मणा ज्ञानसंपन्ना यथावच्छ्रुतनिश्चयाः ।
इतरं कृतपुण्यं वा तं विजानन्ति लक्षणैः ॥ ३१ ॥
यथान्धकारे खद्योतं लीयमानं ततस्ततः ।
चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञानचक्षुषः ॥ ३२ ॥
पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा ।
च्यवन्तं जायमानं च योनिं चानुप्रवेशितम् ॥ ३३ ॥
तस्य स्थानानि दृष्टानि त्रिविधानीह शास्त्रतः ।
कर्मभूमिरियं भूमिर्यत्र तिष्ठन्ति जन्तवः ॥ ३४ ॥
ततः शुभाशुभं कृत्वा लभन्ते सर्वदेहिनः ।
इहैवोच्चावचान् भोगान् प्राप्नुवन्ति स्वकर्मभिः ॥ ३५ ॥
इहैवाशुभकर्माणः कर्मभिर्निरयं गताः ।
अवाग्गतिरियं कष्टा यत्र पच्यन्ति मानवाः ।
तस्मात्सुदुर्लभो मोक्षो रक्ष्यश्चात्मा ततो भृशम् ॥३६॥
ऊर्ध्वं तु जन्तवो गत्वा येषु स्थानेष्ववस्थिताः ।
कीर्त्यमानानि तानीह तत्त्वतः संनिबोध मे ॥ ३७ ॥

उस अचेतन शरीरको शीघ्र ही कम्पित किया करता है। जीव शरीरसे च्युत होकर अपने शुभ कर्म, शुभ पुण्य तथा पापसे परिवृत हुआ करता है। पूरी रीतिसे शास्त्र निश्चयवान् ज्ञानयुक्त ब्राह्मणगण उस कृतपुण्य कर्म और पापों को लक्षणसे जानते हैं। ज्ञाननेत्रवाले सिद्धगण दिव्य नेत्रके द्वारा अन्धकारमें इधर उधर विलीयमान खद्योतकी भांति विलय प्राप्त जायमान योनिप्राविष्ट जीवका दर्शन किया करते हैं। शास्त्रके अनुसार वह जीव इस लोकमें त्रिविध स्थानोंमें दीखता है। जन्तुगण जिन स्थानोंमें निवास करते हैं, वह स्थान ही उनकी कर्मभूमि कहके वर्णित हुआ है। जीवगण उस ही कर्मभूमिसे निज कर्मके सहारे शुभ, अशुभ और उचावच भोगोंको प्राप्त करते हैं। पापी मनुष्योंको निज कर्मसे इस लोकमें ही नरक प्राप्त होता है, जिस स्थानमें वे लोग क्लेश भोग करते हैं, वह अधोगति ही उनके लिये कष्टकर होती है। इस ही निमित्त मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है, उससे आत्माकी सब भांतिसे रक्षा करनी चाहिये। इस लोकमें

तच्छ्रुत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं बुध्येथाः कर्मनिश्चयम् ।
तारारूपाणि सर्वाणि यत्रैतच्चन्द्रमण्डलम् ॥ ३८ ॥
यत्र विभ्राजते लोके स्वभासा सूर्यमण्डलम् ।
स्थानान्येतानि जानीहि जनानां पुण्यकर्मणाम् ॥३९॥
कर्मक्षयाच्च ते सर्वे च्यवन्ते वै पुनः पुनः ।
तत्रापि च विशेषोऽस्ति दिवि नीचोच्चमध्यमः ॥ ४० ॥
न च तत्रापि सन्तोषो दृष्ट्वा दीप्ततरां श्रियम् ।
इत्येता गतयः सर्वाः पृथक्ते समुदीरिताः ॥ ४१ ॥
उपपत्तिं तु वक्ष्यामि गर्भस्याहमतःपरम् ।
तथा तन्मे निगदतः शृणुष्वावाहितो द्विज ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

ब्राह्मण उवाच– शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम् ।
प्राप्य प्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा ॥ १ ॥
यथा प्रसूयमानस्तु फली दद्यात्फलं बहु ।
तथा स्याद्विपुलं पुण्यं शुद्धेन मनसा कृतम् ॥ २ ॥

जीवगण ऊर्ध्वगामी होकर जिन स्थानोंमें निवास करते हैं, उन स्थानोंका मैं तुमसे यथार्थ रीतिसे वर्णन करता हूं, उसे सुनो। (२६—३७)

जिस स्थानमें यह चन्द्रमण्डल और तारा विद्यमान हैं और जहांपर सूर्य-मण्डल निज तेजसे प्रकाशित होता है, उन स्थानोंको मेरे समीप सुनके नैष्ठिकी बुद्धि अवलम्बन करके कर्मोंका निश्चय करो। पुण्यवान् लोग कर्मके अनुसार इन सब स्थानोंमें गमन करते हैं, कर्म-क्षय होनेपर वहांसे फिर पतित होते हैं। उस स्वर्गलोकमें भी ऊंचा, मध्यम और नीच, ऐसी ही विशेषता है; वहांपर जीवगण प्रकाशमान श्री देखकर सन्तुष्ट नहीं होते। यह सब गति पृथक् रीतिसे मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया। हे द्विज! इसके अनन्तर मैं तुमसे गर्भकी उत्पत्ति कहता हूं, तुम सावधान होकर उसे सुनो। (३८–४२)

आश्वमेधिकपर्वमें १७ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें १८ अध्याय।

ब्राह्मण बोला, इस लोकमें शुभ और अशुभ कर्मोंका नाश नहीं होता, उस ही हेतुसे जीवगण कर्मोंके अनुसार वैसे ही क्षेत्रको प्राप्त होकर सुख दुःख भोग

पापं चापि तथैव स्यात्पापेन मनसा कृतम् ।
पुरोधाय मनो हीदं कर्मण्यात्मा प्रवर्तते ॥ ३ ॥
यथा कर्मसमाविष्टः काममन्युसमावृतः ।
नरो गर्भं प्रविशति तच्चापि श्रृणु चोत्तरम् ॥ ४ ॥
शुक्रं शोणितसंसृष्टं स्त्रिया गर्भाशयं गतम् ।
क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥ ५ ॥
सौक्ष्म्याद्व्यक्तभावाच्च न च क्वचन सज्जति ।
संप्राप्य ब्राह्मणः कामं तस्मात्तद्ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६ ॥
तद्बीजं सर्वभूतानां तेन जीवन्ति जन्तवः ।
स जीवः सर्वगात्राणि गर्भस्याविश्य भागशः ॥ ७ ॥
दधाति चेतसा सद्यः प्राणस्थानेष्ववस्थितः ।
ततः स्पन्दयतेऽङ्गानि स गर्भश्चेतनान्वितः ॥ ८ ॥
यथा लोहस्य निःस्यन्दो निषिक्तो बिम्बविग्रहम् ।
उपैति तद्वज्जानीहि गर्भे जीवप्रवेशनम् ॥ ९ ॥
लोहपिण्डं यथा वह्निः प्रविश्य ह्यतितापयेत् ।

किया करते हैं। जैसे फलनेवाला वृक्ष बहुतसा फल प्रदान करता है, वैसे ही शुद्ध मनसे किया हुआ पुण्य विपुल पुण्य-प्रदान करता है और पापचित्तसे कृत पाप बहुतसा पाप प्रदान किया करता है; क्यों कि आत्मा मनको अगाडी करके कर्ममें प्रवृत्त होता है। मनुष्य काम और मन्युसे समावृत होकर कर्मके अनुसार जिस प्रकार गर्भमें प्रविष्ट होता है, उसे सुनो। शुक्र शोणितके सङ्ग मिलके स्त्रियोंके गर्भाशयमें जाकर शुभ कर्मज क्षेत्रको प्राप्त होता है। परन्तु वह जीव ब्रह्मवित् होनेपर उस शरीरसे शाश्वत ब्रह्मको जानके अभिलषित सिद्धि लाभ करते हुए सूक्ष्म और अव्य-क्त भाववशसे किसी विषयमें ही संसक्त नहीं होता। (१—६)

वह शाश्वत ब्रह्म सब प्राणियोंका बीजस्वरूप है, इसलिये जीवगण उसहींके द्वारा जीवन धारण किया करते हैं। वह ब्रह्म जीवरूपसे गर्भके सब अवयवोंको विभागपूर्वक सञ्चार करते हुए चित्त उपाधि ग्रहण करके प्राणस्थानमें स्थित होकर अभिमान धारण करता है; अनन्तर वह गर्भ चेतना-युक्त होकर अङ्गोंको स्पन्दित किया करता है। जैसे लोहा द्रव ताम्र आदि आधारमें निषिक्त होकर बिम्बरूप विग्रह

तथा त्वमपि जानीहि गर्भे जीवोपपादनम् ॥ १० ॥
यथा च दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते ।
एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतना ॥ ११ ॥
यद्यच्च कुरुते कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
पूर्वदेहकृतं सर्वमवश्यमुपभुज्यते ॥ १२ ॥
ततस्तु क्षीयते चैव पुनश्चान्यत्प्रचीयते ।
यावत्तन्मोक्षयोगस्थं धर्मं नैवावबुद्धयते ॥ १३ ॥
तत्र कर्म प्रवक्ष्यामि सुखी भवति येन वै ।
आवर्तमानो जातीषु यथाऽन्योन्यासु सत्तम ॥ १४ ॥
दानं व्रतं ब्रह्मचर्यं यथोक्तं ब्रह्मधारणम् ।
दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्पनम् ॥ १५ ॥
संयमश्चानृशंस्यं च परस्वादानवर्जनम् ।
व्यलीकानामकरणं भूतानां मनसा भुवि ॥ १६ ॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषा देवताऽतिथिपूजनम् ।
गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियसंयमः ॥ १७ ॥
प्रवर्तनं शुभानां च तत्सतां वृत्तमुच्यते ।

धारण करता है, जीवोंके गर्भ-प्रवेशको भी वैसा ही जानो। जैसे अग्नि लोह-पिण्डमें प्रविष्ट होके उसे अत्यन्त ही तापित करती है, वैसे ही जीव गर्भमें प्रविष्ट होकर उस गर्भको चेतनायुक्त किया करता है। जैसे दीपक गृहके बीच प्रज्वलित होकर गृहको प्रकाशित करता है, वैसे ही जीव समस्त शरीरको चेतनायुक्त किया करता है। (६-११)

जीव इस शरीरसे जो कुछ शुभ वा अशुभ कर्म करता है, अन्य शरीर ग्रहण करनेपर भी उसे पूर्वदेहकृत सब कर्मों-को अवश्यही भोगना पडता है। परन्तु उपभोगसे उन कर्मोंका नाश होनेपर जबतक मोक्ष योगस्थ धर्म परिग्रह नहीं होता, तबतक फिर अन्य कर्म प्रवर्धित हुआ करते हैं। हे सत्तम! जीव अन्यान्य योनिमें आवर्तमान रहके जिन कर्मोंसे सुखी होता है, उसे कहता हूं। दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, यथोक्त ब्रह्मधारण, दम, प्रशान्तता, प्राणियोंके विषयमें अनुकम्पा, संयम, अनृशंसता, परधन ग्रहण न करना, पृथ्वीके बीच प्राणियोंके अन्तः-करणसे दुःख दूर करना, माता-पिताकी सेवा, देवता तथा अतिथिपूजन, गुरु-पूजा, करुणा, शौच, सदा इन्द्रियसंयम

ततो धर्मः प्रभवति यः प्रजाः पाति शाश्वताः ॥१८॥
एवं सत्सु सदा पश्येत्तत्राप्येषा ध्रुवा स्थितिः ।
आचारो धर्ममाचष्टे यस्मिन् शान्ता व्यवस्थिताः॥१९॥
तेषु तत्कर्म निक्षिप्तं यः स धर्मः सनातनः ।
यस्तं समभिपद्येत न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥ २० ॥
अतो नियम्यते लोकः प्रच्यवन्धर्मवर्त्मसु ।
यश्च योगी च मुक्तश्च स एतेभ्यो विशिष्यते ॥ २१ ॥
वर्तमानस्य धर्मेण शुभं यत्र यथा तथा ।
संसारतारणं ह्यस्य कालेन महता भवेत् ॥ २२ ॥
एवं पूर्वकृतं कर्म नित्यं जन्तुः प्रपद्यते ।
सर्वं तत्कारणं येन विकृतोऽयमिहागतः ॥ २३ ॥
शरीरग्रहणं चास्य केन पूर्वं प्रकल्पितम् ।
इत्येवं संशयो लोके तच्च वक्ष्याम्यतःपरम् ॥ २४ ॥
शरीरमात्मनः कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।

और शुभ कर्मोंका प्रवर्तन, ये सब साधुओंके वृत्त कहके वर्णित हुए हैं; जो धर्म शाश्वती प्रजा प्रतिपालन करता है, वही धर्म इन सबके सहारे वर्धित हुआ करता है। जिस समय साधुओंके बीच सदा ऐसे कार्य दीखते हैं, उसही समयमें वे लोग नित्य स्थिति लाभ करते हैं, इसके अतिरिक्त जिसमें शान्तगुण सदा निवास करते हैं, पण्डित लोग उसे आचारधर्म कहा करते हैं, वह कर्म साधुओंमें ही निक्षिप्त हुआ है, जो सनातन धर्म कहके वर्णित है, वह धर्म जिस पुरुषको सब भांतिसे प्राप्त होसकता है, उसकी दुर्गति नहीं होती। (१२–२०)

इसलिये सब लोग धर्ममार्गके पथिक होनेके लिये सदा संयत रहें, क्यों कि जो लोग योगमार्ग अवलम्बन करते हैं, वे मुक्त होकर सबसे श्रेष्ठ हुआ करते हैं। धर्ममार्गानुसारी मनुष्य जिस शरीरसे जिस किसी प्रकारका शुभ कर्म क्यों न करे, बहुत समयके अनन्तर उसकी संसारसे मुक्ति होगी। जीव इस ही प्रकार पूर्वकृत कर्मोंको सदा भोगता है, आत्मा जिसके द्वारा विकृत होकर जीवत्वको प्राप्त होता है, उस विषयमें कर्म ही उसके कारण हैं। इसके अतिरिक्त पहले किसने आत्माके शरीरग्रहणकी कल्पना की है? यदि लोकके बीच ऐसा संशय उपस्थित हो, इसलिये उसे भी मैं विस्तारपूर्वक कहता हूं,

त्रैलोक्यमसृजद्ब्रह्मा कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ॥ २५ ॥
ततः प्रधानमसृजत्प्रकृतिं स शरीरिणाम् ।
यया सर्वमिदं व्याप्तं यां लोके परमां विदुः ॥ २६ ॥
इदं तत्क्षरमित्युक्तं परं त्वमृतमक्षरम् ।
त्रयाणां मिथुनं सर्वमेकैकस्य पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥
असृजत्सर्वभूतानि पूर्वदृष्टः प्रजापतिः ।
स्थावराणि च भूतानि इत्येषा पौर्विकी श्रुतिः ॥ २८ ॥
तस्य कालपरीमाणमकरोत्स पितामहः ।
भूतेषु परिवृत्तिं च पुनरावृत्तिमेव च ॥ २९ ॥
यथाऽत्र कश्चिन्मेधावी दृष्टात्मा पूर्वजन्मनि ।
यत्प्रवक्ष्यामि तत्सर्वं यथावदुपपद्यते ॥ ३० ॥
सुखदुःखे यथा सम्यगनित्ये यः प्रपश्यति ।
कायं चामेध्यसङ्घातं विनाशं कर्मसंहितम् ॥ ३१ ॥
यच्च किंचित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन् ।

सुनो । सर्वलोकपितामह ब्रह्माने पहले आत्माके शरीरकी कल्पना करके स्थावर और जङ्गमके सहित जगत् की सृष्टि की। अनन्तर जिसके द्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त होरहा है, लोग जिसे श्रेष्ठ समझते हैं, देहधारियोंकी अभिव्यक्त स्थान देहादिके आकार स्वरूप उस प्रधान प्रकृतिको उन्होंने उत्पन्न किया। उस जडस्वभाववाली प्रकृतिको लोग क्षर कहा करते हैं, परन्तु शुद्ध ब्रह्म चैतन्य उसमें प्रतिबिम्बित होकर जीव तथा ईश्वभावसे आक्रान्त होनेसे अमृत अक्षर कहके वर्णित होता है। वह क्षर अक्षर तथा शुद्धके बीच क्षर वा अक्षर प्रतिपुरुषोंमें मिथुनभावसे निवास करते हैं। इस प्रकार पुरातनी जनश्रुति है, कि प्रजापतिने स्थावर और जङ्गमोंके सहित सब प्राणियोंके विषयादि भूतोंकी सृष्टि की। (२१—२८)

अनन्तर उस प्रजापति पितामहने शरीर ग्रहणका समय और परिमाण निर्दिष्ट करके भूतगणके बीच सुर, नर और तिर्यगादि रूपसे परिवृत्ति तथा प्राणियोंकी पुनरावृत्ति उत्पन्न की। जैसे कोई मेधावी मनुष्य इस जन्ममें परमात्माका दर्शन करनेसे पूर्वजन्मके वृत्तान्त और संसारकी अन्तवत्ताका विषय कहा करता है, वैसे ही मैं भी जातिस्मर होकर जो कहूंगा, वह सब यथावत् उत्पन्न होगा। जो लोग सुख और

संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ॥ ३२ ॥
जातीमरणरोगैश्च समाविष्टः प्रधानवित् ।
चेतनावत्सु चैतन्यं सर्वभूतेषु पश्यति ॥ ३३ ॥
निर्विद्यते ततः कृत्स्नं मार्गमाणः परं पदम् ।
तस्योपदेशं वक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तम ॥ ३४ ॥
शाश्वतस्याव्ययस्याथ पदस्य ज्ञानमुत्तमम् ।
प्रोच्यमानं मया विप्र निबोधेदमशेषतः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

ब्राह्मण उवाच– य स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन् ।
पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स तीर्णो बन्धनाद्भवेत् ॥ १ ॥
सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः ।
व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान्मुच्यते नरः ॥ २ ॥
आत्मवत्सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः ।
अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः ॥ ३ ॥

दुःखको पूरी रीतिसे अनित्य जानके बुद्धिसञ्जात कर्मोंके सहित शरीरको विनष्टप्राय जानते हैं और थोडे सुखको दुःखरूपसे स्मरण करते हैं, वेही घोर दुस्तर संसारसागरसे पार हो सकते हैं। हे श्रेष्ठ ! प्रधानवित् पुरुष जरा, मृत्यु और रोगसे आक्रान्त होकर चेतनाविशिष्ट प्राणियोंके बीच चैतन्यका एकत्र अवलोकन करते हुए परम पद अन्वेषण करनेसे जिस प्रकार निर्वेद लाभ करता है, उस विषयमें यथावत् उपदेशवचन कहता हूं। हे विप्र ! शाश्वत तथा अव्यय ब्रह्मके विषयमें जो ज्ञान उत्तम है, वह मैं तुमसे विस्तारपूर्वक कहता हूं सुनो। (२९-३५)

आश्वमेधिकपर्वमें १८ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें १९ अध्याय।

ब्राह्मण बोला, जो मनुष्य पहलेके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरको परित्याग करके सबके एकमात्र अधिष्ठानभूत परब्रह्ममें लीन होकर दूसरी किसी प्रकारकी चिन्ता न करते हुए मौनभावसे निवास करता है, वही संसारबन्धनसे छूटता है। सब लोगोंका मित्र, सर्वसह, चित्तनिग्रहमें अनुरक्त, जितेन्द्रिय पुरुष, जबतक योग सिद्ध न हो, तबतक उस विषयमें दैन्य वा द्वेषरहित तथा जितचित्त होनेसे मुक्त होता है। जो मनुष्य

जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च ।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ॥ ४ ॥
न कस्यचित् स्पृहयते नाऽवजानाति किंचन ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ५ ॥
अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित् ।
त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकाङ्क्षी च मुच्यते ॥ ६ ॥
नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहायकः ।
धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः स विमुच्यते ॥ ७ ॥
अकर्मवान् विकाङ्क्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम् ।
अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युजरायुतम् ॥ ८ ॥
वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः ।
आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव ॥ ९ ॥
अगन्धमरसस्पर्शमशब्दमपरिग्रहम् ।
अरूपमनभिज्ञेयं दृष्ट्वाऽऽत्मानं विमुच्यते ॥ १० ॥
पञ्चभूतगुणैर्हीनममूर्तिमदहेतुकम् ।

संयत, पवित्र, अहङ्कार तथा अभिमानसे रहित होकर सब प्राणियोंके विषयमें आत्मवत् आचरण करता है, वह सब प्रकारसे मुक्त हुआ करता है। जो लोग जीना, मरना, सुख, दुःख, लाभ, हानि, प्रिय और अप्रियमें समभावसे ज्ञान करते हैं, वे मुक्त होते हैं। जो मनुष्य निर्द्वन्द्व और निःस्पृह होकर किसीके धनमें अभिलाष नहीं करता तथा किसीकी भी अवज्ञा नहीं करता, वह सब भांतिसे मुक्तिलाभ किया करता है। मनुष्य किसी प्रकारके शत्रुओंके रहित, बन्धु-विहीन, अनपत्य, धर्म, अर्थ और काम, इन त्रिवर्गोंसे रहित तथा निराकांक्षी होनेसे मुक्त हो सकता है। पुरुष धर्मसे रहित एकमात्र प्रारब्ध कर्मका प्रापक शरीरारम्भक धातुओंके क्षयनिबन्धनसे प्रशान्तचित्त और निर्बन्ध होनेसे मुक्त हुआ करता है। निराकांक्षी संन्यासी पुरुष जगत् को अनित्य, अश्वत्थ, अवश, अचैतन्य और जन्म-मृत्यु तथा जरा युक्त देखता है। वैराग्यबुद्धियुक्त मनुष्य सदा आत्मदोषदर्शी होकर शीघ्र ही आत्माको बन्धनसे विमुक्त किया करता है। (१—९)

जो मनुष्य गन्ध, स्पर्श, रूप, रस, शब्द और परिग्रहरहित अनभिज्ञ आत्मा का दर्शन करता है, वही मुक्त होता है।

अगुणं गुणभोक्तारं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ११ ॥
विहाय सर्वसंकल्पान् बुद्ध्या शारीरमानसान् ।
शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवाऽनलः ॥ १२ ॥
सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः ॥ १३ ॥
विमुक्तः सर्वसंस्कारैस्ततो ब्रह्म सनातनम् ।
परमाप्नोति संशान्तमचलं नित्यमक्षरम् ॥ १४ ॥
अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम् ।
युञ्जतः सिद्धमात्मानं यथा पश्यन्ति योगिनः॥ १५ ॥
तस्योपदेशं वक्ष्यामि यथावत्तन्निबोध मे ।
यैर्द्वारैश्चारयन्नित्यं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १६ ॥
इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत ॥ १७ ॥
तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत् ।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ १८ ॥

पुरुष पञ्चभौतिक स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरसे रहित, निर्गुण तथा सत्त्व, रज, तमरूपसे विषयभोक्ता परमात्माका दर्शन करके मुक्ति लाभ करता है। मनुष्य ज्ञानपूर्वक शारीरिक और मानसिक सङ्कल्पोंको परित्याग करनेसे अग्निकी भांति धीरे धीरे निर्वाण लाभ किया करता है। जो मनुष्य सब संस्कारोंसे निर्मुक्त, निर्द्वन्द्व और निष्परिग्रह होकर तपस्याके सहारे इन्द्रियोंको निग्रह करता है, वही मुक्त होता है। योगी लोग योगयुक्त होकर चित्तनिग्रहरूपी उपायके बीच चित्तको अन्तर्मुख करते हुए जिस प्रकार नित्यसिद्ध परमात्माका दर्शन करते हैं, इसके अनन्तर मैं उस अनुत्तम योगशास्त्र तथा उसका उपदेश तुम्हारे निकट यथावत् वर्णन करता हूं, सुनो। हे विप्र! पुरुष इन्द्रियोंको निज निज विषयोंसे निवृत्त करके चित्तको क्षेत्रज्ञ जीवात्मामें धारण करें; अनन्तर तीव्र तपस्या करके मोक्षयोग आचरण करें। मनीषी तपस्वी सदा तपमें निष्ठावान् होकर योगशास्त्राचरण करते हुए मनके द्वारा देहके बीच आत्माका दर्शन करें। परन्तु यदि ये साधु तपस्वी एकान्तचित्तसे आत्माको देहके बीच करनेमें समर्थ हों, तो वे शरीरमें आत्माका दर्शन पाते हैं।१०-१८

स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि ।
तत एकान्तशीलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १९ ॥
संयतः सततं युक्त आत्मवान्विजितेन्द्रियः ।
तथा य आत्मनाऽऽत्मानं संप्रयुक्तः प्रपश्यति॥ २० ॥
यथा हि पुरुषः स्वप्ने दृष्ट्वा पश्यत्यसाविति ।
तथारूपमिवात्मानं साधुयुक्तः प्रपश्यति ॥ २१ ॥
इषीकां च यथा मुञ्जात्कश्चिन्निष्कृष्य दर्शयेत् ।
योगी निष्कृष्य चात्मानं तथा पश्यति देहतः॥ २२ ॥
मुञ्जं शरीरमित्याहुरिषीकामात्मनिश्रिताम् ।
एतन्निदर्शनं प्रोक्तं योगविद्भिरनुत्तमम् ॥ २३ ॥
यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक् पश्यति देहभृत् ।
न तस्येहेश्वरः कश्चित्त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः॥ २४ ॥
अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते ।
विनिवृत्य जरां मृत्युं न शोचति न हृष्यति ॥ २५ ॥
देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी ।

संयत, सदा योगयुक्त, जितचित्त, जितेन्द्रिय पुरुष पूरी रीतिसे प्रयुक्त होनेसे मनके सहारे आत्माका दर्शन करता है। जैसे पुरुष स्वप्नावस्थामें किसी अदृष्टगोचर पुरुषको देखकर जागनेपर फिर उसे देखनेसे 'यह वही पुरुष है,' ऐसा ही बोध करता है, उस ही प्रकार समाधिस्थ पुरुष समाधिसमयमें आत्माको देखकर व्युत्थित होकर उसका विश्वात्मरूपसे दर्शन किया करता है। जैसे कोई मनुष्य मुञ्जसे सींक निकालकर लोगोंको दिखाता है, वैसेही योगी देहसे आत्माको निकालके दर्शन किया करता है। पण्डित लोग शरीरको मुञ्ज और आत्मनिष्ठ जगदाकारसे भासमान मायाको इषीका कहते हैं, योगवित् पण्डितजन भी ऐसाही अनुत्तम निदर्शन कहा करते हैं। मनुष्यदेह धारण करके शरीरके बीच आत्माका पूरी रीतिसे दर्शन करनेसे इस लोकमें कोई पुरुष ही उसका प्रभु नहीं हो सकता;ऐसा ही नहीं वरन् त्रिलोकाधिपति भी उसके ईश्वर नहीं हो सकते। वह मनुष्य इच्छा करनेसे देव, गन्धर्व और मनुष्य प्रभृतिका शरीर धारण करनेमें समर्थ होता है; और जरामृत्युको अतिक्रम करके उससे शोकार्त वा हर्षित नहीं होता। चित्तको वशमें करनेवाला मनुष्य योगयुक्त होकर

ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम् ॥ २६ ॥
विनश्यत्सु च भूतेषु न भयं तस्य जायते।
क्लिश्यमानेषु भूतेषु न स क्लिश्यति केनचित् ॥ २७॥
दुःखशोकमयैर्घोरैः सङ्गस्नेहसमुद्भवैः ।
न विचाल्यति युक्तात्मा निस्पृहः शान्तमानसः ॥२८॥
नैनं शस्त्राणि विध्यन्ते न मृत्युश्चास्य विद्यते ।
नातः सुखतरं किंचिल्लोके क्व च न दृश्यते ॥ २९ ॥
सम्यग्युक्त्वा स आत्मानमात्मन्येव प्रतिष्ठते ।
विनिवृत्तजरादुःखः सुखं स्वपिति चापि सः ॥ ३० ॥
देहान्यथेष्टमभ्येति हित्वेमां मानुषीं तनुम् ।
निर्वेदस्तु न कर्तव्यो भुञ्जानेन कथंचन ॥ ३१ ॥
सम्यग्युक्तो यदाऽऽत्मानमात्मन्येव प्रपश्यति ।
तदैव न स्पृहयते साक्षादपि शतक्रतोः ॥ ३२ ॥
योगमेकान्तशीलस्तु यथा विन्दति तच्छृणु ।

देवताओंका भी देवत्व विधान करनेमें समर्थ होता है और अनित्य देहपरित्याग करके नित्य ब्रह्मको प्राप्त हुआ करता है। प्राणियोंके विनष्ट होनेसे वह भीत नहीं होता और प्राणियोंके किसीके सहारे क्लेशित होनेसे वह दुःखी नहीं होता । युक्तात्मा निःस्पृह प्रशान्तचित्त मनुष्य सङ्ग और स्नेहसे उत्पन्न भयङ्कर भय, शोक तथा दुःखसे विचलित नहीं होता । (१९-२८)

समस्त शस्त्र ऐसे मनुष्यका विनाश करनेमें समर्थ नहीं हैं, इसलिये जगत्के बीच कहीं भी इस योगसे बढके सुखकर अन्य कुछ नहीं है तथा मृत्यु भी इसके निकट विद्यमान नहीं रह सकती; वा कुछ भी नहीं दिखाई देता । योगी पुरुष मनको आत्मामें पूरी रीतिसे नियुक्त करके निवास करते हैं और जरा, दुःख तथा सुख, इन सबसे विशेषरूपसे निवृत्त होकर सुखसे शयन किया करते हैं । वे इच्छानुसार इस मनुष्यशरीरको परित्याग करके अन्य शरीर धारण कर सकते हैं, परन्तु जब वे योगबलसे ऐश्वर्योंको भोगेंगे, उस समय कदापि उससे विरत न होंगे । जिस समय वे मनको आत्मामें पूरी रीतिसे संयुक्त करके चित्तके बीच परमात्माका दर्शन करेंगे, उस समय साक्षात् शतक्रतुके ऐश्वर्यकी भी स्पृहा न करेंगे । परन्तु पुरुष जिस प्रकार ध्यानशील होकर

दृष्टपूर्वां दिशं चिन्त्य यस्मिन्संनिवसेत्पुरे ॥ ३३ ॥
पुरस्याभ्यन्तरे तस्य मनः स्थाप्यं न बाह्यतः ।
पुरस्याभ्यन्तरे तिष्ठन् यस्मिन्नावसथे वसेत् ।
तस्मिन्नावसथे धार्यं सबाह्याभ्यन्तरं मनः ॥ ३४ ॥
प्रचिन्त्यावसथे कृत्स्नं यस्मिन्काले स पश्यति ।
तस्मिन्काले मनश्चास्य न च किं च सबाह्यतः ॥ ३५ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं निर्घोषं निर्जने वने ।
कायमभ्यन्तरं कृत्स्नमेकाग्रः परिचिन्तयेत् ॥ ३६ ॥
दन्तांस्तालु च जिह्वां च गलं ग्रीवां तथैव च ।
हृदयं चिन्तयेच्चापि तथा हृदयबन्धनम् ॥ ३७ ॥
इत्युक्तः स मया शिष्यो मेधावी मधुसूदन ।
पप्रच्छ पुनरेवेमं मोक्षधर्मं सुदुर्वचम् ॥ ३८ ॥
भुक्तं भुक्तमिदं कोष्ठे कथमन्नं विपच्यते ।
कथं रसत्वं व्रजति शोणितत्वं कथं पुनः ॥ ३९ ॥

योग लाभ करता है, उसे सुनो । पुरुष वेदान्त सुनकर गुरूपदिष्ट उपदेशकी पर्यालोचना करके देहके बीच वास करे। मनको उस शरीरके बाहिरी भागमें न रखके अभ्यन्तरमें ही स्थापन करे। स्वयं उसके अभ्यन्तरमें रहके मूलाधारादि अन्यतम जिस किसी चक्रमें वास करते हुए उसके सहित मनको धारण रखे । जिस समय वह चक्रके बीच रहके सर्वात्मक ब्रह्मका ध्यान करेगा, उस समय उसका मन कदापि बहिर्मुख न होने पावेगा। निर्जन, शङ्कारहित वनके बीच इन्द्रियोंको निग्रह करते हुए एकाग्र होकर देहके बाहिर तथा भीतरमें परिपूर्ण ब्रह्मका ध्यान करे । और योगके साधनस्वरूप दांत, तालू, जिह्वा, गला, हृदय वा हृदयमें बंधी हुई नाडियोंका ध्यान करे अर्थात् दांतसे भोजनकी सब सामग्रियोंको शुद्ध करे, जिह्वाको तालुके सङ्ग संयुक्त करे, गला तथा ग्रीवाको भूख प्याससे निवृत्त करे और हृदय तथा हृदयस्थित नाडियोंको परिष्कृत कर रखे। हे मधुसूदन! वह मेधावी शिष्यने मेरे द्वारा इतनी कथा सुनके फिर मुझसे सुदुर्वच मोक्षधर्म पूंछा। (२९-३८)

शिष्य बोला, हे अनघ ! कोष्ठके बीच किस प्रकार भोजन किया हुआ अन्न परिपाक होता है ? किस प्रकार वह रसत्व तथा शोणितत्वको प्राप्त

तथा मांसं च मेदश्च स्नाय्वस्थीनि च योषिति ।
कथमेतानि सर्वाणि शरीराणि शरीरिणाम् ॥ ४० ॥
वर्धन्ते वर्धमानस्य वर्धते च कथं बलम् ।
निरोधानां निगमनं मलानां च पृथक् पृथक् ॥ ४१ ॥
कुतो वाऽयं प्रश्वसिति उच्छ्वसित्यपि वा पुनः ।
कं च देशमधिष्ठाय तिष्ठत्यात्माऽयमात्मनि ॥ ४२ ॥
जीवः कथं वहति च चेष्टमानः कलेवरम् ।
किं वर्णं कीदृशं चैव निवेशयति वै पुनः ॥ ४३ ॥
याथातथ्येन भगवन् वक्तुमर्हसि मेऽनघ ।
इति संपरिपृष्टोऽहं तेन विप्रेण माधव ॥ ४४ ॥
प्रत्यब्रुवं महाबाहो यथाश्रुतमरिन्दम ।
यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य भाण्डं भाण्डमना भवेत् ॥ ४५ ॥
तथा स्वकाये प्रक्षिप्य मनो द्वारैरनिश्चलैः ।
आत्मानं तत्र मार्गेत प्रमादं परिवर्जयेत् ॥ ४६ ॥
एवं सततमुद्युक्तः प्रीतात्मा न चिरादिव ।
आसादयति तद्ब्रह्म यद् दृष्ट्वा स्यात्प्रधानवित् ॥ ४७ ॥

होता है और किस भांतिसे वह जीवोंके समस्त शरीर मांस, मेद, स्नायु और हड्डियोंको पुष्ट करता है ? वर्धमान वा बली पुरुषोंके शरीर तथा बल किस प्रकार वर्धित होते और किस प्रकारसे निर्बल पुरुषके मल पृथक् पृथक् भावसे बाहिर होते हैं ? यह पुरुष द्वारा श्वास प्रश्वास करता है तथा यह आत्मा किस स्थानको अवलंबन करके शरीरके बीच निवास करता है ? जीव नाडीमार्गमें चेष्टमान होकर किस सूक्ष्म शरीरको वाहन करता है ? नाडीमार्गका कैसा वर्ण है और उससे फिर किस प्रकार शरीर प्राप्त हुआ करता है । हे भगवन् ! यह सब मेरे निकट आपको यथार्थ रीतिसे वर्णन करना उचित है । ३९-४४

हे महाबाहो माधव ! मैंने उस ब्राह्मणका इस विषयमें प्रश्न सुनके उससे यह समस्त यथाश्रुत विषय कहा । जैसे पुरुष निज धन गृहके घडेमें डालकर घरमें प्रवेश करके विवेचनाके द्वारा घडेको खोजकर उसे पाता है, वैसे ही निज शरीरमें मनको डालकर प्रमाद परित्यागके अनिश्चल इन्द्रियोंके द्वारा उस शरीरके बीच आत्माकी खोज करे । इस ही प्रकार सदा उद्योगी होकर प्रसन्न-

न त्वसौ चक्षुषा ग्राह्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसैव प्रदीपेन महानात्मा प्रदृश्यते ॥ ४८ ॥
सर्वतः पाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतः श्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ४९ ॥
जीवो निष्क्रान्तमात्मानं शरीरात्संप्रपश्यति ।
स तमुत्सृज्य देहे स्वं धारयन्ब्रह्म केवलम् ॥ ५० ॥
आत्मानमालोकयति मनसा प्रहसन्निव ।
तदेवमाश्रयं कृत्वा मोक्षं याति ततो मयि ॥ ५१ ॥
इदं सर्वरहस्यं ते मया प्रोक्तं द्विजोत्तम ।
आपृच्छे साधयिष्यामि गच्छ विप्र यथासुखम् ॥५२॥
इत्युक्तः स तदा कृष्ण मया शिष्यो महातपाः ।
अगच्छत यथाकामं ब्राह्मणः संशितव्रतः ॥ ५३ ॥
वासुदेव उवाच– इत्युक्त्वा स तदा वाक्यं मां पार्थ द्विजसत्तमः ।
मोक्षधर्माश्रितः सम्यक् तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५४ ॥
कच्चिदेतत्त्वया पार्थ श्रुतमेकाग्रचेतसा ।

चित्तसे खोज करनेसे मनुष्य जिसके दर्शनसे प्रधानवित् होता है, थोडे ही समयके बीच उस ब्रह्मको पाता है । नेत्रसे परमात्माको देखा नहीं जाता, वह किसी इन्द्रियसे भी ग्राह्य नहीं है; केवल मनरूपी दीपकके द्वारा ही मनुष्यके दृष्टिगोचर हुआ करता है। वह सर्वग्राही, सर्वत्रगामी, सर्वदर्शी, सर्वशिरा, सर्वानन और सर्वस्रोता है; इसलिये समस्त ज़गत्को परिपूरित करके निवास किया करता है। जब वह शरीरसे निकले, तब जीव उसका दर्शन कर सकता है। जीव सब लक्षणोंसे आक्रान्त सब वस्तुओंको परित्याग करके मनको निजरूपमें धारण करनेसे मानो मनहीमन हंसते हुए निर्गुण परब्रह्मका दर्शन किया करता है। जीव इस ही प्रकार उस परमात्माको अवलम्बन करके मुझमें लीन होता है। हे द्विजोत्तम! मैंने तुम्हारे निकट इस रहस्यको यथावत् वर्णन किया; अनन्तर मैं तुम्हें अनुमति प्रदान करता हूं, कि तुम यथासुखसे गमन करो, मैं तुम्हें साधन कराऊंगा । हे कृष्ण ! मेरे शिष्य वह महातपस्वी संशितव्रती विप्रने मेरे ऐसे वचनको सुनके इच्छानुसार गमन किया । (४४—५३)

श्रीकृष्ण बोले, हे पार्थ ! मोक्षधर्मावलम्बी वह द्विजवर मुझसे यह सब

तदापि हि रथस्थस्त्वं श्रुतवानेतदेव हि ॥ ५५ ॥
नैतत्पार्थ सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणेति मे मतिः ।
नरेणाकृतसंज्ञेन विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ ५६ ॥
सुरहस्यमिदं प्रोक्तं देवानां भरतर्षभ ।
कच्चिन्नेदं श्रुतं पार्थ मनुष्येणेह कर्हिचित् ॥ ५७ ॥
न ह्येतच्छ्रोतुमर्होऽन्यो मनुष्यस्त्वामृतेऽनघ ।
नैतदद्य सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणान्तरात्मना ॥ ५८ ॥
क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकः समावृतः ।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यैरूपनिवर्तनम् ॥ ५९ ॥
परा हि सा गतिः पार्थ यत्तद्ब्रह्म सनातनम् ।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी ॥ ६० ॥
इमं धर्मं समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥६१॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पार्थ क्षत्रिया वा बहुश्रुताः ।
स्वधर्मरतयो नित्यं ब्रह्मलोकपरायणाः ॥ ६२ ॥

विषय पूरी रीतिसे कहके अन्तर्हित हुए। हे पार्थ ! तुमने तो एकाग्र चित्तसे एक वार मेरे निकट यह विषय सुना था; वह क्या तुम्हें स्मरण नहीं होता ? हे अर्जुन ! इसमें मुझे ऐसी विवेचना होती है, कि जो पण्डित पुरुष व्यग्रचित्त तत्त्वविद्याविहीन और अकृतात्मा है, वह इसे भली भांति नहीं जान सकता। हे भरतश्रेष्ठ ! मैंने तुमसे जो कहा है, वह देवताओंके निकट भी गोपनीय है; इस लोकमें किसीने कभी इसे नहीं सुना। हे अनघ ! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई मनुष्य इसे सुननेके उपयुक्त नहीं है। जिसका अन्तरात्मा अत्यन्त व्यग्र है, वह पुरुष उत्तम रीतिसे इसे नहीं जान सकता। हे कुन्तीनन्दन ! देखो क्रियावान् मनुष्योंके द्वारा देवलोक समावृत है; मर्त्यरूप निवर्तन करना देवताओंको अभिलषित नहीं है। मनुष्य देह परित्यागकर जिससे अमरत्व लाभ करके सर्वदा सुखभोग करता है, वह सनातन परब्रह्मही परम गति है। (५४–६०)

हे पार्थ ! स्वधर्ममें रत, ब्रह्मलोक-परायण ब्राह्मण और बहुश्रुत क्षत्रियोंकी तो बात ही क्या है, पापयोनिमें उत्पन्न हुए पुरुष, स्त्री, वैश्य और शूद्र लोग भी इस मोक्षधर्मको अवलंबन करनेसे

हेतुमच्चैतदुद्दिष्टमुपायाश्चास्य साधने ।
सिद्धिं फलं च मोक्षश्च दुःखस्य च विनिर्णयः ॥ ६३ ॥
नातःपरं सुखं त्वन्यत् किंचित्स्याद्भरतर्षभ ।
बुद्धिमान् श्रद्दधानश्च पराक्रान्तश्च पाण्डव ॥ ६४ ॥
यः परित्यज्यते मर्त्यो लोकसारमसारवत् ।
एतैरुपायैः स क्षिप्रं परां गतिमवाप्नुते ॥ ६५ ॥
एतावदेव वक्तव्यं नातो भूयोऽस्ति किंचन ।
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्तते ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ऊनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच– अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
दम्पत्योः पार्थ संवादो योऽभवद्भरतर्षभ ॥ १ ॥
ब्राह्मणी ब्राह्मणं कंचिज्ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
दृष्ट्वा विविक्त आसीनं भार्या भर्तारमब्रवीत् ॥ २ ॥
कं नु लोकं गमिष्यामि त्वामहं पतिमाश्रिता ।
न्यस्तकर्माणमासीनं कीनाशमविचक्षणम् ॥ ३ ॥
भार्याः पतिकृताँल्लोकानाप्नुवन्तीति नः श्रुतम् ।

परम गति पाते हैं। जिससे सिद्धि फल मोक्ष और दुःखका विनिर्णय होता है, मेरे द्वारा उस मोक्षधर्म साधनका उपाय और ऐसी हेतुयुक्त कथा कही गई। हे भरतश्रेष्ठ! इससे बढके सुखकर और कुछ भी नहीं है। जो सब बुद्धिमान् श्रद्धावान् और पराक्रान्त मनुष्य इस ही उपायके सहारे इस लोकके सारभूत धर्मादिको तृणादिकी भांति परित्याग करते हैं, वे शीघ्र ही परम गति प्राप्त करते हैं। हे पार्थ! मैं इतना कह सकता हूं, कि इसके अनन्तर और कुछ भी नहीं है; क्यों कि जो पुरुष छः महीनेतक सदा इसमें नियुक्त रहता है, उसमें ही योग सम्यक् रूपसे प्रवृत्त होता है। (६१–६६)

आश्वमेधिकपर्वमें १९ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें २० अध्याय।

श्रीकृष्ण बोले, हे पार्थ! इस प्रश्न विषयमें पण्डित लोग दम्पतीके संवाद-युक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं। कोई ब्राह्मणी ज्ञानविज्ञानपारग निज स्वामीको निर्जन स्थानमें बैठे हुए देखकर बोली। हे स्वामी! आप अग्नि-

त्वामहं पतिमासाद्य कां गमिष्यामि वै गतिम् ॥ ४ ॥
एवमुक्तः स शान्तात्मा तामुवाच हसन्निव ।
सुभगे नाभ्यसूयामि वाक्यस्यास्य तवाऽनघे ॥ ५ ॥
ग्राह्यं दृश्यं च सत्यं वा यदिदं कर्म विद्यते ।
एतदेव व्यवस्यन्ति कर्म कर्मेति कर्मिणः ॥ ६ ॥
मोहमेव नियच्छन्ति कर्मणां ज्ञानवर्जिताः ।
नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन्मुहूर्तमपि लभ्यते ॥ ७ ॥
कर्मणा मनसा वाचा शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
जन्मादिमूर्तिभेदान्तं कर्म भूतेषु वर्तते ॥ ८ ॥
रक्षोभिर्वध्यमानेषु दृश्यद्रव्येषु वर्त्मसु ।
आत्मस्थमात्मना तेभ्यो दृष्टमायतनं मया ॥ ९ ॥
यत्र तद्ब्रह्म निर्द्वन्द्वं यत्र सोमः सहाग्निना ।
व्यवायं कुरुते नित्यं धीरो भूतानि धारयन् ॥ १० ॥

होत्र आदि कर्मोंसे विहीन मेरे सदृश भार्याके विषयमें निर्दय तथा अनन्यगतित्वमें अनभिज्ञ हैं; तब मैं आपके सदृश पतिका आसरा करके किस लोकमें गमन करूंगी ? मैंने ऐसा सुना है, कि भार्या पतिकृत लोकोंको पाती है। मैं आपको पति पाकर कौनसी गति लाभ करूंगी ? (१—४)

प्रशान्तचित्त ब्राह्मण भार्याका ऐसा वचन सुनके हंसके बोला, हे सुभगे पुण्यशीले ! मैं तुम्हारे इस वचनकी असूया नहीं करता । दीक्षा और व्रतादिग्राह्य दृश्य तथा सत्य प्रभृति जो सब कर्म विद्यमान हैं, कर्म करनेवाले इसे ही कर्तव्य कर्म कहके व्यवहार किया करते हैं । परन्तु ज्ञानहीन मनुष्य इस लोकमें शरीरायाससाध्य कर्मके द्वारा केवल मोहका निग्रह करते हैं, एक मुहूर्तके लिये नैष्कर्म लाभ नहीं कर सकते । कर्म, मन और वचनसे संचित शुभाशुभ, जन्मस्थिति भङ्ग और अनेक योनियोंमें भ्रमणरूपी कर्म सर्व भूतोंमें विद्यमान है । दृश्य वस्तु सोम तथा घृतादिविशिष्ट सब कर्ममार्ग दुर्जनोंके द्वारा श्रेष्ठ कहे गये हैं; मैं उन कर्ममार्गों से विरत होकर निज शरीरस्थ भौं और नासिकाके मध्यवर्ती अविमुक्ताख्य स्थानका दर्शन किया करता हूं । जिस स्थानमें वह अद्वैत ब्रह्म विद्यमान रहता है और जहां ईडा तथा पिङ्गला नाडी निवास करती है, वहां बुद्धिप्रेरक धीर वायु सब भूतोंको धारण करता हुआ सदा

यत्र ब्रह्मादयो युक्तास्तदक्षरमुपासते ।
विद्वांसः सुव्रता यत्र शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः ॥११॥
घ्राणेन न तदाघ्रेयं नास्वाद्यं चैव जिह्वया ।
स्पर्शने न तदस्पृश्यं मनसा त्ववगम्यते ॥ १२ ॥
चक्षुषामविषह्यं च यत्किंचिच्छ्रवणात्परम् ।
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दलक्षणम् ॥ १३ ॥
यतः प्रवर्तते तन्त्रं यत्र च प्रतितिष्ठति ।
प्राणोऽपानः समानश्च व्यानश्चोदान एव च ॥ १४ ॥
तत एव प्रवर्तन्ते तदेव प्रविशन्ति च ।
समानव्यानयोर्मध्ये प्राणापानौ विचेरतुः ॥ १५ ॥
तस्मिन्लीने प्रलीयेत समानो व्यान एव च ।
अपानप्राणयोर्मध्ये उदानो व्याप्य तिष्ठति ।
तस्माच्छयानं पुरुषं प्राणापानौ न मुञ्चतः ॥ १६ ॥
प्राणानामायतत्त्वेन तमुदानं प्रचक्षते ।
तस्मात्तपो व्यवस्यन्ति मद्गतं ब्रह्मवादिनः ॥ १७ ॥

सञ्चार किया करता है । (५—१०)

ब्रह्मादियुक्त योगीगण और सुव्रत, प्रशान्तचित्त, जितेन्द्रिय विद्वान् मनीषी वृन्द जिस ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उस अक्षर ब्रह्मको नासिकासे सूंघा नहीं जाता, जीभसे आस्वादन नहीं किया जाता और त्वचासे स्पर्श नहीं किया जाता; केवल मनसे ही जाना जाता है। वह दर्शन तथा श्रवणेन्द्रियसे अतीत है; गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शब्द और लक्षणविहीन है। प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान प्रभृति सृष्टिव्यापार जिससे प्रवर्तित होकर जिसमें प्रतिष्ठित-हुआ करता है, वे प्राणादि वायु उससे प्रवर्तित होकर उसमेंही प्रवेश करते हैं। प्राण, अपान, समान और व्यानके बीच विचरण किया करता है। उस अपानके सहित प्राणके प्रसुप्त अर्थात् भौं और नासिकाके बीच निरुद्ध होनेपर समान और व्यान विलीन होते हैं और उदान, अपान तथा प्राणके बीच निवास करते हुए दोनोंमें व्याप्त रहता है, इसीसे प्राण अपान सोये हुए पुरुषको परित्याग नहीं कर सकते, प्राणादिके अधिकारत्व तथा चेष्टाजनकत्व निबन्धनसे पण्डित लोग उसे उदान कहा करते हैं; उस एकमात्र उदानमें प्राणादिका अन्तर्भाव होता

तेषामन्योन्यभक्षाणां सर्वेषां देहचारिणाम् ।
अग्निर्वैश्वानरो मध्ये सप्तधा दीप्यतेऽन्तरा ॥ १८ ॥
घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक्च श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता जिह्वा वैश्वानरार्चिषः ॥ १९ ॥
घ्रेयं दृश्यं च पेयं च स्पृश्यं श्रव्यं तथैव च ।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं ताः सप्त समिधो मम ॥ २० ॥
घ्राता भक्षयिता द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता च पञ्चमः ।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते भवन्ति परमर्त्विजः ॥ २१ ॥
घ्रेये पेये च दृश्ये च स्पृश्ये श्रव्ये तथैव च ।
मन्तव्येऽप्यथ बोद्धव्ये सुभगे पश्य सर्वदा ॥ २२ ॥
हवींष्यग्निषु होतारः सप्तधा सप्त सप्तसु ।
सम्यक्प्रक्षिप्य विद्वांसो जनयन्ति स्वयोनिषु ॥ २३ ॥
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता योनिरित्येव शब्दिताः ॥ २४ ॥
हविर्भूता गुणाः सर्वे प्रविशन्त्यग्निजं गुणम् ।
अन्तर्वासमुषित्वा च जायन्ते स्वासु योनिषु ॥ २५ ॥

है, इसीसे ब्रह्मादि विप्रगण सद्गत परात्मप्रापक तपस्याका निश्चय किया करते हैं। (११—१७)

परस्परभक्षक शरीरमें रहनेवाले प्राणादि वायुके बीच समान वायुके निवासस्थान नाभिमण्डलमें वैश्वानर नाम अग्नि निवास करती है। वह अग्नि सात हिस्सेमें बटके उसके बीच प्रकाशित हुआ करती है। नासिका, जिह्वा, नेत्र, कान, त्वचा, मन और बुद्धि ये सातों उस वैश्वानर अग्निकी जिह्वा हैं। सूंघना, देखना, पीना, सुनना, मनन और बोध करना, ये सातों समिधा हैं। सूंघनेवाला, खानेवाला, देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, मनन करनेवाला और बोद्धा ये सात ऋत्विक् हैं। हे सुभगे! घ्रेय, पेय, दृश्य, स्पृश्य, श्रव्य, मन्तव्य और बोधव्य, इन सात विषयोंको सर्वदा हवि बोध करनी चाहिये। पहले कहे हुए सात प्रकारके विद्वान् होतागण सात प्रकारकी ब्रह्माग्निमें सात भांतिके हवि डालकर पृथिव्यादि उत्पन्न किया करते हैं। (१८–२३)

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, मन और बुद्धि, ये सात योनि कहके वर्णित हुई हैं। हविर्भूत गुण घ्रेयादि

तत्रैव च निरुध्यन्ते प्रलये भूतभावने ।
ततः संजायते गन्धस्ततः संजायते रसः ॥ २६ ॥
ततः संजायते रूपं ततः स्पर्शोऽभिजायते ।
ततः संजायते शब्दः संशयस्तत्र जायते ।
ततः संजायते निष्ठा जन्मैतत्सप्तधा विदुः ॥ २७ ॥
अनेनैव प्रकारेण प्रगृहीतं पुरातनैः ।
पूर्णाहुतिभिरापूर्णास्त्रिभिः पूर्यन्ति तेजसा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्रह्मगीतासु विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

ब्राह्मण उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निबोध दशहोतॄणां विधानमथ यादृशम् ॥ १ ॥
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चरणौ करौ ।
उपस्थं वायुरिति वा होतॄणि दश भामिनि ॥ २ ॥
शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो वाक्यं क्रिया गतिः ।
रेतोमूत्रपुरीषाणां त्यागो दश हवींषि च ॥ ३ ॥

विषय अग्निके गुणगन्धादि ज्ञानरूप धीवृत्तिमें प्रविष्ट होकर संस्कारात्मक अन्तर्वास चित्तके बीच वास करते हुए निज योनिभूत घ्राणादिमें उत्पन्न होता और प्रलयकाल उपस्थित होनेपर भीतर ही लीन हुआ करता है । अनन्तर उस अन्तर्वाससे गन्ध, गन्धसे रस, रससे रूप, रूपसे स्पर्श, स्पर्शसे शब्द, शब्दसे मन और मनसे बुद्धि उत्पन्न होती है; पण्डित लोग इस ही प्रकार सात भांति की उत्पत्तिको मालूम किया करते हैं । प्राचीन पण्डितगण इस ही प्रकार वेदसे घ्राणादिरूप ग्रहण करते हैं; सब लोग प्रमाणं, प्रमेय और प्रमाता इस त्रिविध पूर्णाहुति अर्थात् पूर्ण यज्ञके ज्ञापक आह्वानके द्वारा परिपूर्ण होकर निज तेजके सहारे परिपूर्ण हुआ करते हैं । (२४—२८)

आश्वमेधिकपर्वमें २० अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें २१ अध्याय ।

ब्राह्मण बोला, हे भामिनि ! इस स्थलमें पण्डित लोग दश प्रकारके होता-विधानसंयुक्त यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं, उसे तुम सुनो । श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, नासिका, वाक्, हाथ, पांव, वायु और उपस्थ, ये दश होता हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाक्य, क्रिया, गति, रेत, मूत्र-पुरीषका त्याग,

दिशो वायू रविश्चन्द्रः पृथ्व्यग्नी विष्णुरेव च ।
इन्द्रः प्रजापतिर्मित्रमग्नयो दश भामिनि ॥ ४ ॥
दशेन्द्रियाणि होतॄणि हवींषि दश भाविनि ।
विषया नाम समिधो हूयन्ते तु दशाग्निषु ॥ ५ ॥
चित्तं स्रुवश्च वित्तं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ।
सुविभक्तमिदं सर्वं जगदासीदिति श्रुतम् ॥ ६ ॥
सर्वमेवाथ विज्ञेयं चित्तं ज्ञानमवेक्षते ।
रेतः शरीरभृत्काये विज्ञाता तु शरीरभृत् ॥ ७ ॥
शरीरभृद्गार्हपत्यस्तस्मादन्यः प्रणीयते ।
मनश्चाहवनीयस्तु तस्मिन्प्रक्षिप्यते हविः ॥ ८ ॥
ततो वाचस्पतिर्जज्ञे तं मनः पर्यवेक्षते ।
रूपं भवति वैवर्णं समनुद्रवते मनः ॥ ९ ॥

ब्राह्मण्युवाच- कस्माद्वागभवत्पूर्वं कस्मात्पश्चान्मनोऽभवत् ।

ये दश हवि हैं। दिशा, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, प्रजापति और मित्र, ये दश अग्नि हैं। हे भामिनी! पहले कहे हुए श्रोत्रादि दशेन्द्रियरूप होतागण इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता दिगादि रूप दश प्रकारकी अग्निमें हवनीय शब्दादि दश प्रकारके विषयरूप समिधकी आहुति प्रदान किया करते हैं। उस यज्ञमें चित्तरूप स्रुवाके सहारे घृतरूप इन्द्रियार्थोंकी आहुति देकर दक्षिणार्थ अग्निमें-चित्तरूप स्रुवा और सुकृत दुष्कृतको डालनेपर केवल पवित्र उत्तम ज्ञान शेष रहता है; मैंने ऐसा सुना है, कि यह जगत् उस ज्ञानसे पृथग्भूत होकर स्थित है। सब ज्ञेय वस्तु ही चित्त है, ज्ञान उस चित्तको केवल प्रकाश करता है, उसमें संसक्त नहीं होता। जीव वीर्यहेतुसे स्थूल शरीरधारी छः कोशोंवाले शरीरमें ही सूक्ष्म शरीराभिमानी होकर निवास करता है। वह सूक्ष्म शरीराभिमानी जीव गार्हपत्य और उससे अन्यमन आवहनीय नामसे विख्यात होता है; उसमेंही हवि डाली जाती है। उससे पहले वाचस्पति वेद उत्पन्न होता है, तिसके अनन्तर मन उत्पन्न होकर उस वाचस्पतिको पर्यवेक्षण करता है, अनन्तर काला पीला प्रभृति वर्णविहीनरूप अर्थात् प्राणवायु उत्पन्न होकर मनका अनुगामी हुआ करता है। (१—९)

ब्राह्मणी बोली, जब वचन मनके द्वारा सोचके कहा जाता है, तब किस

मनसा चिन्तितं वाक्यं यदा समभिपद्यते ॥ १० ॥
केन विज्ञानयोगेन मतिश्चित्तं समास्थिता।
समुन्नीता नाध्यगच्छत्को वै तां प्रतिबाधते ॥ ११ ॥
ब्राह्मण उवाच- तामपानः पतिर्भूत्वा तस्मात्प्रेषत्यपानताम्।
तां गतिं मनसः प्राहुर्मनस्तस्मादपेक्षते ॥ १२ ॥
प्रश्नं तु वाङ्मनसोर्मां यस्मात्त्वमनुपृच्छसि।
तस्मात्ते वर्तयिष्यामि तयोरेव समाह्वयम् ॥ १३ ॥
उभे वाङ्मनसी गत्वा भूतात्मानमपृच्छताम्।
आवयोः श्रेष्ठमाचक्ष्व छिन्धि नौ संशयं विभो ॥१४॥
मन इत्येव भगवांस्तदा प्राह सरस्वतीम्।
अहं वै कामधुक् तुभ्यमिति तं प्राह वागथ ॥ १५ ॥
ब्राह्मण उवाच- स्थावरं जङ्गमं चैव विद्ध्युभे मनसी मम।
स्थावरं मत्सकाशे वै जङ्गमं विषये तव ॥ १६ ॥

निमित्त पहले वचन और पीछे मन उत्पन्न हुआ ? किस प्रमाणके अनुसार प्राण मनका अनुगामी होता है और सुषुप्तिसमयमें उदित होकर विषयभोग न करनेपर भी कौन उसकी ज्ञानशक्तिको हरण करता है ? (१०—११)

ब्राह्मण बोला, अपान प्राणका प्रभु होकर उस प्राणको मनका अनुगामी करता है; इसही हेतु पण्डित लोग प्राणकी उस अपानता गतिको मनकी गति कहा करते हैं और तुमने मुझसे मन तथा वचन विषयमें प्रश्न किया है, मैं तुमसे उस वाक्य और मनका संवाद कहता हूं। (१२—१३)

एक बार वाक्य और मन दोनों ही भूतात्माके निकट जाकर उससे बोले, हे विभु ! हम दोनोंके बीच श्रेष्ठ कौन है? आप उसे कहके हमारा सन्देह दूर करिये। मन भगवान् वाग्देवी सरस्वतीसे बोले, मैंही श्रेष्ठ हूं; अनन्तर वाग्देवीने उनसे कहा, कि तुम जो सोचते हो, मैं उसे प्रकाश करती हूं; तब मैं तुम्हारी कामधुक् हुई इसलिये तुमसे मैं श्रेष्ठ हूं। वाक्य और मन जब इसी भांति आपसमें विरोध करने लगे, तब मन ब्राह्मणीरूपी होकर दोनोंके विषय विभाग द्वारा समता सम्पादन करते हुए कहने लगा। (१४—१५)

ब्राह्मणरूपी मन बोला, स्थावर बाह्य इन्द्रियोंके विषय तथा जङ्गम अतीन्द्रिय स्वर्गादि विषय, दोनोंको ही मेरा मन जानो; परन्तु स्थावर मेरे निकट

यस्तु ते विषयं गच्छेन्मन्त्रो वर्णः स्वरोऽपि वा ।
तन्मनो जङ्गमं नाम तस्मादसि गरीयसी ॥ १७ ॥
यस्मादपि समाधिस्ते स्वयमभ्येत्य शोभने ।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य प्रवक्ष्यामि सरस्वति ॥ १८ ॥
प्राणापानान्तरे देवी वाग्वै नित्यं स्म तिष्ठति ।
प्रेर्यमाणा महाभागे विना प्राणमपानती ।
प्रजापतिमुपाधावत्प्रसीद भगवन्निति ॥ १९ ॥
ततः प्राणः प्रादुरभूद्वाचमाप्याययन्पुनः ।
यस्मादुच्छ्वासमासाद्य न वाग्वदति कर्हिचित् ॥२०॥
घोषिणी जातनिर्घोषा नित्यमेव प्रवर्तते ।
तयोरपि च घोषिण्या निर्घोषैव गरीयसी ॥ २१ ॥
गौरिव प्रस्रवत्यर्थान् रसमुत्तमशालिनी ।
सततं स्यन्दते ह्येषा शाश्वतं ब्रह्मवादिनी ॥ २२ ॥
दिव्यादिव्यप्रभावेन भारती गौः शुचिस्मिते ।

और जङ्गम तुम्हारे समीप विद्यमान रहते हैं । इसके अतिरिक्त मन्त्र, वर्ण और स्वरके द्वारा प्रकाशित वह जङ्गम स्वर्गादि विषय मनको प्राप्त होकर जङ्गम हुआ करते हैं; उस ही निमित्त तुम मनसे श्रेष्ठ हो । हे शोभने ! जब वाग्देवी स्वयं कामधुक् होकर मनके निकट आती है, तब मन उच्छ्वासको प्राप्त होकर वाक्य कहा करता है । हे महाभागे ! वाग्देवी प्राणके द्वारा प्रेरित होकर मनोवृत्ति विशेष प्राण और अपानके भीतर सदा निवास किया करती है, परन्तु जब वह प्राणकी सहायताके विना अत्यन्त नीच होती है, तब प्रजापतिके निकट जाकर ऐसा वचन कहा करती है, कि "हे भगवन् ! मुझपर प्रसन्न होइये ।" अनन्तर जब प्राण वाक्यको आप्यायन करके प्रकट होता है, तब वाग्देवी प्राणसे उच्छ्वास लाभ करके मौनावलम्बन किया करती है । घोषिणी और अघोषा वाक्य सदा प्रवर्तित होती है, उसके बीच घोषिणी वाग्देवी प्राणके आप्यायनकी अपेक्षा करती है; हंसमन्त्रस्वरूपिणी अघोषा वाग्देवी प्राणके आप्यायनकी अपेक्षा नहीं करती, इसही निमित्त वह घोषिणीसे श्रेष्ठ है । जैसे गऊ उत्तम रस प्रदान करती है, वैसे ही उत्तम अक्षरशालिनी ब्रह्मवादिनी घोषिणी वाग्देवी सदा शाश्वत मोक्ष और सब अर्थोंको प्रकट

एतयोरन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः स्यन्दमानयोः ॥ २३ ॥
ब्राह्मण्युवाच- अनुत्पन्नेषु वाक्येषु चोद्यमाना विवक्षया ।
किं नु पूर्वं तदा देवी व्याजहार सरस्वती ॥ २४ ॥
ब्राह्मण उवाच- प्राणेन या संभवते शरीरे प्राणादपानं प्रतिपद्यते च ।
उदानभूता च विसृज्य देहं व्यानेन सर्वं दिवमावृणोति ॥ २५ ॥
ततः समाने प्रतितिष्ठतीह इत्येव पूर्वं प्रजजल्प वाणी ।
तस्मान्मनः स्थावरत्वाद्विशिष्टं तथा देवी जङ्गमत्वाद्विशिष्टा ॥ २६ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥
ब्राह्मण उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे सप्तहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥
घ्राणश्चक्षुश्च जिह्वा च त्वक् श्रोत्रं चैव पञ्चमम् ।
मनोबुद्धिश्च सप्तैते होतारः पृथगाश्रिताः ॥ २ ॥
सूक्ष्मेऽवकाशे तिष्ठन्तो न पश्यन्तीतरेतरम् ।

किया करती है। हे शुचिस्मिते ! गोरूपी वाग्देवी दिव्य देवतायाकर्षण और अदिव्य व्यवहार प्रकटरूप दोनों भांतिके प्रभावसे प्रकाशित होती है, सूक्ष्म और स्यन्दमान इन दोनों भांतिके वाक्योंका इतना ही अन्तर जानो। (१६-२३)

ब्राह्मणी बोली, वाक्य उत्पन्न न होनेपर विवक्षासे प्रेरित वाङ्मयी सरस्वती देवी उस समय कैसी अवस्थामें निवास करती है ? (२४)

ब्राह्मण बोला, वह वाग्देवी शरीरके बीच प्राणवायुके सहयोगसे प्रस्फुरित होकर प्राणसे अपानको प्राप्त होती है; अनन्तर उदानभूत होकर प्राण छोडके व्यानके सहित सारे आकाशको आवरण किया करती है। तिसके अनन्तर वह समानमें प्रतिष्ठित होकर पहलेकी भांति सबको विदित होती है। उक्त कारणसे स्थावरत्व निबन्धन मनविशिष्ट और जंगमत्व निबन्धनसे वाग्देवी श्रेष्ठ होती है। (२५-२६)

आश्वमेधिकपर्वमें २१ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें २२ अध्याय।

ब्राह्मण बोला, हे सुभगे! इस वाक्य और मनके समप्राधान्य विषयमें पण्डित लोग जिस प्रकार सप्तहोताके विधानसंयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं, उसे सुनो। नासिका, नेत्र, जिह्वा, कान, त्वचा, मन और बुद्धि, येही सात होता हैं, ये पृथक् पृथक् स्थानमें निवास

एतान्वै सप्तहोतॄंस्त्वं स्वभावाद्विद्धि शोभने ॥ ३ ॥
ब्राह्मण्युवाच- सूक्ष्मेऽवकाशे सन्तस्ते कथं नान्योन्यदर्शिनः।
कथं स्वभावा भगवन्नेतदाचक्ष्व मे प्रभो ॥ ४ ॥
ब्राह्मण उवाच- गुणाज्ञानमविज्ञानं गुणज्ञानमभिज्ञता।
परस्परं गुणानेते नाभिजानन्ति कर्हिचित् ॥ ५ ॥
जिह्वा चक्षुस्तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च।
न गन्धानधिगच्छन्ति घ्राणस्तानधिगच्छति ॥ ६ ॥
घ्राणं चक्षुस्तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च।
न रसानधिगच्छन्ति जिह्वा तानधिगच्छति ॥ ७ ॥
घ्राणं जिह्वा तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च।
न रूपाण्यधिगच्छन्ति चक्षुस्तान्यधिगच्छति ॥ ८ ॥
घ्राणं जिह्वा ततश्चक्षुः श्रोत्रं बुद्धिर्मनस्तथा।
न स्पर्शानधिगच्छन्ति त्वक्च तानधिगच्छति ॥ ९ ॥
घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च वाङ्मनोबुद्धिरेव च।
न शब्दानधिगच्छन्ति श्रोत्रं तानधिगच्छति ॥ १० ॥

किया करते हैं। हे शोभने! ये सातों होता सूक्ष्म अवकाशमें निवास करते हुए परस्परमें परस्परका दर्शन नहीं करते, तुम इन स्वभावसिद्ध सातों होताओंको विशेष रीतिसे मालूम करो। (१-३)

ब्राह्मणी बोली, हे भगवन्! वे सातों होता सूक्ष्म अवकाशमें निवास करते हुए किस निमित्त परस्परमें परस्परका दर्शन नहीं करते और उनका स्वभाव कैसा है? यह विषय आप विस्तारपूर्वक मुझसे कहिये। (४)

ब्राह्मण बोला, घ्राण आदि सातों होताओंको निज निज गुणको ग्रहण करनेकी अभिज्ञता है, इसलिये वे परस्परमें परस्परके गुण कदापि नहीं जान सकते। जिह्वा, नेत्र, कान, त्वचा, मन और बुद्धि ये गन्धको ग्रहण नहीं करते, केवल नासिका ही गन्धको ग्रहण किया करती है। नासिका, नेत्र, कान, त्वचा, मन और बुद्धि ये रसको नहीं जानते, केवल जिह्वासे ही उसका बोध होता है। नासिका, जिह्वा, कान, त्वचा, मन और बुद्धि ये रूपको ग्रहण नहीं करते, केवल नेत्र ही रूपको ग्रहण किया करता है। नासिका, जिह्वा, नेत्र, कान, मन और बुद्धि, ये स्पर्शगुणको ग्रहण नहीं करते, केवल त्वचा ही उस स्पर्शगुणको ग्रहण किया करती है। नासिका, जिह्वा,

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं बुद्धिरेव च ।
संशयं नाधिगच्छन्ति मनस्तमधिगच्छति ॥ ११ ॥
घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं मन एव च ।
न निष्ठामधिगच्छन्ति बुद्धिस्तमधिगच्छति ॥ १२ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रियाणां च संवादं मनसश्चैव भामिनि ॥ १३ ॥
मन उवाच— नाघ्राति मामृते घ्राणं रसं जिह्वा न वेत्ति च ।
रूपं चक्षुर्न गृह्णाति त्वक् स्पर्शं नावबुध्यते ॥ १४ ॥
न श्रोत्रं बुध्यते शब्दं मया हीनं कथंचन ।
प्रवरं सर्वभूतानामहमस्मि सनातनम् ॥ १५ ॥
अगाराणीव शून्यानि शान्तार्चिष इवाग्नयः ।
इन्द्रियाणि न भासन्ते मया हीनानि नित्यशः ॥१६॥
काष्ठानीवार्द्रशुष्काणि यतमानैरपीन्द्रियैः ।
गुणार्थान्नाधिगच्छन्ति मामृते सर्वजन्तवः ॥ १७ ॥
इन्द्रियाण्यूचुः— एवमेतद्भवेत्सत्यं यथैतन्मन्यते भवान् ।
ऋतेऽस्मानस्मदर्थांस्त्वं भोगान् भुङ्क्ते भवान् यदि ॥१८॥

नेत्र, त्वचा, मन और बुद्धि, ये शब्द-गुणको ग्रहण नहीं करते, केवल कान ही उस शब्दगुणको ग्रहण किया करता है। नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान और बुद्धि, ये संशय गुणको ग्रहण नहीं करते, केवल मन ही उस संशयगुणको ग्रहण किया करता है। नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान और मन ये निष्ठागुण-को ग्रहण नहीं करते; केवल बुद्धिही उस निष्ठागुणको ग्रहण किया करती है। हे भामिनि! इस विषयमें पण्डित लोग मन और इन्द्रियोंके संवादयुक्त पुरातन इति-हास कहा करते हैं, उसे सुनो। ५–१३

मन बोला, मेरे विना नासिका गन्ध, नेत्र रूप, जिह्वा रस, त्वचा स्पर्श और कान शब्दको ग्रहण करनेमें किसी प्रकार समर्थ नहीं होते; इसलिये सब भूतोंके बीच मैं ही प्रधान तथा नित्य हूं। इन्द्रियां मुझसे रहित होनेपर शून्य गृह तथा शान्तार्चिष अग्निकी भांति प्रका-शित नहीं होती। सब जन्तु मुझसे रहित होनेसे यतमान इन्द्रियोंके द्वारा आर्द्र तथा सूखे हुए काष्ठकी भांति गुणा-र्थोंको ग्रहण नहीं कर सकते। (१४-१७)

इन्द्रियोंने कहा, आप जैसा समझते हैं, यदि सत्य ही यह इसी प्रकार हो,

यद्यस्मासु प्रलीनेषु तर्पणं प्राणधारणम् ।
भोगान् भुङ्क्ते भवान् सत्यं यथैतन्मन्यते तथा ॥१९॥
अथवाऽस्मासु लीनेषु तिष्ठत्सु विषयेषु च ।
यदि संकल्पमात्रेण भुङ्क्ते भोगान् यथार्थवत् ॥२०॥
अथ चेन्मन्यसे सिद्धिमस्मदर्थेषु नित्यदा ।
घ्राणेन रूपमादत्स्व रसमादत्स्व चक्षुषा ॥ २१ ॥
श्रोत्रेण गन्धानादत्स्व स्पर्शानादत्स्व जिह्वया ।
त्वचा च शब्दमादत्स्व बुद्ध्या स्पर्शमथापि च ॥२२॥
बलवन्तो ह्यनियमा नियमा दुर्बलीयसाम् ।
भोगानपूर्वानादत्स्व नोच्छिष्टं भोक्तुमर्हति ॥ २३ ॥
यथा हि शिष्यः शास्तारं श्रुत्यर्थमभिधावति ।
ततः श्रुतमुपादाय श्रुत्यर्थमुपतिष्ठति ॥ २४ ॥
विषयानेवमस्माभिर्दर्शितानभिमन्यसे ।
अनागतानतीतांश्च स्वप्ने जागरणे तथा ॥ २५ ॥
वैमनस्यं गतानां च जन्तूनामल्पचेतसाम् ।

यदि आप हम लोगोंके विना हमारे विषयोंको भोग कर सकें, हमारे प्रलीन होनेपर यदि आप तर्पण, प्राणधारण तथा अपनी इच्छानुसार विषयोंको भोग करें, अथवा हमारे प्रलीन होने तथा विषयोंके विद्यमान रहनेपर यदि आप यथार्थमेंही संकल्पमात्रसे विषयोंको भोगकर सकें और हमारे विषयमें आप अपने मनकी अभिलाष सिद्ध करनेमें समर्थ हों; तो आप नासिकासे रूप, नेत्रसे रस, कानसे गन्ध, जिह्वासे स्पर्श, त्वचासे शब्द तथा बुद्धिसे स्पर्श ग्रहण करिये । निर्बलोंके पक्षमें ही नियम निर्धारित होता है, बलवान् लोगोंमें कुछभी नियम विहित नहीं होता, आप जूठे भोजनके योग्य नहीं हैं, इसलिये आप यह सब अपूर्व भोग ग्रहण करिये । (१८—२३)

जैसे शिष्य वेदका अर्थ जाननेके लिये गुरुके समीप जाकर उसके निकट श्रुतिको ग्रहण करके उसके अर्थको अनुभव करता है, वैसे ही स्वप्न और जाग्रत अवस्थामें अतीत और अनागत विषय हम लोगोंके द्वारा दर्शित होनेपर आप उन विषयोंको अनुभव किया करते हैं । और ऐसा देखा जाता है, कि हम लोगोंके निज निज अर्थ शब्दादि ग्रहण करनेपर अल्पचित्त

अस्मदर्थे कृते कार्ये दृश्यते प्राणधारणम् ॥ २६ ॥
बहूनपि हि संकल्पान् मत्वा स्वप्नानुपास्य च ।
बुभुक्षया पीड्यमानो विषयानेव धावति ॥ २७ ॥
अगारमद्वारमिव प्रविश्य संकल्पभोगान् विषये निबद्धान् ।
प्राणक्षये शान्तिमुपैति नित्यं दारुक्षयेऽग्निर्ज्वलितो यथैव ॥ २८ ॥
कामं तु नः स्वेषु गुणेषु सङ्गः कामं च नान्योन्यगुणोपलब्धिः ।
अस्मान्विना नास्ति तपोपलब्धिस्तावहते त्वां न भजेत्प्रहर्षः ॥ २९ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

ब्राह्मण उवाच– अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे पञ्चहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥
प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ।
पञ्च होतॄंस्तथैतान्वै परं भावं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥
ब्राह्मण्युवाच– स्वभावात्सप्त होतार इति मे पूर्विका मतिः ।
यथा वै पञ्च होतारः परो भावस्तदुच्यताम् ॥ ३ ॥

वैमनस्य जन्तुओंका प्राणधारण होता है। जन्तुगण सङ्कल्पनिबन्धन बहुतसे स्वप्नोंको मननपूर्वक उसकी उपासना करते हुए बुभुक्षासे पीडित होकर विषयोंकी ओर दौडते हैं। प्राणिगण द्वार-रहित गृहकी भाँति विषयोंसे निबद्ध सङ्कल्प भोग समूहमें प्रवेश करते हुए जिस प्रकार काष्ठ क्षय होनेसे प्रज्वलित अग्नि शान्त होजाती है, उस ही प्रकार प्राणक्षय होनेसे शान्तिको प्राप्त हुआ करते हैं। इच्छानुसार हम लोगोंकी निज निज गुणोंमें आसक्ति होती है, परन्तु परस्परके गुणोंकी उपलब्धि नहीं होती और तुम्हारे अतिरिक्त हम लोगोंको हर्ष उत्पन्न नहीं होता। (२४—२९)

आश्वमेधिकपर्वमें २२ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें २३ अध्याय।

ब्राह्मण बोला, हे सुभगे ! इस विषयमें पण्डित लोग पञ्च होताके संवाद-युक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं। बुद्धिमान् लोग प्राण, अपान, उदान समान और व्यान इस पञ्च वायुको पञ्च होतृ समझते तथा इनके परम तत्त्वको जानते हैं। (१—२)

ब्राह्मणी बोली, पहले मैंने आपके समीप स्वभावसिद्ध सप्त होताओंका विवरण मालूम किया है। अब इस समय पञ्च होताओं और उनके परम तत्त्वोंको

ब्राह्मण उवाच— प्राणेन संभृतो वायुरपानो जायते ततः।
अपाने संभृतो वायुस्ततो व्यानः प्रवर्तते ॥ ४ ॥
व्यानेन संभृतो वायुस्ततोदानः प्रवर्तते।
उदाने संभृतो वायुः समानो नाम जायते ॥ ५ ॥
तेऽपृच्छन्त पुरा सन्तः पूर्वजातं पितामहम्।
यो नः श्रेष्ठस्तमाचक्ष्व स नः श्रेष्ठो भविष्यति॥ ६ ॥
ब्रह्मोवाच— यस्मिन्प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे।
यस्मिन्प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति स वै श्रेष्ठो गच्छत यत्र कामः॥ ७ ॥
प्राण उवाच—मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ ८ ॥
ब्राह्मण उवाच— प्राणः प्रालीयत ततः पुनश्च प्रचचार ह।
समानश्चाप्युदानश्च वचोऽब्रूतां पुनः शुभे ॥ ९ ॥
न त्वं सर्वमिदं व्याप्य तिष्ठसीह यथा वयम्।
न त्वं श्रेष्ठो हि नः प्राण अपानो हि वशे तव।

विस्तारपूर्वक कहिये। (३)

ब्राह्मण बोला, वायु प्राणसे उत्पन्न होनेपर अपानरूपसे परिणत होता है, अनन्तर अपानसे प्रकट होके व्यान और व्यानसे उत्पन्न होकर उदान तथा उदानसे उत्पन्न होके समान रूपसे परिणत हुआ करता है। एक समय उन प्राणादि पञ्च वायुने एकत्रित होकर पूर्वजात पितामह ब्रह्मासे इस प्रकार पूंछा। हे ब्रह्मन्! आप बताइये, हम लोगोंके बीच श्रेष्ठ कौन है? आप जिसे श्रेष्ठ कहेंगे, वही हम लोगोंमें श्रेष्ठ होगा।(४-६)

ब्रह्मा बोले, प्राणियोंके शरीरमें जिस प्राणके प्रलीन होनेसे सब प्राणी ही प्रलयको प्राप्त होते हैं और जिस प्राणके प्रचीर्ण होनेसे फिर प्रकाशित होते हैं, वही तुम लोगोंमें श्रेष्ठ है। इस समय तुम लोगोंकी जहां अभिलाष हो, वहां जाओ। (७)

प्राण बोला, प्राणियोंके शरीरके बीच मेरे प्रलीन होनेसे सब प्राण ही प्रलीन होते हैं और मेरे प्रचीर्ण होनेसे सभी प्रकाशित हुआ करते हैं। इसलिये मैं ही श्रेष्ठ हूं, इस समय मैं प्रलीन होता हूं, तुम सब कोई अवलोकन करो। (८)

ब्राह्मण बोला, हे शुभे! प्राण प्रलीन होके पुनः प्रचीर्ण होनेपर समान और उदान कहने लगे। हे प्राण! तुम हमारी भांति इस शरीरमें सर्वत्र व्याप्त रहनेमें अक्षम हो, इसलिये हमसे श्रेष्ठ

प्रचचार पुनः प्राणस्तमपानोऽभ्यभाषत ॥ १० ॥
अपान उवाच— मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ ११ ॥
ब्राह्मण उवाच— व्यानश्च तमुदानश्च भाषमाणमथोचतुः ।
अपान न त्वं श्रेष्ठोऽसि प्राणो हि वशगस्तव ॥ १२ ॥
अपानः प्रचचाराथ व्यानस्तं पुनरब्रवीत् ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १३ ॥
मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १४ ॥
ब्राह्मण उवाच— प्रालीयत ततो व्यानः पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानावुदानश्च समानश्च तमब्रुवन् ॥ १५ ॥
न त्वं श्रेष्ठोऽसि नो व्यान समानस्तु वशे तव ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १६ ॥

नहीं हो सकते, अपान तुम्हारे वशमें है, इसलिये अपानके ही प्रभु हो सकते हो। प्राण इतनी बात सुनके फिर प्रचीर्ण हुआ, तब अपान उससे कहने लगा। (९-१०)

अपान बोला, प्राणियोंके शरीरमें मेरे प्रलीन होनेसे सब प्राणही प्रलयको प्राप्त होते हैं और मेरे प्रचीर्ण होनेसे सभी प्रकाशित हुआ करते हैं, इसलिये मैंही सबसे श्रेष्ठ हूं, मैं प्रलीन होता हूं, तुम सब अवलोकन करो। (११)

ब्राह्मण बोला, अनन्तर व्यान और उदान अपानसे बोले, हे अपान! तुम हम लोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो, प्राणही तुम्हारे वशवर्ती है, इसलिये तुम प्राणहीके निकट श्रेष्ठ हो सकते हो। अनंतर अपानके प्रकाशित होनेपर व्यान उससे फिर कहने लगा, कि मैं जिस निमित्त सबसे श्रेष्ठ हूं, उसे सुनो। प्राणियोंके शरीरके बीच मेरे प्रलीन होनेसे सब प्राणही प्रलयको प्राप्त होते हैं और मेरे प्रचीर्ण होनेसे सभी प्रकाशित हुआ करते हैं, इसलिये मैंही सबसे श्रेष्ठ हूं; अब मैं प्रलीन होता हूं, तुम सब कोई अवलोकन करो। (१२-१४)

ब्राह्मण बोला, अनन्तर व्यान प्रलीन होके पुनः प्रकाशित हुआ, तब प्राण, अपान, उदान और समान उससे कहने लगे। हे व्यान! तुम हमारे प्रभु नहीं हो सकते, परन्तु समान तुम्हारे वशमें है, इसलिये तुम उसके ही प्रभु हो। व्यान ऐसा सुनके फिर प्रकाशित हुआ,

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १७ ॥
समानः प्रचचाराथ उदानस्तमुवाच ह ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १८ ॥
मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १९ ॥
ततः प्रालीयतोदानः पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानौ समानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन् ॥
उदान न त्वं श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव ॥ २० ॥
ब्राह्मण उवाच– ततस्तानब्रवीद्ब्रह्मा समवेतान्प्रजापतिः ।
सर्वे श्रेष्ठा न वा श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः ॥ २१ ॥
सर्वे स्वविषये श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः ।
इति तानब्रवीत्सर्वान्समवेतान्प्रजापतिः ॥ २२ ॥
एकः स्थिरश्चास्थिरश्च विशेषात्पञ्च वायवः ।

तब समान कहने लगा, जिसलिये मैं सबसे श्रेष्ठ हूं उसे तुम लोग सुनो । (१५—१६)

प्राणियोंके शरीरके बीच जब मेरे प्रलीन होनेसे सभी प्रलयको प्राप्त होते हैं और मेरे प्रगट होनेपर सभी प्रादुर्भूत होते हैं, तब मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूं, इस समय मैं प्रलीन होता हूं, तुम अवलोकन करो । अनन्तर समानके प्रकाशित होनेपर उदान उससे कहने लगा, कि मैं जिस निमित्त सबसे श्रेष्ठ हूं सुनो । प्राणियोंके शरीरके बीच मेरे प्रलीन होनेसे सभी प्रलयको प्राप्त होते हैं और मेरे प्रगट होनेपर सब फिर प्रादुर्भूत हुआ करते हैं, इसलिये मैं प्रलीन होता हूं, तुम लोग देखो । तिसके अनन्तर उदानके प्रलीन होकर फिर प्रगट होनेपर प्राण, अपान, समान और व्यान उससे बोले, हे उदान ! व्यान तुम्हारे वशवर्ती है, इसलिये तुम व्यानके ही प्रभु हो, हम लोगोंके प्रभु नहीं हो सकते । (१७—२०)

ब्राह्मण बोला, तिसके अनन्तर प्रजापति ब्रह्मा उन प्राणादि वायुसे बोले, कि तुम सब निज निज विषयमें श्रेष्ठ हो और परस्परमें परस्परके धर्मावलम्बी हो; परन्तु परस्परमें कोई किसीसे श्रेष्ठ नहीं हो सकते । जैसे एक प्राणही स्थिर और अस्थिर होकर विविध स्थानोंके विविध उपाधिभेदसे पञ्च वायु रूपसे

एक एव ममैवात्मा बहुधाप्युपचीयते ॥ २३ ॥
परस्परस्य सुहृदो भावयन्तः परस्परम् ।
स्वस्ति व्रजत भद्रं वो धारयध्वं परस्परम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

ब्राह्मण उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्देवमतस्य च ॥ १ ॥
देवमत उवाच— जन्तोः संजायमानस्य किं नु पूर्वं प्रवर्तते ।
प्राणोऽपानः समानो वा व्यानो वोदान एव च ॥ २ ॥
नारद उवाच— येनायं सृज्यते जन्तुस्ततोऽन्यः पूर्वमेति तम् ।
प्राणद्वन्द्वं हि विज्ञेयं तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत ॥ ३ ॥
देवमत उवाच— केनायं सृज्यते जन्तुः कश्चान्यः पूर्वमेति तम् ।
प्राणद्वन्द्वं च मे ब्रूहि तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ॥ ४ ॥
नारद उवाच- संकल्पाज्जायते हर्षः शब्दादपि च जायते ।

परिणत होता है, उसही भांति एक आत्मा ही उपाधिभेदसे बहुरूपी हुआ करता है। परस्परमें परस्परके सुहृत् होकर परस्परको धारण करनेमें तुम लोगोंका मङ्गल है, तुम लोग इस समय आपसका विरोध त्यागके गमन करो, तुम लोगोंका मङ्गल हो। (२१-२४)

आश्वमेधिकपर्वमें २३ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें २४ अध्याय।

ब्राह्मण बोला, इस विषयमें पण्डित लोक देवमत ऋषि और नारदके संवाद-युक्त यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। (१)

देवमत बोले, हे नारद ! उत्पन्न होनेवाले जीवके विषयमें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान, इन पञ्च-वायुके बीच प्रथम कौनसा प्रवृत्त होता है ? (२)

नारद मुनि बोले, जीव जिस कारणसे उत्पन्न होता है, उत्पत्तिके पहले उसी कारणसे अन्य कोई वस्तु संयुक्त होती है, इसही निमित्त तिर्यक्, ऊर्ध्व, अध और प्राणद्वन्द्वको विशेष रीतिसे जानना उचित है। (३)

देवमत बोले, जीव कहांसे उत्पन्न होता है, उससे भिन्न कौन पहले प्राप्त होता है और तिर्यक् ऊर्ध्व, अध इन सबका रूप तथा प्राणद्वन्द्व क्या है ? यह तुम सब मुझसे विशेष रीतिसे कहिये। (४)

रसात्संजायते चापि रूपादपि च जायते ॥ ५ ॥
शुक्राच्छोणितसंसृष्टात्पूर्वं प्राणः प्रवर्तते।
प्राणेन विकृते शुक्रे ततोऽपानः प्रवर्तते ॥ ६ ॥
शुक्रात्संजायते चापि रसादपि च जायते।
एतद्रूपमुदानस्य हर्षो मिथुनमन्तरा ॥ ७ ॥
कामात्संजायते शुक्रं शुक्रात्संजायते रजः।
समानव्यानजनिते सामान्ये शुक्रशोणिते ॥ ८ ॥
प्राणापानाविदं द्वन्द्वमवाक् चोर्ध्वं च गच्छतः।
व्यानः समानश्चैवोभौ तिर्यग्द्वन्द्वत्वमुच्यते ॥ ९ ॥
अग्निर्वै देवताः सर्वा इति देवस्य शासनम्।
संजायते ब्राह्मणस्य ज्ञानं बुद्धिसमन्वितम् ॥ १० ॥
तस्य धूमस्तमोरूपं रजो भस्म सुतेजसः।
सर्वं संजायते तस्य यत्र प्रक्षिप्यते हविः ॥ ११ ॥
सत्त्वात्समानो व्यानश्च इति यज्ञविदो विदुः।

नारद मुनि बोले, ईश्वरके आलोचनार्थ ज्ञानसे जीव प्रकट होनेपर पहले भूतसृष्टि होती है, फिर वैदिक शब्दके अनुसार रसरूप अर्थात् तत्त्वविषयिणी वासनासे प्रजापतिके द्वारा भौतिक सृष्टि होती है। अनन्तर शोणित संसृष्ट अर्थात् वासनामिश्रित शुक्ररूप अदृष्टसे पहले प्राण प्रवृत्त होता है, फिर शुक्ररूप अदृष्टके प्राणसे विकृत होनेपर अपान प्रवृत्त होता है। रसस्वरूप वासना संसृष्ट शुक्ररूप अदृष्टसे हर्षस्वरूप उदान का रूप उत्पन्न होता है; इस हर्षरूप और कार्यके बीच अनन्दस्वरूप ब्रह्म निवास करता है। कामसे शुक्ररूप अदृष्ट और प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। सामान्य शुक्र तथा शोणित समान और व्यानसे उत्पन्न हुआ करते हैं। प्राण और अपान इस काम प्रवृत्त्याख्य द्वन्द्वको प्राप्त होकर जीव उपाधि ग्रहण करते हुए ऊपर और नीचे गमन करते हैं, उक्त रीतिके अनुसारही व्यान और समान तिर्यक् भाव तथा द्वैतभावको प्राप्त होते हैं। उक्त रीतिके अनुसारही व्यान और समान तिर्यक भाव तथा द्वैतभाव को प्राप्त होते हैं। वेदाज्ञानुसार अग्निही सर्वदेवता है, उस परमात्मरूप अग्निसे ब्राह्मणका बुद्धियुक्त ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। (५-१०)

उस उत्तम तेजयुक्त अग्निका तमोरूप धूम और रजोरूप भस्म; जिसमें हविः-रूपी भोगवस्तुएं डाली जाती हैं,

प्राणापानावाज्यभागौ तयोर्मध्ये हुताशनः ॥ १२ ॥
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ।
निर्द्वन्द्वमिति यत्त्वेतत्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १३ ॥
अहोरात्रमिदं द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १४ ॥
सच्चासच्चैव तद्द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १५ ॥
ऊर्ध्वं समानो व्यानश्च व्यस्यते कर्म तेन तत् ।
तृतीयं तु समानेन पुनरेव व्यवस्यते ॥ १६ ॥
शान्त्यर्थं व्यानमेकं च शान्तिर्ब्रह्म सनातनम् ।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच– अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

उसही अग्निसे सबकी उत्पत्ति हुआ करती है। समान और व्यान बुद्धि-सत्त्वसे उत्पन्न होते हैं, यह यशस्वी ऋषियोंका अनुभव निश्चित है। प्राण और अपान आज्यभाग हैं, उस प्राणापानके बीच वह परमात्मरूप अग्नि विद्यमान रहती है। ब्राह्मण लोग उदानके इस हर्षरूपको परब्रह्म बोध करते हैं, परन्तु यह जो अद्वैत है, उसे मैं कहता हूं, तुम सावधानतासे मेरे निकट सुनो। विद्या और अविद्यारूपी यह अहोरात्र ही द्वन्द्व है, उसके बीच वह परमात्मा-रूप अग्नि विद्यमान रहती है, ब्राह्मणगण उस उदानके रूपको परब्रह्म बोध करते हैं। (सत्) कार्य, (असत्) कारण-रूप द्वन्द्व इसके बीच परमात्मारूपी अग्नि विद्यमान रहती है, ब्राह्मणगण उदानके इस हर्षरूपको परब्रह्म बोध करते हैं। वह ऊर्ध्वब्रह्म जो सङ्कल्पाख्य हेतुके द्वारा समान और व्यानरूपसे उत्पन्न होता है, उस सङ्कल्पसे ही सब कर्म विस्तृत हुआ करते हैं, तृतीय सुषुप्तिरूप समान और व्यानके द्वारा फिर निश्चित होता है। शान्तिके निमित्त समान, व्यान, सनातन ब्रह्म ये तीनों एक मात्र शान्ति शब्दसे वर्णित होते हैं; ब्राह्मणगण उदानके इस हर्षरूपको परब्रह्म कहके बोध किया करते हैं (११–१७)

आश्वमेधिकपर्वमें २४ अध्याय समाप्त।

चातुर्होत्रविधानस्य विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥
तस्य सर्वस्य विधिवद्विधानमुपदिश्यते ।
शृणु मे गदतो भद्रे रहस्यमिदमद्भुतम् ॥ २ ॥
करणं कर्म कर्ता च मोक्ष इत्येव भाविनि ।
चत्वार एते होतारो यैरिदं जगदावृतम् ॥ ३ ॥
हेतूनां साधनं चैवं शृणु सर्वमशेषतः ।
घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक्च श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते विज्ञेया गुणहेतवः ॥ ४ ॥
गन्धो रसश्च रूपं च शब्दः स्पर्शश्च पञ्चमः ।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं सप्तैते कर्महेतवः ॥ ५ ॥
घ्राता भक्षयिता द्रष्टा वक्ता श्रोता च पञ्चमः ।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते विज्ञेयाः कर्तृहेतवः ॥ ६ ॥
स्वगुणं भक्षयन्त्येते गुणवन्तः शुभाशुभम् ।
अहं च निर्गुणोऽनन्तः सप्तैते मोक्षहेतवः ॥ ७ ॥

आश्वमेधिकपर्वमें २५ अध्याय ।

ब्राह्मण बोला, हे भद्रे! इस विषयमें पण्डित लोग चातुर्होत्रविधानकी विधि-संयुक्त पुराने इतिहासको जिस प्रकार कहा करते हैं, मैं वह सब विधान विधिपूर्वक वर्णन करता हूं, तुम मेरे समीप यह अद्भुत रहस्य सुनो। हे भामिनि! कर्ता, कर्म, करण और मोक्ष, ये चारों होता हैं, इनके द्वारा यह जगत् आवृत होरहा है। पहले घ्राणादि यद्यपि दश और सात होताओंके बीच वर्णित हुए हैं, परन्तु उनके बीच कौन किसके हेतु हैं, वह नहीं कहा गया है; इस समय युक्तिबल अवलम्बन करके हेतु-ओंके साधनको विशेषरूपसे कहता हूं, सुनो। नासिका, जिह्वा, नेत्र, कान, त्वचा, मन और बुद्धि इन सातोंका हेतु गुण अर्थात् अविद्या है। गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श, मन्तव्य और बोधव्य, ये सात हेतुकर्म हैं। घ्राता, भक्षयिता, द्रष्टा, वक्ता, श्रोता, मन्ता और बोद्धा, ये सात कर्तृत्वादिके हेतु हैं। ये घ्राता प्रेरित सातों उपाधिरूप घ्रातृत्वादि धर्मविशिष्ट होकर निज निज गन्ध आदि गुणोंको भोग किया करते हैं; परन्तु गन्धादिका प्रमाता असत् शब्द वाच्यमें मैं निर्गुण और अनन्त हूं, और ये घ्रातादि निजनिज उपाधि तथा-घ्रातृत्वादि अभिमान परित्याग करके चिन्मात्ररूपसे स्थित होनेपर मोक्षके

विदुषां बुध्यमानानां स्वं स्वं स्थानं यथाविधि ।
गुणास्ते देवताभूताः सततं भुञ्जते हविः ॥ ८ ॥
अदन्नन्नान्यथोऽविद्वान्ममत्वेनोपपद्यते ।
आत्मार्थे पाचयन्नन्नं ममत्वेनोपहन्यते ॥ ९ ॥
अभक्ष्यभक्षणं चैव मद्यपानं च हन्ति तम् ।
स चान्नं हन्ति तं चान्नं स हत्वा हन्यते पुनः ॥ १० ॥
हन्ता ह्यन्नमिदं विद्वान्पुनर्जनयतीश्वरः ।
न चान्नाज्जायते तस्मिन् सूक्ष्मो नाम व्यतिक्रमः ॥११॥
मनसा गम्यते यच्च यच्च वाचा निगद्यते ।
श्रोत्रेण श्रूयते यच्च चक्षुषा यच्च दृश्यते ॥ १२ ॥
स्पर्शेन स्पृश्यते यच्च घ्राणेन घ्रायते च यत् ।
मनः षष्ठानि संयम्य हवींष्येतानि सर्वशः ॥ १३ ॥
गुणवत्पावको मह्यं दीप्यतेऽन्तःशरीरगः ।
योगयज्ञः प्रवृत्तो मे ज्ञानवह्निप्रदोद्भवः ॥ १४ ॥

हेतु होते हैं। बुद्धिमान् तत्त्वज्ञानियोंके नासिका आदि इन्द्रियोंके निजनिज अधिष्ठान अविद्या आदि सर्व-देवताभूत होकर नियमानुसार सदा प्रेयादि विषयोंको भोग किया करते हैं। जैसे पुरुष अपने लिये अन्नपाक कराके ममतासे नष्ट होता है, वैसेही अज्ञ पुरुष प्रेय आदि विषयभोगमें लिप्त होकर ममतासे विनष्ट हुआ करते हैं। (१—९)

अभक्ष्य भक्षण और मद्यपानके विषय वैसेही पुरुषको नष्ट किया करते हैं, जो विद्वान् इस अन्न अर्थात् प्रेयादि विषयोंको भोग करता है, ईश्वर उसीकारण फिर उन्हें उत्पन्न किया करता है, यथार्थमें वह उक्त अन्नोंसे उत्पन्न नहीं होता, क्यों कि वह यदि अन्नसे उत्पन्न हो, तो उसमें कार्यकारणभाव विपरीतता होजाय। मन आदि छः इन्द्रियोंको निग्रह करनेपर जो मनसे जाना जाता है, जो वाक्यसे प्रकाशित होता, जो कानसे सुना जाता है, जो नेत्रसे देखा जाता, जो स्पर्शसे स्पृष्ट होता और जो नासिकासे सूंघा जाता है, वह सभी हवि अर्थात् अन्नरूपसे परिगणित हुआ करता है। गुणविशिष्ट पावक कारण ब्रह्म मेरे शरीरके बीच प्रकाशित है। योग ही मेरा यज्ञ, ज्ञान अग्नि, प्राण स्तोत्र, अपान शस्त्र और सर्वस्वत्याग ही दक्षिणा है। योगियोंका कर्ता (अहङ्कार), अनुमन्ता (मन) और

कर्ताऽनुमन्ता ब्रह्मात्मा होताऽध्वर्युः कृतस्तुतिः ।
ऋतं प्रशास्ता तच्छस्त्रमपवर्गोऽस्य दक्षिणा ॥ १५ ॥
ऋचश्चाप्यत्र शंसन्ति नारायणविदो जनाः ।
नारायणाय देवाय यद्विन्दन्पशून्पुरा ॥ १६ ॥
तत्र सामानि गायन्ति तत्र चाहुर्निदर्शनम् ।
देवं नारायणं भीरु सर्वात्मानं निबोध तम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

ब्राह्मण उवाच-एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि
तेनैव युक्तः प्रवणादिवोदकं यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ १ ॥
एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव लोके द्विष्टाः पन्नगाः सर्व एव ॥ २ ॥
एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।

आत्मा (बुद्धि) ये तीनों ब्रह्म होकर क्रमसे होता, अध्वर्यु और उद्गाता हुआ करते हैं; सत्यवाक्य ही उनका शास्त्र और कैवल्य दक्षिणा हुआ करती है । नारायणवित् पुरुष इस ही यज्ञमें ऋक् पाठ करते हैं और नारायण देवके उद्देश्यसे पेयादि अन्न तथा सब विषयोंको पशुरूपसे प्रदान किया करते हैं । हे भीरु ! इस यज्ञमें योगी लोग जिसके उद्देश्यसे सामगान करते हैं और जिसमें दृष्टान्तस्वरूपसे जिसका कीर्तन करते हैं, उस सर्वात्मा नारायणदेवको तुम मालूम करो । (१०—१७)

आश्वमेधिकपर्वमें २५ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें २६ अध्याय ।

ब्राह्मण बोला, हे भामिनि ! जो प्राणियोंके हृदयके बीच अन्तर्यामी रूपसे वास करता है, वह नारायणदेव ही एक मात्र शास्ता है, उसके अतिरिक्त दूसरा और कोई भी शास्ता नहीं है, मैं उसका ही विषय तुमसे कहता हूं। जैसे जल प्रवणभूमिमें गमन करता है, वैसे ही मैं उस नारायणके द्वारा जिस प्रकार उक्त तथा नियुक्त होता हूं, वैसा ही किया करता हूं। जो जीवोंके हृदयके बीच वास करता है, वह नारायणदेव ही एकमात्र गुरु है, उसके अतिरिक्त दूसरा गुरु और कोई भी नहीं है; मैं उसका ही विषय तुमसे कहता हूं, उस गुरुसे ही सब कोई शिक्षित होवें, जो लोग लोकद्वेषी हैं, वे सर्पसदृश हैं। जो प्राणियोंके हृदयकमलमें निवास करता

तेनानुशिष्टा बान्धवा बन्धुमन्तः सप्तर्षयः पार्थ दिवि प्रभान्ति ॥३॥
एकः श्रोता नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।
तस्मिन्गुरौ गुरुवासं निरुष्य शक्रो गतः सर्वलोकामरत्वम् ॥ ४ ॥
एको द्वेष्टा नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव लोके द्विष्टाः पन्नगाः सर्व एव ॥ ५ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रजापतौ पन्नगानां देवर्षीणां च संविदम् ॥ ६ ॥
देवर्षयश्च नागाश्चाप्यसुराश्च प्रजापतिम्।
पर्यपृच्छन्नुपासीनाः श्रेयो नः प्रोच्यतामिति ॥ ७ ॥
तेषां प्रोवाच भगवान् श्रेयः समनुपृच्छताम्।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ते श्रुत्वा प्राद्रवन्दिशः ॥ ८ ॥
तेषां प्रद्रवमाणानामुपदेशार्थमात्मनः।

है, वह नारायणदेव ही एकमात्र बन्धु हैं, जिसके अतिरिक्त दूसरा बन्धु और कोई भी नहीं है, मैं उसहीका विषय तुमसे कहता हूं। हे पार्थ! बन्धुवन्त बान्धव, सप्तर्षि तथा सभी उसके द्वारा शिक्षित होकर आकाशमण्डलमें प्रकाशित हुआ करते हैं। (१-३)

जो सब भूतोंके हृदयकमलमें निवास करता है, वह नारायणदेव ही एकमात्र श्रोता है, उसके अतिरिक्त दूसरा श्रोता और कोई भी नहीं है, मैं उसका ही विषय तुम्हारे समीप कहता हूं। इन्द्रने उस गुरुके निकट सदा वास करके सब लोगोंके बीच अमरत्व लाभ किया है। जो सब प्राणियोंके अन्तरमें निवास करता है, वह नारायणदेव ही एकमात्र द्वेष्टा है, उसके अतिरिक्त दूसरा और कोई भी द्वेष्टा नहीं है, मैं उसहीका विषय तुमसे कहता हूं; उस गुरुके द्वारा सब कोई सदा शिक्षित होवें, जगत्में दोषवान् पुरुष सर्पतुल्य कहके परिगणित हुआ करते हैं। (४—५)

पन्नग और देवर्षियोंने प्रजापतिके निकट जो कहा था, पण्डित लोग इस स्थलमें उस ही संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं। देवता, ऋषि, नाग और असुरवृन्द प्रजापतिके निकट जाकर बैठके उनसे बोले। हे भगवन्! हम लोगोंका जिससे कल्याण हो, आप हमारे लिये वही विषय कहिये। (६–७)

भगवान् प्रजापति कुशल पूंछनेवाले उन आदिदेव असुरोंसे बोले, कि ओंकार स्वरूप एकाक्षर ब्रह्म ही एकमात्र कल्याण-कारी है; वे लोग इतना वचन सुनके

सर्पाणां दंशने भावः प्रवृत्तः पूर्वमेव तु ॥ ९ ॥
असुराणां प्रवृत्तस्तु दम्भभावः स्वभावजः ।
दानं देवा व्यवसिता दममेव महर्षयः ॥ १० ॥
एकं शास्तारमासाद्य शब्देनैकेन संस्कृताः ।
नानाव्यवसिताः सर्वे सर्पदेवर्षिदानवाः ॥ ११ ॥
शृणोत्ययं प्रोच्यमानं गृह्णाति च यथातथम् ।
पृच्छतस्तदतो भूयो गुरुरन्यो न विद्यते ॥ १२ ॥
तस्य चानुमते कर्म ततः पश्चात्प्रवर्तते ।
गुरुर्बोद्धा च श्रोता च द्वेष्टा च हृदि निःसृतः ॥ १३ ॥
पापेन विचरँल्लोके पापचारी भवत्ययम् ।
शुभेन विचरँल्लोके शुभचारी भवत्युत ॥ १४ ॥
कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः ।

अनेक दिशामें भाग गये। निज उपदेश ओंकारात्मक एकाक्षर ब्रह्मका यथार्थ अर्थ ग्रहण करनेमें असमर्थ होकर भागनेवाले उन आदिदेव असुरोंके बीच पहले सर्प-वृन्द ओंकार उच्चारणसे निज मुख उन्मीलन और निमीलन होनेसे अपने स्वभावज मुखोन्मीलनसाध्य दंशनको ही कल्याणकारी समझकर दंशन विषयमें ही प्रवृत्त हुए। अनन्तर दानवदलने ओंकार उच्चारणमें ओष्ठचालन होनेसे दम्भको ही कल्याणकारी समझके दम्भ-भाव का ही अवलंबन किया। देवताओंने ओंकारका अर्थ प्रार्थित वस्तुका स्वीकार जानके दानव्यवसाय और महर्षियोंने ओंकारके उच्चारणमें ओष्ठ प्रभृतिका उपसंहार देखकर सब प्रवृत्तियोंके उप-संहारके हेतु दमको कल्याणकारी जानके दमको ही अवलम्बन किया। देव, ऋषि, दानव और सर्पवृन्दने एक मात्र गुरु पाके एक शब्दसे उपदिष्ट होकर अनेक व्यवसायमें प्रवृत्त हुए। (८—११)

शिष्यगण इस गुरुसे जो पूंछते हैं, यह उस विषयको शिष्योंको सुनाता तथा यथार्थ रीतिसे ग्रहण कराता है; इसीसे इनके अतिरिक्त दूसरा गुरु और कोई भी विद्यमान नहीं है; इसलिये इसकी आज्ञानुसार सब कर्म प्रवृत्त तथा सम्पादित हुआ करते। यह गुरु ही बोद्धा, श्रोता और द्वेष्टा है, यही सबके हृदयके बीच निवास किया करता है। यह गुरु इस लोकमें पापपथसे विचरनेसे पापाचारी, शुभमार्गसे चलनेपर शुभाचारी,— इन्द्रियसुखमें रत होकर कामपथसे विचरनेपर कामचारी और इन्द्रियोंको जीतनेमें

ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः ॥ १५ ॥
अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम् ॥ १६ ॥
ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसंभवः।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥ १७ ॥
एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः।
विदित्वा चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिताः ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
ब्राह्मणगीतासु अनुगीतापर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच-सङ्कल्पदंशमशकं शोकहर्षहिमातपम्।
मोहान्धकारतिमिरं लोभव्याधिसरीसृपम् ॥ १ ॥
विषयैकात्ययाध्वानं कामक्रोधविरोधकम्।
तदतीत्य महादुर्गं प्रविष्टोऽस्मि महद्वनम् ॥ २ ॥
ब्राह्मण्युवाच- क्व तद्वनं महाप्राज्ञ के वृक्षाः सरितश्च काः।
गिरयः पर्वताश्चैव कियत्यध्वनि तद्वनम् ॥ ३ ॥
ब्राह्मण उवाच-नैतदस्ति पृथग्भावः किंचिदन्यत्ततः सुखम्।

रत होकर ब्रह्मपथसे विचरनेसे ब्रह्मचारी हुआ करता है। जो लोग इस लोकमें व्रतादि कर्मोंको परित्याग कर केवल ब्रह्ममार्गमें निवास करते हुए ब्रह्मचारी और ब्रह्मभूत होकर जगत्के बीच विचरते तथा ब्रह्ममें समाहित होते हैं, उनके लिये ब्रह्म ही समिधा, ब्रह्म ही अग्नि, ब्रह्म ही जल और ब्रह्म ही गुरु हुआ करता है। पण्डित लोग ऐसे कार्यको ही सूक्ष्म ब्रह्म बोध करते हैं और वे तत्त्वदर्शी गुरुके द्वारा इस ही प्रकार शिक्षित होकर ब्रह्मज्ञान लाभ करके ब्रह्मको पाते हैं। (१२-१८)

आश्वमेधिकपर्वमें २६ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें २७ अध्याय।

ब्राह्मण बोला, हे सुभगे! सङ्कल्प जिस पथमें दंश और मशक है, शोक और हर्ष जिसमें सर्दी तथा गर्मी है, मोह जिसमें अन्धकार, लोभ और व्याधि जिसमें सर्प, विषय जिसमें एकमात्र नाशक और काम क्रोध जिसमें प्रतिबन्धक हैं, मैं उस संसारमार्गको अतिक्रम करके महादुर्गम ब्रह्मरूपी महावनमें प्रविष्ट हुआ हूं। (१-२)

ब्राह्मणी बोली, हे महाप्राज्ञ! वह वन कहां है और उस वनके वृक्ष, नदी,

नैतद्दुःखतरं किंचिद्दुःखतरं ततः ॥ ४ ॥
तस्माद्दुःखतरं नास्ति न ततोऽस्ति महत्तरम् ।
नास्ति तस्मात्सूक्ष्मतरं नास्त्यन्यत्तत्समं सुखम् ॥ ५ ॥
न तत्राविश्य शोचन्ति न प्रहृष्यन्ति च द्विजाः ।
न च बिभ्यति केषांचित्तेभ्यो बिभ्यति केचन ॥ ६ ॥
तस्मिन्वने सप्त महाद्रुमाश्च फलानि सप्ताऽतिथयश्च सप्त ।
सप्ताश्रमाः सप्त समाधयश्च दीक्षाश्च सप्तैतदरण्यरूपम् ॥ ७ ॥
पञ्च वर्णानि दिव्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥ ८ ॥
सुवर्णानि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥ ९ ॥
सुरभीणि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥ १० ॥

गिरि, पर्वत और पथ कितने हैं? (३)

ब्राह्मण बोला, वह वन स्वतन्त्र वा अस्वतन्त्र रूपसे कहीं भी नहीं है, उसकी अपेक्षा दूसरा और कुछ भी सुख नहीं है और उससे बढके दूसरा कोई दुःख-तारक कर्म भी नहीं है। इससे सूक्ष्म, महत् वा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म कुछ नहीं है और उसके समान दूसरा कोई सुख नहीं है। द्विजगण उस वनके बीच प्रविष्ट होनेपर शोकार्त, नष्ट वा किसीसे भीत नहीं होते और दूसरे किसीको उनके समीप भय प्राप्त नहीं होता। उस वनके बीच महत् अहङ्कार और पञ्च तन्मात्र, ये सात महावृक्ष हैं, यागादि अपूर्व सात फल हैं, यज्ञकर्मके देवता सात अतिथि हैं, उस यागक्रियाका कर्ता सप्ताश्रम है, रागादि सात समाधि और धर्मान्तर परिग्रह लक्षणादि सप्तदीक्षा हैं, येही अरण्यरूपसे विद्यमान हैं; जीव और वृत्तिभेदसे अनेक प्रकार मलरूपी प्रीति प्रभृति वृक्ष, उस वनमें शब्दादि पञ्चरूपसे युक्त मनोहर पुष्प और शब्दादि अनुभवरूपी पांच प्रकारके फलोंको उत्पन्न करते हुए वह वन व्याप्त होकर स्थित है। नेत्र प्रभृति सब वृक्ष उस वनके बीच श्वेत, पीत, उत्तम वर्ण तथा सुखदुःखरूपी दोनों वर्णोंसे युक्त फूल और विधिपूर्वक फलोंको उत्पन्न करते हुए व्याप्त होकर स्थिति करते हैं। यज्ञादि वृक्ष उस उस महा वनके बीच स्वर्गादि रूप सुरभि और सुखदुःखरूपी दोनों वर्णोंसे युक्त सब फलोंको उत्पन्न

सुरभीण्येकवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥ ११ ॥
बहून्यव्यक्तवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च।
विसृजन्तौ महावृक्षौ तद्वनं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १२ ॥
एको वह्निः सुमना ब्राह्मणोऽत्र पञ्चेन्द्रियाणि समिधश्चात्र सन्ति।
तेभ्यो मोक्षाः सप्त फलन्ति दीक्षा गुणाः फलान्यतिथयः फलाशाः ॥ १३ ॥
आतिथ्यं प्रतिगृह्णन्ति तत्र तत्र महर्षयः।
अर्चितेषु प्रलीनेषु तेष्वन्यद्रोचते वनम् ॥ १४ ॥
प्रज्ञावृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम्।
ज्ञानाश्रयं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञभास्करम् ॥ १५ ॥
येऽधिगच्छन्ति तं सन्तस्तेषां नास्ति भयं पुनः।
ऊर्ध्वं चावश्च तिर्यक्च तस्य नान्तोऽधिगम्यते ॥ १६ ॥
सप्त स्त्रियस्तत्र वसन्ति सद्यस्त्ववाङ्मुखा भानुमत्यो जनित्र्यः।

करते हुए वह वन व्याप्त होकर विद्यमान है। (४—१०)

ध्यानादि वृक्ष उस वनके बीच स्वर्गादि रूप सुरभि और सुखरूपी एक वर्णयुक्त अनेक फूल तथा फलोंको उत्पन्न करते हुए उस वनमें व्याप्त हैं। बुद्धि और मनरूपी दो महावृक्ष अतीत, अनागत और वर्तमान स्वरूप अव्यक्त वर्ण, पुष्प तथा फलोंको परित्याग करते हुए उस वनमें व्याप्त हैं। उस वनमें उत्तम मनवाला ब्राह्मण, एक मात्र परमात्मारूपी अग्निमें मन और बुद्धिके सहित पञ्चज्ञानेन्द्रिय समाधि होमके काष्ठ होम करता है; उस हवनीय काष्ठरूप पञ्च इन्द्रियोंसे मुक्ति होती है; मुक्त पुरुषोंके उपदेश दीक्षा-गुणभूत अपूर्व रूपवाले फल उत्पन्न होते और देवतारूपी अतिथि उन फलोंको भोजन किया करते हैं। इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतारूपी महर्षिवृन्द उस वनमें आतिथ्य प्रतिग्रह किया करते हैं; उन लोगोंके आतिथ्यसे सत्कृत होकर प्रलीन होनेपर वह अद्वैतरूप प्रतिभासमान हुआ करता है। जो साधु लोग प्रज्ञारूपी वृक्ष, मोक्षरूपी फल, शान्तिरूपी छाया, ज्ञानरूपी आश्रय, तृप्तिरूपी जल और अन्तःक्षेत्रज्ञरूपी सूर्यसे युक्त उस वनको जानके प्रज्ञावृक्षपर आरूढ होते हैं, उन्हें भय नहीं होता; क्यों कि उस प्रज्ञावृक्षका ऊपर, नीचे और तिर्यक् किसी दिशामें भी अन्त नहीं मिलता। (११—१६)

ऊर्ध्वं रसानाददते प्रजाभ्यः सर्वान् यथा सत्यमनित्यता च ॥ १७ ॥
तत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनस्तत्रोपयान्ति च ।
सप्त सप्तर्षयः सिद्धा वसिष्ठप्रमुखैः सह ॥ १८ ॥
यशो वर्चो भगश्चैव विजयः सिद्धतेजसः ।
एतमेवानुवर्तन्ते सप्त ज्योतींषि भास्करम् ॥ १९ ॥
गिरयः पर्वताश्चैव सन्ति तत्र समासतः ।
नद्यश्च सरितो वारि वहन्त्यो ब्रह्मसंभवम् ॥ २० ॥
नदीनां संगमश्चैव वैताने समुपह्वरे ।
स्वात्मतृप्ता यतो यान्ति साक्षादेव पितामहम् ॥ २१ ॥
कृशाशाः सुव्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
आत्मन्यात्मानमाविश्य ब्रह्माणं समुपासते ॥ २२ ॥
शममप्यत्र शंसन्ति विद्यारण्यविदो जनाः ।
तदरण्यमभिप्रेत्य यथाधीरमजायत ॥ २३ ॥
एतदेवेदृशं पुण्यमरण्यं ब्राह्मणा विदुः ।

मन और बुद्धिके सहित नासिका प्रभृति इन्द्रियोंका वृत्तिरूप, पुरुषोंको वशमें करनेमें असमर्थ होनेसे अधोमुखी चिज्ज्योतिर्मयी सङ्कल्पादिक सात स्त्रियें उस प्रज्ञावृक्षपर वास करती हुई प्रजा-समूहके लिये अनित्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट नित्यकी भांति, विषयज्ञानजनित आनन्दरूप अत्यन्त उत्कृष्ट समस्त रस भोग किया करती हैं और उस वृक्षपरही मन और बुद्धिके सहित पञ्चेन्द्रियरूपी सिद्ध सप्तर्षि वसिष्ठ प्रभृति ऋषियोंके सहित अर्थात् अत्यन्त तेजके सहित उद्भत भावसे वास करती हैं। वहां यश, वर्च, भग, विजय, सिद्धि और तेज प्रभृति सातों ज्योति क्षेत्रज्ञ सूर्यकी अनुवर्ती हुआ करती हैं। वहां गिरि तथा समस्त पर्वत एकत्र निवास करते हैं और नदियें ब्रह्मसे उत्पन्न हुए जलसे युक्त होकर बहा करती हैं। (१७-२०)

जहांपर सब नदियोंका सङ्गम होता है, उस अत्यन्त गूढ हृदयाकाशके बीच सन्तुष्टचित्त सिद्ध यतियोंको पितामहका दर्शन मिला करता है। वहांपर कृशाश, सुव्रताश और तपस्याके सहारे पापोंको जलानेवाले सिद्ध यतिवृन्द हृदयाकाशमें परमात्मा ब्रह्माको संस्थापित करके उपासना किया करते हैं। विद्यारण्यवित् ब्रह्मज्ञ पुरुष धीरकी भांति उस वनको पाके शमगुणहीकी प्रशंसा करते हैं। ब्राह्मण लोग ऐसे वनको पुण्यरूपसे बोध करते

विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिना ॥ २४ ॥

इति श्रीमहा० आश्वमेधिकेपर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

ब्राह्मण उवाच-गन्धान्न जिघ्रामि रसान्न वेद्मि रूपं न पश्यामि न च स्पृशामि।
न चापि शब्दान्विविधान् शृणोमि न चापि संकल्पमुपैमि कंचित ॥ १ ॥
अर्थानिष्टान्कामयते स्वभावः सर्वान्द्वेष्यान्प्रद्विषते स्वभावः।
कामद्वेषावुद्भवतः स्वभावात् प्राणापानौ जन्तुदेहान्निवेश्य ॥ २ ॥
तेभ्यश्चान्यांस्तेषु नित्यांश्च भावान् भूतात्मानं लक्षयेरन् शरीरे।
तस्मिंस्तिष्ठन्नास्मि सक्तः कथंचित्कामक्रोधाभ्यां जरया मृत्युना च ॥ ३ ॥
अकामयानस्य च सर्वकामा न विद्विषाणस्य च सर्वदोषान्।
न मे स्वभावेषु भवन्ति लेपास्तोयस्य बिन्दोरिव पुष्करेषु ॥ ४ ॥
नित्यस्य चैतस्य भवन्ति नित्या निरीक्ष्यमाणस्य बहुस्वभावः।

और क्षेत्रज्ञके द्वारा शिक्षित होकर उस स्थानमें निवास किया करते हैं। २१-२४

आश्वमेधिकपर्वमें २७ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें २८ अध्याय।

ब्राह्मण बोला, मैं न गन्धको सूंघता, न रसको चखता, न रूपको देखता, सर्दी गर्मी आदि स्पर्श नहीं करता, किसी प्रकारके शब्दको नहीं सुनता और मनके बीच किसी प्रकार संकल्पभी नहीं करता। जैसे प्राण और अपान वायु इच्छा अनिच्छाके वशमें न होकर स्वाभाविक जीवोंके शरीरमें प्रविष्ट होकर निज कार्य अन्नादि पाकक्रिया संपादन करती हैं, वैसे ही मेरे इष्ट वस्तुमें इच्छा और अनिष्ट वस्तुमें अनिच्छा न करनेपर भी बुद्धि स्वभावके वशवर्ती होकर इष्ट वस्तुमें इच्छा और अनिष्ट वस्तुमें अनिच्छा किया करती है। योगी लोग बाह्य घ्राण घ्रेयादि विषयोंसे विभिन्न स्वप्नजनित वासनामय घ्राण घ्रेयादि विषयोंमें नित्य अनुगत जो सब विषय हैं, उनसे भी अतिरिक्त जिस भूतात्माको शरीरके बीच लक्ष्य किया करते हैं, मेरे उसही भूतात्मामें निवास करनेसे काम, क्रोध, जरा और मृत्यु किसी प्रकारभी आक्रमण नहीं कर सकती, इसलिये मैं असङ्गरूपसे निवास करता हूं। मैं सब प्रकारसे काम्य वस्तुओंमें कामना और दूषित वस्तुओंमें द्वेष नहीं करता, इसीसे पद्मपत्रमें निर्लिप्त जलकी बूंदके समान काम और द्वेष मुझमें स्वाभाविक लिप्त नहीं हो सकते। यह नित्य परिदृश्यमान असंग पुरुषकी सब कामना नित्य हैं, जैसे सूर्यकी किरण आकाशमण्डलमें लिप्त नहीं होती, वैसेही पुरुषके कृतकर्मोंके

न सज्जते कर्मसु भोगजालं दिवीव सूर्यस्य मयूखजालम् ॥ ५ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अध्वर्युयतिसंवादं तं निबोध यशस्विनि ॥ ६ ॥
प्रोक्ष्यमाणं पशुं दृष्ट्वा यज्ञकर्मण्यथाऽब्रवीत् ।
यतिरध्वर्युमासीनो हिंसेयमिति कुत्सयन् ॥ ७ ॥
तमध्वर्युः प्रत्युवाच नायं छागो विनश्यति ।
श्रेयसा योक्ष्यते जन्तुर्यदि श्रुतिरियं तथा ॥ ८ ॥
यो ह्यस्य पार्थिवो भागः पृथिवीं स गमिष्यति ।
यदस्य वारिजं किंचिदपस्तत्संप्रवेक्ष्यति ॥ ९ ॥
सूर्यं चक्षुर्दिशः श्रोत्रं प्राणोऽस्य दिवमेव च ।
आगमे वर्तमानस्य न मे दोषोऽस्ति कश्चन ॥ १० ॥
यतिरुवाच— प्राणैर्वियोगे छागस्य यदि श्रेयः प्रपश्यसि ।
छागार्थे वर्तते यज्ञो भवतः किं प्रयोजनम् ॥ ११ ॥
अत्र त्वां मन्यतां भ्राता पिता माता सखेति च ।
मन्त्रयस्वैनमुन्नीय परवन्तं विशेषतः ॥ १२ ॥

भोगसमूह व्राणादिके स्वभावभूत होकर पुरुषमें संसक्त नहीं हो सकते। (१-५)

हे यशस्विनि! परम पुरुष परमात्माके असङ्ग विषयमें पण्डित लोग अध्वर्यू और यतिके संवादयुक्त जिस प्राचीन इतिहासका वर्णन करते हैं, उसे तुम सावधान होकर सुनो। यज्ञस्थलमें बैठे हुए किसी यतीने अध्वर्यूको पशुप्रोक्षण करते देखकर उसकी निन्दा करते हुए बोला, कि "आप ऐसे हिंसाकार्यमें प्रवृत्त हुए हैं?" ऐसा वचन सुनके अध्वर्यू उससे बोला, 'वेदके अनुसार यज्ञकर्ममें जन्तु हिंसित होनेसे कल्याण-युक्त होते हैं; इसलिये बकरा विनष्ट न होगा। यह बकरा यज्ञमें हिंसित होनेसे इसका जो पार्थिव भाग है, वह पृथ्वीमें मिल जायगा, जलीय अंश जलमें प्रविष्ट होगा, नेत्रके तैजस अंश सूर्यमें, शब्द आकाशभाग दिशाओंमें और प्राणवायु आकाशमें प्रविष्ट होगा; इसलिये इसमें मुझे कुछ दोष नहीं है।' (६—१०)

यति बोला, यदि यज्ञकर्ममें जन्तु-ओंके प्राणवियोग होनेसे उनका मङ्गल देखते हो, तो बकरेके निमित्तही यह यज्ञ वर्तमान है, उसमें तुम्हारा कौनसा प्रयोजन है? और इस यज्ञमें बकरा आपको पिता, माता, भ्राता तथा सखा-जाने और आपभी इस पराधीन बकरेको

एवमेवानुमन्येरंस्तान् भवान्द्रष्टुमर्हति ।
तेषामनुमतं श्रुत्वा शक्या कर्तुं विचारणा ॥ १३ ॥
प्राणा अप्यस्य च्छागस्य प्रापितास्ते स्वयोनिषु ।
शरीरं केवलं शिष्टं निश्चेष्टमिति मे मतिः ॥ १४ ॥
इन्धनस्य तु तुल्येन शरीरेण विचेतसा ।
हिंसा निर्वेष्टुकामानामिन्धनं पशुसंज्ञितम् ॥ १५ ॥
अहिंसा सर्वधर्माणामिति वृद्धानुशासनम् ।
यदहिंस्रं भवेत्कर्म तत्कार्यमिति विद्महे ॥ १६ ॥
अहिंसेति प्रतिज्ञेयं यदि वक्ष्याम्यतःपरम् ।
शक्यं बहुविधं कर्तुं भवता कार्यदूषणम् ॥ १७ ॥
अहिंसा सर्वभूतानां नित्यमस्मासु रोचते ।
प्रत्यक्षतः साधयामो न परोक्षमुपास्महे ॥ १८ ॥
अध्वर्युरुवाच- भूमेर्गन्धगुणान् भुङ्क्षे पिबस्यापोमयान् रसान् ।
ज्योतिषां पश्यसे रूपं स्पृशस्यनिलजान्गुणान् ॥ १९ ॥

ऊर्ध्वगामी करनेकी उपाय करिये; जब जन्तुगण आपको पित्रादिरूपसे बोध करेंगे, तब आप उनकी रक्षा करनेमें समर्थ होंगे, तथा उनका मत सुनके विचार करेंगे । परन्तु मुझे ऐसा बोध होता है, कि यह बकरा यज्ञमें विनष्ट होनेसे इसका प्राण छागयोनिमें प्रविष्ट होगा, केवल अचेतन शरीर मात्र अवशिष्ट रहेगा । जो लोग चेतनाविहीन काष्ठसदृश शरीरके द्वारा हिंसामय यज्ञ करनेके अभिलाषी होते हैं, पशु ही उनके यज्ञीय काष्ठ हुआ करते हैं । वृद्धोंकी ऐसी आज्ञा है, कि सब धर्मोंमें अहिंसा ही प्रशंसनीय है; परन्तु हम लोग ऐसी विवेचना किया करते हैं, कि यदि कर्म हिंसायुक्त हो, तो वह कर्तव्य है । इसके अनन्तर यदि कहना पडे, तो कदापि मैं हिंसा करनेको नहीं कह सकता; क्यों कि अहिंसा ही हमारा प्रतिश्रुत धर्म है, जो मैं हिंसा करनेके लिये कहूंगा, तो आप अनेक प्रकारके दूषित कर्म करनेमें उद्यत होंगे । सब भूतोंकी अहिंसा ही हम लोगोंकी चिर अभिलषित है, हम लोग प्रत्यक्ष वस्तुको ही साधन किया करते हैं, अप्रत्यक्षकी उपासना नहीं करते । (११—१८)

अध्वर्यू बोला, हे द्विज ! आप जो भूमिके गन्धगुणको भोजन करते, जलके रसगुणको पीते, अग्निके रूप गुणको देखते, वायुके स्पर्शगुणको स्पर्श करते

शृणोष्याकाशजान् शब्दान्मनसा मन्यसे मतिम् ।
सर्वाण्येतानि भूतानि प्राणा इति च मन्यसे ॥ २० ॥
प्राणादाने निवृत्तोऽसि हिंसायां वर्तते भवान् ।
नास्ति चेष्टा विना हिंसां किं वा त्वं मन्यसे द्विज ॥ २१ ॥
यतिरुवाच- अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधी भावोऽयमात्मनः ।
अक्षरं तत्र सद्भावः स्वभावः क्षर उच्यते ॥ २२ ॥
प्राणो जिह्वा मनः सत्त्वं सद्भावो रजसा सह ।
भावैरेतैर्विमुक्तस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ॥ २३ ॥
समस्य सर्वभूतेषु निर्ममस्य जितात्मनः ।
समन्तात्परिमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २४ ॥
अध्वर्युरुवाच- सद्भिरेवेह संवासः कार्यो मतिमतां वर ।
भवतो हि मतं श्रुत्वा प्रतिभाति मतिर्मम ॥ २५ ॥
भगवन् भगवद्बुद्ध्या प्रतिपन्नो ब्रवीम्यहम् ।
व्रतं मन्त्रकृतं कर्तुर्नापराधोऽस्ति मे द्विज ॥ २६ ॥
ब्राह्मण उवाच- उपपत्त्या यतिस्तूष्णीं वर्तमानस्ततःपरम् ।
अध्वर्युरपि निर्मोहः प्रचचार महामखे ॥ २७ ॥

और आकाशके शब्दगुणको सुनते हैं, तथा मनके द्वारा मनन करते हैं, इन सब भूतोंको ही प्राण बोध करते हैं; तो आप किस प्रकार प्राणादानसे निवृत्त होंगे ? आप तो हिंसामें ही नियुक्त होरहे हैं; क्यों कि विना हिंसा की चेष्टा नहीं हो सकती; इसलिये आप अहिंसा किस प्रकार समझते हैं ? (१९-२१)

यति बोला, आत्माकी क्षर और अक्षर दो प्रकारकी अवस्था है, उसके बीच सद्भाव अक्षर और स्वभाव क्षर कहके वर्णित हुआ है। मायाके सहित अवस्थित प्राण, जिह्वा, मन और सत्त्व, ये सद्भाव कहाते हैं; आत्मा इन सब भावसे विमुक्त होनेसे निर्द्वन्द्व और आशावर्जित है। जो पुरुष सर्वभूतोंमें समभाव, निर्मम, जितात्मा और सब भांतिसे मुक्त है, वह कहीं भी भयभीत नहीं होता। अध्वर्यू बोला, हे द्विजवर ! आपका मत सुनके मुझे ऐसा बोध होता है, कि इस लोकमें साधुओंके सङ्ग संवास करना ही उचित है। हे भगवन् ! मैं भागवतबुद्धिसे युक्त होकर कहता हूं, कि मैं मन्त्रकृत व्रत किया करता हूं; इसलिये इसमें मेरा कुछ अपराध नहीं है। (२२-२६)

ब्राह्मण बोला, तिसके अनन्तर यतिने

एवमेतादृशं मोक्षं सुसूक्ष्मं ब्राह्मणा विदुः ।
विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनार्थदर्शिना ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

ब्राह्मण उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कार्तवीर्यस्य संवादं समुद्रस्य च भाविनि ॥ १ ॥
कार्त्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहुसहस्रवान् ।
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ॥ २ ॥
स कदाचित्समुद्रान्ते विचरन्बलदर्पितः ।
अवाकिरन् शरशतैः समुद्रमिति नः श्रुतम् ॥ ३ ॥
तं समुद्रो नमस्कृत्य कृताञ्जलिरुवाच ह ।
मा मुञ्च वीर नाराचान् ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ४ ॥
मदाश्रयाणि भूतानि त्वद्विसृष्टैर्महेषुभिः ।
वध्यन्ते राजशार्दूल तेभ्यो देह्यभयं विभो ॥ ५ ॥
अर्जुन उवाच- मत्समो यदि संग्रामे शरासनधरः क्वचित् ।

उपपत्तिके अनुसार मौनावलम्बन किया और अध्वर्यु भी मोहविहीन होकर महायज्ञका प्रचार करने लगा। ब्राह्मण लोग इसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म मोक्षको जानके अर्थदर्शी क्षेत्रज्ञके सङ्ग निवास करते हैं। (२७-२८)

आश्वमेधिकपर्वमें २८ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें २९ अध्याय।

ब्राह्मण बोला, हे भाविनि! इस विषयमें पण्डित लोग कार्तवीर्य अर्जुन और समुद्रके संवादयुक्त यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। जिन्होंने शरासनके सहारे समुद्रके सहित वसुन्धराको ओरसे छोरतक जीता था, वह कार्तवीर्य अर्जुन नाम विख्यात राजा था। हमने सुना है, कि उसने किसी समय निज तेजसे दर्पित होकर समुद्रके तीर विचरते हुए एक सौ बाणोंसे समुद्रको समाच्छन्न किया, तब समुद्र हाथ जोडके उन्हें नमस्कार करके बोला, हे वीर! आप मुझपर बाण न चलाइये। कहिये मुझे आपका कौनसा कार्य करना होगा। हे राजेन्द्र! मेरे आश्रित प्राणिवृन्द आपके द्वारा छोडे हुए महाशरोंसे मर रहे हैं। हे विभु! आप उन्हें अभय प्रदान करिये। (१-५)

अर्जुन बोले, यदि युद्धमें मेरे समान शरासनधारी कोई विद्यमान हो और

विद्यते तं समाचक्ष्व यः समासीत मां मृधे ॥ ६ ॥
समुद्र उवाच– महर्षिर्जमदग्निस्ते यदि राजन्परिश्रुतः।
तस्य पुत्रस्तवातिथ्यं यथावत्कर्त्तुमर्हति ॥ ७ ॥
ततः स राजा प्रययौ क्रोधेन महता वृतः।
स तमाश्रममागम्य राममेवान्वपद्यत ॥ ८ ॥
स रामप्रतिकूलानि चकार सह बन्धुभिः।
आयासं जनयामास रामस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥
ततस्तेजः प्रजज्वाल रामस्यामिततेजसः।
प्रदहन् रिपुसैन्यानि तदा कमललोचने ॥ १० ॥
ततः परशुमादाय स तं बाहुसहस्रिणम्।
चिच्छेद सहसा रामो बहुशाखमिव द्रुमम् ॥ ११ ॥
तं हतं पतितं दृष्ट्वा समेताः सर्वबान्धवाः।
असीनादाय शक्तीश्च भार्गवं पर्यधावयन् ॥ १२ ॥
रामोऽपि धनुरादाय रथमारुह्य सत्वरः।
विसृजन् शरवर्षाणि व्यधमत्पार्थिवं बलम् ॥ १३ ॥
ततस्तु क्षत्रियाः केचिज्जामदग्न्यभयार्दिताः।

वह मेरे सङ्ग युद्धमें खडा होनेमें समर्थ हो, तो मुझसे तुम उसका वृत्तान्त कहो। (६)

समुद्र बोला, हे महाराज! यदि आप जमदग्नि महर्षिको विशेष रीतिसे जानते हैं, तो उनके पुत्रके निकट जाइये; वह विधिपूर्वक आपका आतिथ्य करनेमें समर्थ होंगे। (७)

तिसके अनन्तर राजा कार्तवीर्यार्जुन अत्यन्त क्रुद्ध होकर उनके आश्रममें जाकर उस परशुरामके निकट उपस्थित हुआ। राजाने बान्धवोंके सहित महात्मा रामके प्रतिकूल कार्य करके उन्हें क्रोधित किया। हे कमललोचने! उस समय वह अमिततेजस्वी रामकी क्रोधाग्नि शत्रुसेनाको जलाती हुई प्रज्वलित हुई। अनन्तर रामने सहसा परशु लेकर बहुतसी शाखाओंसे युक्त वृक्षकी भांति सहस्रबाहु कार्तवीर्यार्जुनको काट डाला। बान्धवगण राजाको मरके गिरा हुआ देखकर सब कोई इकट्ठे होकर तलवार और शक्ति ग्रहण करके भृगुनन्दन रामकी ओर दौडे। इधर रामने भी धनुष लेकर रथपर चढके बाण बरसाते हुए राजाके समस्त बलको व्यथित किया। अनन्तर कितनेही क्षत्रिय जमदग्निपुत्र

विविशुर्गिरिदुर्गाणि मृगाः सिंहार्दिता इव ॥ १४ ॥
तेषां स्वविहितं कर्म तद्भयान्नानुतिष्ठताम् ।
प्रजा वृषलतां प्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ १५ ॥
एवं ते द्रविडाभीराः पुण्ड्राश्च शबरैः सह ।
वृषलत्वं परिगता व्युत्थानात् क्षत्रधर्मिणः ॥ १६ ॥
ततश्च हतवीरासु क्षत्रियासु पुनः पुनः ।
द्विजैरुत्पादितं क्षत्रं जामदग्न्यो न्यकृन्तत ॥ १७ ॥
एकविंशति मेधान्ते रामं वागशरीरिणी ।
दिव्या प्रोवाच मधुरा सर्वलोकपरिश्रुता ॥ १८ ॥
राम राम निवर्त्तस्व कं गुणं तात पश्यसि ।
क्षत्रबन्धूनिमान्प्राणैर्विप्रयोज्य पुनः पुनः ॥ १९ ॥
तथैव तं महात्मानमृचीकप्रमुखास्तदा ।
पितामहा महाभाग निवर्तस्वेत्यथाब्रुवन् ॥ २० ॥
पितुर्वधममृष्यंस्तु रामः प्रोवाच तानृषीन् ।
नार्हन्तीह भवन्तो मां निवारयितुमित्युत ॥ २१ ॥

रामके भयसे भीत होकर सिंहसे भयभीत मृगकी भांति गिरिकन्दरोंमें प्रविष्ट हुए। (८—१४)

क्रमसे क्षत्रियोंको रामके भयसे निज विहित कर्मोंका अनुष्ठान न करनेपर उनके पुत्रगण वेदज्ञानसे रहित होकर शूद्रत्वको प्राप्त हुए। इसही प्रकार क्षत्र-धर्मावलम्बी शबरके सहित द्रविड, अभीर और पुण्ड्र येभी निज धर्म का अनुष्ठान न करनेसे शूद्रत्वको प्राप्त हुए, अनन्तर ब्राह्मणोंके द्वारा हतवीरा विधवा -क्षत्रिय स्त्रियोंसे जो सब क्षत्रिय सन्तान उत्पन्न होने लगे, जमदग्निपुत्र राम उनका भी वध करने लगे। रामने इसी भांति इक्कीस बार युद्धयज्ञ पूरा किया; अन्तमें वह सर्वजनपरिश्रुत मधुर अशरीरिणी देववाणीने उनसे कहा। "हे राम! तुम बार बार इन क्षत्रबन्धुओंको विनष्ट करके कौनसा गुण अवलोकन करते हो? हे तात! तुम इस निष्ठुर कार्यसे निवृत्त हो जाओ"। हे महाभागे! उस समय ऋचीक आदि पितामहोंने भी उस महात्मा रामको निवृत्त किया। परन्तु राम पितृवधसे शान्त न होकर ऋषियोंसे बोले। हे पितामहगण! इस विषयमें मुझे निवारण करना आप लोगोंको उचित नहीं है। (१५-२१)

पितर ऊचुः- नार्हसे क्षत्रबन्धूंस्त्वं निहन्तुं जयतां वर ।
नेह युक्तं त्वया हन्तुं ब्राह्मणेन सता नृपान् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

पितर ऊचुः- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
श्रुत्वा च तत्तथा कार्यं भवता द्विजसत्तम ॥ १ ॥
अलर्को नाम राजर्षिरभवत्सुमहातपाः ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च महात्मा सुदृढव्रतः ॥ २ ॥
स सागरान्तां धनुषा विनिर्जित्य महीमिमाम् ।
कृत्वा सुदुष्करं कर्म मनः सूक्ष्मे समादधे ॥ ३ ॥
स्थितस्य वृक्षमूलेषु तस्य चिन्ता बभूव ह ।
उत्सृज्य सुमहत्कर्म सूक्ष्मं प्रति महामते ॥ ४ ॥
अलर्क उवाच- मनसो मे बलं जातं मनो जित्वा ध्रुवो जयः ।
अन्यत्र बाणान्धास्यामि शत्रुभिः परिवारितः ॥ ५ ॥
यदिदं चापलात्कर्म सर्वान्मर्त्यांश्चिकीर्षति ।

पितृगण बोले, हे विजयिश्रेष्ठ ! वे सब क्षत्रबन्धु तुम्हारे वधके योग्य नहीं हैं, विशेष करके ब्राह्मण होकर क्षत्रियों-को मारना तुम्हारे पक्षमें युक्तियुक्त नहीं होता है । (२२)

आश्वमेधिकपर्वमें २९ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ३० अध्याय ।

पितृगण बोले, हे द्विजसत्तम ! इस अहिंसाविषयमें पण्डित लोग जिस प्राचीन इतिहासका वर्णन करते हैं, उसे सुनकर तुम्हें वैसाही करना योग्य है । पहले समयमें महातपस्वी धर्मज्ञ सत्य-वादी महात्मा दृढव्रती अलर्क नाम एक राजर्षि थे । उन्होंने शरासनसे समुद्रके सहित इस वसुन्धराको जीतते हुए अत्यन्त दुष्कृत कर्म करके सूक्ष्म विचारमें मन लगाया । हे महाप्राज्ञ ! वह एक बार निज उत्तम महत् कर्मोंको परित्याग करके वृक्षके मूलमें बैठकर सूक्ष्म पर ब्रह्मका विचार करने लगे । अलर्क मनही मन चिन्ता करके बोले, कि मेरे मनका बल अत्यन्त प्रबल होगया है; इसलिये मनको जीतनेसे मुझे नित्य जय प्राप्त होगी; इस समय मैं इन्द्रियरूपी शत्रुओंसे घिरा हुआ हूं; इन बाह्य इन्द्रि-यरूपी शत्रुओंके विषयमें, हठयोगरूपी बाण चलाऊंगा । जब मनकी चपलतासे ही ये कर्म मनुष्यको गिरानेकी इच्छा

मनः प्रति सुतीक्ष्णाग्रानहं मोक्ष्यामि सायकान् ॥६॥

मन उवाच- नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ ७ ॥
अन्यान् बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वाऽप्यविचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

अलर्क उवाच- आघ्राय सुबहून्गन्धांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्मात घ्राणं प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥९॥

घ्राण उवाच- नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १० ॥
अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

अलर्क उवाच- इयं स्वादून रसान भुक्त्वा तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माज्जिह्वां प्रति शरान्प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥१२॥

जिह्वोवाच- नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंञ्चन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १३ ॥

करते हैं, तब मनकी ओर ही मैं हठयोगरूपी इन बाणोंको छोड़ूंगा।(१-६)

मन बोला, हे अलर्क! ये बाण मुझे कदापि छेदन न कर सकेंगे, ये तुम्हारेही मर्मोंको वेधेंगे, तब तुम मर्मोंके कटनेसे दुःखी होगे; इसलिये इसके अतिरिक्त जिस बाणसे तुम मुझे मारोगे उसका अनुसन्धान करो। (७-८)

अलर्क ऐसा सुनके सोचकर बोले, नासिका अनेक प्रकार गन्धको सूंघती हुई सुगन्धकी ही अभिलाष किया करती है; इसलिये उस नासिकाके विषयमें मैं इन शाणित बाणोंको छोड़ूंगा। (९)

नासिका बोली, हे अलर्क! तुम मेरी ओर जिन बाणोंको छोडोगे, वे कदापि मुझे भेद न कर सकेंगे। बल्कि वे बाण तुम्हारे ही मर्मोंको छेदन करेंगे, तब तुम ही भिन्नमर्मा होकर मृत्युमुखमें पतित होगे। इसलिये इसके अतिरिक्त जिस बाणसे तुम मुझे नष्ट कर सकोगे, उसका अनुसन्धान करो। (१०-११)

अलर्क ऐसा वचन सुनकर क्षणभर सोचके बोले, कि यह जिह्वा सुस्वादु रसको भोजन करके उस रसकी ही अभिलाष किया करती है, इसलिये मैं जिह्वाके विषयमें ही यह शाणित बाण छोड़ूंगा। (१२)

जिह्वा बोली, हे अलर्क! तुम मेरे

अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥१४॥
अलर्क उवाच- स्पृष्ट्वा त्वग्विविधान् स्पर्शांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्मात्त्वचं पाटयिष्ये विविधैः कङ्कपत्रिभिः ॥ १५ ॥
त्वगुवाच-- नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १६ ॥
अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥१७॥
अलर्क उवाच- श्रुत्वा तु विविधान् शब्दांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माच्छ्रोत्रं प्रति शरान् प्रतिमुञ्चाम्यहं शितान् ॥१८॥
श्रोत्रमुवाच- नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति ततो हास्यसि जीवितम् ॥ १९ ॥
अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥२०॥

ऊपर जिन बाणोंको चलानेकी इच्छा करते हो, वे बाण कदापि मुझे स्पर्श न कर सकेंगे, वरन तुम्हारे ही मर्मोंको भेदकर तुम्हें नष्ट करेंगे; इसलिये इसके अतिरिक्त जिस बाणके सहारे तुम मुझे विनष्ट कर सकोगे, उसका ही अनुसन्धान करो। अलर्क ऐसा सुनकर क्षणभर सोचके बोले, कि त्वचा विविध स्पर्शको स्पर्श करके उस स्पर्शकी ही आकांक्षा किया करती है; इसलिये मैं कङ्कपत्र-युक्त विविध बाणोंसे त्वचाको नष्ट करूंगा। (१३-१५)

त्वचा बोली, हे अलर्क ! तुम मेरे ऊपर जिन बाणोंके चलानेकी इच्छा करते हो, वे कदापि मुझे भेद न कर सकेंगे, वे तुम्हारे ही मर्मोंको छेदन करके तुम्हें विनष्ट करेंगे, इसलिये तुम इसके अतिरिक्त जिस बाणसे मुझे नष्ट कर सकोगे, उसकी खोज करो। (१६-१७)

अनन्तर अलर्क ऐसा वचन सुनकर क्षणभर चिन्ता करके बोले, कि कान विविध शब्द सुनके शब्दकी ही आकांक्षा किया करता है, इसलिये मैं इन शाणित बाणोंको कानके ऊपर चलाऊंगा। (१८)

कान बोला, हे अलर्क ! तुम मेरे ऊपर जिन बाणोंको छोडनेकी इच्छा करते हो, वे शर कदापि मुझे भेदित न कर सकेंगे। बल्कि वे तुम्हारे ही मर्मोंका छेदन करके तुम्हारा जीवन नष्ट करेंगे, इसलिये इनके अतिरिक्त जिस बाणसे

अलर्क उवाच- दृष्ट्वा रूपाणि बहुशस्तान्येव प्रतिगृध्यति ।
तस्माच्चक्षुर्हनिष्यामि निशितैः सायकैरहम् ॥ २१ ॥
चक्षुरुवाच— नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ २२ ॥
अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥२३॥
अलर्क उवाच- इयं निष्ठा बहुविधा प्रज्ञया त्वध्यवस्यति ।
तस्माद् बुद्धिं प्रति शरान्प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥२४॥
बुद्धिरुवाच- नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ।
अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ॥२५॥
ब्राह्मण उवाच- ततोऽलर्कस्तपो घोरं तत्रैवास्थाय दुष्करम् ।
नाध्यगच्छत्परं शक्त्या बाणमेतेषु सप्तसु ॥ २६ ॥

तुम मुझे विनष्ट करोगे, उसकी खोज करो। (१९—२०)

अलर्क इतना वचन सुनके क्षणभर चिन्ता करके बोले, नेत्र अनेक भांतिके रूपको देखकर उस रूपकी ही आकांक्षा किया करता है, इसलिये मैं इन शिकल किये हुए बाणोंसे नेत्रको नष्ट करूंगा। (२१)

नेत्रने कहा, हे अलर्क! तुम इन बाणोंसे किसी प्रकार मुझे विनष्ट न कर सकोगे, बल्कि ये बाण तुम्हारे ही मर्मोंको छेदन करके तुम्हें विनष्ट करेंगे; इसलिये इसके अतिरिक्त जिस बाणके सहारे तुम मुझे विनष्ट कर सकोगे, उस ही बाणकी खोज करो। (२२—२३)

अनन्तर अलर्क ऐसा वचन सुनकर क्षणभर चिन्ता करके बोले, यह बुद्धि प्रज्ञाके द्वारा अनेक प्रकारकी निष्ठा निष्पन्न किया करती है, इसलिये मैं शाणित बाणोंको बुद्धिके ऊपर छोडूंगा। (२४)

बुद्धि बोली, हे अलर्क! तुम इन बाणोंसे मुझे कदापि विनष्ट न कर सकोगे; वरन ये बाण तुम्हारे ही मर्मोंको छेदन करके तुम्हें नष्ट करेंगे; यदि मेरे विनाश करनेके लिये तुम्हें अत्यन्त अभिलाष हुई हो, तो तुम इसके अरिरिक्त और कोई बाण खोजो। (२५)

ब्राह्मण बोला, तिसके अनन्तर अलर्क उस स्थानमें घोर दुष्कर तपस्या करके भी पूर्वोक्त सातों इन्द्रियोंके विषयमें बलपूर्वक बाण न छोड सके। हे

सुसमाहितचेतास्तु स ततोऽचिन्तयत्प्रभुः ।
स विचिन्त्य चिरं कालमलर्को द्विजसत्तम ॥ २७ ॥
नाध्यगच्छत्परं श्रेयो योगान्मतिमतां वरः ।
स एकाग्रं मनः कृत्वा निश्चलो योगमास्थितः ॥ २८ ॥
इन्द्रियाणि जघानाशु बाणेनैकेन वीर्यवान् ।
योगेनात्मानमाविश्य सिद्धिं परमिकां गतः ॥ २९ ॥
विस्मितश्चापि राजर्षिरिमां गाथां जगाद ह ।
अहो कष्टं यदस्माभिः सर्वं बाह्यमनुष्ठितम् ॥ ३० ॥
भोगतृष्णासमायुक्तैः पूर्वं राज्यमुपासितम् ।
इति पश्चान्मया ज्ञातं योगान्नास्ति परं सुखम् ॥ ३१ ॥
इति त्वमनुजानीहि राम मा क्षत्रियान् जहि ।
तपो घोरमुपातिष्ठ ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ ३२ ॥
इत्युक्तः स तपो घोरं जामदग्न्यः पितामहैः ।
आस्थितः सुमहाभागो ययौ सिद्धिं च दुर्गमाम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

ब्राह्मण उवाच- त्रयो वै रिपवो लोके नवधा गुणतः स्मृताः ।

द्विजसत्तम ! अनन्तर प्राज्ञवर प्रभु अलर्कने समाहित चित्तसे बहुत समयतक सोचकर परम कल्याण लाभ न कर सकनेसे एकाग्रचित्त होकर निश्चलभावसे योगमार्ग अवलंबनपूर्वक एक बाणसे शीघ्र ही उन इन्द्रियोंको विनष्ट किया और योगबलसे परमात्मामें प्रविष्ट होकर परम सिद्धि प्राप्त की । अनन्तर राजर्षि अलर्कने विस्मित होकर यह गाथा गाया, कि ओहो ! कैसा कष्ट है ! क्यों कि पहले मैं भोगतृष्णासे आक्रान्त होकर उन बाह्यवस्तु राज्यादिकी उपासनामें नियुक्त था, अब मैंने निश्चय जाना, कि योगसे बढके सुखदायक और कुछ भी नहीं है । (२६-३१)

हे राम ! तुम इसे विशेष रीतिसे जानके क्षत्रियोंके वधसे निवृत्त होकर घोर तपस्याचरण करनेसे कल्याण लाभ कर सकोगे । महाभाग जमदग्निपुत्र रामने पितामहगणोंका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त कठोर तपस्याका अनुष्ठान करते हुए दुर्गम सिद्धि प्राप्त की । (३२-३३)

आश्वमेधिकपर्वमें ३० अध्याय समाप्त ।

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दस्त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः ॥ १ ॥
तृष्णा क्रोधोऽभिसंरम्भो राजसास्ते गुणाः स्मृताः ।
श्रमस्तन्द्रा च मोहश्च त्रयस्ते तामसा गुणाः ॥ २ ॥
एतान्निकृत्य धृतिमान् बाणसङ्घैरतन्द्रितः ।
जेतुं परानुत्सहते प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ३ ॥
अत्र गाथाः कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जनाः ।
अम्बरीषेण या गीता राज्ञा पूर्वं प्रशास्यता ॥ ४ ॥
समुदीर्णेषु दोषेषु बाध्यमानेषु साधुषु ।
जग्राह तरसा राज्यमम्बरीषो महायशाः ॥ ५ ॥
स निगृह्यात्मनो दोषान्साधून्समभिपूज्य च ।
जगाम महतीं सिद्धिं गाथाश्चेमा जगाद ह ॥ ६ ॥
भूयिष्ठं विजिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः ।
एको दोषो वरिष्ठश्च वध्यः स न हतो मया ॥ ७ ॥
यत्प्रयुक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति ।
तृष्णार्त इह निम्नानि धावमानो न बुध्यते ॥ ८ ॥

आश्वमेधिकपर्वमें ३१ अध्याय ।

ब्राह्मण बोला, सत्त्वगुणसे उत्पन्न प्रहर्ष, प्रीति और आनन्द ये तीनों ही लोकके बीच शत्रुरूपसे गिने गये हैं; येही वृत्तिभेदसे नव प्रकार हुआ करते हैं । तृष्णा, क्रोध तथा संरम्भ, ये तीनों रजोगुणसे और श्रम, तन्द्रा तथा मोह, ये तीनों तमोगुणसे उत्पन्न हुए हैं । धृतिमान्, जितेन्द्रिय, प्रशान्तचित्त पुरुष इन सबको छेदन करके तन्द्राविहीन होकर शरसमूहसे शत्रुओंको जीतनेके लिये उद्यत होवे । पहले समयमें प्रशान्त-चित्त राजा अम्बरीषने जिस गाथाको गाया था, पुराण जाननेवाले पण्डित लोग इस विषयमें वही गाथा कहा करते हैं; शमगुण अन्तर्हित और रजोगुणके पूरी रीतिसे उदित होनेपर महायशस्वी राजा अम्बरीषने सहसा राज्य ग्रहण किया । अनन्तर वह आत्माके रजोगुणको निग्रह करके शमगुणकी सम्मानना करनेसे महती श्री लाभ करके यह गाथा गाने लगे । मैंने शत्रुओंको जीता और दोषोंको विनष्ट किया है; परन्तु अवश्य वध्य एक महान् दोष है, उसे नष्ट नहीं कर सका । (१—७)

इस ही लिये इस जन्ममें प्रयुक्त होकर वैतृष्ण्य लाभ नहीं कर सका, तृष्णार्त होकर मूर्खकी भांति नीच

अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः ।
तं लोभमसिभिस्तीक्ष्णैर्निकृन्ततं निकृन्तत ॥ ९ ॥
लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते ।
स लिप्समानो लभते भूयिष्ठं राजसान्गुणान् ।
तदवाप्तौ तु लभते भूयिष्ठं तामसान्गुणान् ॥ १० ॥
स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः पुनः पुनर्जायति कर्म चेह ते ।
जन्मक्षये भिन्नविकीर्णदेहो मृत्युं पुनर्गच्छति जन्मनैव ॥ ११ ॥
तस्मादेतं सम्यगवेक्ष्य लोभं निगृह्य धृत्याऽऽत्मनि राज्यमिच्छेत् ।
एतद्राज्यं नान्यदस्तीह राज्यमात्मैव राजा विदितो यथावत् ॥ १२ ॥
इति राज्ञाऽम्बरीषेण गाथा गीता यशस्विना ।
अधिराज्यं पुरस्कृत्य लोभमेकं निकृन्तता ॥ १३ ॥

इति श्रीमहा० आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

ब्राह्मण उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं जनकस्य च भाविनी ॥ १ ॥

कर्मोंकी ओर दौड रहा हूं । मनुष्य इस लोकमें इसहीके द्वारा प्रयुक्त होकर अकार्योंकी सेवा किया करता है, उसही को तीक्ष्ण तलवारके सहारे नष्ट करे; क्यों कि लोभसे तृष्णा उत्पन्न होती है और उससे चिन्ता प्रवृत्त हुआ करती है; मनुष्य लिप्समान होकर प्रचुर परिमाणसे राजस गुण लाभ करता है परन्तु राजस गुण प्राप्त न होनेसे तामस गुण प्राप्त हुआ करता है । देहबन्धन उन गुणोंके सङ्ग मिलित होनेसे पुरुष बार बार जन्म ग्रहण करके कर्मकी आकांक्षा किया करता है और जीवन नष्ट होनेसे भिन्न तथा विक्षिप्त देह होकर जन्मके सहित मृत्युको प्राप्त हुआ करता है । इसलिये पूरी रीतिसे पर्यालोचना करते हुए लोभको देहके बीच रोकके राज्यकी इच्छा करे । आत्मा ही राजा और इस लोकमें लोभका रोकना ही राज्य है, इससे बढके अन्य राज्य और कुछ भी नहीं है; इस ही भांति यथावत् जानना चाहिये । लोभको निग्रह करनेवाले राजा अम्बरीषने अधिराज्यके उपलक्ष्यमें यह गाथा गाई थी । (८—१३)

आश्वमेधिकपर्वमें ३१ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ३२ अध्याय ।

ब्राह्मण बोला, हे भाविनि ! इस लोभनिग्रहविषयमें पण्डित लोग ब्राह्मण और जनकके संवादयुक्त यह पुराना

ब्राह्मणं जनको राजाऽऽसन्नं कस्मिंश्चिदागसि ।
विषये मे न वस्तव्यमिति शिष्ट्यर्थमब्रवीत् ॥ २ ॥
इत्युक्तः प्रत्युवाचाथ ब्राह्मणो राजसत्तमम् ।
आचक्ष्व विषयं राजन् यावांस्तव वशे स्थितः ॥ ३ ॥
सोऽन्यस्य विषये राज्ञो वस्तुमिच्छाम्यहं विभो ।
वचस्ते कर्तुमिच्छामि यथाशास्त्रं महीपते ॥ ४ ॥
इत्युक्तस्तु तदा राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य न किंचित्प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥
तमासीनं ध्यायमानं राजानममितौजसम् ।
कश्मलं सहसाऽगच्छद्भानुमन्तमिव ग्रहः ॥ ६ ॥
समाश्वास्य ततो राजा विगते कश्मले तदा ।
ततो मुहूर्तादिव तं ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
जनक उवाच- पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
विषयं नाधिगच्छामि विचिन्वन् पृथिवीमहम् ॥ ८ ॥
नाध्यगच्छं यदा पृथ्व्यां मिथिला मार्गिता मया ।
नाध्यगच्छं यदा तस्यां स्वप्रजा मार्गिता मया ॥ ९ ॥

इतिहास कहा करते हैं। राजा जनक किसी अपराधी ब्राह्मणको अनुशासन करनेके लिये बोले, कि तुम मेरे राज्यमें वास न करने पाओगे। (१—२)

ब्राह्मण राजाका ऐसा वचन सुनके बोला, हे महाराज! आपके वशवर्ती हो, वही विषय आप मुझसे कहिये। हे विभु! मैं आपकी आज्ञानुसार अन्य राज्यमें वास करके शास्त्रके अनुसार आपके वचनको प्रतिपालन करनेकी इच्छा करता हूं। उस समय राजा यशस्वी ब्राह्मणका ऐसा वचन सुनके बार बार गर्म सांस छोडते हुए कुछ भी उत्तर न दे सके। अमित तेजस्वी राजा जनक बैठके चिन्ता करते हुए राहुग्रस्त सूर्यकी भांति सहसा मोहग्रस्त हुए। अनन्तर थोडे समयके बाद आश्वासित होकर मुहूर्तभरके बीच मोह-रहित होकर उठके उस ब्राह्मणसे कहने लगे। (३—७)

जनक बोले, हे द्विजसत्तम! पितृ-पितामह राज्य और समस्त जनपद वशीभूत होनेपर भी मुझे पृथ्वीमें खोज-नेपर यह विषय प्राप्त न हुआ, तब मिथिलामें खोजा, मिथिलामें भी न पाकर प्रजाके बीच अन्वेषण किया;

नाध्यगच्छं यदा तस्यां तदा मे कश्मलोऽभवत् ।
ततो मे कश्मलस्यान्ते मतिः पुनरुपस्थिता ॥ १० ॥
तदा न विषयं मन्ये सर्वो वा विषयो मम ।
आत्माऽपि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ॥११॥
यथा मम तथाऽन्येषामिति मन्ये द्विजोत्तम ।
उष्यतां यावदुत्साहो भुज्यतां यावदुष्यते ॥ १२ ॥
ब्राह्मण उवाच– पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
ब्रूहि कां मतिमास्थाय ममत्वं वर्जितं त्वया ॥ १३ ॥
कां वै बुद्धिं समाश्रित्य सर्वो वै विषयस्तव ।
नावैषि विषयं येन सर्वो वा विषयस्तव ॥ १४ ॥
जनक उवाच– अन्तवन्त्य इहावस्था विदिताः सर्वकर्मसु ।
नाध्यगच्छमहं बुद्ध्या ममेदमिति यद्भवेत् ॥ १५ ॥
कस्येदमिति कस्य स्वमिति वेदवचस्तथा ।
नाध्यगच्छमहं बुद्ध्या ममेदमिति यद्भवेत् ॥ १६ ॥
एतां बुद्धिं समाश्रित्य ममत्वं वर्जितं मया ।
शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम ॥ १७ ॥

फिर जब प्रजाके बीच भी न पाया, तब मुझे मोह उपस्थित हुआ । अनन्तर मोह शान्त होनेसे बुद्धि उदित होनेपर मुझे ऐसा बोध हुआ, कि कोई विषय भी मेरा नहीं है और सब विषय ही मेरे हैं; आत्मा मेरा नहीं है और सारी पृथ्वी मेरी है । ये सब विषय जैसे मेरे हैं, वैसे ही दूसरोंके भी हैं । हे द्विजवर ! इसलिये जहां आपकी इच्छा हो, वहां वास करो और जो अभिरुचि हो, वह भोग करो । (८—१२)

ब्राह्मण बोला, हे महाराज ! पितृ-पितामह राज्य और जनपदके वशीभूत रहनेपर भी आपने कौनसी बुद्धि अवलम्बन करके उसकी ममता परित्याग की ? और किस बुद्धिके सहारे ऐसी विवेचना की, कि " सब विषय मेरे हैं तथा मेरे नहीं हैं । " (१३–१४)

जनक बोले, इस लोकमें आढ्यत्व और दरिद्रत्व प्रभृति सब अवस्था नश्वर हैं, यह सब कर्म ही मुझे विदित है, इस ही निमित्त ऐसा नहीं समझता, कि 'यह मेरी होगी' यह विषय, यह धन, किसी का भी नहीं है, इस वेदवाक्यके अनुसार मैं इसे अपना नहीं समझता हूं; इस ही बुद्धिको अवलम्बन करके मैंने

नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राणगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ १८ ॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि रसान्नास्येऽपि वर्ततः ।
आपो मे निर्जितास्तस्माद्वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥ १९ ॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि रूपं ज्योतिश्च चक्षुषः ।
तस्मान्मे निर्जितं ज्योतिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २० ॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि स्पर्शांस्त्वचि गताश्च ये ।
तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २१ ॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि शब्दान् श्रोत्रगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिताः शब्दा वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥२२॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोन्तरे ।
मनो मे निर्जितं तस्माद्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २३ ॥
देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह ।
इत्यर्थं सर्व एवेति समारम्भा भवन्ति वै ॥ २४ ॥
ततः प्रहस्य जनकं ब्राह्मणः पुनरब्रवीत् ।

ममता परित्याग किया है और जिस बुद्धिके सहारे मैं सब विषयोंको अपना कहा करता हूं, उसे सुनो। मैं आपने निमित्त नासिकामें गई हुई सुगन्धिको भी नहीं सूंघता, इसहीसे यह भूमि मेरे द्वारा परित्यक्त होकर सदा मेरे वशवर्ती होकर निवास करती है; मैं मुखमें गये हुए रसको भी नहीं पीता, इसही निमित्त जल मेरे द्वारा निर्जित होकर सदा मेरे वशमें निवास करता है। मैं अपने निमित्त नेत्रकी ज्योतिरूपंको ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करता, इसीसे ज्योति मेरे द्वारा निर्जित होकर सदा मेरे वशवर्ती हो रही है। (१५—२०)

मैं अपने लिये त्वग्गत स्पर्शको स्पर्श करनेकी इच्छा नहीं करता, इसीसे वायु मुझसे निर्जित होकर मेरे वशवर्ती होरहा है। मैं अपने निमित्त कानमें गये हुए शब्दको नहीं सुनता, इसलिये शब्द मेरे द्वारा निर्जित होकर निरन्तर मेरे वशवर्ती होरहा है। मैं अपने निमित्त अन्तरस्थित मनको मनन करनेकी इच्छा नहीं करता, इस हेतु मन मुझसे निर्जित होकर सदा मेरे वशवर्ती है। मैं देवताओं, पितरों, प्राणियों और अतिथियोंके लिये समस्त द्रव्यादि संग्रह किया करता हूं। अनन्तर ब्राह्मण हंस करके जनकसे फिर बोले, कि आज

त्वज्जिज्ञासार्थमद्येह विद्धि मां धर्ममागतम् ॥ २५ ॥
त्वमस्य ब्रह्मलाभस्य दुर्वारस्यानिवर्तिनः।
सत्त्वनेमिनिरुद्धस्य चक्रस्यैकः प्रवर्तकः ॥ २६ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण उवाच-नाऽहं तथा भीरु चरामि लोके यथा त्वं मां तर्जयसे स्वबुद्ध्या।
विप्रोऽस्मि मुक्तोऽस्मि वनेचरोऽस्मि गृहस्थधर्मा व्रतवांस्तथाऽस्मि ॥ १ ॥
नाहमस्मि यथा मां त्वं पश्यसे च शुभाशुभे।
मया व्याप्तमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगतीगतम् ॥ २ ॥
ये केचिज्जन्तवो लोके जङ्गमाः स्थावराश्च ह।
तेषां मामन्तकं विद्धि दारूणामिव पावकम् ॥ ३ ॥
राज्यं पृथिव्यां सर्वस्यामथवाऽपि त्रिविष्टपे।
तथा बुद्धिरियं वेत्ति बुद्धिरेव धनं मम ॥ ४ ॥
एकः पन्था ब्राह्मणानां येन गच्छन्ति तद्विदः।
गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु ॥ ५ ॥
लिङ्गैर्बहुभिरव्यग्रैरेका बुद्धिरुपास्यते।

मैं तुम्हें जाननेकी इच्छासे आया था, तुम मुझे धर्म कहके मालूम करो। तुम ही इस सत्त्वरूपनेमिसे निरुद्ध चक्र-स्वरूप अनिवर्ती दुर्वार ब्रह्मलाभके एक-मात्र प्रवर्तक हुए हो। (२१-२६)

आश्वमेधिकपर्वमें ३२ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ३३ अध्याय।

ब्राह्मण बोला, हे भीरु! तुम निज बुद्धिके अनुसार मुझे जैसा समझके तर्जन करती हो, मैं जगत्के बीच उस प्रकार विचरण नहीं करता। मैं वनचारी, गृही, व्रतवान् जीवन्मुक्त ब्राह्मण हूं। हे सुन्दरि! तुम मुझे जैसा देखती हो, मैं वैसा नहीं हूं, इस जगत्में शुभ और अशुभ जो कुछ देखा जाता है, वह सब मेरे द्वारा व्याप्त होरहा है। इस जगत्के बीच स्थावर जङ्गम प्रभृति जितने जन्तु हैं, काष्ठको जलानेवाली अग्निकी भांति मुझे उनका अन्तक जानो। समस्त पृथ्वी और स्वर्गका जैसा राज्य है, वह इस बुद्धिके द्वारा विदित है; परन्तु बुद्धि ही मेरा राज्यधन है। ब्राह्मणोंके लिये ज्ञान ही एकमात्र पथ है, ब्रह्मवित् ब्राह्मण लोग उस पथसे ही गृह, वन-वास, गुरुवास और भिक्षुवासके लिये गमन किया करते हैं। वे लोग अचञ्चल

नानालिंगाश्रमस्थानां येषां बुद्धिः शमात्मिका ॥ ६ ॥
ते भावमेकमायान्ति सरितः सागरं यथा ।
बुद्ध्याऽयं गम्यते मार्गः शरीरेण न गम्यते ॥
आद्यन्तवन्ति कर्माणि शरीरं कर्मबन्धनम् ॥ ७ ॥
तस्मात्ते सुभगे नाऽस्ति परलोककृतं भयम् ।
तद्भावभावनिरता ममैवात्मानमेष्यसि ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मण्युवाच— नेदमल्पात्मना शक्यं वेदितुं नाकृतात्मना ।
बहु चाल्पं च संक्षिप्तं विप्लुतं च मतं मम ॥ १ ॥
उपायं तं मम ब्रूहि येनैषा लभ्यते मतिः ।
तन्मन्ये कारणं त्वत्तो यत एषा प्रवर्तते ॥ २ ॥
ब्राह्मण उवाच- अरणीं ब्राह्मणीं विद्धि गुरुरस्योत्तरारणिः ।
तपःश्रुतेऽभिमथ्नीतो ज्ञानाग्निर्जायते ततः ॥ ३ ॥

अनेक प्रकारके चिन्ह धारण करते हुए एकमात्र बुद्धिकी उपासना किया करते हैं। अनेक लिङ्ग तथा अनेक आश्रम-वालोंको बुद्धि शमगुणावलम्बिनी होनेसे एक ही समुद्रमें गमन करनेवाली नदि-योंकी भांति वे लोग एकही भावको प्राप्त होते हैं। यह पथ बुद्धिके द्वारा प्राप्त होता है, शरीरके द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता; सब कर्म आदि और अन्त विशिष्ट हैं, शरीर कर्मके द्वारा बद्ध होता है। हे सुभगे! तुम्हें परलोकका भय नहीं है, मेरे भावमें रत होनेसे तुम्हें मेरा ही देह प्राप्त होगा। (१—८)

आश्वमेधिकपर्वमें ३३ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ३४ अध्याय।

ब्राह्मणी बोली, इस विषयको अल्पात्मा तथा अकृतात्मा पुरुष जाननेमें समर्थ नहीं होता; मेरा मत बहुत थोडा संक्षिप्त और विप्लुत है। जिसके सहारे यह बुद्धि प्राप्त होती है, आप मुझसे उसका उपाय कहिये। परन्तु चाहे किसीसे यह बुद्धि क्यों न प्रवृत्त होवे, आपको ही मैं उसका कारण समझती हूं। ब्राह्मण बोले, ब्राह्मणी अर्थात् ब्रह्म-निष्ठा बुद्धि अध अरणी और ब्रह्मज्ञान-की गुरु उत्तर-अरणी जानो; दोनों अरणी मनन, निदिध्यासन और वेदान्त सुननेपर मथित होनेसे उनसे ज्ञानाग्नि उत्पन्न होती है। (१–३)

ब्राह्मण्युवाच- यदिदं ब्रह्मणो लिङ्गं क्षेत्रज्ञ इति संज्ञितम् ।
ग्रहीतुं येन यच्छक्यं लक्षणं तस्य तत्क नु ॥ ४ ॥
ब्राह्मण उवाच- अलिङ्गो निर्गुणश्चैव कारणं नास्य लक्ष्यते ।
उपायमेव वक्ष्यामि येन गृह्येत वा न वा ॥ ५ ॥
सम्यगुपायो दृष्टश्च भ्रमरैरिव लक्ष्यते ।
कर्म बुद्धिरबुद्धित्वाज्ज्ञानलिङ्गैरिवाश्रितम् ॥ ६ ॥
इदं कार्यमिदं नेति न मोक्षेषूपदिश्यते ।
पश्यतः शृण्वतो बुद्धिरात्मनो येषु जायते ॥ ७ ॥
यावन्त इह शक्येरंस्तावन्तोंशान्प्रकल्पयेत् ।
अव्यक्तान् व्यक्तरूपांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥
सर्वान्नानार्थयुक्तांश्च सर्वान्प्रत्यक्षहेतुकान् ।
यतः परं न विद्येत ततोऽभ्यासे भविष्यति ॥ ९ ॥
श्रीभगवानुवाच-ततस्तु तस्या ब्राह्मण्या मतिः क्षेत्रज्ञसंक्षये ।
क्षेत्रज्ञानेन परतः क्षेत्रज्ञेभ्यः प्रवर्तते ॥ १० ॥

ब्राह्मणी बोली, क्षेत्रज्ञ नामक यह ब्रह्म लिङ्ग जिसके द्वारा जाना जाता है, उसका लक्षण क्या है ? (४)

ब्राह्मण बोला, ब्रह्म अलिङ्ग और निर्गुण है, इसलिये उसका कारण मालूम नहीं होता, तब जिसके द्वारा वह गृहीत हो, वा न हो, उसका उपाय कहता हूं। जैसे ऊपरमें उडनेवाले भौरोंके द्वारा सुगन्धगन्ध मालूम होते हैं, वैसे ही पूर्वोक्त श्रवण आदि उपाय पूरी रीतिसे मालूम होती है । जिसकी बुद्धि कर्मके द्वारा परिशोधित नहीं होती, वह पुरुष अबुद्धिसे असङ्ग ब्रह्मको भी बुद्धिके आश्रित ससङ्ग कहके बोध किया करता है । मोक्षविषयमें " यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है, " ऐसा उपदेश नहीं होसकता, क्यों कि देखन तथा सुननेवाले आत्माकी बुद्धि स्वयं ही मोक्षविषयमें उत्पन्न होता है । इस संसारमें मोक्षका अंश अनेक अर्थयुक्त, समस्त पदरूपी, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणरूपी, अव्यक्त माया अविद्यारूपी और व्यक्त शब्दादिरूपसे सैंकडों सहस्रों प्रकारका है; इतना ही नहीं वरन जितने प्रकारके अंशोंकी कल्पना हो सके, तितने प्रकारके अंशोंकी कल्पना करे; परन्तु शम आदि पूरी रीतिसे अभ्यस्त होनेपर जिसके अनन्तर और कुछ भी नहीं है, वह वस्तु प्राप्त होगी । (५-९)

श्रीभगवान् बोले, उसके अनन्तर

अर्जुन उवाच-क्व नु सा ब्राह्मणी कृष्ण क्व चासौ ब्राह्मणर्षभः ।
याभ्यां सिद्धिरियं प्राप्ता तावुभौ वद मेऽच्युत ॥११॥
श्रीभगवानउवाच-मनो मे ब्राह्मणं विद्धि बुद्धिं मे विद्धि ब्राह्मणीम् ।
क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः सोऽहमेव धनंजय ॥ १२ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच— ब्रह्म यत्परमं ज्ञेयं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
भवतो हि प्रसादेन सूक्ष्मे मे रमते मतिः ॥ १ ॥
वासुदेव उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह ॥ २ ॥
कश्चिद् ब्राह्मणमासीनमाचार्यं संशितव्रतम् ।
शिष्यः पप्रच्छ मेधावी किंस्विच्छ्रेयः परंतप ॥ ३ ॥
भगवन्तं प्रपन्नोऽहं निःश्रेयसपरायणः ।
याचे त्वां शिरसा विप्र यद् ब्रूयां ब्रूहि तन्मम ॥ ४ ॥
तमेवंवादिनं पार्थ शिष्यं गुरुरुवाच ह ।

क्षेत्रजीवके परमात्मामें लीन होनेपर उस ब्राह्मणीकी बुद्धि क्षेत्रज्ञानके अनन्तर क्षेत्रज्ञस्वरूपमें प्रवृत्त हुई। (१०)

अर्जुन बोले, हे कृष्ण ! जिन्होंने यह सिद्धि प्राप्त की है, वह ब्राह्मण और ब्राह्मणी कहां हैं ? (११)

श्रीभगवान् बोले, हे धनञ्जय ! मेरे मनको ब्राह्मण और मेरी बुद्धिको ब्राह्मणी जानो और जिसका क्षेत्रज्ञस्वरूपसे वर्णन हुआ है, वह मैं हूं। (१२)

आश्वमेधिकपर्वमें ३४ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ३५ अध्याय।

अर्जुन बोले, हे कृष्ण ! जो परब्रह्म ज्ञेय है, उसकी तुम मेरे समीप व्याख्या करो, तुम्हारे ही प्रसादसे मेरी बुद्धि सूक्ष्म विषयमें रमण करती है। (१)

श्रीकृष्ण बोले, इस विषयमें पण्डित लोग मोक्षसंयुक्त गुरु-शिष्यके संवाद-युक्त यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। हे परन्तप ! किसी मेधावी शिष्यने बैठे हुए संशितव्रती ब्रह्मनिष्ठ आचार्यसे पूछा, हे प्रभु ! इस जगत्के बीच कल्याण क्या है ? यह विषय आप मेरे समीप कहिये। मैं मोक्षपरायण होके आपका शरणागत हुआ हूं; मैं सिर झुकाके आपके निकट यही प्रार्थना करता हूं, कि आप मेरे प्रश्नका यथावत् उत्तर दीजिये। हे पार्थ ! शिष्यका ऐसा

सर्वं तु ते प्रवक्ष्यामि यत्र वै संशयो द्विज ॥ ५ ॥
इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठ गुरुणा गुरुवत्सलः ।
प्राञ्जलिः परिपप्रच्छ यत्तः शृणु महामते ॥ ६ ॥
शिष्य उवाच- कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत्सत्यं ब्रूहि यत्परम् ।
कुतो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ७ ॥
केन जीवन्ति भूतानि तेषामायुश्च किं परम् ।
किं सत्यं किं तपो विप्र के गुणाः सद्भिरीरिताः॥ ८ ॥
के पन्थानः शिवाश्च स्युः किं सुखं किं च दुष्कृतम् ।
एतान्मे भगवन्प्रश्नान्याथातथ्येन सुव्रत ॥ ९ ॥
वक्तुमर्हसि विप्रर्षे यथावदिह तत्त्वतः ।
त्वदन्यः कश्च न प्रश्नानेतान्वक्तुमिहार्हति ॥ १० ॥
ब्रूहि धर्मविदां श्रेष्ठ परं कौतूहलं मम ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो भवाँल्लोकेषु गीयते ॥ ११ ॥
सर्वसंशयसंच्छेत्ता त्वदन्यो न च विद्यते ।
संसारभीरवश्चैव मोक्षकामास्तथा वयम् ॥ १२ ॥
वासुदेव उवाच- तस्मै संप्रतिपन्नाय यथावत्परिपृच्छते ।

वचन सुनके गुरुने उससे कहा, हे द्विज ! जिसमें तुम्हें संशय उपस्थित हुआ है, वह सब विषय तुमसे कहूंगा । हे महाबुद्धिमान् ! गुरुवत्सल शिष्यने गुरुका ऐसा वचन सुनके हाथ जोडके गुरुसे जो पूछा था, उसे सुनो । (२–६)

शिष्य बोला, हे विप्र ! मैं कहांसे उत्पन्न हुआ हूं ? आप किससे उत्पन्न हुए हैं ? चराचर स्थावर प्रभृति प्राणी किससे उत्पन्न हुए हैं ? वे सब किसके द्वारा जीवित रहते हैं ? उनके परमायुकी क्या संख्या है ? सत्य क्या है ? तपस्या क्या है ? और पण्डितोंके द्वारा कौनसे गुण वर्णित हुए हैं ? यह सब मुझसे सत्य ही कहिये । हे सुव्रत ! कौनसा पथ शुभकर है ? सुख क्या है ? पाप क्या है ? इन सब प्रश्नोंका आपको यथार्थ रीतिसे उत्तर देना उचित है । हे विप्रर्षि ! आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी इन प्रश्नोंका उत्तर देनेमें समर्थ नहीं है । हे धार्मिकश्रेष्ठ ! आप इसे विस्तारपूर्वक कहिये, इसमें मुझे कौतूहल हुआ है; आप लोकमें मोक्षधर्मार्थकुशल कहके गिने गये हैं । आपके अतिरिक्त सब संशयोंको नष्ट करनेवाला और कोई भी नहीं है । हम लोग संसारभीरु और

शिष्याय गुणयुक्ताय शान्ताय प्रियवर्तिने ॥ १३ ॥
छायाभूताय दान्ताय यतते ब्रह्मचारिणे ।
तान्प्रश्नानब्रवीत्पार्थ मेधावी स धृतव्रतः ।
गुरुः कुरुकुलश्रेष्ठ सम्यक्सर्वानरिंदम ॥ १४ ॥
गुरुरुवाच— ब्रह्मणोक्तमिदं सर्वमृषिप्रवरसेवितम् ।
वेदविद्यां समाश्रित्य तत्त्वभूतार्थभावनम् ॥ १५ ॥
ज्ञानं त्वेव परं विद्मः संन्यासं तप उत्तमम् ।
यस्तु वेद निराबाधं ज्ञानतत्त्वं विनिश्चयात् ।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ॥ १६ ॥
यो विद्वान्सहसंवासं विवासं चैव पश्यति ।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात्परिमुच्यते ॥ १७ ॥
यो न कामयते किंचिन्न किंचिदभिमन्यते ।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८ ॥
प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतविधानवित् ।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ १९ ॥
अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् ।

मोक्षके अभिलाषी हैं । (७—१२)

श्रीकृष्ण बोले, हे अरिदमन कुरुश्रेष्ठ पार्थ ! धृतव्रत मेधावी गुरु उस जिज्ञासु सद्गुणसम्पन्न, प्रतिपन्न, शान्त, दान्त, प्रियवर्ती, छायास्वरूप, यति, ब्रह्मचारी शिष्यके प्रश्नोंका उत्तर यथार्थ रीतिसे देने लगा । (१३—१४)

गुरु बोला, तुमने वेदविद्या अवलम्बन करके जो प्रश्न किया है, उस विषयमें ब्रह्माने ऋषियोंके द्वारा सेवित अबाधितार्थके विचारयुक्त यह वचन कहा था । जो पुरुष निश्चित रीतिसे ज्ञानरूपी परब्रह्म, संन्यासरूपी श्रेष्ठ तपस्या, बाधारहित ज्ञानतत्त्व और सर्वभूतस्थ आत्माको जान सकता है, वह सब प्रकारसे कामनाभोग करनेमें समर्थ होता है । जो विद्वान् मनुष्य जात-स्वभाव अविद्या और चिन्मय परमात्माका सहवास, पृथक् वास, एकत्व और अनेकत्व दर्शन करता है, वह महा घोर दुःखभोगसे मुक्त होता है । जो किसी विषयमें अभिमान नहीं करता, वह इस लोकमें रहकर अर्थात् शरीरहीमें मुक्त होता है । जो मनुष्य निर्मम और अहङ्काररहित होकर प्रधान-माया सत्त्वादि गुणों और सर्वभूतोंकी

महाहङ्कारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ॥ २० ॥
महाभूतविशेषश्च विशेषप्रतिशाखवान् ।
सदापर्णः सदापुष्पः सदाशुभफलोदयः ॥ २१ ॥
आजीवः सर्वभूतानां ब्रह्मबीजः सनातनः ।
एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वानि ज्ञानेन परमासिना ।
छित्वा चामरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी ॥ २२ ॥
भूतभव्यभविष्यादिधर्मकामार्थनिश्चयम् ।
सिद्धसंघपरिज्ञातं पुराकल्पं सनातनम् ॥ २३ ॥
प्रवक्ष्येऽयं महाप्राज्ञ पदमुत्तममद्य ते ।
बुद्ध्वा यदिह संसिद्धा भवन्तीह मनीषिणः ॥ २४ ॥
उपगम्यर्षयः पूर्वं जिज्ञासन्तः परस्परम् ।
प्रजापतिर्भरद्वाजौ गौतमो भार्गवस्तथा ॥ २५ ॥
वसिष्ठः कश्यपश्चैव विश्वामित्रोऽत्रिरेव च ।
मार्गान्सर्वान्परिक्रम्य परिश्रान्ताः स्वकर्मभिः ॥ २६ ॥
ऋषिमाङ्गिरसं वृद्धं पुरस्कृत्य तु ते द्विजाः ।

उत्पत्तिके कारणको जान सकता है, वही मुक्तिलाभ करनेमें समर्थ होता है, इसमें कुछभी सन्देह नहीं है। अव्यक्त अज्ञान जिसका मूल है, बुद्धि स्कन्ध, अहङ्कार पल्लव, इन्द्रियें कोटरस्थ पत्राङ्कुर, विषयादि पञ्च महाभूत पुष्पकोरक और स्थूलकार्य जिसकी उपशाखा हैं; पुरुष सदा गिरनेवाला पत्ता, कर्मरूपी पुष्प और सुखदुःखरूपी फलसे युक्त सब जीवोंका उपजीव्य संसारवृक्षके बीजभूत इस सनातन ब्रह्मको विशेष रीतिसे जानकर ज्ञानरूपी तलवारके द्वारा इस वृक्षकी अव्यक्तादिरूप मूल प्रभृति शाखा प्रशाखाओंको काटकर मनुष्य अमृतत्व लाभ करके जन्ममृत्युसे रहित होनेमें समर्थ होता है। (१५—२३)

हे महाप्राज्ञ ! पहले मनीषी महर्षिगण इकट्ठे होकर निज निज बुद्धिके अनुसार जिस विषयको आपसमें पूंछकर सशरीर मुक्त हुए थे, सिद्धसमूहोंसे परिज्ञात, वर्तमान, भूत, भविष्यत्, धर्म, काम और अर्थके निश्चययुक्त वह अत्यन्त श्रेष्ठ सनातन मोक्षपद आज मैं तुमसे कहता हूं। पहले प्रजापति भरद्वाज, गौतम, भृगुनन्दन जंमदग्नि, वसिष्ठ, काश्यप, विश्वामित्र और अत्रि आदि विप्रोंने मार्गोंमें परिभ्रमण करते हुए निज निज कर्मोंके द्वारा परिश्रान्त होकर

ददृशुर्ब्रह्मभवने ब्रह्माणं वीतकल्मषम् ॥ २७ ॥
तं प्रणम्य महात्मानं सुखासीनं महर्षयः ।
पप्रच्छुर्विनयोपेता नैःश्रेयसमिदं परम् ॥ २८ ॥
कथं कर्मक्रियात्साधु कथं मुच्येत किल्बिषात् ।
के नो मार्गाः शिवाश्च स्युः किं सत्यं किं च दुष्कृतम् ॥२९॥
कौ चोभौ कर्मणां मार्गौ प्राप्नुयुर्दक्षिणोत्तरौ ।
प्रलयं चापवर्गं च भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ ३० ॥
इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठैर्यदाह प्रपितामहः ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि श‍ृणु शिष्य यथागमम् ॥ ३१ ॥
ब्रह्मोवाच— सत्याद्भूतानि जातानि स्थावराणि चराणि च ।
तपसा तानि जीवन्ति इति तद्वित्त सुव्रताः ॥ ३२ ॥
स्वां योनिं समतिक्रम्य वर्तन्ते स्वेन कर्मणा ।
सत्यं हि गुणसंयुक्तं नियतं पञ्चलक्षणम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः ।
सत्याद्भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत् ॥ ३४ ॥

अङ्गिरापुत्र बृहस्पतिको अगाडी करके ब्रह्मभवनमें जाकर निर्मल ब्रह्माका दर्शन किया । अनन्तर महर्षियोंने सुखसे बैठे हुए उस ब्रह्माको प्रणाम करके विनीत-भावसे उनसे मुक्तिका विषय इस प्रकार पूंछा । हे ब्रह्मन् ! साधुलोग कैसा कर्म करेंगे ? किस प्रकार पापोंसे छूटेंगे ? हम लोगोंके लिये कौनसे मार्ग मङ्गलजनक हैं ? सत्य क्या है ? दुष्कृत क्या है ? कर्मोंके दक्षिण और उत्तर दोनों मार्ग कौनसे हैं ? प्रलय किसे कहते हैं ? अपवर्ग क्या है और भूतोंकी उत्पत्ति तथा विनाश किसे कहते हैं ? यह सब मुझसे विस्तारपूर्वक कहिये । हे शिष्य ! पितामह ब्रह्माने मुनियोंका ऐसा प्रश्न सुनके उनसे जो कहा था, मैं तुमसे वही विषय कहता हूं, सुनो । (२४-३१)

ब्रह्मा बोले, हे सुव्रत द्विजगण ! तुम लोग यह निश्चय जानो, कि सत्य अर्थात् त्रिकालावस्थायी ब्रह्मसे अव्यक्त प्रभृति सब भूत, विषयादि स्थावर और जरायुजादि चरसमूह उत्पन्न होकर तमरूपी कर्मके द्वारा जीवित रहते हैं, परन्तु जब वे लोग निज योनिभूत ब्रह्म पथ अतिक्रम करते हैं, तब ध्यानसे च्युत होकर केवल निज कर्ममार्गमें ही स्थित रहते हैं, व्यावहारिक गुणयुक्त सत्य पांच हैं; परन्तु अकेला ब्रह्म ईश्वर

तस्मात्सत्यमया विप्रा नित्यं योगपरायणाः ।
अतीतक्रोधसन्तापनियता धर्मसेविनः ॥ ३५ ॥
अन्योन्यनियतान्वैद्यान्धर्मसेतुप्रवर्तकान् ।
तानहं संप्रवक्ष्यामि शाश्वतान् लोकभावनान् ॥ ३६ ॥
चातुर्विद्यं तथा वर्णांश्चातुराश्रमिकान् पृथक् ।
धर्ममेकं चतुष्पादं नित्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ३७ ॥
पन्थानं वः प्रवक्ष्यामि शिवं क्षेमकरं द्विजाः ।
नियतं ब्रह्मभावाय गतं पूर्वं मनीषिभिः ॥ ३८ ॥
गदन्तस्तं मयाऽद्येह पन्थानं दुर्विदं परम् ।
निबोधत महाभागा निखिलेन परं पदम् ॥ ३९ ॥
ब्रह्मचारिकमेवाहुराश्रमं प्रथमं पदम् ।
गार्हस्थ्यं तु द्वितीयं स्याद्वानप्रस्थमतःपरम् ।
ततःपरं तु विज्ञेयमध्यात्मं परमं पदम् ॥ ४० ॥
ज्योतिराकाशमादित्यो वायुरिन्द्रः प्रजापतिः ।

सत्य है । तप अर्थात् धर्म सत्य है, प्रजापति जीव सत्य है, सत्यसे उत्पन्न सब भूत सत्य हैं और भूतमय जगत् सत्य है । इसही निमित्त सत्याश्रित क्रोध और सन्ताप विहीन नियतेन्द्रिय तथा नियतयोगपरायण विप्रगण धर्मसेतु कहाते हैं । जो लोग परस्परके भयसे धर्मको अतिक्रम नहीं करते, वे विद्वान् धर्मसेतुप्रवर्तक और शाश्वत लोकचिन्तक ब्राह्मणोंका विषय मैं तुमसे कहता हूं । हे द्विजगण ! मनीषीवृन्द चतुष्पाद एकमात्र जिस धर्मको नित्य कहा करते हैं, वही धर्म धर्मार्थ काम और मोक्षप्रद चारों विद्या, ब्राह्मणादि चारों वर्ण तथा ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंको पृथक् रीतिसे कहता हूं । हे महाभागगण ! पहले मनीषिवृन्द ब्रह्मप्राप्तिके निमित्त सदा इस लोकमें जिस पथसे गमन करते थे, वह मोक्ष तथा मङ्गलजनक दुर्विज्ञेय परम पथ सब भांति तुम्हारे समीप कहता हूं, तुम लोग सुनो । (३२-३९)

पण्डित लोग ब्रह्मचर्य आश्रमको प्रथम पद, गार्हस्थ आश्रमको दूसरा पद, वानप्रस्थ आश्रमको तीसरा पद और परमात्मप्रापक सबके विज्ञेय संन्यासाश्रमको चतुर्थ पद कहा करते हैं । जीव जबतक आध्यात्मिक संन्यासधर्म अवलम्बन करके परमात्माका दर्शन नहीं करता, तबतक अग्नि, आकाश, आदित्य, वायु, इंद्र और प्रजापति प्रभृति

नोपैति यावदध्यात्मं तावदेतान्न पश्यति ॥ ४१ ॥
तस्योपायं प्रवक्ष्यामि पुरस्तात्तं निबोधत ।
फलमूलानिलभुजां मुनीनां वसतां वने ॥ ४२ ॥
वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते ।
सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद्विधीयते ॥ ४३ ॥
श्रद्धालक्षणमित्येवं धर्मं धीराः प्रचक्षते ।
इत्येवं देवयाना वः पन्थानः परिकीर्तिताः ।
सद्भिरध्यासिता धीरैः कर्मभिर्धर्मसेतवः ॥ ४४ ॥
एतेषां पृथगध्यास्ते यो धर्मं संशितव्रतः ।
कालात्पश्यति भूतानां सदैव प्रभवाप्ययौ ॥ ४५ ॥
अतस्तत्त्वानि वक्ष्यामि याथातथ्येन हेतुना ।
विषयस्थानि सर्वाणि वर्तमानानि भागशः ॥ ४६ ॥
महानात्मा तथाऽव्यक्तमहङ्कारस्तथैव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च महाभूतानि पञ्च च ॥ ४७ ॥
विशेषाः पञ्चभूतानामिति सर्गः सनातनः ।
चतुर्विंशतिरेका च तत्त्वसंख्या प्रकीर्तिता ॥ ४८ ॥

विश्वका दर्शन किया करता है। वायु-फलमूलाशी वनवासी मुनियोंकी अध्यात्म दर्शनकी उपाय पहले कहता हूं उसे सुनो। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों द्विजातियोंके लियेही वानप्रस्थ आश्रम विहित है, अन्य वर्णोंको केवल गार्हस्थ आश्रम अवलम्बन करना योग्य है। पण्डित लोग श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्य बुद्धिको ही धर्मका मुख्य लक्षण कहा करते हैं, यही तुम लोगोंके देवयानमार्गप्रापिका पथ वर्णित हुआ है। साधु लोग निज कर्मोंके सहारे धर्मके सेतुस्वरूप पथसे गमन किया करते हैं। जो संशितव्रती मनुष्य इन सबके बीच एक मात्र धर्मकोही पृथक् रूपसे अवलम्बन करता है, वह कालक्रमसे सर्वदा प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाश दर्शन करता है। (४०—४५)

इसके अनन्तर युक्तिके अनुसार बुद्धिस्थ वर्तमान तत्त्वोंको विभागक्रमसे यथावत् कहता हूं, सुनो। महान् आत्मा, अव्यक्त प्रकृति, अहंकार, श्रोत्रादि दशों इन्द्रिय, मन विषयादि पञ्चमहाभूत और शब्दादि पञ्च विशेष गुण, ये सनातनी सृष्टि हैं; इस ही प्रकार पचीस तत्त्वोंकी संख्या वर्णित हुई है। जो

तत्त्वानामथ यो वेद सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥ ४९ ॥
तत्त्वानि यो वेदयते यथातथं गुणांश्च सर्वानखिलाश्च देवताः ।
विधूतपाप्मा प्रविमुच्य बन्धनं स सर्वलोकानमलान्समश्नुते ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मोवाच— तदव्यक्तमनुद्रिक्तं सर्वव्यापि ध्रुवं स्थिरम् ।
नवद्वारं पुरं विद्यात्त्रिगुणं पञ्चधातुकम् ॥ १ ॥
एकादशपरिक्षेपं मनोव्याकरणात्मकम् ।
बुद्धिस्वामिकमित्येतत्परमेकादशं भवेत् ॥ २ ॥
त्रीणि स्रोतांसि यान्यस्मिन्नाप्यायन्ते पुनः पुनः ।
प्रनाड्यस्तिस्र एवैताः प्रवर्तन्ते गुणात्मिकाः ॥ ३ ॥
तमो रजस्तथा सत्त्वं गुणानेतान्प्रचक्षते ।

मनुष्य इन पचीस तत्त्वोंकी उत्पत्ति और विनाशको विशेष रीतिसे जान सकता है, उस धीरको सब प्राणियोंसे मोह नहीं प्राप्त होता और जो मनुष्य पचीस तत्त्वों, सत्त्वादि गुणों तथा देवताओंको विशेष रीतिसे जानता है, वह निष्पाप होकर बन्धनोंसे छूटकर निर्मल लोक प्राप्त करता है। (४६—५०)

आश्वमेधिकपर्वमें ३५ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ३६ अध्याय।

ब्रह्मा बोले, उन तत्त्वोंके बीच जो त्रिगुणात्मक सर्वकार्यव्यापी अविनाशी और अचञ्चल है, उसे ही जानना चाहिये, कि वही अनुद्रिक्त अव्यक्त प्रभृति उद्रिक्त होकर नवद्वारयुक्त पञ्चधातुमय पुररूपसे परिणत होता है। जिसमें जीवात्मा विषयभोग-वासनासे जिसके द्वारा परिक्षिप्त होता है और मनसे सङ्कल्पसम्मत सब विषय प्रकट होते हैं, उन ग्यारह इन्द्रियोंसे युक्त बुद्धिस्वामिकपुरके बीच परब्रह्म अध्यासित होकर ग्यारह भागमें विभक्त होता है। धर्मप्राबल्य हिंसारहित शुक्ल, हिंसा प्राबल्य कृष्ण तथा हिंसायुक्त प्रवृत्तिधर्म, प्राबल्य शुक्ल कृष्ण, ये तीनों उस पुरस्थित नदीके स्रोत हैं, ये स्रोत त्रिगुणात्मक संस्काररूप तीन नाडियोंके द्वारा बार बार आप्यायित तथा सब नाडियोंसे बार बार वर्धित हुआ करते हैं। पण्डित लोग तम, रज और सत्त्व, इन तीनोंको गुण कहा करते हैं; ये तीनों गुण परस्पर अनुजीव्य अव-

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथाऽन्योन्यानुजीविनः ॥ ४ ॥
अन्योन्यापाश्रयाश्चापि तथाऽन्योन्यानुवर्तिनः ।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः ॥ ५ ॥
तमसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ।
रजसश्चापि सत्त्वं स्यात्सत्त्वस्य मिथुनं तमः ॥ ६ ॥
नियम्यते तमो यत्र रजस्तत्र प्रवर्तते ।
नियम्यते रजो यत्र सत्त्वं तत्र प्रवर्तते ॥ ७ ॥
नैशात्मकं तमो विद्यात्त्रिगुणं मोहसंज्ञितम् ।
अधर्मलक्षणं चैव नियतं पापकर्मसु ।
तामसं रूपमेतत्तु दृश्यते चापि संगतम् ॥ ८ ॥
प्रकृत्यात्मकमेवाहू रजः पर्यायकारकम् ।
प्रवृत्तं सर्वभूतेषु दृश्यमुत्पत्तिलक्षणम् ॥ ९ ॥
प्रकाशं सर्वभूतेषु लाघवं श्रद्दधानता ।
सात्त्विकं रूपमेवं तु लाघवं साधुसंमितम् ॥ १० ॥
एतेषां गुणतत्त्वानि वक्ष्यन्ते तत्त्वहेतुभिः ।

लम्बन करनेसे मिथुनभावको प्राप्त होकर दम्पतीका कार्य उत्पन्न करते हैं। परस्परके अनुवर्ती होकर आपसमें एक दूसरेके अवलम्ब होते हैं और अग्नि, जल तथा अन्न इन तीनों कारणोंकी भांति परस्परमें मिलके पञ्चभूत तथा भौतिकरूपसे परिणत होते हैं। (१–५)

तमोगुणका अभिभावक सत्त्व, सत्त्वगुणका अभिभावक रज, रजोगुणका अभिभावक सत्त्व, सत्त्वगुणका अभिभावक तम है अर्थात् तमोगुणके उदय होनेसे सत्त्वगुण अन्तर्हित होता है; सत्त्वगुणके उदय होनेसे रज और रज तथा तमोगुणके उदय होनेसे सत्त्व अन्तर्हित होता है। जिस स्थलमें तमोगुण दूर होता है, उस स्थानमें जो गुण प्रवर्तित हुआ करता है और जिस स्थानमें रजोगुण अन्तर्हित होता है, उस स्थलमें सत्त्वगुण प्रवर्तित हुआ करता है। पापकर्ममें विरत अधर्मलक्षण मोहनामक नैशात्मक तमको त्रिगुणात्मक जानो। पण्डित लोग सर्वभूतोंमें प्रवृत्त, उत्पत्तिलक्षण दृश्य वैपरीतकारक रजोगुणको प्रकृत्यात्मक कहा करते हैं और सर्वभूतोंमें प्रकाशमान धर्मज्ञानादि रूप श्रद्धानता प्रभृति सौष्ठव सात्त्विक गुण साधुसम्मत हैं, सत्त्वादि गुणोंके समास और व्यासयुक्त कार्यस्वरूप सब तत्त्व

समासव्यासयुक्तानि तत्त्वतस्तानि बोधत ॥ ११ ॥
संमोहो ज्ञानमत्यागः कर्मणामविनिर्णयः ।
स्वप्नः स्तम्भो भयं लोभः स्वतः सुकृतदूषणम् ॥ १२ ॥
अस्मृतिश्चाविपाकश्च नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
निर्विशेषत्वमन्धत्वं जघन्यगुणवृत्तिता ॥ १३ ॥
अकृते कृतमानित्वमज्ञाने ज्ञानमानिता ।
अमैत्री विकृताभावो ह्यश्रद्धा मूढभावना ॥ १४ ॥
अनार्जवमसंज्ञत्वं कर्मपापमचेतना ।
गुरुत्वं सन्नभावत्वमवशित्वमवाग्गतिः ॥ १५ ॥
सर्व एते गुणा वृत्तास्तामसाः संप्रकीर्तिताः ।
ये चान्ये विहिता भावा लोकेऽस्मिन्भावसंज्ञिताः ॥ १६ ॥
तत्र तत्र नियम्यन्ते सर्वे ते तामसा गुणाः ।
परिवादकथा नित्यं देवब्राह्मणवैदिकी ॥ १७ ॥
अत्यागश्चाभिमानश्च मोहो मन्युस्तथाऽक्षमा ।
मत्सरश्चैव भूतेषु तामसं वृत्तमिष्यते ॥ १८ ॥
वृथारम्भा हि ये केचिद् वृथादानानि यानि च ।
वृथा भक्षणमित्येतत्तामसं वृत्तमिष्यते ॥ १९ ॥
अतिवादोऽतितिक्षा च मात्सर्यमभिमानिता ।

हेतुके द्वारा यथार्थ रीतिसे वर्णित हुए हैं; तुम लोग उसे सुनो। (६–११)

सम्मोह, अज्ञान, अत्याग, कर्मोंका अविनिर्णय, निद्रा, स्तम्भ, भय, लोभ, शोक, सुकृत, दूषण, अस्मृति, अविपाक, नास्तिक्य, भिन्नवृत्तिता, निर्विशेषत्व, अन्धत्व, जघन्य अर्थात् चाण्डालादि गुणवृत्तत्व, अकृतमें कृतमानित्व, अज्ञानमें ज्ञानशालिता, अमैत्रीकृतता, विविध क्रियाभावत्व, अश्रद्धा, मूढ भावना अनार्जव, असङ्गत्व, पापकारित्व, अचेतनत्व, गुरुत्व अर्थात् आलससे जडता, सन्नभावत्व अर्थात् देवादिमें भक्तिहीनता, अजितेन्द्रियत्व और नीच कर्मानुरागिता, ये सब तामस गुण कहके वर्णित हुए हैं। इस लोकमें भाव संज्ञित दूसरे जो सब भाव विहित हैं, तामस गुण उन्हीं भावोंमें नियमके अनुसार उपस्थित हुआ करता हैं। (१२–१७)

सदा ब्राह्मणोंकी परिवादकथा और निन्दा, अत्याग, अभिमान, मोह, मृत्यु, अक्षमा, सबका शुभ द्वेष, वृथा आरम्भ,

अश्रद्दधानता चैव तामसं वृत्तमिष्यते ॥ २० ॥
एवंविधाश्च ये केचिल्लोकेऽस्मिन्पापककर्मिणः ।
मनुष्या भिन्नमर्यादास्ते सर्वे तामसाः स्मृताः ॥२१॥
तेषां योनीः प्रवक्ष्यामि नियताः पापकर्मिणाम् ।
अवाङ्निरयभावा ये तिर्यङ्निरयगामिनः ॥ २२ ॥
स्थावराणि च भूतानि पशवो वाहनानि च ।
क्रव्यादा दन्दशूकाश्च कृमिकीटविहङ्गमाः ॥ २३ ॥
अण्डजा जन्तवश्चैव सर्वे चापि चतुष्पदाः ।
उन्मत्ता बधिरा मूका ये चान्ये पापरोगिणः ॥ २४ ॥
मग्नास्तमसि दुर्वृत्ताः स्वकर्मकृतलक्षणाः ।
अवाक्स्रोतस इत्येते मग्नास्तमसि तामसाः ॥ २५ ॥
तेषामुत्कर्षमुद्रेकं वक्ष्याम्यहमतः परम् ।
यथा ते सुकृताँल्लोकाँल्लभन्ते पुण्यकर्मिणः ॥ २६ ॥
अन्यथा प्रतिपन्नास्तु विवृद्धा ये च कर्मणः ।
स्वकर्मनिरतानां च ब्राह्मणानां शुभैषिणाम् ॥ २७ ॥
संस्कारेणोर्ध्वमायान्ति यतमानाः सलोकताम् ।

वृथा दान, वृथा भक्षण, अतिवाद, अतितिक्षा, मात्सर्य, अभिमानिता और श्रद्धाहीनता, ये सब तामस वृत्ति कहके वर्णित हुए हैं। इस लोकमें इस ही प्रकार जो सब पापकर्मवाले मर्यादारहित मनुष्य विद्यमान हैं, वे सब तामस कहके वर्णित हुए हैं। वे पापकर्मवाले तामस मनुष्योंकी नियतयोनियोंको प्रकृष्ट रूपसे कहूंगा; वे लोग अधःपतनके निमित्त तिर्यक्योनिमें गमन किया करते हैं। पापकर्मवाले तामसी मनुष्य तमसाच्छन्न होकर क्रमसे स्थावर, पशु, वाहन, क्रव्याद, दन्दशूक, कृमि, कीट; विहङ्ग, अण्डज, चतुष्पद जन्तु, उन्मत्त, बधिर, मूक, पापरोगी अपने किये हुए कर्मोंके लक्षणसम्पन्न, दुर्वृत्त और अधोगामी ये सब तामसयोनिसम्भूत कहके वर्णित हुए हैं। (१७—२५)

इसके अनन्तर उन लोगोंके उत्कर्ष, उद्रेक तथा वे लोग पुण्यकर्मा होकर जिस प्रकार सुकृत लोक लाभ कर सकते हैं, वह कहता हूं। इस प्रकार वैदिक श्रुति है, कि निज कर्ममें रत, शुभाकांक्षी ब्राह्मणोंके बीच जो लोग अग्निहोत्रादि कर्मोंके निमित्त हिंसित होकर तिर्यक् स्थावरादि योनि लाभ करते हैं,

स्वर्गं गच्छन्ति देवानामित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ २८ ॥
अन्यथा प्रतिपन्नास्ते विबुद्धाः स्वेषु कर्मसु ।
पुनरावृत्तिधर्माणस्ते भवन्तीह मानुषाः ॥ २९ ॥
पापयोनिं समापन्नाश्चण्डालाः मूकचूचुकाः ।
वर्णान्पर्यायशश्चापि प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ ३० ॥
शूद्रयोनिमतिक्रम्य ये चान्ये तामसा गुणाः ।
स्रोतोमध्ये समागम्य वर्तन्ते तामसे गुणे ॥ ३१ ॥
अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः ।
ऋषयो मुनयो देवा मुह्यन्त्यत्र सुखेप्सवः ॥ ३२ ॥
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रः क्रोधसंज्ञितः ।
मरणं त्वन्धतामिस्रस्तामिस्रः क्रोध उच्यते ॥ ३३ ॥
वर्णतो गुणतश्चैव योनितश्चैव तत्त्वतः ।
सर्वमेतत्तमो विप्राः कीर्तितं वो यथाविधि ॥ ३४ ॥
को न्वेतद् बुध्यते साधु को न्वेतत्साधु पश्यति ।
अतत्त्वे तत्त्वदर्शी यस्तमसस्तत्त्वलक्षणम् ॥ ३५ ॥

वे वैदिक संस्कारसे स्थावर आदि योनिसे च्युत होकर यत्नपूर्वक सलोकता अर्थात् ब्राह्मणत्व जाति लाभ करते हुए ऊर्ध्व-देवलोक तथा स्वर्गमें गमन किया करते हैं। तिर्यक् स्थावर आदि योनिसम्भूत तामसी पुरुष निज कर्मोंसे विबुद्ध होकर पुनरावृत्त धर्म ग्रहण करते हुए इस लोक-में मनुष्य योनिको प्राप्त हुआ करते हैं। चाण्डाल,मूक और वर्णोच्चारमें असमर्थ मनुष्य पापयोनिको प्राप्त होकर पर्याय-क्रमसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वर्णोंको प्राप्त होते हैं। अन्यान्य तामस गुण शूद्रयोनि अतिक्रम करके तमोगुणके स्रोतमें आ-गमन करते हुए तामस गुणमें ही वर्त-मान रहते हैं। (२६-३१)

काममें अभिष्वङ्ग अर्थात् आसक्ति महामोह नामसे विख्यात् हुई है; सुखके अभिलाषी ऋषि, मुनि और देवगण इस महामोहसे मुग्ध हुआ करते हैं। मोह, महामोह, तामिस्रका अर्थ क्रोध है। मरण अन्धतामिस्र और तामिस्र क्रोध है। ये सब तमरूपसे वर्णित हुए हैं। हे विप्रगण! वर्ण, गुण, योनि और तत्त्वके अनुसार सब प्रकारके तमको तुम्हारे निकट विधिपूर्वक वर्णन किया। परन्तु कौन पुरुष इसे उत्तम समझेगा, तथा कौन पुरुष ही इसे उत्तम रीतिसे देखेगा? जो पुरुष अतत्त्वमें तत्त्वदर्शी होता है,

तमोगुणा बहुविधाः प्रकीर्तिता यथावदुक्तं च तमः परावरम् ।
नरो हि यो वेद गुणानिमान्सदा स तामसैः सर्वगुणैः प्रमुच्यते ॥३६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

ब्रह्मोवाच- रजोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तमाः ।
निबोधत महाभागा गुणवृत्तं च राजसम् ॥ १ ॥
संतापो रूपमायासः सुखदुःखे हिमातपौ ।
ऐश्वर्यं विग्रहः संधिर्हेतुवादोऽरतिः क्षमा ॥ २ ॥
बलं शौर्यं मदो रोषो व्यायामकलहावपि ।
ईर्ष्येप्सा पिशुनं युद्धं ममत्वं परिपालनम् ॥ ३ ॥
वधबन्धपरिक्लेशाः क्रयो विक्रय एव च ।
निकृन्त छिन्धि भिन्धीति परवर्मावकर्तनम् ॥ ४ ॥
उग्रं दारुणमाक्रोशः परच्छिद्रानुशासनम् ।
लोकचिन्तानुचिन्ता च मत्सरः परिपालनम् ॥ ५ ॥
मृषावादो मृषादानं विकल्पः परिभाषणम् ।
निन्दा स्तुतिः प्रशंसा च प्रतापः परिधर्षणम् ॥ ६ ॥
परिचर्याऽनुशुश्रूषा सेवा तृष्णा व्यपाश्रयः ।
व्यूहो नयः प्रमादश्च परिवादः परिग्रहः ॥ ७ ॥

उसमेंही तमोगुणके प्रकृत लक्षण मालूम हुआ करते हैं, अनेक प्रकारके तमोगुण वर्णित हुए और परावर तम यथावत् कहा गया। जो मनुष्य इन गुणोंको यथार्थ रीतिसे जान सकता है, वह समस्त तामस गुणोंसे मुक्त होता है। (३२-३६)

आश्वमेधिकपर्वमें ३६ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ३७ अध्याय।

ब्रह्मा बोले, हे द्विजसत्तमगण ! तुम लोगोंसे रजोगुण और रजोगुणकी वृत्ति यथार्थ रूपसे कहता हूं, सुनो। सन्ताप- रूप, आयास, सुख, दुःख, सर्दी, गर्मी, ऐश्वर्य, विग्रह, सन्धि, हेतुवाद, रति, क्षमा, बल, शौर्य, मद, रोष, व्यायाम, कलह, ईर्षा ईप्सा, पिशुनता, युद्ध, ममता परिपालन, वध, बन्धन, क्लेश, क्रय, विक्रय, कतरो, काटो, छेदन करो, ऐसा कहके पराये मर्मको छेदन करना, उग्र, दारुण, आक्रोश, परछिद्रानुसन्धान, लोक-चिन्ता, मत्सरता, परिपालन, मृषावाद, मिथ्यादान, विकल्प, परिभाषण, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, प्रताप, परिधर्षण, परि-

संस्कारा ये च लोकेषु प्रवर्तन्ते पृथक् पृथक् ।
नृषु नारिषु भूतेषु द्रव्येषु शरणेषु च ॥ ८ ॥
सन्तापोऽप्रत्ययश्चैव व्रतानि नियमाश्च ये ।
आशीर्युक्तानि कर्माणि पौर्तानि विविधानि च ॥ ९ ॥
स्वाहाकारो नमस्कारः स्वधाकारो वषट्क्रिया ।
याजनाध्यापने चोभे यजनाध्ययने अपि ॥ १० ॥
दानं प्रतिग्रहश्चैव प्रायश्चित्तानि मङ्गलम् ।
इदं मे स्यादिदं मे स्यात्स्नेहो गुणसमुद्भवः ॥ ११ ॥
अभिद्रोहस्तथा माया निकृतिर्मान एव च ।
स्तैन्यं हिंसा जुगुप्सा च परितापः प्रजागरः ॥ १२ ॥
दम्भो दर्पोऽथ रागश्च भक्तिः प्रीतिः प्रमोदनम् ।
द्यूतं च जनवादश्च संबन्धाः स्त्रीकृताश्च ये ॥ १३ ॥
नृत्यवादित्रगीतानां प्रसङ्गा ये च केचन ।
सर्व एते गुणा विप्रा राजसाः संप्रकीर्तिताः ॥ १४ ॥
भूतभव्यभविष्याणां भावानां भुवि भावनाः ।
त्रिवर्गनिरता नित्यं धर्मोऽर्थः काम इत्यपि ॥ १५ ॥
कामवृत्ताः प्रमोदन्ते सर्वकामसमृद्धिभिः ।
अर्वाक्स्रोतस इत्येते मनुष्या रजसावृत्ताः ॥ १६ ॥

चर्या, शुश्रूषा, सेवा, तृष्णा, व्यपाश्रय, व्यूह, नीति, प्रमाद, परिवाद, परिग्रह, लोकके बीच नर-नारी, भूतद्रव्य और सब आश्रमोंमें सब संस्कार, सन्ताप, अप्रत्यय, व्रत, नियम, आशीर्युक्त विविध पौर्तकर्म, स्वाहाकार, नमस्कार, स्वधाकार, वषट्कार, याजन, अध्यापन, यजन, अध्ययन, दान, प्रतिग्रह, प्रायश्चित्त, यह मेरा है, यह मेरे स्नेहीसे गुण उत्पन्न हुआ है, अभिद्रोह, माया, निकृति, मान, स्तैन्य, हिंसा, जुगुप्सा, परिताप, जागरण, दम्भ, दर्प, राग, भक्ति, प्रीति, प्रमोद, द्यूत, जनवाद, स्त्रीकृत सम्बन्ध, नृत्य, बाजा और गीत, ये सब रजोगुणकी वृत्ति कहके वर्णित हुई हैं। (१-१४)

रजोगुणावलम्बी मनुष्य पृथ्वीपर वर्तमान, भूत और भविष्यत् विषयोंकी चिन्ता करते हैं। धर्म, अर्थ और काम, इन त्रिवर्गोंमें सदा तत्पर रहते हैं। वे लोग कामवृत्ति अवलम्बन करके सब प्रकारसे काम तथा समृद्धिके सहित

अस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः ।
प्रेत्य भाविकमीहन्ते ऐहलौकिकमेव च ।
ददति प्रतिगृह्णन्ति तर्पयन्त्यथ जुह्वति ॥ १७ ॥
रजोगुणा वो बहुधाऽनुकीर्तिता यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च ।
नरोऽपि यो वेद गुणानिमान्सदा स राजसैः सर्वगुणैर्विमुच्यते ॥१८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मोवाच— अतःपरं प्रवक्ष्यामि तृतीयं गुणमुत्तमम् ।
सर्वभूतहितं लोके सतां धर्ममनिन्दितम् ॥ १ ॥
आनन्दः प्रीतिरुद्रेकः प्राकाश्यं सुखमेव च ।
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः श्रद्दधानता ॥ २ ॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
अक्रोधश्चानसूया च शौचं दाक्ष्यं पराक्रमः ॥ ३ ॥
मुधाज्ञानं मुधावृत्तं मुधासेवा मुधाश्रमः ।
एवं यो युक्तधर्मः स्यात्सोऽमुत्रात्यन्तमश्नुते ॥ ४ ॥
निर्ममो निरहङ्कारो निराशीः सर्वतः समः ।

प्रमुदित होते वा ऊर्ध्वमें गमन करनेमें समर्थ होते हैं। इसके अतिरिक्त वे लोग इस लोकमें बार बार जन्म लेकर ऐहिक और जन्मान्तरीय कुशलकी आकांक्षा करते हुए अत्यन्त आनन्दित होते और हर्षपूर्वक दान, परिग्रह, तर्पण तथा होम किया करते हैं। हे द्विजगण ! अनेक प्रकारसे रजोगुण तथा रजोगुणकी वृत्ति तुम्हारे निकट वर्णित हुई; परन्तु जो मनुष्य इन गुणोंको यथार्थ रीतिसे जान सकता है, वह सब प्रकार रजोगुणसे मुक्त होता है। (१५-१८)

आश्वमेधिकपर्वमें ३७ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ३८ अध्याय ।

ब्रह्मा बोले, हे द्विजगण ! इसके अनन्तर इस लोकमें सब भूतोंके हितकर साधुओंके लिये अनिन्दित धर्मस्वरूप उत्तम तृतीय सत्त्वगुण तुम लोगोंसे कहता हूं, सुनो। आनन्द, प्रीति, उन्नति, प्रकाश्यसुख, अकृपणता, असंरम्भ, सन्तोष, श्रद्धानता, क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, अक्रोध, अनसूया, शौच, दाक्षिण्य और पराक्रम, ये सब सत्त्वगुण हैं। जो पुरुष शास्त्रीय ज्ञान वृत्त, सेवा और श्रम, इन सबको व्यर्थ समझके योगीधर्म अवलम्बन करता

अकामभूत इत्येव सतां धर्मः सनातनः ॥ ५ ॥
विश्रम्भो ह्रीस्तितिक्षा च त्यागः शौचमतन्द्रिता ।
आनृशंस्यमसंमोहो दया भूतेष्वपैशुनम् ॥ ६ ॥
हर्षस्तुष्टिर्विस्मयश्च विनयः साधुवृत्तिता ।
शान्तिकर्मणि शुद्धिश्च शुभा बुद्धिर्विमोचनम् ॥ ७ ॥
उपेक्षा ब्रह्मचर्यं च परित्यागश्च सर्वशः ।
निर्ममत्वमनाशीष्ट्वमपरिक्षतधर्मता ॥ ८ ॥
मुधादानं मुधायज्ञो मुधाधीतं मुधाव्रतम् ।
मुधाप्रतिग्रहश्चैव मुधाधर्मो मुधातपः ॥ ९ ॥
एवंवृत्तास्तु ये केचिल्लोकेऽस्मिन्सत्त्वसंश्रयाः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥ १० ॥
हित्वा सर्वाणि पापानि निःशोका ह्यथ मानवाः ।
दिवं प्राप्य तु ते धीराः कुर्वते वै ततस्तनूः ॥ ११ ॥
ईशित्वं च वशित्वं च लघुत्वं मनसश्च ते ।
विकुर्वते महात्मानो देवास्त्रिदिवगा इव ॥ १२ ॥
ऊर्ध्वस्रोतस इत्येते देवा वैकारिकाः स्मृताः ।
विकुर्वन्तः प्रकृत्या वै दिवं प्राप्तास्ततस्ततः ॥ १३ ॥

है, वह परलोकमें परम पदको प्राप्त हुआ करता है । निर्मम, निरहङ्कार, निराकांक्षा, सर्वत्र समता तथा अकाम, येही साधुओंके सनातन धर्म हैं । विस्रम्भ, लज्जा, तितिक्षा, त्याग, शौच, अतन्द्रिता, अनृशंसता, असंमोह, सब भूतोंमें दया, अपिशुनता, हर्ष, तुष्टि, विस्मय, विनय, साधुवृत्तिता, शान्ति, कर्ममें शुद्धि, शुभ-बुद्धि, विमोचन, उपेक्षा, ब्रह्मचर्य, सर्वस्वपरित्याग, निर्ममता, निराकांक्षत्व और अपरिक्षतधर्मता, ये सब सत्त्वगुणकी वृत्ति हैं । (१-१०)

इस लोकमें जो सब सत्त्वगुणावलम्बी धीर ब्राह्मण दान, यज्ञ, अध्ययन, व्रत, परिग्रह, धर्म और तपस्याको मिथ्या जानके ब्राह्मयोनिमें निवास करते हैं, वेही साधुदर्शी होते हैं । साधुदर्शी मनुष्य राजस और तामस पापकर्मोंको परित्याग करके निःशोक होकर स्वर्गमें जाकर अनेक प्रकारके शरीर उत्पन्न किया करते हैं । वे महात्मा त्रिदिववासी देवताओंकी भांति अणिमादि ऐश्वर्य लाभ करके मनको अनेक प्रकारके आकारसे विकृत किया करते हैं । ऊर्ध्वगामी

यद्यदिच्छन्ति तत्सर्वं भजन्ते विभजन्ति च।
इत्येतत्सात्त्विकं वृत्तं कथितं वो द्विजर्षभाः।
एतद्विज्ञाय लभते विधिवद्यद्यदिच्छति ॥ १४ ॥
प्रकीर्तिताः सत्त्वगुणा विशेषतो यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च।
नरस्तु यो वेद गुणानिमान्सदा गुणान्स भुङ्क्ते न गुणैः स युज्यते ॥१५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मोवाच— नैव शक्या गुणा वक्तुं पृथक्त्वेनैव सर्वशः।
अविच्छिन्नानि दृश्यन्ते रजः सत्त्वं तमस्तथा ॥ १ ॥
अन्योन्यमथ रज्यन्ते ह्यन्योन्यं चार्थजीविनः।
अन्योन्यमाश्रयाः सर्वे तथाऽन्योन्यानुवर्तिनः ॥ २ ॥
यावत्सत्त्वं रजस्तावद्वर्तते नात्र संशयः।
यावत्तमश्च सत्त्वं च रजस्तावदिहोच्यते ॥ ३ ॥
संहत्य कुर्वते यात्रां सहिताः सङ्घचारिणः।

देवगण वैकारिक नामसे विख्यात हुए हैं; वे प्रकृति अर्थात् भोगज संस्कारके द्वारा पुनर्वार भोग करनेके निमित्त चित्तको विकृत करते हुए स्वर्गमें जाकर जो इच्छा करते हैं, सङ्कल्पमात्रसे ही उन वस्तुओंको पाते तथा दूसरोंको दान किया करते हैं। (१०-१४)

हे द्विजेन्द्रगण! तुम लोगोंके निकट यह जो सात्त्विकी वृत्ति कही गई, मनुष्यगण इसे विशेष रीतिसे जाननेपर अभिलषित विषयोंको पा सकते हैं। मैंने सात्त्विक गुण तथा विशेष करके सत्त्वगुणकी वृत्ति तुम लोगोंसे कही है। जो मनुष्य इन गुणों तथा गुणकी वृत्तियोंको जान सकता है, वह सर्वदा सत्त्वगुण भोग करता हुआ उसमें लिप्त नहीं हुआ करता है। (१४-१५)

आश्वमेधिकपर्वमें ३८ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ३९ अध्याय।

ब्रह्मा बोले, सब गुणोंको पृथक् करके नहीं कहा जा सकता; सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण अपरिच्छन्न रूपसे लोगोंके दृष्टिगोचर हुआ करते हैं। परस्परमें एक दूसरेके आश्रय तथा आनुजीव्य अवलम्बन करते हुए परस्परके अनुवर्ती होकर परस्परके अनुरागभाजन होते हैं। जिस स्थानमें सत्त्व विद्यमान रहता है, उस स्थानमें रजोगुण प्रवृत्त होता है और जितना तम और सत्त्व प्रकाशित होता है, उतनाही

सङ्घातवृत्तयो ह्येते वर्तन्ते हेत्वहेतुभिः ॥ ४ ॥
उद्रेकव्यतिरिक्तानां तेषामन्योन्यवर्तिनाम् ।
वक्ष्यते तद्यथाऽन्यूनं व्यतिरिक्तं च सर्वशः ॥ ५ ॥
व्यतिरिक्तं तमो यत्र तिर्यग्भावगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र रजो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ॥ ६ ॥
उद्रिक्तं च रजो यत्र मध्यस्रोतो गतं भवेत् ।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ॥ ७ ॥
उद्रिक्तं च यदा सत्त्वमूर्ध्वस्रोतोगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं रजश्चाल्पतरं तथा ॥ ८ ॥
सत्त्वं वैकारिकी योनिरिन्द्रियाणां प्रकाशिका ।
न हि सत्त्वात्परो धर्मः कश्चिदन्यो विधीयते ॥ ९ ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणसंयुक्ता यान्त्यधस्तामसा जनाः ॥ १० ॥
तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम् ।
इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रयः ॥ ११ ॥

रजोगुण प्रकाशित हुआ करता है। संहतस्वभाव एक व्यवहारसम्पन्न सत्त्वादि सब गुण मिलके लोक व्यवहार सम्पादन करते हैं और हेतु तथा अहेतुके सहित वैषम्य भावसे निवास किया करते हैं। एक दूसरेके आश्रित उन सत्त्वादि गुणोंके परस्परकी उद्बोधक सामग्री न रहनेपर जिस प्रकार उनकी अन्यूनता तथा अनधिकता अर्थात् सबके रूप समान होते हैं, उसे कहना होगा। परन्तु जिस स्थलमें तमोगुण अतिरिक्त और तिर्यक्भावसे रहित होता है, उस स्थानमें अल्प रजोगुण और किञ्चित् सत्त्वगुण जानो। जिस स्थानमें रजोगुण उदित तथा मध्यस्रोतगत होता है, उस स्थलमें अल्प तमोगुण तथा अल्पही रजोगुण बोध करना चाहिये। (१–८)

सत्त्व इन्द्रियोंकी अहङ्कारसम्बन्धिनी योनि है, सत्त्वही इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि प्रकाश करता है; इसलिये सत्त्वसे श्रेष्ठ दूसरा धर्म और कुछ भी नहीं है। सत्त्वगुणावलम्बी मनुष्य ऊर्ध्वगामी, रजोगुणावलम्बी मनुष्य मध्यगामी और निकृष्ट तमोगुणावलम्बी पुरुष अधोगामी हुआ करते हैं। तमोगुण शूद्रोंमें, रजोगुण क्षत्रियोंमें और उत्तम सत्त्वगुण ब्राह्मणोंमें विद्यमान रहता है; इसही प्रकार सत्त्वादि तीनों गुण तीनों वर्णोंमें प्रवर्तित

दूरादपि हि दृश्यन्ते सहिताः सङ्घचारिणः ।
तमः सत्त्वं रजश्चैव पृथक्त्वेनानुशुश्रुम ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा स्वादित्यमुद्यन्तं कुचराणां भयं भवेत् ।
अध्वगाः परितप्येयुरुष्णतो दुःखभागिनः ॥ १३ ॥
आदित्यः सत्त्वमुद्रिक्तं कुचरास्तु तथा तमः ।
परितापोऽध्वगानां च रजसो गुण उच्यते ॥ १४ ॥
प्राकाश्यं सत्त्वमादित्यः सन्तापो रजसो गुणः ।
उपप्लवस्तु विज्ञेयस्तामसस्तस्य पर्वसु ॥ १५ ॥
एवं ज्योतिष्षु सर्वेषु निवर्तन्ते गुणास्त्रयः ।
पर्यायेण च वर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा ॥ १६ ॥
स्थावरेषु तु भावेषु तिर्यग्भावगतं तमः ।
राजसास्तु विवर्तन्ते स्नेहभावस्तु सात्त्विकः ॥ १७ ॥
अहस्त्रिधा तु विज्ञेयं त्रिधा रात्रिर्विधीयते ।
मासार्धमासवर्षाणि ऋतवः सन्धयस्तथा ॥ १८ ॥
त्रिधा दानानि दीयन्ते त्रिधा यज्ञः प्रवर्तते ।
त्रिधा लोकास्त्रिधा देवास्त्रिधा विद्यास्त्रिधा गतिः ॥१९॥
भूतं भव्यं भविष्यं च धर्मोऽर्थः काम एव च ।

हुए हैं । तम, सत्त्व और रज, इन तीनों गुणोंको हम पृथक् पृथक् जानते हैं; परन्तु ये दूरसे मिले हुए तथा संघचारी-रूपसे दीख पडते हैं । सूर्यके उदय होनेपर कुकर्मी मनुष्यगण डरते और दुःखभागी पथिक गर्मीसे सन्तापित होते हैं । सूर्यकी भांति स्वप्रकाश सत्व-गुण, कुकर्मचारियोंका भयस्वरूप तमो-गुण और पथिकोंका परिताप रजोगुण कहके वर्णित हुआ है । (९ — १४)

प्रकाशात्मक आदित्य सत्त्व, सन्ताप-रज और पर्वसम्बन्धी उपप्लवको तम जानो । इस ही प्रकार समस्त ज्योति-वाले पदार्थोंमें सत्त्वादि तीनों गुण पर्यायक्रमसे प्रवृत्त और निवृत्त हुआ करते हैं । परन्तु स्थावर पदार्थोंमें तम तिर्यक् भाव अर्थात् अधिकताको प्राप्त होता है, रमणीयत्वादि रूप रजोगुणसे विवर्तित होता है, और सत्त्वस्नेहभाव अर्थात् प्रकाशरूपसे स्थित हुआ करता है । दिन, रात, महीना, पक्ष, वर्ष, ऋतु, सन्धि, दान, यज्ञ, लोक, देवता, विद्या, गति, वर्तमानादि काल, धर्मादि वर्ग और प्राणादि वायु, इन सबको ही

प्राणापानावुदानश्चाप्येत एव त्रयो गुणाः ॥ २० ॥
पर्यायेण प्रवर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा।
यत्किंचिदिह लोकेऽस्मिन्सर्वमेते त्रयो गुणाः ॥ २१ ॥
त्रयो गुणाः प्रवर्तन्ते ह्यवक्ता नित्यमेव तु।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणसर्गः सनातनः ॥ २२ ॥
तमोऽव्यक्तं शिवं धाम रजो योनिः सनातनः।
प्रकृतिर्विकारः प्रलयः प्रधानं प्रभवाप्ययौ ॥ २३ ॥
अनुद्रिक्तमनूनं चाप्यकम्पमचलं ध्रुवम्।
सदसच्चैव तत्सर्वमव्यक्तं त्रिगुणं स्मृतम्।
ज्ञेयानि नामधेयानि नरैरध्यात्मचिन्तकैः ॥ २४ ॥
अव्यक्तनामानि गुणांश्च तत्त्वतो यो वेद सर्वाणि गतीश्च केवलाः।
विमुक्तदेहः प्रविभागतत्त्ववित्स मुच्यते सर्वगुणैर्निरामयः ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

ब्रह्मोवाच— अव्यक्तात्पूर्वमुत्पन्नो महानात्मा महामतिः।
आदिर्गुणानां सर्वेषां प्रथमः सर्ग उच्यते ॥ १ ॥
महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान्।

त्रिगुणात्मक जानो। (१५-२०)

इस लोकमें जो कुछ वस्तु विद्यमान हैं, सभी त्रिगुणात्मक हैं, तीनों गुण पर्यायक्रमसे सब वस्तुओंमें ही प्रवर्तित हुआ करते हैं। सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण अव्यक्त रूपसे सदा प्रवर्तित होते हैं; इन गुणोंको सनातन जानके तम, अव्यक्त, शिव, धाम, रज, योनि, सनातन, प्रकृति, विकार, प्रलय, प्रधान, प्रभव अर्थात् उत्पत्ति, विनाश, अनुद्रिक्त, अन्यून, अकम्प, अचल, ध्रुव, सत् असत्, अव्यक्त और त्रिगुण, अध्यात्मचिन्तक मनुष्य इन्हें अव्यक्त नामसे मालूम करें। जो मनुष्य अव्यक्तके नाम, गुण और गतिको यथार्थ रीतिसे जान सकता है, वह विभागतत्त्वज्ञ पुरुष मुक्त और निरामय होकर सब प्रकारके गुणोंसे मुक्त होता है। (२१—२५)

आश्वमेधिकपर्वमें ३९ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ४० अध्याय।

ब्रह्मा बोले, पहले अव्यक्तसे महामति महात्मा महान् उत्पन्न होता है, वह सबकी आदि तथा प्रथम कल्प कहके

बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथाख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ॥ २ ॥
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ।
तं जानन्ब्राह्मणो विद्वान्प्रमोहं नाधिगच्छति ॥ ३ ॥
सर्वतः पाणिपादश्च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतः श्रुतिमाँल्लोके सर्वं व्याप्य स तिष्ठति ॥ ४ ॥
महाप्रभावः पुरुषः सर्वस्य हृदि निश्रितः ।
अणिमालघिमाप्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ ५ ॥
तत्र बुद्धिविदो लोकाः सद्भावनिरताश्च ये ।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसन्धा जितेन्द्रियाः ॥६॥
ज्ञानवन्तश्च ये केचिदलुब्धा जितमन्यवः ।
प्रसन्नमनसो धीरा निर्ममा निरहङ्कृताः ॥ ७ ॥
विमुक्ताः सर्व एवैते महत्त्वमुपयान्त्युत ।
आत्मनो महतो वेद यः पुण्यां गतिमुत्तमाम् ॥ ८ ॥
अहङ्कारात्प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ९ ॥
तेषु भूतानि युज्यन्ते महाभूतेषु पञ्चसु ।
ते शब्दस्पर्शरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ॥ १० ॥

वर्णित हुआ है। महात्मा महान्, महान् आत्मा, मति, विष्णु, जिष्णु, शम्भु, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, ख्याति, धृति और स्मृति, ये सब पर्यायवाचक शब्दसे विभावित होते हैं, विद्वान् ब्राह्मणगण उस महान् को जाननेसे मोहको नहीं प्राप्त होते। वह सर्वग्राही, सर्वत्रगामी, सर्वदर्शी, सर्वशिरा, सर्वानन और सर्वश्रोता है; वही समस्त जगत् में व्याप्त होकर निवास कर रहा है। वह महाप्रभाव पुरुष सबके ही हृदयमें निश्रित है। वही अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, ईशान, अव्यय और ज्योतिःस्वरूप है। जो सब बुद्धिमान् सद्भावमें रत, ध्यानपरायण, सदा योगाचारी, सत्यसन्ध, जितेन्द्रिय, ज्ञानवान्, अलुब्ध, जितक्रोध, प्रसन्नचित्त, धीर, निर्मल और निरहङ्कारी मनुष्य उसमें रत रहते हैं तथा जो लोग उस महात्मा महान् की पुण्य गतिको जान सकते हैं, वे सबसे ही मुक्त होकर महत्त्व लाभ करते हैं। (१—८)

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि, ये पांचों महाभूत अहङ्कारसे

महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते ।
सर्वप्राणभृतां धीरा महदुत्पद्यते भयम् ॥ ११ ॥
स धीरः सर्वलोकेषु न मोहमधिगच्छति ।
विष्णुरेवादिसर्गेषु स्वयंभूर्भवति प्रभुः ॥ १२ ॥
एवं हि यो वेदगुहाशयं प्रभुं परं पुराणं पुरुषं विश्वरूपम् ।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठती ॥१३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

ब्रह्मोवाच— य उत्पन्नो महान्पूर्वमहङ्कारः स उच्यते ।
अहमित्येव संभूतो द्वितीयः सर्ग उच्यते ॥ १ ॥
अहङ्कारश्च भूतादिर्वैकारिक इति स्मृतः ।
तेजसश्चेतना धातुः प्रजासर्गः प्रजापतिः ॥ २ ॥
देवानां प्रभवो देवो मनसश्च त्रिलोककृत् ।
अहमित्येव तत्सर्वमभिमन्ता स उच्यते ॥ ३ ॥
अध्यात्मज्ञानतृप्तानां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
स्वाध्यायक्रतुसिद्धानामेष लोकः सनातनः ॥ ४ ॥

उत्पन्न हुए हैं। सब भूत उन पञ्च महाभूतोंसे उत्पन्न होकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन सब क्रियागुणसे युक्त होते हैं। हे धीरगण! उन महाभूतोंका अन्त तथा प्रलयकाल उपस्थित होनेपर प्राणियोंको अत्यन्त भय उत्पन्न होता है। वही महावीर महान् सब लोकोंके बीच मोहको नहीं प्राप्त होता; वह स्वयम्भू ही आदिसर्गका प्रभु है। जो पुरुष गुहाशय विश्वरूप हिरण्मय बुद्धिमानोंकी परम् गति पुराण परम पुरुष प्रभुको इस प्रकार जानता है, वही बुद्धिमान् मनुष्य बुद्धिको अतिक्रम करके निवास करता है। (९—१३)

आश्वमेधिकपर्वमें ४० अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ४१ अध्याय।

ब्रह्मा बोले, पहले, जो महान् उत्पन्न हुआ, वह "अहं" ऐसा अभिमान करते हुए अहंकार तथा द्वितीय सर्ग कहके वर्णित हुआ। वह अहङ्कार सब भूतोंकी आदि है। विकृत महत्वसे उत्पन्न तेज, विकार, चेतना, पुरुष और प्रजापतिरूपसे उत्पन्न हुआ है। वही इन्द्रिय और मनकी उत्पत्तिस्थान त्रिलोककर्ता है, वह सब वस्तुओंमें "अहं" रूप अभिमान करनेसे अहंकार नामसे प्रसिद्ध हुआ।

अहङ्कारेणाहरतो गुणानिमान् भूतादिरेवं सृजते स भूतकृत् ।
वैकारिकः सर्वमिदं विचेष्टते स्वतेजसा रञ्जयते जगत्तथा ॥ ५ ॥

इति श्रीमहा०आश्वमेधिकेपर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४१ ॥

ब्रह्मोवाच— अहङ्कारात्प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ १ ॥
तेषु भूतानि मुह्यन्ति महाभूतेषु पंचसु ।
शब्दस्पर्शनरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ॥ २ ॥
महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते ।
सर्वप्राणभृतां धीरा महदभ्युद्यतं भयम् ॥ ३ ॥
यद्यस्माज्जायते भूतं तत्र तत्प्रविलीयते ।
लीयन्ते प्रतिलोमानि जायन्ते चोत्तरोत्तरम् ॥ ४ ॥
ततः प्रलीने सर्वस्मिन् भूते स्थावरजङ्गमे ।
स्मृतिमन्तस्तदा धीरा न लीयन्ते कदाचन ॥ ५ ॥
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
क्रियाः करणनित्याः स्युरनित्या मोहसंज्ञिताः ॥ ६ ॥

अध्यात्मज्ञानसे परितृप्त परमात्मचिन्तक स्वाध्यायक्रतुके द्वारा सिद्ध मुनियोंका यही सनातन लोक है, अहंकारसे शब्दादि गुणभोक्ता पुरुषका आदिभूत विकृत महत्वसे उत्पन्न है। वह भूतकर्ता अहंकार विषयादि भूतोंकी सृष्टि करते हुए निज तेजके द्वारा समस्त जगत् को रञ्जित करके विशेष रीतिसे चेष्टा करता है। (१-५)

आश्वमेधिकपर्वमें ४१ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ४२ अध्याय।

ब्रह्मा बोले, पृथ्वी, वायु आकाश, जल और अग्नि ये पांचों महाभूत अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य आदि सब प्राणी निमित्तभूत शब्दादिगुणविमिश्रित उन पञ्चमहाभूतोंसे मुग्ध होते हैं। हे धीरगण! महाभूतोंके विनाश तथा प्रलयका समय उपस्थित होनेपर सब प्राणियोंको अत्यन्त भय उत्पन्न होता है। जो भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, वे उसहीमें लीन होते हैं; तथा वे सब अनुलोम क्रमसे उत्तरोत्तर उत्पन्न होते और प्रतिलोम क्रमसे लीन हुआ करते हैं। तिसके अनन्तर स्थावर जङ्गमात्मक सब भूतोंके प्रलीन होनेपर उस समय धीरवर स्मृतिवान् मनुष्य कदाचित् लीन नहीं होते। सूक्ष्म शब्दादि विषय और विषय ग्रहण रूप सब क्रिया करणात्मक मन रूपसे नित्य होती और मोहसंज्ञित अर्थात्

लोभप्रजनसंभूता निर्विशेषा ह्यकिंचनाः ।
मांसशोणितसङ्घाता अन्योन्यस्योपजीविनः ॥ ७ ॥
बहिरात्मान इत्येते दीनाः कृपणजीविनः ।
प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ॥ ८ ॥
अन्तरात्मनि चाप्येते नियताः पञ्च वायवः ।
वाङ्मनोबुद्धिभिः सार्धमिदमष्टात्मकं जगत् ॥ ९ ॥
त्वग्घ्राणश्रोत्रचक्षूंषि रसना वाक्च संयताः ।
विशुद्धं च मनो यस्य बुद्धिश्चाव्यभिचारिणी ॥ १० ॥
अष्टौ यस्याग्नयो ह्येते न दहन्ते मनः सदा ।
स तद्ब्रह्म शुभं याति तस्माद्भूयो न विद्यते ॥ ११ ॥
एकादश च यान्याहुरिन्द्रियाणि विशेषतः ।
अहङ्कारात्प्रसूतानि तानि वक्ष्याम्यहं द्विजाः ॥ १२ ॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पादौ पायुरुपस्थश्च हस्तौ वाग्दशमी भवेत् ॥ १३ ॥
इन्द्रियग्राम इत्येषु मन एकादशं भवेत् ।
एतं ग्रामं जयेत्पूर्वं ततो ब्रह्म प्रकाशते ॥ १४ ॥

स्थूल शब्दादि विषय तथा उन विषयोंकी ग्रहणरूपी क्रिया अनित्य हुआ करती है । लोभजनक कर्मसे उत्पन्न निर्विशेष, अकिञ्चन, मांसशोणित संयुक्त, दीन अर्थात् क्षुधा प्रभृतिके द्वारा उपद्रुत, कृपण जीव, अन्यान्य उपजीवी बहिरात्मा अर्थात् समस्त स्थूल शरीरको अनित्य जानो । प्राणादि पंचवायु और वाक्य, मन तथा बुद्धि, ये आठों उपाधिरूप अन्तरात्माके सम्बन्ध होकर जगदाकार रूपसे भासमान होते हैं । जिसकी त्वचा, नासिका, कान, नेत्र, जिह्वा, वचन संयत तथा मन विशुद्ध वा बुद्धि अव्यभिचारिणी होती है, तथा ये आठों अग्निस्वरूप होकर जिसके चित्तको सदा नहीं जलाते, वह विद्वान् मनुष्य सर्वाधिक शुभ ब्रह्मको प्राप्त हुआ करता है । (१—११)

हे द्विजगण ! जो अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें पण्डित लोग एकादश इन्द्रिय कहा करते हैं; मैं तुम लोगोंके समीप उन एकादश इन्द्रियोंकी विवरण विशेष रीतिसे कहता हूं, सुनो । कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, चरण, हाथ, पायु, उपस्थ, वाक्य और मन, ये एकादश इन्द्रिय हैं; पहले इन इन्द्रिय-

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चाहुः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
श्रोत्रादीन्यपि पञ्चाहुर्बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ॥ १५ ॥
अविशेषाणि चान्यानि कर्मयुक्तानि यानि तु ।
उभयत्र मनो ज्ञेयं बुद्धिस्तु द्वादशी भवेत् ॥ १६ ॥
इत्युक्तानीन्द्रियाण्येतान्येकादश यथाक्रमम् ।
मन्यन्ते कृतमित्येवं विदित्वा तानि पण्डिताः ॥१७॥
अतःपरं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम् ।
आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते ॥ १८ ॥
अधिभूतं तथा शब्दो दिशस्तत्राधिदैवतम् ।
द्वितीयं मारुतो भूतं त्वगध्यात्मं च विश्रुता ॥ १९ ॥
स्प्रष्टव्यमधिभूतं च विद्युत्तत्राधिदैवतम् ।
तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते ॥ २० ॥
अधिभूतं ततो रूपं सूर्यस्तत्राधिदैवतम् ।
चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममुच्यते ॥ २१ ॥
अधिभूतं रसश्चात्र सोमस्तत्राधिदैवतम् ।
पृथिवी पञ्चमं भूतं घ्राणश्चाध्यात्ममुच्यते ॥ २२ ॥

ग्रामोंको वशीभूत करनेसे पूर्ण ब्रह्म प्रकाशित होता है। पण्डित लोग बुद्धियुक्त श्रोत्रादि पांचोंको ज्ञानेन्द्रिय और कर्मयुक्त वागादि सातोंको कर्मेन्द्रिय कहा करते हैं; परन्तु दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंमें अनुगत मनको एकादश और बुद्धिको द्वादश जानो। यथाक्रमसे ये ग्यारह इन्द्रियां वर्णित हुई हैं, पण्डित लोग इन ग्यारहों इन्द्रियोंको विशेष रीतिसे जानकर कृतकृत्य हुआ करते हैं। (१२—१७)

हे द्विजगण! इसके अनन्तर सब इन्द्रियों, आकाश आदि विविध भूतों तथा उनके अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवतको तुम लोगोंसे विशेष रीतिसे कहता हूं, सुनो। आकाश प्रथम भूत है, उसमें श्रोत्र अध्यात्म, शब्द अधिभूत और दिशा अधिदैवत कहके वर्णित हुई हैं। वायु द्वितीय भूत है, उसमें त्वचा अध्यात्म, स्प्रष्टव्य अधिभूत और बिजली अधिदैवत कहके विख्यात हुई है। अग्नि तृतीय भूत है, उसमें नेत्र अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्य अधिदैवत कहा गया है। जल चतुर्थ भूत है, उसमें जिह्वा अध्यात्म, रस अधिभूत और चन्द्रमा अधिदैवत कहके गिना

अधिभूतं तथा गन्धो वायुस्तत्राधिदैवतम् ।
एषु पञ्चसु भूतेषु त्रिषु यश्च विधिः स्मृतः ॥ २३ ॥
अतःपरं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम् ।
पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ॥ २४ ॥
अधिभूतं तु गन्तव्यं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ।
अवाग्गतिरपानश्च पायुरध्यात्ममुच्यते ॥ २५ ॥
अधिभूतं विसर्गश्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ।
प्रजनः सर्वभूतानामुपस्थोऽध्यात्ममुच्यते ॥ २६ ॥
अधिभूतं तथा शुक्रं दैवतं च प्रजापतिः ।
हस्तावध्यात्ममित्याहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ २७ ॥
अधिभूतं च कर्माणि शक्रस्तत्राधिदैवतम् ।
वैश्वदेवी ततः पूर्वा वागध्यात्ममिहोच्यते ॥ २८ ॥
वक्तव्यमधिभूतं च वह्निस्तत्राधिदैवतम् ।
अध्यात्मं मन इत्याहुः पञ्चभूतात्मचारकम् ॥ २९ ॥
अधिभूतं च सङ्कल्पश्चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ।
अहङ्कारस्तथाध्यात्मं सर्वसंसारकारकम् ॥ ३० ॥

गया है। पृथ्वी पञ्चम भूत है, उसमें नासिका अध्यात्म, गन्ध अधिभूत और वायु अधिदैवत कहके वर्णित हुआ है। इसके अनन्तर पञ्च भूतोंके अन्तर्गत अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत, इन तीनोंमें जो विधि विहित हुई है, उस विधि और कर्मेन्द्रियोंका वर्णन करता हूं, सुनो। तत्त्वदर्शी ब्राह्मण लोग चरणको अध्यात्म, उसके गन्तव्यको अधिभूत और विष्णुको अधिदैवत कहा करते हैं। अवाग्गति अपानमें पण्डितोंके द्वारा पायु अध्यात्म, विसर्ग अधिभूत, मित्र अधिदेवता कहके वर्णित हुए हैं। (१८—२६)

सब प्राणियोंके प्रजनक उपस्थ अध्यात्म, शुक्र अधिभूत और प्रजापति अधिदैवत रूपसे वर्णित हुए हैं। अध्यात्मज्ञानी लोग हाथको अध्यात्म, उसके कर्मको अधिभूत और शुक्रको अधिदैवत कहा करते हैं। वाक्यरूप वैश्वदेवी अध्यात्म, उसमें वक्तव्य अधिभूत और अग्नि अधिदेवता है। पण्डित लोग भूतात्मकारक मनको अध्यात्म, उसके सङ्कल्पको अधिभूत और चन्द्रमाको अधिदेवता कहा करते हैं। सर्व संस्कारकारक अहङ्कार अध्यात्म, उसमें अभि-

अभिमानोऽधिभूतं च रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ।
अध्यात्मं बुद्धिरित्याहुः षडिन्द्रियविचारिणी ॥ ३१ ॥
अधिभूतं तु मन्तव्यं ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् ।
त्रीणि स्थानानि भूतानां चतुर्थं नोपपद्यते ॥ ३२ ॥
स्थलमापस्तथाकाशं जन्म चापि चतुर्विधम् ।
अण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजरायुजमथापि च ॥ ३३ ॥
चतुर्धा जन्म इत्येतद्भूतग्रामस्य लक्ष्यते ।
अपराण्यथ भूतानि खेचराणि तथैव च ॥ ३४ ॥
अण्डजानि विजानीयात्सर्वांश्चैव सरीसृपान् ।
स्वेदजाः कृमयः प्रोक्ता जन्तवश्च यथाक्रमम् ॥ ३५ ॥
जन्म द्वितीयमित्येतज्जघन्यतरमुच्यते ।
भित्त्वा तु पृथिवीं यानि जायन्ते कालपर्ययात् ॥३६॥
उद्भिज्जानि च तान्याहुर्भूतानि द्विजसत्तमाः ।
द्विपादबहुपादानि तिर्यग्गतिमतीनि च ॥ ३७ ॥
जरायुजानि भूतानि विकृतान्यपि सत्तमाः ।
द्विविधा खलु विज्ञेया ब्रह्मयोनिः सनातनी ॥ ३८ ॥
तपः कर्म च यत्पुण्यमित्येष विदुषां नयः ।
विविधं कर्म विज्ञेयमिज्या दानं च तन्मखे ॥ ३९ ॥

मान अधिभूत और रुद्र अधिदेवता कहके वर्णित हुए हैं । पण्डित लोग षडिन्द्रियचारिणी बुद्धिको अध्यात्म, उसके मन्तव्यको अधिभूत और ब्रह्माको अधिदेवता कहते हैं । प्राणियोंके जल, स्थल और आकाश, ये तीन स्थान हैं, इनके अतिरिक्त चौथे स्थानकी उपलब्धि नहीं होती । सब प्राणियोंके अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज और जरायुज, यह चार प्रकारके जन्म दीखते हैं । अन्य अपकृष्ट भूतों, खेचरों तथा सरीसृपोंको अण्डज जानो । इस ही प्रकार कृमि-प्रभृति जघन्य जन्तुसमूह स्वेदज वा जघन्य कहके वर्णित हुए हैं; यह द्वितीय जन्म है । समयपर्यायसे जो भूत पृथ्वीको भेदकर उत्पन्न होते हैं, द्विजगण उन्हें उद्भिज्ज कहा करते हैं । हे सत्तमगण ! द्विपाद, बहुपाद, तिर्यक्-गतिविशिष्ट, जरायुज प्राणिगण विकृत कहके वर्णित हुए हैं । (२६–३८)

सनातन ब्रह्मोपलब्धि स्थान दो प्रकारका जानो; पण्डितोंकी ऐसी नीति

जातस्याध्ययनं पुण्यमिति वृद्धानुशासनम् ।
एतद्यो वेत्ति विधिवद्युक्तः स स्याद्द्विजर्षभाः ॥ ४० ॥
विमुक्तः सर्वपापेभ्य इति चैव निबोधत ।
आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते ॥ ४१ ॥
अधिभूतं तथा शब्दो दिशश्चात्राधिदैवतम् ।
द्वितीयं मारुतं भूतं त्वगध्यात्मं च विश्रुतम् ॥ ४२ ॥
स्प्रष्टव्यमधिभूतं तु विद्युत्तत्राधिदैवतम् ।
तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममिष्यते ॥ ४३ ॥
अधिभूतं ततो रूपं सूर्यस्तत्राधिदैवतम् ।
चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममिष्यते ॥ ४४ ॥
चन्द्रोऽधिभूतं विज्ञेयमापस्तत्राधिदैवतम् ।
यथावदध्यात्मविधिरेष वः कीर्तितो मया ॥ ४५ ॥
ज्ञानमस्य हि धर्मज्ञाः प्राप्तं ज्ञानवतामिह ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च ॥
सर्वाण्येतानि संधाय मनसा संप्रधारयेत् ॥ ४६ ॥
क्षीणे मनसि सर्वस्मिन्न जन्मसुखमिष्यते ।
ज्ञानसंपन्नसत्त्वानां तत्सुखं विदुषां मतम् ॥ ४७ ॥
अतःपरं प्रवक्ष्यामि सूक्ष्मभावकरीं शिवाम् ।

है, कि वे पुण्यकर्मको ही तपस्या कहा करते हैं। कर्म अनेक प्रकारके हैं, उनके बीच यज्ञ और दानको मुख्य जानो। हे द्विजेन्द्रगण! वृद्धोंकी ऐसी आज्ञा है, कि ब्राह्मणोंके लिये वेदाध्ययन ही पुण्य कर्म है, जो पुरुष इसे विधिपूर्वक जानता है, वही उपयुक्त हुआ करता है और यह भी जान् रखो, कि वही पुरुष सब पापोंसे छूटता है; यह मैंने अध्यात्म विधिका तुम लोगोंके समीप यथार्थ रीतिसे वर्णन किया है। हे धर्मज्ञगण! इस लोकमें ज्ञानवान् पुरुष ही इस अध्यात्म विधिको जानते हैं, इसीसे वे लोग इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ और पञ्च महाभूत, इन सबको सन्धान करते हुए मन मात्रमें निवास करते हैं। मनके सब प्रकारसे क्षीण होनेपर जो पुरुष निर्विकल्प सुख अनुभव करता है, उसे पुत्र, कलत्र, परिष्वङ्गजनित संसारसुख अभिलषित नहीं होता; परन्तु जिन विद्वान् मनुष्योंकी बुद्धि आत्मानुभव-संयुक्त है, उनके लिये वही सुखरूपसे

निवृत्तिं सर्वभूतेषु मृदुना दारुणेन च ॥ ४८ ॥
गुणागुणमनासंगमेकचर्यमनन्तरम् ।
एतद्ब्रह्ममयं वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् । ॥ ४९ ॥
विद्वान्कूर्म इवाङ्गानि कामान्संहृत्य सर्वशः ।
विरजाः सर्वतो मुक्तो यो नरः स सुखी सदा ॥५०॥
कामानात्मनि संयम्य क्षीणतृष्णः समाहितः ।
सर्वभूतसुहृन्मित्रो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५१ ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन सर्वेषां विषयैषिणाम् ।
मुनेर्जनपदत्यागादध्यात्माग्निः समिध्यते ॥ ५२ ॥
यथाग्निरिन्धनैरिद्धो महाज्योतिः प्रकाशते ।
तथेन्द्रियनिरोधेन महानात्मा प्रकाशते ॥ ५३ ॥
यदा पश्यति भूतानि प्रसन्नात्माऽऽत्मनो हृदि ।
स्वयं ज्योतिस्तदा सूक्ष्मात्सूक्ष्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥५४॥
अग्नी रूपं पयः स्रोतो वायुः स्पर्शनमेव च ।

सम्मत होता है। (३८—४७)

इसके अनन्तर मनकी सूक्ष्मत्वकारी निवृत्ति तुम लोगोंसे कहता हूं। ब्राह्मणादि सब प्राणी मृदु तथा कठिन योगके सहारे निवृत्तिसाधनमें यत्नवान् होवें। श्रम आदि गुणागुणयुक्त अभिमानरहित एकान्तवास अवच्छिन्न एक अर्थात् सर्वसुख-गर्भ सुखको पण्डित लोग ब्राह्मणोंके वृत्त कहा करते हैं। निज अङ्ग समेटनेवाले कछुवेकी भांति जो विद्वान् मनुष्य सब कामना पूरी रीतिसे. संहार करता हुआ रजोविहीन होता है, वह सब भांतिसे मुक्त होकर सदा सुखभोग किया करता है। जो समाहितचित्तवाला पुरुष मनुष्यदेहके बीच सब कामना संयत करता हुआ संसारवासना नष्ट करता है, वह सब प्राणियोंका सुहृत् तथा मित्र होकर ब्रह्मत्व लाभ करता है। विषयाभिलाषी इन्द्रियोंका निरोध और जनपद त्याग निबन्धनसे मुनियोंकी अध्यात्म अग्नि प्रज्वलित होती है। जैसे अग्नि काष्ठके द्वारा प्रज्वलित होकर महाज्योतिस्वरूपसे प्रकाशित होती है, वैसे ही इन्द्रियनिरोधसे परमात्मा प्रकाशित हुआ करता है। (४८—५३)

जब अत्यन्त प्रसन्नचित्तसे पुरुष सब भूतोंको निज हृदयमें अवलोकन करता है, तब वह अत्यन्त सूक्ष्म अनुत्तम ज्योतिको प्राप्त होता है। जिस समय

महीपंकधरं घोरमाकाशः श्रवणं तथा ॥ ५५ ॥
रोगशोकसमाविष्टं पञ्चस्रोतःसमावृतम् ।
पञ्चभूतसमायुक्तं नवद्वारं द्विदैवतम् ॥ ५६ ॥
रजस्वलमथादृश्यं त्रिगुणं च त्रिधातुकम् ।
संसर्गाभिरतं मूढं शरीरमिति धारणा ॥ ५७ ॥
दुश्चरं सर्वलोकेऽस्मिन्सत्त्वं प्रतिसमाश्रितम् ।
एतदेव हि लोकेऽस्मिन्कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ५८ ॥
एतन्महार्णवं घोरमगाधं मोहसंज्ञितम् ।
विक्षिपेत्संक्षिपेच्चैव बोधयेत्सामरं जगत् ॥ ५९ ॥
कामं क्रोधं भयं लोभमभिद्रोहमथानृतम् ।
इन्द्रियाणां निरोधेन सतस्त्यजति दुस्त्यजान् ॥ ६० ॥
यस्यैते निर्जिता लोके त्रिगुणाः पञ्च धातवः ।
व्योम्नि तस्य परं स्थानमानन्त्यमथ लभ्यते ॥ ६१ ॥
पञ्चेन्द्रियमहाकूलां मनोवेगमहोदकाम् ।
नदीं मोहह्रदां तीर्त्वा कामक्रोधावुभौ जयेत् ॥ ६२ ॥
स सर्वदोषनिर्मुक्तस्ततः पश्यति तत्परम् ।

कृष्ण तथा गौरादि रूप अग्नि, प्रवाह जल, स्पर्श वायु, पंकरूप अस्थ्यादिधारी पृथिवी, श्रवणरूप आकाश और रोग-शोक समाविष्ट इन्द्रियगोलक रूप पञ्चस्रोतयुक्त पञ्चभूतसमायुक्त नव-द्वारविशिष्ट जीव और ईश्वर रूप दो देवताओंसे युक्त रजोविशिष्ट अदृश्य त्रिगुण और त्रिधातुमय, संश्रयाभिरत और अचेतन वस्तु शरीर कहके निश्चित है। सब लोकोंमें समाश्रित सत्त्वबुद्धि दुश्चर अर्थात् व्याधिसे आक्रान्त होनेपर इस लोकमें कालचक्रसे प्रवर्तित हुआ करती है। यह मोह नामक अगाध भयङ्कर महार्णव विक्षिप्त होकर अमर लोकके सहित जगत्को प्रबोधित करता है। (५४—५९)

काम, क्रोध, भय, लोभ और अनृत ये सब दुस्त्यज विद्यमान विषय इन्द्रिय-निरोधके द्वारा परित्यक्त होते हैं। इस लोकमें जिसका त्रिगुण और पंचधातु-युक्त स्थूल शरीर योगबलसे निर्जित होता है, आकाशके बीच उसे अनन्त परम पद ब्रह्मस्थान प्राप्त हुआ करता है। जिसके पञ्चेन्द्रिय महातट; मनका वेग महाजल और मोह ह्रद है, पुरुष वैसी नदीसे पार होकर काम तथा क्रोध, इन

मनो मनसि सन्धाय पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ ६३ ॥
सर्ववित्सर्वभूतेषु विन्दत्यात्मानमात्मनि ।
एकधा बहुधा चैव विकुर्वाणस्ततस्ततः ॥ ६४ ॥
ध्रुवं पश्यति रूपाणि दीपाद्दीपशतं यथा ।
स वै विष्णुश्च मित्रश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ॥६५॥
स हि धाता विधाता च स प्रभुः सर्वतोमुखः ।
हृदयं सर्वभूतानां महानात्मा प्रकाशते ॥ ६६ ॥
तं विप्रसङ्घाश्च सुरासुराश्च यक्षाः पिशाचाः पितरो वयांसि ।
रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे महर्षयश्चैव सदा स्तुवन्ति ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

ब्रह्मोवाच— मनुष्याणां तु राजन्यः क्षत्रियो मध्यमो गुणः ।
कुञ्जरो वाहनानां च सिंहश्चारण्यवासिनाम् ॥ १ ॥
अविः पशूनां सर्वेषामहिस्तु बिलवासिनाम् ।
गवां गोवृषभश्चैव स्त्रीणां पुरुष एव च ॥ २ ॥
न्यग्रोधो जम्बुवृक्षश्च पिप्पलः शाल्मलिस्तथा ।
शिंशपा मेषशृङ्गश्च तथा कीचकवेणवः ॥ ३ ॥

दोनोंको जय करे। फिर वह सब दोषों से मुक्त होकर हृदयपुण्डरीकमें मनको सन्धान कर सकनेसे देहके बीच उस परमात्माका दर्शन करेगा। सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी पुरुष निज शरीरमें परमात्माको पाते और एक वा अनेक रूपसे विकृत हुआ करते हैं। जैसे एक दीपक से सैकडों दीपक प्रवर्तित होते हैं, वैसेही योगी पुरुष संकल्प मात्र निज शरीरसे सैकडों शरीर उत्पन्न कर सकते हैं; वेही विष्णु, मित्र, वरुण, अग्नि, प्रजापति, धाता, विधाता, सर्वतोमुख, प्रभु, सर्व भूतोंके हृदय और परमात्मरूपसे प्रकाशित हुआ करते हैं। विप्र, सुरासुर, यक्ष, पिशाच, पितर, पक्षी, राक्षस, भूत और महर्षिगण उनका सदा स्तव किया करते हैं। (६०–६७)

आश्वमेधिकपर्वमें ४२ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ४३ अध्याय।

ब्रह्मा बोले, रजोगुणप्रधान राजन्य क्षत्रिय मनुष्योंके राजा हैं, हाथी वाहनोंके, सिंह वनवासियोंके, मेष पशुओंके, सर्प बिलवासियोंके, गोवृषभ गोसमूहके, पुरुष स्त्रियोंके, वट, अश्वत्थ,

एते द्रुमाणां राजानो लोकेऽस्मिन्नात्र संशयः ।
हिमवान्पारियात्रश्च सह्यो विन्ध्यस्त्रिकूटवान् ॥ ४ ॥
श्वेतो नीलश्च भासश्च कोष्ठवांश्चैव पर्वतः ।
गुरुस्कन्धो महेन्द्रश्च माल्यवान्पर्वतस्तथा ॥ ५ ॥
एते पर्वतराजानो गणानां मरुतस्तथा ।
सूर्यो ग्रहाणामधिपो नक्षत्राणां च चन्द्रमाः ॥ ६ ॥
यमः पितॄणामधिपः सरितामथ सागरः ।
अम्भसां वरुणो राजा मरुतामिन्द्र उच्यते ॥ ७ ॥
अर्कोऽधिपतिरुष्णानां ज्योतिषामिन्दुरुच्यते ।
अग्निर्भूतपतिर्नित्यं ब्राह्मणानां बृहस्पतिः ॥ ८ ॥
ओषधीनां पतिः सोमो विष्णुर्बलवतां वरः ।
त्वष्टाऽधिराजो रूपाणां पशूनामीश्वरः शिवः ॥ ९ ॥
दीक्षितानां तथा यज्ञो देवानां मघवा तथा ।
दिशामुदीची विप्राणां सोमो राजा प्रतापवान् ॥१०॥
कुबेरः सर्वरत्नानां देवतानां पुरन्दरः ।
एष भूताधिपः सर्गः प्रजानां च प्रजापतिः ॥ ११ ॥
सर्वेषामेव भूतानामहं ब्रह्ममयो महान् ।
भूतं परतरं मत्तो विष्णोर्वाऽपि न विद्यते ॥ १२ ॥
राजाधिराजः सर्वेषां विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् ।
ईश्वरत्वं विजानीध्वं कर्तारमकृतं हरिम् ॥ १३ ॥

जामुन, शाल्मलि, शिंशपा, मेषशृङ्गी और कीचकवेणु वृक्षोंके, हिमवान्, पारिपात्र, सह्य, त्रिकूटवान्, विन्ध्य, श्वेत, नील, भास, कोष्ठवान्, गुरुस्कन्ध, महेन्द्र और माल्यवान् पर्वतोंके, सूर्य ग्रहोंके, चन्द्रमा नक्षत्रोंके, यम पितरोंके, समुद्र नदियोंके, वरुण जलके, इन्द्र मरुद्गणोंके, अर्क उष्ण वस्तुओंके, इन्दु ज्योतिसमूहके, अग्नि सब भूतोंके, बृहस्पति ब्राह्मणोंके, सोम औषधियोंके, विष्णु बलवानोंके, त्वष्टा रूपसमूहके, शिव पशुओंके, यज्ञ वा दीक्षित देवताओंके, उदीची दिशासमूहके, चन्द्रमा ब्राह्मणोंके, कुबेर रत्नोंके, पुरन्दर देवताओंके, प्रजापति प्रजासमूहके और ब्रह्ममय महान् मैं सब भूतोंका अधिपति हूं; इसे ही भूताधिप सर्ग जानो । विष्णु तथा मुझसे परे अन्य भूत और कुछ भी नहीं है; ब्रह्ममय महा

नरकिन्नरयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
देवदानवनागानां सर्वेषामीश्वरो हि सः ॥ १४ ॥
भगदेवानुयातानां सर्वासां वामलोचना ।
माहेश्वरी महादेवी प्रोच्यते पार्वती हि सा ॥ १५ ॥
उमां देवीं विजानीध्वं नारीणामुत्तमां शुभाम् ।
रतीनां वसुमत्यस्तु स्त्रीणामप्सरसस्तथा ॥ १६ ॥
धर्मकामाश्च राजानो ब्राह्मणा धर्मसेतवः ।
तस्माद्राजा द्विजातीनां प्रयतेत स्म रक्षणे ॥ १७ ॥
राज्ञां हि विषये येषामवसीदन्ति साधवः ।
हीनास्ते स्वगुणैः सर्वैः प्रेत्य चोन्मार्गगामिनः ॥ १८ ॥
राज्ञां हि विषये येषां साधवः परिरक्षिताः ।
तेऽस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते सुखं प्रेत्य च भुञ्जते ॥ १९ ॥
प्राप्नुवन्ति महात्मान इति वित्त द्विजर्षभाः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नियतं धर्मलक्षणम् ॥ २० ॥
अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा ।

विष्णु ही सब भूतोंके राजाधिराज हैं और अकृतकर्ता हरिकोही मनुष्योंका ऐश्वर्य जानो । वह हरि, नर, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, उरग, राक्षस, देव, दानव और नागोंका ईश्वर है । कामुकोंकी अनुगत स्त्रियोंके बीच माहेश्वरी महादेवी पार्वतीही वामलोचना कहके वर्णित हुई हैं। स्त्रियोंके बीच उमादेवी श्रेष्ठ हैं; सब प्रीति सुनके बीच धनशालिता प्रिति और स्त्रियोंके बीच अप्सराओंको श्रेष्ठ जानो। (१—१६)

हे द्विजेन्द्रगण ! धर्मकाम राजा और ब्राह्मणवृन्दे धर्मसेतु हैं; इसलिये राजा ब्राह्मणोंकी रक्षामें यत्नवान् होवे। जिन राजाओंके राज्यमें साधुगण अवसन्न होते हैं, वे राजा लोग निज गुणोंसे रहित होकर परलोकमें उन्मार्गगामी हुआ करते हैं और जिन राजाओंके राज्यमें साधु लोग सब भांतिसे रक्षित होते हैं, वेही राजा इस लोकमें अत्यन्त आनन्द अनुभव करके परलोकमें परम सुख भोग किया करते हैं । हे द्विजर्षभगण ! इसलिये तुम लोग यह निश्चय जानो, कि महात्मा विद्वान् मनुष्यही विश्वसंसारके ऐश्वर्यको पाते हैं। हे विप्रगण ! इसके अनन्तर मैं तुम लोगोंसे धर्मादिका लक्षण कहता हूं, सुनो। धर्मका लक्षण अहिंसा, अधर्मका लक्षण

प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः ॥ २१ ॥
शब्दलक्षणमाकाशं वायुस्तु स्पर्शलक्षणः ।
ज्योतिषां लक्षणं रूपमापश्च रसलक्षणाः ॥ २२ ॥
धारिणी सर्वभूतानां पृथिवी गन्धलक्षणा ।
स्वरव्यञ्जनसंस्कारा भारती शब्दलक्षणा ॥ २३ ॥
मनसो लक्षणं चिन्ता चिन्तोक्ता बुद्धिलक्षणा ।
मनसा चिन्तितानर्थान्बुद्ध्या चेह व्यवस्यति ॥ २४ ॥
बुद्धिर्हि व्यवसायेन लक्ष्यते नात्र संशयः ।
लक्षणं मनसो ध्यानमव्यक्तं साधुलक्षणम् ॥ २५ ॥
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ २६ ॥
संन्यासी ज्ञानसंयुक्तः प्राप्नोति परमां गतिम् ।
अतीतो द्वन्द्वमभ्येति तमोमृत्युजरातिगः ॥ २७ ॥
धर्मलक्षणसंयुक्तमुक्तं वो विधिवन्मया ।
गुणानां ग्रहणं सम्यग्वक्ष्याम्यहमतः परम् ॥ २८ ॥
पार्थिवो यस्तु गन्धो वै घ्राणेन हि स गृह्यते ।
घ्राणस्थश्च तथा वायुर्गन्धज्ञाने विधीयते ॥ २९ ॥

हिंसा, देवताओंका लक्षण प्रकाश, मनुष्योंका लक्षण कर्म, आकाशका लक्षण शब्द, वायुका लक्षण स्पर्श, अग्निका लक्षण रूप, जलका लक्षण रस, सर्वधात्री पृथिवीका लक्षण गन्ध, स्वर और व्यञ्जनसंस्कारवती सरस्वतीका लक्षण शब्द तथा मनका लक्षण संशयात्मिका चिन्ता है। इस शरीरमें मनके जो सब विषय चिन्तित होते हैं और बुद्धि उनका निश्चय किया करती है; इस ही निमित्त बुद्धि निश्चयके द्वारा मालूम होती है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। मनका लक्षण ध्यान, साधुका लक्षण स्वयंप्रकाश, योगका लक्षण प्रवृत्ति और ज्ञानका लक्षण संन्यास है, इसही निमित्त बुद्धिमान् मनुष्य ज्ञानको अगाडी करके संन्यास अवलम्बन करें। (१७-२६)

संन्यासी पुरुष ज्ञानयुक्त होनेसे द्वंद्वातीत होकर अज्ञान मृत्यु और जराको अतिक्रम करते हुए परम गति पाते हैं, हे द्विजेन्द्रगण! मैं तुम लोगोंसे विधिपूर्वक धर्म तथा लक्षणादिका वर्णन किया। अब भूत तथा इन्द्रियोंके ग्राहकोंका पूरी रीतिसे वर्णन करता हूं,

अपां धातू रसो नित्यं जिह्वया स तु गृह्यते ।
जिह्वास्थश्च तथा सोमो रसज्ञाने विधीयते ॥ ३० ॥
ज्योतिषश्च गुणो रूपं चक्षुषा तच्च गृह्यते ।
चक्षुःस्थश्च सदाऽऽदित्यो रूपज्ञाने विधीयते ॥ ३१ ॥
वायव्यस्तु सदा स्पर्शस्त्वचा प्रज्ञायते च सः ।
त्वक्स्थश्चैव सदा वायुः स्पर्शने स विधीयते ॥ ३२ ॥
आकाशस्य गुणो ह्येष श्रोत्रेण च स गृह्यते ।
श्रोत्रस्थाश्च दिशः सर्वाः शब्दज्ञाने प्रकीर्तिताः ॥३३॥
मनसश्च गुणश्चिन्ता प्रज्ञया स तु गृह्यते ।
हृदिस्थश्चेतनो धातुर्मनोज्ञाने विधीयते ॥ ३४ ॥
बुद्धिरध्यवसायेन ज्ञानेन च महांस्तथा ।
निश्चित्य ग्रहणाद्व्यक्तमव्यक्तं नात्र संशयः ॥ ३५ ॥
अलिङ्गग्रहणो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ।
तस्मादलिङ्गः क्षेत्रज्ञः केवलं ज्ञानलक्षणः ॥ ३६ ॥

सुनो । नासिका पृथिवीके गुण गन्धको ग्रहण करती है, घ्राणस्थित वायु उस गन्धग्रहणकी अनुकूलता करती है। जिह्वा जलके गुण रसको ग्रहण करती है, जिह्वास्थित सोमरस ग्रहणकी अनुकूलता करता है । नेत्र अग्निके गुण रूपको ग्रहण करता है, नेत्रस्थित आदित्य उस रूपको ग्रहण करनेमें सहायक होता है । त्वचा वायुके गुण स्पर्शको ग्रहण करती है, उस त्वक्में स्थित वायु ही उस स्पर्शज्ञानका साधक होता है । कान आकाशके गुण शब्दको ग्रहण करता है, श्रोत्रस्थित सब दिशा उस शब्दज्ञानकी अनुकूलता किया करती हैं । प्रज्ञा मनके गुण चिन्ताको ग्रहण करती है, हृदयस्थ सारभूतचेतना चिन्ता ग्रहणकी अनुकूलता किया करती है। (२७—३४)

भूत और इन्द्रियां जिस प्रकार कारणान्तरके सहारे गृहीत हुआ करते हैं, वैसेही बुद्धिस्वरूप अध्यवसायके द्वारा और महान् स्व-स्वरूपके ज्ञानसे गृहीत हुआ करता है, परन्तु स्व-स्वरूप निश्चयरूपसे लिङ्गके द्वारा बुद्धि और स्वरूप (अपने रूपके) अस्तित्व ज्ञानरूप लिङ्गके द्वारा महान् व्यक्तरूपसे गृहीत होनेपर भी यथार्थमें उसका व्यक्तरूप मालूम नहीं होता । इस ही निमित्त नित्य निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ किसी प्रकार लिङ्गसे गृहीत न होनेसे वह अलिङ्ग वा केवल उपलब्धिस्वरूप है । क्षेत्रलिङ्गस्थ

अव्यक्तं क्षेत्रमुद्दिष्टं गुणानां प्रभवाप्ययम् ।
सदा पश्याम्यहं लीनो विजानामि शृणोमि च ॥ ३७ ॥
पुरुषस्तद्विजानीते तस्मात्क्षेत्रज्ञ उच्यते ।
गुणवृत्तं तथा वृत्तं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति ॥ ३८ ॥
आदिमध्यावसानान्तं सृज्यमानमचेतनम् ।
न गुणा विदुरात्मानं सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥ ३९ ॥
न सत्यं विन्दते कश्चित्क्षेत्रज्ञस्त्वेव विन्दति ।
गुणानां गुणभूतानां यत्परं परमं महत् ॥ ४० ॥
तस्माद्गुणांश्च सत्त्वं च परित्यज्येह धर्मवित् ।
क्षीणदोषो गुणातीतः क्षेत्रज्ञं प्रविशत्यथ ॥ ४१ ॥
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च ।
अचलश्चानिकेतश्च क्षेत्रज्ञः स परो विभुः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहा०आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादेत्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४३॥

ब्रह्मोवाच— यदादिमध्यपर्यन्तं ग्रहणोपायमेव च ।
नामलक्षणसंयुक्तं सर्वं वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

अर्थात् स्थूल वा सूक्ष्म शरीरमें अवस्थित सत्त्वादि गुणोंकी उत्पत्ति और विनाशकी हेतुभूत अव्यक्तको मैं सदा विलीन-रूपसे देखता, जानता और सुनता हूं। पुरुष उस अव्यक्तके सहित क्षेत्रको जानता है, इसीसे पण्डित लोग उसे क्षेत्रज्ञ कहा करते हैं, वह क्षेत्रज्ञ उत्पत्ति, स्थिति और ध्वंसविशिष्ट, सृज्यमान अचेतन गुणवृत्त अर्थात् प्रकाश, प्रवृत्ति तथा होमादि दर्शन करता है। सब गुण कूटस्थ परमात्माके द्वारा बार बार उत्पन्न होके उसे नहीं जान सकते। गुण वा गुणभूत अर्थात् भोज्य वस्तुओंसे श्रेष्ठ उस कूटस्थ आत्माको कोई नहीं पा सकता; परन्तु क्षेत्रज्ञ उसे प्राप्त कर सकता है। इसलिये धर्मज्ञ मनुष्य इस लोकमें गुण और सत्त्वको परित्यागके दोषरहित वा गुणातीत होकर क्षेत्रज्ञमें प्रवेश करे। क्यों कि वह क्षेत्रज्ञ ही निर्द्वन्द्व, श्रेष्ठ, नमस्कार और स्वाहा-कार-विहीन, अचल अनिकेत तथा विभु है। (३५—४२)

आश्वमेधिकपर्वमें ४३ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ४४ अध्याय।

ब्रह्मा बोले, हे द्विजेन्द्रगण! जो जन्मादियुक्त ग्रहण उपाय-विशिष्ट तथा नामलक्षण संयुक्त है, वह सब मैं तुम लोगोंसे यथार्थ कहता हूं सुनो। (१)

अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः शुक्लादयः स्मृताः ।
श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः ॥ २ ॥
भूमिरादिस्तु गन्धानां रसानामाप एव च ।
रूपाणां ज्योतिरादित्यः स्पर्शानां वायुरुच्यते ॥ ३ ॥
शब्दस्यादिस्तथाकाशमेष भूतकृतो गुणः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि भूतानामादिमुत्तमम् ॥ ४ ॥
आदित्यो ज्योतिषामादिरग्निर्भूतादिरुच्यते ।
सावित्री सर्वविद्यानां देवतानां प्रजापतिः ॥ ५ ॥
ओङ्कारः सर्ववेदानां वचसां प्राण एव च ।
यदस्मिन्नियतं लोके सर्वं सावित्रिरुच्यते ॥ ६ ॥
गायत्री च्छन्दसामादिः प्रजानां सर्ग उच्यते ।
गावश्चतुष्पदामादिर्मनुष्याणां द्विजातयः ॥ ७ ॥
श्येनः पतत्रिणामादिर्यज्ञानां हुतमुत्तमम् ।
सरीसृपाणां सर्वेषां ज्येष्ठः सर्पो द्विजोत्तमाः ॥ ८ ॥
कृतमादिर्युगानां च सर्वेषां नात्र संशयः ।
हिरण्यं सर्वरत्नानामोषधीनां यवास्तथा ॥ ९ ॥
सर्वेषां भक्ष्यभोजानामन्नं परममुच्यते ।

पहले दिन, तिसके अनन्तर रात्रि, उसके बाद शुक्लादि मास, उसके अनन्तर श्रवण आदि नक्षत्र और उसके बाद शिशिर आदि ऋतु उत्पन्न होती हैं। गन्धकी आदि भूमि है, रसकी आदि जल, रूपकी आदि ज्योतिर्मय आदित्य, स्पर्शसमूहकी आदि वायु और शब्द की आदि आकाश है, ये भूतगण कहके वर्णित हुए हैं। इसके अनन्तर मैं तुम लोगोंसे भूतादि तथा उत्तम कहता हूं, सुनो। ज्योतिकी आदि आदित्य, जरायुजादि भूतगणोंकी आदि जठराग्नि, सर्वविद्याकी आदि सावित्री, देवताओंकी आदि प्रजापति, वेदोंकी आदि ओंकार, वाक्यकी आदि प्राण, इस लोकमें जो ब्राह्मणादि वर्णोंकी उपासनाके निमित्त नियत है, वही सावित्री कहके वर्णित हुई है। सब छन्दोंकी आदि गायत्री, पशुओंकी आदि अज, चतुष्पाद जन्तुओंकी गऊ, मनुष्योंकी आदि द्विजाति, गण, पक्षियोंकी आदि बाज, यज्ञोंकी आदि हुत, सब सरीसृपोंकी आदि सर्प; युगों की आदि सत्य रत्नोंकी आदि हिरण्य, ओषधियोंकी आदि यव है

द्रवाणां चैव सर्वेषां पेयानामपि उत्तमाः ॥ १० ॥
स्थावराणां तु भूतानां सर्वेषामविशेषतः।
ब्रह्मक्षेत्रं सदा पुण्यं प्लक्षः प्रथमतः स्मृतः ॥ ११ ॥
अहं प्रजापतीनां च सर्वेषां नात्र संशयः।
मम विष्णुरचिन्त्यात्मा स्वयंभूरिति स स्मृतः ॥ १२ ॥
पर्वतानां महामेरुः सर्वेषामग्रजः स्मृतः।
दिशां च प्रदिशां चोर्ध्वं दिक्पूर्वा प्रथमा तथा ॥१३॥
तथा त्रिपथगा गङ्गा नदीनामग्रजा स्मृता।
तथा सरोदपानानां सर्वेषां सागरोऽग्रजः ॥ १४ ॥
देवदानवभूतानां पिशाचोरगरक्षसाम्।
नरकिन्नरयक्षाणां सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १५ ॥
आदिर्विश्वस्य जगतो विष्णुर्ब्रह्ममयो महान्।
भूतं परतरं यस्मात्त्रैलोक्ये नेह विद्यते ॥ १६ ॥
आश्रमाणां च सर्वेषां गार्हस्थ्यं नात्र संशयः।
लोकानामादिरव्यक्तं सर्वस्यान्तस्तदेव च ॥ १७ ॥
अहान्यस्तमयान्तानि उदयान्ता च शर्वरी।
सुखस्यान्तं सदा दुःखं दुःखस्यान्तं सदा सुखम् ॥१८॥
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।

समस्त भक्ष्य तथा भोज्य वस्तुओंके बीच अन्न उत्तम कहके गिना गया है। सब पीनेवाली वस्तुओंके बीच जल उत्तम है; सब स्थावर भूतोंके बीच ब्राह्मण-शरीरके सदृश सदा पवित्र प्लक्ष अश्वत्थ वृक्ष प्रथम गिना गया है। (२—११)

मैं सब प्रजापतियोंके बीच अग्रज हूं; स्वयम्भू अचिन्त्यात्मा विष्णु मेरे अग्रज हैं; पर्वतोंका अग्रज महामेरु, सब दिशाओंसे पहली पूर्व दिशा है; नदियोंके बीच त्रिपथगामिनी गङ्गा बडी हैं, तालावों तथा उदपानोंका अग्रज समुद्र है। देव, दानव, भूत, पिशाच, उरग, राक्षस, नर, किन्नर और यक्षोंका प्रभु ईश्वर है; ब्रह्ममयं महा विष्णु संसारकी आदि है, क्यों कि तीनों लोकके बीच उससे श्रेष्ठ भूत और कुछ भी विद्यमान नहीं है। आश्रमोंके बीच निःसन्देह गार्हस्थाश्रमही उत्तम है, अव्यक्त सब लोकोंकी आदि और अन्त है, दिन समस्त अस्तमयान्त, रात्रि उदयान्त, सुखका अन्त दुःख, दुःखका अन्त सुख

संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ १९ ॥
सर्वं कृतं विनाशान्तं जातस्य मरणं ध्रुवम् ।
अशाश्वतं हि लोकेऽस्मिन्सदा स्थावरजङ्गमम् ॥ २० ॥
इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये ।
सर्वमेतद्विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते ॥ २१ ॥
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते सर्वपाप्मभिः ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

ब्रह्मोवाच-- बुद्धिसारं मनस्तम्भमिन्द्रियग्रामबन्धनम् ।
महाभूतपरिस्कन्धं निवेशपरिवेशनम् ॥ १ ॥
जराशोकसमाविष्टं व्याधिव्यसनसंभवम् ।
देशकालविचारीदं श्रमव्यायामनिःस्वनम् ॥ २ ॥
अहोरात्रपरिक्षेपं शीतोष्णपरिमण्डलम् ।
सुखदुःखान्तसंश्लेषं क्षुत्पिपासावकीलकम् ॥ ३ ॥
छायातपविलेखं च निमेषोन्मेषविह्वलम् ।

है; सब वस्तु क्षयान्त हैं; उन्नतिके अन्तमें अवनति, संयोगके अन्तमें वियोग, जीवनके अन्तमें मरण, सब कृत वस्तु विनाशान्त और उत्पन्न हुई वस्तु अन्तमें नाशवान् हैं; क्यों कि इस लोकमें स्थावर जङ्गम प्रभृति सब वस्तु अनित्य हैं। इष्ट दत्त, तपस्या, अध्ययन, व्रत और नियम, ये सभी विनाशी हैं; परन्तु ज्ञान अनन्त है, उसका अन्त नहीं है; इस ही लिये जितेन्द्रिय, प्रशान्तचित्त, निर्मम, निरहंकारी मनुष्य केवल ज्ञानके द्वारा सब पापोंसे मुक्त हुआ करते हैं। (१२—२२)

आश्वमेधिकपर्वमें ४४ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ४५ अध्याय।

ब्रह्मा बोले, हे द्विजगण! जिसकी बुद्धि सारस्वरूप, मन स्तम्भस्वरूप, इन्द्रियग्रामबन्धन रज्जुरूपी और जो पञ्चभूतसमूहात्मक है, निवेश जिसकी नेमिस्वरूप है, जो जरा वा शोकसे समाविष्ट है, व्याधि और व्यसनकी उत्पत्तिस्थानभूत, देश और कालके सहित विचरणकारी, व्यायामजनित श्रम जिसका शब्द, अहोरात्र जिसके परिचालक, सर्दी और गर्मी जिसके परिमण्डल, सुख और दुःख जिसकी सीमा, क्लेश

घोरमोहजलाकीर्णं वर्तमानमचेतनम् ॥ ४ ॥
मासार्धमासगणितं विषमं लोकसंचरम् ।
तमोनियमपङ्कं च रजोवेगप्रवर्तकम् ॥ ५ ॥
महाहङ्कारदीप्तं च गुणसंजातवर्तनम् ।
अरतिग्रहणानीकं शोकसंहारवर्तनम् ॥ ६ ॥
क्रियाकारणसंयुक्तं रागविस्तारमायतम् ।
लोभेप्सापरिविक्षोभं विचित्राज्ञानसंभवम् ॥ ७ ॥
भयमोहपरीवारं भूतसंमोहकारकम् ।
आनन्दप्रीतिचारं च कामक्रोधपरिग्रहम् ॥ ८ ॥
महदादिविशेषान्तमसक्तं प्रभवाव्ययम् ।
मनोजवं मनःकान्तं कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ९ ॥
एतद् द्वन्द्वसमायुक्तं कालचक्रमचेतनम् ।
विसृजेत्संक्षिपेच्चापि बोधयेत्सामरं जगत् ॥ १० ॥
कालचक्रप्रवृत्तिं च निवृत्तिं चैव तत्त्वतः ।
यस्तु वेद नरो नित्यं न स भूतेषु मुह्यति ॥ ११ ॥

जिसका संश्लेष, भूख और प्यास जिसके अन्तःप्रविष्ट अर, छाया और धूप जिसके उत्खाक हैं; जो निमेष तथा उन्मेषसे आकुल, भयङ्कर मोहरूपी जलसे आकीर्ण, सदा गमनशील अचेतन जडस्वरूप, मासादि समयके द्वारा परिमित, अनेकरूप ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोकमें विचरनेवाला, तमोगुणके द्वारा यथाकर्मके निरोधरूप मलिनतासे युक्त, रजोगुणके द्वारा विहित तथा निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्त, महा अहङ्कारसे प्रदीप्त, सत्त्वादि गुणोंमें अवस्थित, शोक और दुःखसे जीवित, क्रियाकारणयुक्त, राग जिसका आयत, लोभ तृष्णा जिसके अध और ऊर्ध्व हैं, जो मायासे उत्पन्न, भय और मोहसे परिवृत, भूतोंका संमोहकारक, बाह्य सुख, आनन्द और प्रीतिके सहित विचरणशील, काम और क्रोध जिसका मूल, महदादि विशेष जिसका अन्त है, वह अनिरुद्ध भावसे संचरणशील, संसारकारण अव्ययस्वरूप, मनकी भांति वेगशाली और अत्यन्त मनोहर कालचक्र प्रवर्तित होता है । मान अपमान द्वन्द्वयुक्त यह अचेतन कालचक्र सुरपुरके सहित जगत् को उत्पन्न, संहार और प्रबोधित किया करता है। (१—१०)

जो मनुष्य इस कालचक्रकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको विशेष रूपसे जानता है,

विमुक्तः सर्वसंस्कारैः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १२ ॥
गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ॥१३॥
यः कश्चिदिह लोकेऽस्मिन्नागमः परिकीर्तितः ।
तस्यान्तगमनं श्रेयः कीर्तिरेषा सनातनी ॥ १४ ॥
संस्कारैः संस्कृतः पूर्वं यथावच्चरितव्रतः ।
जातौ गुणविशिष्टायां समावर्तेत तत्त्ववित् ॥ १५ ॥
स्वदारनिरतो नित्यं शिष्टाचारो जितेन्द्रियः ।
पञ्चभिश्च महायज्ञैः श्रद्दधानो यजेदिह ॥ १६ ॥
देवताऽतिथिशिष्टाशी निरतो वेदकर्मसु ।
इज्याप्रदानयुक्तश्च यथाशक्ति यथासुखम् ॥ १७ ॥
न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः ।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः ॥ १८ ॥
नित्यं यज्ञोपवीती स्याच्छुक्लवासाः शुचिव्रतः ।
नियतो यमदानाभ्यां सदा शिष्टैश्च संविशेत् ॥ १९ ॥

वह प्राणियोंके बीच मोहित नहीं होता। बल्कि वह सब द्वन्द्वोंसे रहित, सर्व संस्कार और सब पापोंसे मुक्त होकर परम गति पाता है। गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और भिक्षुक, ये चारों आश्रम गार्हस्थ्यमूलक कहके वर्णित हुए हैं। इस लोकमें जो कई विधिनिषेधक शास्त्र प्रकीर्तित हुए हैं, उनका अनुगमन करना कल्याणकारी है; इस कीर्तिको ही सनातनी जानो। गुणविशिष्ट जातिमें उत्पन्न तत्त्ववित् मनुष्य पहले स्वधर्मके संस्कारके द्वारा संस्कृत होकर व्रतोंका पूरी रीतिसे अनुष्ठान करके गुरुकुलसे प्रत्यागमन करें। अनन्तर इस लोकमें सदा निज स्त्रीमें रत रहके शिष्टाचारयुक्त, जितेन्द्रिय तथा श्रद्धावान् होकर पञ्चमहा यज्ञोंके द्वारा अर्चना करें। (११–१६)

देवताओं और अतिथियोंके भुक्तावशिष्ट अन्न भोजन करें, देवकर्ममें रत रहें और शक्तिके अनुसार सुखपूर्वक यज्ञ तथा ज्ञानकर्ममें नियुक्त होवें। मननशील मनुष्य हाथ, पांव, नेत्र तथा अङ्गको परिचालित न करें, येही शिष्ट पुरुषोंके लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त सदा यज्ञोपवीत तथा सफेद वस्त्र पहरे, पवित्र व्रतका अनुष्ठान करे और यम

जितशिश्नोदरो मैत्रः शिष्टाचारसमन्वितः ।
वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ॥ २० ॥
अधीत्याध्यापनं कुर्यात्तथा यजनयाजने ।
दानं प्रतिग्रहं वाऽपि षड्गुणां वृत्तिमाचरेत् ॥ २१ ॥
त्रीणि कर्माणि जानीत ब्राह्मणानां तु जीविका ।
याजनाध्यापने चोभे शुद्धाच्चापि प्रतिग्रहः ॥ २२ ॥
अथ शेषाणि चान्यानि त्रीणि कर्माणि यानि तु ।
दानमध्ययनं यज्ञो धर्मयुक्तानि तानि तु ॥ २३ ॥
तेष्वप्रमादं कुर्वीत त्रिषु कर्मसु धर्मवित् ।
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः सर्वभूतसमो मुनिः ॥ २४ ॥
सर्वमेतद्यथाशक्ति विप्रो निर्वर्तयन् शुचिः ।
एवंयुक्तो जयेत्स्वर्गं गृहस्थः संशितव्रतः ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

ब्रह्मोवाच— एवमेतेन मार्गेण पूर्वोक्तेन यथाविधि ।
अधीतवान् यथाशक्ति तथैव ब्रह्मचर्यवान् ॥ १ ॥
स्वधर्मनिरतो विद्वान्सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ।
गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्यधर्मपरः शुचिः ॥ २ ॥

तथा दानमें रत होकर सदा शिष्ट पुरुषोंके सहित संवास करे । मित्र मनुष्य शिष्टाचारयुक्त होकर उदर तथा शिश्नको संयत करते हुए जलयुक्त कमण्डलु तथा बांसकी लाठी धारण करे। अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह इन छः प्रकारके गुणोंकी वृत्तिका आचरण करे । (१७-२१)

हे द्विजगण ! याजन, अध्यापन और शुद्ध प्रतिग्रह, इन तीनों कर्मोंको ब्राह्मणोंकी जीविका जानो । धर्मज्ञ, दान्त, मैत्र, क्षमायुक्त, सर्वभूतोंमें समदर्शी और मननशील मनुष्य अवशिष्ट दान, अध्ययन और यज्ञ, इन तीनों धर्मयुक्त कर्ममें प्रमाद न करे । पवित्रचित्तवाला संशितव्रती गृहस्थ विप्र शक्तिके अनुसार इन सब कार्योंको नियमपूर्वक पूर्ण करते हुए उसमें नियुक्त रहनेसे स्वर्ग जय करनेमें समर्थ होता है । (२२-२५)

आश्वमेधिकपर्वमें ४५ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ४६ अध्याय ।

ब्रह्मा बोले, ब्रह्मचर्यवान् पुरुष पहले

गुरुणा समनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन् ।
हविष्यभैक्ष्यभुक्चापि स्थानासनविहारवान् ॥ ३ ॥
द्विकालमग्निं जुह्वानः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
धारयीत सदा दण्डं बैल्वं पालाशमेव वा ॥ ४ ॥
क्षौमं कार्पासिकं चाऽपि मृगाजिनमथापि वा ।
सर्वं काषायरक्तं वा वासो वाऽपि द्विजस्य ह ॥ ५ ॥
मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा ।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः ॥ ६ ॥
पूताभिश्च तथैवाद्भिः सदा दैवततर्पणम् ।
भावेन नियतः कुर्वन्ब्रह्मचारी प्रशस्यते ॥ ७ ॥
एवंयुक्तो जयेल्लोकान्वानप्रस्थो जितेन्द्रियः ।
न संसरति जातीषु परमं स्थानमाश्रितः ॥ ८ ॥
संस्कृतः सर्वसंस्कारैस्तथैव ब्रह्मचर्यवान् ।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनिः प्रव्रजितो वसेत् ॥ ९ ॥
चर्मवल्कलसंवासी सायं प्रातरुपस्पृशेत् ।

कहे हुए इस ही मार्गके अनुसार अध्ययन करे। स्वधर्ममें रत, जितेन्द्रिय, गुरुप्रिय, तथा हितकारी, सत्यधर्मपरायण, पवित्रचित्त, हविष्य और भैक्ष्यभुक्, स्थानासनविहारवान्, विद्वान्, मननशील मनुष्य गुरुके द्वारा पूरी रीतिसे अनुज्ञात होकर निन्दा न करके अन्न भोजन करे। पवित्र तथा समाहित होकर बेल वा पलासका दण्ड धारण करके दोनों समय अग्निमें आहुति डाले। गेरुआ तथा लाल रङ्गके क्षौम वा सूती वस्त्र अथवा मृगछाला पहरे। मूञ्जकी करधनी और जटा धारण करें, सदा जलयुक्त, यज्ञोपवीती, स्वाध्यायी, अलुब्ध तथा नियतव्रती होकर पवित्र जलके द्वारा सदा देवताओंका तर्पण करे; क्यों कि ब्रह्मचारी संयत होकर विशुद्धभावसे इस प्रकार आचरण करनेसे प्रशंसित हुआ करता है। ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी समाहित होकर इसही भांति युक्त होनेसे स्वर्ग जय करनेमें समर्थ होता है और परम पद अवलम्बन करते हुए जातिके बीच संहारी नहीं होता। (१—८)

ब्रह्मचर्यविशिष्ट मननशील मनुष्य सब संस्कारोंसे संस्कृत तथा निज ग्रामसे बाहिर होकर प्रव्रज्या अवलम्बन करते हुए वनके बीच वास करे। चर्म और

आरण्यगोचरो नित्यं न ग्रामं प्रविशेत्पुनः ॥ १० ॥
अर्चयन्नतिथीन्काले दद्याचापि प्रतिश्रयम् ।
फलपत्रावरैर्मूलैः श्यामाकेन च वर्तयन् ॥ ११ ॥
प्रवृत्तमुदकं वायुं सर्वं वानेयमाश्रयेत् ।
प्राश्नीयादानुपूर्व्येण यथादीक्षमतन्द्रितः ॥ १२ ॥
समूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम् ।
यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्भिक्षां नित्यमतन्द्रितः ॥ १३ ॥
देवताऽतिथिपूर्वं च सदा प्राश्नीत वाग्यतः ।
अस्पर्धितमनाश्चैव लघ्वाशी देवताश्रयः ॥ १४ ॥
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशान् श्मश्रु च धारयन् ।
जुह्वन्स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः ॥ १५ ॥
शुचिदेहः सदा दक्षो वननित्यः समाहितः ।
एवंयुक्तो जयेत्स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रियः ॥ १६ ॥
गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथवा पुनः ।
य इच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् ॥ १७ ॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत ।
सर्वभूतसुखो मैत्रः सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ॥ १८ ॥

वल्कल वस्त्रधारी होकर सन्ध्या तथा सवेरे जलस्पर्श करे और सदा वनवासी होकर ग्राममें प्रवेश करनेसे निवृत्त होवे। फल, पत्र, क्षुद्र मूल और सावांके द्वारा जीविका निर्वाह करते हुए यथासमयमें उपस्थित अतिथियोंकी पूजा करके उन्हें आश्रय प्रदान करे। दीक्षाके अनुसार अतन्द्रित होकर उपस्थित जल, वायु और वनके फलमूलादिको क्रमसे भोजन करे। वनवासी मुनि सदा अतन्द्रित होकर फलमूलकी भिक्षाके सहारे समागत अतिथियोंकी अर्चना करे और भिक्षाके द्वारा जो वित्त प्राप्त होवे, उसमेंसे कुछ अंश भिक्षा प्रदान करना चाहिये। सदा वाग्यत होकर देवताओंका आश्रय तथा आशीर्वाद पाके देवता तथा अतिथि पूजाके अनन्तर प्रकृष्ट रूपसे भोजन करे। वानप्रस्थ मनुष्य मैत्र, क्षमायुक्त, सत्यधर्मपरायण, स्वाध्यायशील, केशश्मश्रुधारी, होमकारी, दक्ष, वननिरत, समाहितचित्त और जितेन्द्रिय ऐसे गुणोंसे युक्त होनेसे स्वर्गको जय किया करते हैं। (९-१६)

गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ पुरु-

अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया ।
कृत्वा प्राह्णे चरेद्भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने ॥ १९ ॥
वृत्ते शरावसंपाते भैक्ष्यं लिप्सेत मोक्षवित् ।
लाभेन च न हृष्येत नालाभे विमना भवेत् ॥
न चातिभिक्षां भिक्षेत केवलं प्राणयात्रिकः ॥ २० ॥
यात्रार्थी कालमाकांक्षंश्चरेद्भैक्ष्यं समाहितः ।
लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः ॥ २१ ॥
अभिपूजितलाभाद्धि विजुगुप्सेत भिक्षुकः ।
भुक्तान्यन्नानि तिक्तानि कषायकटुकानि च ॥ २२ ॥
नास्वादयीत भुञ्जानो रसांश्च मधुरांस्तथा ।
यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणधारणम् ॥ २३ ॥
असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत मोक्षवित् ।
न चान्यमन्नं लिप्सेत भिक्षमाणः कथंचन ॥ २४ ॥
न सन्निकाशयेद्धर्मं विविक्ते चारजाश्चरेत ।
शून्यागारमरण्यं वा वृक्षमूलं नदीं तथा ॥ २५ ॥

पोंके बीच जो लोग मोक्षमार्ग अवलम्बन करनेकी इच्छा करें, वे उत्तम वृत्ति अवलम्बन करें। सब भूतोंके सुखदायक, मैत्र, सब इन्द्रियोंको दमन करनेवाले, मननशील मनुष्य सब भूतोंको अभय प्रदान करके नैष्कर्माचरण करें। भिक्षुक मनुष्य अग्निहोत्रीय अग्नि प्रज्वलित करके होमकार्यको पूरा करके धूमरहित तथा जनपदोंके भोजनकार्य सिद्ध होनेपर अयाचित, असंकल्प तथा यदृच्छा-प्राप्त भोज्य वस्तु भिक्षारूपसे ग्रहण करें। मोक्षवित् मनुष्य शरावसम्पात सम्पन्न होनेपर भिक्षाप्राप्तिके लिये इच्छा करे और लाभसे हृष्ट तथा अला-भसे असन्तुष्ट न होवे। जीवनयात्रा निभानेकी इच्छा करनेवाले भिक्षुक समाहित होकर समयकी उपेक्षा करते हुए भिक्षा मांगनेमें प्रवृत्त होवें, परंतु साधारण लाभग्रहण करनेकी इच्छा न करें और किसी पुरुषके द्वारा समादृत होकर भोजन न करें; क्यों कि भिक्षुक समादर सहित भिक्षा पानेसे निन्दाभाजन हुआ करते हैं। भिक्षुक तीखा, कडुआ और कसैला खाद्य भोजन करे। मधुर रसयुक्त भोज्य वस्तुओंका स्वाद न लेकर केवल प्राणधारणके निमित्त भोजन करे। मोक्षवित् पुरुष प्राणियोंको रुद्ध न करके वृत्तिलाभकी इच्छा करे और भिक्षामें

प्रतिश्रयार्थं सेवेत पार्वतीं वा पुनर्गुहाम् ।
ग्रामैकरात्रिको ग्रीष्मे वर्षास्वेकत्र वा वसेत् ॥ २६ ॥
अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवच्च चरेन्महीम् ।
दयार्थं चैव भूतानां समीक्ष्य पृथिवीं चरेत् ॥ २७ ॥
संचयांश्च न कुर्वीत स्नेहवासं च वर्जयेत् ।
पूताभिरद्भिर्नित्यं वै कार्यं कुर्वीत मोक्षवित् ॥ २८ ॥
उपस्पृशेदुद्धृताभिरद्भिश्च पुरुषः सदा ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च ॥ २९ ॥
अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम् ।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद्व्रतेषु नियतेन्द्रियः ॥ ३० ॥
अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत् ।
जोषयेत सदा भोज्यं ग्रासमागतमस्पृहः ॥ ३१ ॥
यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम् ।
धर्मलब्धमथाश्नीयान्न काममनुवर्त्तयेत् ॥ ३२ ॥
ग्रासादाच्छादनादन्यन्न गृह्णीयात्कथंचन ।

प्रवृत्त होकर दूसरेके अन्नकी कदापि अभिलाष न करै, भिक्षुक किसी प्रकार धर्म नष्ट न करे, रजोगुणसे रहित होकर मुक्तिमार्गमें विचरे, आश्रमके निमित्त सूना स्थान, अरण्य, वृक्षमूल, नदी और पर्वतकी गुफा अवलम्बन करै। (१७-२६)

ग्रीष्मकालमें ग्राममें एक रात्रि वास करे, वर्षाकाल उपस्थित होनेपर एकत्र-वास करै; सूर्यके उदित होनेसे मार्ग प्रकाशित होनेपर कीटकी भांति पृथ्वीपर विचरण करे। प्राणियोंके विषयमें दया प्रकाशित करके तथा समस्त पर्यवेक्षण करते हुए पृथ्वीपर पर्यटन करे, किसी वस्तुको सञ्चय न करे और स्नेहभावसे रहित होवे। मोक्षवित् पुरुष सदा पवित्र जलसे कार्य करे और सदा उद्धृत जलसे आचमन करे। पुरुष इन्द्रियनिग्रह अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, अक्रोध अनसूया, दम और अपिशुनता, इन आठ प्रकारके व्रतोंमें नियुक्त रहके सदा पाप, शठता और कुटिलता रहित व्रता-चरण करे। ग्राममें आके निस्पृह होकर भोज्य वस्तु मांगे और केवल प्राणयात्रा निभानेके लिये भोजन करे। (२६-३१)

धर्मसे प्राप्त हुई वस्तु भोग करे, कदापि कामके अनुवर्त्ती न होवे और भोजनाच्छादनके अतिरिक्त अन्य वस्तु-ओंको कदापि ग्रहण न करे, तथा दूसरोंके

यावदाहारयेत्तावत्प्रतिगृह्णीत नाधिकम् ॥ ३३ ॥
परेभ्यो न प्रतिग्राह्यं न च देयं कदाचन ।
दैन्यभावाच भूतानां संविभज्य सदा बुधः ॥ ३४ ॥
नाददीतपरस्वानि न गृह्णीयादयाचितः ।
न किंचिद्विषयं भुक्त्वा स्पृहयेत्तस्य वै पुनः ॥ ३५ ॥
मृदमापस्तथान्नानि पत्रपुष्पफलानि च ।
असंवृतानि गृह्णीयात्प्रवृत्तानि च कार्यवान् ॥ ३६ ॥
न शिल्पजीविकां जीवेद्धिरण्यं नोत कामयेत ।
न द्वेष्टा नोपदेष्टा च भवेच निरुपस्कृतः ॥ ३७ ॥
श्रद्धापूतानि भुञ्जीत निमित्तानि च वर्जयेत् ।
सुधावृत्तिरसक्तश्च सर्वभूतैरसंविदम् ॥ ३८ ॥
आशीर्युक्तानि सर्वाणि हिंसायुक्तानि यानि च ।
लोकसंग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥ ३९ ॥
सर्वभावानतिक्रम्य लघुमात्रः परिव्रजेत ।
समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥ ४० ॥
परं नोद्वेजयेत्कंचिन्न च कस्यचिदुद्विजेत् ।

निकट प्रतिग्रह वा दूसरेको दान न करे, प्राणिगण दीनतासे सबका विभाग करके जो दान करें, पण्डित पुरुष अयाचित होकर उस परस्वको ग्रहण न करे, कार्यवान् मनुष्य किसी विषयको एक बार भोग करके फिर उसमें स्पृहा न करे; उपस्थित मृत्तिका, जल, अन्न, पत्र पुष्प और फल, यह सब अनावृत्त रहनेपर ग्रहण करे, आवृत्त होनेपर ग्रहण न करे। शिल्पवृत्तिके द्वारा जीविका निर्वाह न करे, सुवर्णकी कामना न करे, किसीका उपदेष्टा वा द्वेष्टा न होवे; केवल अलङ्कारादिसे रहित होकर निवास करे। अयाचित वृत्ति अवलम्बन करके सब विषयोंमें अनासक्त होकर श्रद्धापूत वस्तुओंको भोजन करे, समस्त निमित्त वर्जित होवे और प्राणियोंके अज्ञात रूपसे निवास करे। आशिर्वादयुक्त तथा हिंसायुक्त कर्म तथा लोकसंग्रह न करे, न दूसरेके द्वारा करावे। सब भावोंको अतिक्रम करके दण्ड कमण्डल प्रभृति भिक्षुकोंकी उपासना सामग्रियोंको अल्प परिमाणसे ग्रहण करके परिभ्रमण और समस्त चराचर प्राणियोंके विषयमें समदर्शी होवे। (३२—४०)

जो लोग दूसरोंको उद्वेगयुक्त नहीं

विश्वास्यः सर्वभूतानामग्र्यो मोक्षविदुच्यते ॥ ४१ ॥
अनागतं च न ध्यायेन्नातीतमनुचिन्तयेत् ।
वर्त्तमानमुपेक्षेत कालाकांक्षी समाहितः ॥ ४२ ॥
न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेत्कचित् ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा किंचिद्दुष्टं समाचरेत् ॥ ४३ ॥
इन्द्रियाण्युपसंहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीहः सर्वतत्त्ववित् ॥ ४४ ॥
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥
निराशीर्निर्गुणः शान्तो निरासक्तो निराश्रयः ।
आत्मसङ्गी च तत्त्वज्ञो मुच्यते नात्र संशयः ॥ ४६ ॥
अपादपाणिपृष्ठं तदशिरस्कमनूदरम् ।
प्रहीणगुणकर्माणं केवलं विमलं स्थिरम् ॥ ४७ ॥
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दमेव च ।
अनुगम्यमनासक्तममांसमपि चैव यत् ॥ ४८ ॥
निश्चिन्तमव्ययं दिव्यं गृहस्थमपि सर्वदा ।
सर्वभूतस्थमात्मानं ये पश्यन्ति न ते मृताः ॥ ४९ ॥

करते और स्वयं किसीके निकट उद्विग्न न होकर सबके विश्वासपात्र होते हैं, वेही उत्तम मोक्षवित् कहके वर्णित हुआ करते हैं। वैसे मोक्षवित् मनुष्य कालाकांक्षी और समाहित होकर अनागत तथा अतीत विषयोंका अनुध्यान न करें और वर्त्तमान विषयमें उपेक्षा करें। नेत्र, मन और वचनके द्वारा किसी प्रकार दोष न करें और प्रत्यक्ष वा परोक्ष किसी दुष्ट विषयका आचरण न करें। सर्वतत्त्वज्ञ भिक्षुक मनुष्य अङ्ग सङ्कोच करनेवाले कूर्मकी भांति इन्द्रियोंको संकुचित करते हुए इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिको क्षीण करके निरीह निर्द्वन्द्व, निर्नमस्कार निःस्वाहाकार, निर्मम, निरहङ्कार, निर्विकार, निर्योगक्षेम, निराशी, निर्गुण, निरासक्त, निराश्रय, आत्मवान्, शान्त, आत्मसङ्गी तथा तत्त्वज्ञ होनेसे निश्चय मुक्त हुआ करते हैं। जो लोग हाथ, पाव, पीठ, सिर उदरसे गुण तथा कर्मविहीन, निर्मल, अद्वितीय, अविनाशी, गन्ध रस स्पर्श रूप और शब्द रहित अनुगम्य, अनासक्त, अमांस, निश्चिन्त, अव्यय, दिव्य

न तत्र क्रमते बुद्धिर्नेन्द्रियाणि न देवताः ।
वेदा यज्ञाश्च लोकाश्च न तपो न व्रतानि च ॥ ५० ॥
यत्र ज्ञानवतां प्राप्तिरलिङ्गग्रहणा स्मृता ।
तस्मादलिङ्गधर्मज्ञो धर्मतत्त्वमुपाचरेत् ॥ ५१ ॥
गृहधर्माश्रितो विद्वान्विज्ञानचरितं चरेत् ।
अमूढो मूढरूपेण चरेद्धर्ममदूषयन् ॥ ५२ ॥
यथैनमवमन्येरन्परे सततमेव हि ।
तथावृत्तश्चरेच्छान्तः सतां धर्मानकुत्सयन् ॥ ५३ ॥
य एवं वृत्तसंपन्नः स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च महाभूतानि पञ्च च ॥ ५४ ॥
मनोबुद्धिरहङ्कारमव्यक्तं पुरुषं तथा ।
एतत्सर्वं प्रसंख्याय यथावत्तत्त्वनिश्चयात् ॥ ५५ ॥
ततः स्वर्गमवाप्नोति विमुक्तः सर्वबन्धनैः ।
एतावदन्तवेलायां परिसंख्याय तत्त्ववित् ॥ ५६ ॥
ध्यायेदेकान्तमास्थाय मुच्यतेऽथ निराश्रयः ।
निर्मुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो वायुराकाशगो यथा ॥ ५७ ॥

गृहस्थ तथा सर्वभूतस्थ उस आत्माका दर्शन करते हैं वे मृत नहीं होते । उस आत्मामें बुद्धि, इन्द्रिय, देवता, वेद, यज्ञ, तपस्या, व्रत तथा सब लोक गमन नहीं कर सकते । (४१—५०)

ज्ञानियोंको दण्ड कमण्डलु प्रभृति चिन्ह धारण करना अनुचित होनेसे अलिङ्ग धर्मज्ञ मनुष्य धर्मतत्त्वाचरण करे । गृहधर्माश्रित विद्वान् मनुष्य विज्ञान चरित विषय आचरण करे और अमूढ होकर मूढरूपसे दूषित न करके धर्माचरण करें । फिर मानो भिक्षुक सदा धर्मकी निन्दा करनेवाली वृत्तिको अवलम्बन करके भी साधुओंके धर्मकी निन्दा न करके धर्माचरण करे । जो लोग ऐसी वृत्तिसे युक्त होते हैं, वेही उत्तम मुनि कहके वर्णित हुआ करते हैं । वे मुनि इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार अव्यक्त और पुरुष, इन सबकी प्रकृष्टरूपसे संख्या करके सब तत्त्वोंका यथावत् निश्चय करें । तत्त्ववित् पुरुष इन सब तत्त्वोंकी परिसंख्या करनेसे सब बन्धनोंसे मुक्त होकर स्वर्ग लाभ करते हैं । अनन्तर निर्जन स्थान अवलम्बन करके ध्यान करनेसे आकाशगामी वायुकी भांति

क्षीणकोशो निरातङ्कस्तथेदं प्राप्नुयात्परम् ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

ब्रह्मोवाच- संन्यासं तप इत्याहुर्वृद्धा निश्चितवादिनः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ज्ञानं ब्रह्म परं विदुः ॥ १ ॥
अतिदूरात्मकं ब्रह्म वेदविद्याव्यपाश्रयम् ।
निर्द्वन्द्वं निर्गुणं नित्यमचिन्त्यगुणमुत्तमम् ॥ २ ॥
ज्ञानेन तपसा चैव धीराः पश्यन्ति तत्परम् ।
निर्णिक्तमनसः पूता व्युत्क्रान्तरजसोऽमलाः ॥ ३ ॥
तपसा क्षेममध्वानं गच्छन्ति परमेश्वरम् ।
संन्यासनिरता नित्यं ये च ब्रह्मविदो जनाः ॥ ४ ॥
तपः प्रदीप इत्याहुराचारो धर्मसाधकः ।
ज्ञानं वै परमं विद्यात्संन्यासं तप उत्तमम् ॥ ५ ॥
यस्तु वेद निराधारं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयात् ।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ॥ ६ ॥
यो विद्वान्सहवासं च विवासं चैव पश्यति ।

निराश्रय तथा सर्वसङ्गसे निर्मुक्त होकर मुक्त होते और क्षीणकोष तथा निरातङ्क होकर परब्रह्मको प्राप्त हुआ करते हैं । (५१-५८)

आश्वमेधिकपर्वमें ४६ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ४७ अध्याय ।

ब्रह्मा बोले, निश्चितवादी वृद्ध लोग संन्यासको तपस्या कहा करते हैं और ब्रह्मयोनिस्थ ब्राह्मणगण ज्ञानको परब्रह्म बोध करते हैं। रजोगुणसे रहित, निर्मल चित्त पवित्र स्वभाववाले धीरगण ज्ञान तथा तपस्यासे अत्यन्त दूरात्मक वेद-विद्याके सहारे निर्द्वन्द्व, निर्गुण, नित्य अचिन्त्य गुणवाले उस अनुत्तम परब्रह्म का दर्शन किया करते हैं । संन्यासमें रत ब्रह्मवित् पुरुष तपस्याके सहारे परमेश्वरके मङ्गलमय पथमें गमन किया करते हैं । पण्डित लोग तपस्याको प्रदीप और आचारको धर्मसाधक कहा करते हैं, परन्तु संन्यासको उत्तम तपस्या और ज्ञानको सबसे उत्कृष्ट जानना चाहिये। जो पुरुष सब तत्त्वोंका निश्चय करते हुए बाधारहित ज्ञानस्वरूप सर्वभूतस्थ परमात्माको जान सकता है, वह सर्वत्र-गामी हुआ करता है। जो विद्वान् मनुष्य आत्माका सहवास, निवास, एकत्व

तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात्प्रतिमुच्यते ॥ ७ ॥
यो न कामयते किंचिन्न किंचिदवमन्यते ।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ८ ॥
प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतप्रधानवित् ।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९ ॥
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
निर्गुणं नित्यमद्वन्द्वं प्रशमे नैव गच्छति ॥ १० ॥
हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म जन्तुः शुभाशुभम् ।
उभे सत्यानृते हित्वा मुच्यते नात्र संशयः ॥ ११ ॥
अव्यक्तयोनिप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् ।
महाहङ्कारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ॥ १२ ॥
महाभूतविशालश्च विशेषयति शाखिनः ।
सदापत्रः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः ॥ १३ ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एनं छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः ॥१४॥
हित्वा सङ्गमयान्पाशान्मृत्युजन्मजरोदयान् ।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ १५ ॥

और अनेकत्व अवलोकन करता है, वह दुःखोंसे मुक्तिलाभ करनेमें समर्थ होता है। जो मनुष्य इस लोकमें विद्यमान रहके किसी विषयकी कामना अथवा किसीकी अवज्ञा नहीं करता, वह ब्रह्मत्व लाभ करता है। जो मनुष्य विधि, गुण, तत्त्व तथा सर्वभूतोंके प्रधानको जानके अहङ्कार वा ममताविहीन होता है, वह निश्चय ही मुक्त हुआ करता है। निर्द्वन्द्व, निर्नमस्कार, निःस्वधाकार पुरुष शम-गुणके द्वारा सब विषयों तथा सत्य मिथ्या, इन दोनोंको परित्याग करनेसे अवश्य ही मुक्ति लाभ कर सकता है। अव्यक्त जिसका मूल, बुद्धि महास्कन्ध, अहङ्कार वृक्ष, इन्द्रियें जिसके अंकुर वा कोटर हैं, महाभूत जिसका विस्तार विशेष, यतिवृन्द जिसकी शाखा हैं, सदा पुत्र पुष्प और शुभाशुभरूपी फलो-दययुक्त वह सनातन ब्रह्मवृक्ष सब भूतोंका आजीव्य है। (१–१४)

ज्ञानवान् मनुष्य तत्त्वज्ञानरूपी तलवारके द्वारा ऐसे ब्रह्मवृक्षको छेदन तथा भेद कर जन्म मृत्यु जरा तथा उदययुक्त सङ्गमय पाशोंको छेदन करते हुए

द्वाविमौ पक्षिणौ नित्यौ संक्षेपौ चाप्यचेतनौ ।
एताभ्यां तु परो योऽन्यश्चेतनावान्स उच्यते ॥ १६ ॥
अचेतनः सत्वसंख्याविमुक्तः सत्वात्परं चेतयतेऽन्तरात्मा ।
स क्षेत्रवित्सर्वसंख्यातबुद्धिर्गुणातिगो मुच्यते सर्वपापैः ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

ब्रह्मोवाच— कंचिद्ब्रह्ममयं वृक्षं कंचिद्ब्रह्मवनं महत् ।
कंचित्तु ब्रह्म चाव्यक्तं केचित्परमनामयम् ।
मन्यन्ते सर्वमप्येतदव्यक्तप्रभवाव्ययम् ॥ १ ॥
उच्छ्वासमात्रमपि चेद्योऽन्तकाले समो भवेत् ।
आत्मानमुपसङ्गम्य सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २ ॥
निमेषमात्रमपि चेत्संयम्यात्मानमात्मनि ।
गच्छत्यात्मप्रसादेन विदुषां प्राप्तिमव्ययाम् ॥ ३ ॥
प्राणायामैरथ प्राणान्संयम्य स पुनः पुनः ।

निर्मम और निरहङ्कारी होकर निश्चय ही मुक्त हुआ करते हैं। जीव और ईश्वर, ये दोनों पक्षी नित्य, सखा वा अचेतन हैं, इससे जो पृथक् है, वह चेतनावान् कहके वर्णित होता है। अचेतनकी भांति अहंबुद्धिगम्य जो जीव प्राणिसंख्यासे विमुक्त होकर बुद्धिके अतीत वस्तुको चेतनायुक्त करता है, वह क्षेत्रज्ञ नामक अन्तरात्मा ही समस्त बुद्धिका साक्षी है; वह गुणोंसे मुक्ति होनेपर सब दोषोंसे दूषित होता और गुणातिग होनेपर सब पापोंसे मुक्त हुआ करता है। (१४—१७)

आश्वमेधिकपर्वमें ४७ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ४८ अध्याय ।

ब्रह्मा बोले, कितने ही मनुष्य वृक्ष और वनरूपी जगत्को ब्रह्ममय कहके निर्देश करते हैं, कोई ब्रह्मको अव्यक्त निर्विकार परमात्मा कहते हैं और कोई कोई प्रकृतिको इस समस्त जगत्की उत्पत्ति और लयका कारण कहा करते हैं। जो पुरुष मृत्युकालमें निश्वास पतनकाल मात्र समदर्शी होते, वह हृदयके बीच परमात्माका दर्शन करके मुक्ति लाभ किया करते हैं। यदि केवल निमेष कालमात्र देहके बीच आत्माको संयत कर सके, तो उसे परमात्माकी कृपासे पण्डितोंकी अक्षय परम गति प्राप्त हुआ करती है। यदि कोई दश वा बारह बार प्राणायाम करते हुए

दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात्परन्ततः ॥ ४ ॥
एवं पूर्वं प्रसन्नात्मा लभते यद्यदिच्छति ।
अव्यक्तात्सत्वमुद्रिक्तममृतत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥
सत्वात्परतरं नान्यत्प्रशंसन्तीह तद्विदः ।
अनुमानाद्विजानीमः पुरुषं सत्वसंश्रयम् ॥ ६ ॥
न शक्यमन्यथा गन्तुं पुरुषं द्विजसत्तमाः ।
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
ज्ञानं त्यागोऽथ संन्यासः सात्विकं वृत्तमिष्यते ॥ ७ ॥
एतेनैवानुमानेन मन्यन्ते वै मनीषिणः ।
सत्वं च पुरुषश्चैव तत्र नास्ति विचारणा ॥ ८ ॥
आहुरेके च विद्वांसो ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः ।
क्षेत्रज्ञसत्वयोरैक्यमित्येतन्नोपपद्यते ॥ ९ ॥
पृथग्भूतं ततः सत्वमित्येतदविचारितम् ।
पृथग्भावश्च विज्ञेयः सहजश्चापि तत्त्वतः ॥ १० ॥

प्राणको बार बार संयत करनेमें समर्थ हो, तो वह चौबीस तत्त्वों तथा अव्यक्तातीत पञ्चविंश पुरुषको प्राप्त हुआ करता है; इस ही प्रकार पुरुष प्रसन्न होकर जो कुछ अभिलाष करे, उसे ही प्राप्त कर सकेगा; परन्तु जब अव्यक्त लाभके अनन्तर पुरुषमें सत्त्वगुण उदित होगा, तब वह अमृतत्त्व लाभ करेगा। १-५

हे द्विजसत्तमगण! मोक्षवित् पण्डित लोग सत्त्वके अतिरिक्त अन्य किसीको भी अत्यन्त उत्कृष्ट कहके प्रशंसा नहीं करते; मैं भी अनुमानसे पुरुषको सत्वगुणका अवलम्ब जानता हूं, क्यों कि जो पुरुष सतोगुणावलम्बी न होता, जो उसे कोई न जान सकता। क्षमा, धृति अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, ज्ञान, त्याग और संन्यास, इन सबको सात्त्विक वृत्ति जानो; इन वृत्तियोंके विशेष रीतिसे विदित होनेपर पुरुषको जाना जा सकता है। मनीषिगण इस ही प्रकार अनुमानके द्वारा सत्त्व तथा पुरुषमें अभेद बोध करते हैं, उसमें और विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। ज्ञानसिद्ध कोई कोई पण्डित ऐसा कहा करते हैं, कि सत्त्व और क्षेत्रज्ञ पुरुषका ऐक्य युक्तिसिद्ध नहीं हो सकता। पुरुषसे जो सत्त्व पृथक् है, इसमें विचार नहीं करना पडता, बरन, समुद्रकी तरङ्गसमान सत्त्व और पुरुषका पृथक् भाव स्वभाविक जानो। इस विषयमें पण्डित लोग

तथैवैकत्वनानात्वमिष्यते विदुषां नयः ।
मशकोदुम्बरे चैक्यं पृथक्त्वमपि दृश्यते ॥ ११ ॥
मत्स्यो यथाऽन्यः स्यादप्सु संप्रयोगस्तथा तयोः ।
संबन्धस्तोयबिन्दूनां पर्णे कोकनदस्य च ॥ १२ ॥
गुरुरुवाच— इत्युक्तवन्तस्ते विप्रास्तदा लोकपितामहम् ।
पुनः संशयमापन्नाः प्रपच्छुर्मुनिसत्तमाः ॥ १३ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥
ऋषय ऊचुः— को वा स्विदिह धर्माणामनुष्ठेयतमो मतः ।
व्याहतामिव पश्यामो धर्मस्य विविधां गतिम् ॥ १ ॥
ऊर्ध्वं देहाद्वदन्त्येके नैतदस्तीति चापरे ।
केचित्संशयितं सर्वं निःसंशयमथापरे ॥ २ ॥
अनित्यं नित्यमित्येके नास्त्यस्तीत्यपि चापरे ।
एकरूपं द्विधेत्येके व्यामिश्रमिति चापरे ॥ ३ ॥
मन्यन्ते ब्राह्मणा एव ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ।

ऐसी युक्ति दिया करते हैं, कि जैसे मशक और उडुम्बरका ऐक्य तथा पार्थक्य दीखता है, वैसे ही सत्व तथा पुरुषका एकत्व और अनेकत्व जानना चाहिये । और जिस प्रकार मछली तथा जलका पार्थक्य है, तथा जैसे पद्मपत्र और जलकी बूंदका सम्बन्ध है, सत्व और पुरुषका वैसा ही पार्थक्य तथा सम्बन्ध जानो । (६—१२)

गुरु बोला, जब लोकपितामह ब्रह्माने उन मुनिसत्तम विप्रोंसे ऐसा कहा, तब वे लोग फिर संशययुक्त होकर उनसे पूछने लगे । (१३)

आश्वमेधिकपर्वमें ४८ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ४९ अध्याय ।

ऋषिगण बोले, हे ब्रह्मन् ! सब धर्मोंके बीच कौन धर्म एकान्त अनुष्ठेय है ? क्यों कि हम लोग धर्मकी विविध-गतिको व्याहतरूपसे देखते हैं । कोई कोई आस्तिक कहते हैं, कि देहनाश होनेपर भी आत्मा निवास करता है; लोकायतगुण देहान्त होनेपर उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते; कोई कोई उस विषयमें संशय और कोई निश्चय किया करते हैं । मीमांसक लोग आत्मा को नित्य, तार्किक लोग अनित्य, शून्य वादीगण अस्ति, शून्यवादी लोग नास्ति कहा करते; योगाचारी लोग एकरूप

एकमेके पृथक्चान्ये बहुत्वमिति चापरे ॥ ४ ॥
देशकालावुभौ केचिन्नैतदस्तीति चापरे ।
जटाजिनधराश्चान्ये मुण्डाः केचिदसंवृताः ॥ ५ ॥
अस्नानं केचिदिच्छन्ति स्नानमप्यपरे जनाः ।
मन्यन्ते ब्राह्मणा देवा ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ६ ॥
आहारं केचिदिच्छन्ति केचिच्चानशने रताः ।
कर्म केचित्प्रशंसन्ति प्रशान्तिं चापरे जनाः ॥ ७ ॥
केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद्भोगान्पृथग्विधान् ।
धनानि केचिदिच्छन्ति निर्धनत्वमथापरे ।
उपास्यसाधनं त्वेके नैतदस्तीति चापरे ॥ ८ ॥
अहिंसानिरताश्चान्ये केचिद्धिंसापरायणाः ।
पुण्येन यशसा चान्ये नैतदस्तीति चापरे ॥ ९ ॥
सद्भावनिरताश्चान्ये केचित्संशयिते स्थिताः ।

और द्विरूप, परमाणुवादी अनेक रूप अर्थात् भिन्न वा अभिन्न कहा करते हैं। तत्वदर्शी ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण लोग एकमात्र ब्रह्मको विद्यमान समझते हैं; सगुण ब्रह्मोपासक मनुष्यगण ब्रह्मको पृथक् पृथक् ज्ञान करते हैं, परमाणुवादी लोग ब्रह्मका अनेकत्व स्वीकार किया करते हैं और ज्योतिर्विद लोग देशकाल दोनोंको ब्रह्म कहते हैं, वृद्ध लोग स्वप्नराज्यको मिथ्या चिद्विलासस्वरूप कहा करते हैं। (१—५)

कितने ही लोग जटाजिनधारी होकर ब्रह्मकी उपासना करनेमें प्रवृत्त होते हैं, कोई कोई मुण्डित तथा असंवृत होते हैं, कोई स्नान करके और कोई विना स्नानके ही उपासनामें प्रवृत्त हुआ करते हैं। तत्वदर्शी ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण लोग पवित्र आचारकी उपासना किया करते हैं। कोई कोई भोजन करके उपासना में प्रवृत्त होते और कोई निराहारी रहके ही उपासना किया करते हैं। कोई कोई धर्मकी प्रशंसा किया करते हैं। कोई देश तथा काल, कोई मोक्ष, कोई पृथग्विध भोगोंकी प्रशंसा करते हैं, कोई उपास्यके साधन धनको इच्छा करते, दूसरे लोग निर्धनत्वकी अभिलाष करते हैं और कोई पुरुष कुछ भी इच्छा नहीं करते। कोई कोई अहिंसामें रत, कोई हिंसापरायण होते हैं; कोई पुण्य और यशके निमित्त यत करते हैं, कोई यश और पुण्य कुछ भी स्वीकार नहीं करते। कोई कोई सद्भावमें रत, कोई संशयमें

दुःखादन्ये सुखादन्ये ध्यानमित्यपरे जनाः ॥ १० ॥
यज्ञमित्यपरे विप्राः प्रदानमिति चापरे ।
तपस्त्वन्ये प्रशंसन्ति स्वाध्यायमपरे जनाः ॥ ११ ॥
ज्ञानं संन्यासमित्येके स्वभावं भूतचिन्तकाः ।
सर्वमेके प्रशंसन्ति न सर्वमिति चापरे ॥ १२ ॥
एवं व्युत्थापिते धर्मे बहुधा विप्रबोधिते ।
निश्चयं नाधिगच्छामः संमूढाः सुरसत्तम ॥ १३ ॥
इदं श्रेय इदं श्रेय इत्येवं व्युत्थितो जनः ।
यो हि यस्मिन् रतो धर्मे स तं पूजयते सदा ॥ १४ ॥
तेन नोऽविहिता प्रज्ञा मनश्च बहुलीकृतम् ।
एतदाख्यातमिच्छामः श्रेयः किमिति सत्तम ॥ १५ ॥
अतः परं तु यद्गुह्यं तद्भवान्वक्तुमर्हति ।
सत्वक्षेत्रज्ञयोश्चापि संबन्धः केन हेतुना ॥ १६ ॥
एवमुक्तः स तैर्विप्रैर्भगवाँल्लोकभावनः ।
तेभ्यः शशंस धर्मात्मा याथातथ्येन बुद्धिमान ॥१७॥

इति श्रीम० श० सं० वै० आश्व० अनुगीता० गुरुशिष्यसंवादे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

स्थित होते हैं; कोई सुखके निमित्त और कोई दुःखके निमित्त ध्यान किया करते हैं। कोई कोई विप्र यज्ञ, कोई दान, कोई तपस्या और कोई स्वाध्यायकी प्रशंसा किया करते हैं। कोई ज्ञान, कोई संन्यास और वस्तु तत्त्व-विचारक कोई कोई पण्डित स्वभावकी प्रशंसा करते हैं, कोई सबकी कोई कोई एक विषयों-की प्रशंसा किया करते हैं। (५-१२)

हे सुरसत्तम ! इस ही प्रकार धर्म व्युत्थापित और अनेक प्रकारसे प्रबो-धित होनेपर हम लोग अज्ञानपूर्वक उसका निश्चय नहीं कर सकते हैं। लोगोंके बीच कोई यह कल्याणकारी है, कोई यही श्रेय है, ऐसा ही बोध करके जिसकी जिस धर्ममें प्रवृत्ति होती है वह सदा उसकी ही पूजा किया करता है। इसहीसे हम लोगोंकी बुद्धि विचलित तथा मन अनेक विषयोंमें दौडता है। हे सत्तम ! इसलिये कल्याण क्या है ? उसे आप हम लोगोंसे कहिये, हम लोग सुननेकी इच्छा करते हैं। इसके अन-न्तर जो गुह्य है, उसे और सत्त्व तथा क्षेत्रज्ञका किस कारणसे सम्बन्ध होता है, वह आपको कहना होगा। धर्मात्मा बुंद्धिमान् लोकभावन ब्रह्मा ब्राह्मणोंका

ब्रह्मोवाच— हन्त वः संप्रवक्ष्यामि यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।
गुरुणा शिष्यमासाद्य यदुक्तं तन्निबोधत ॥ १ ॥
समस्तमिह तच्छ्रुत्वा सम्यगेवावधार्यताम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामेतत्कृत्यतमं मतम् ॥ २ ॥
एतत्पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम् ।
ज्ञानं निःश्रेय इत्याहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ॥ ३ ॥
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।
हिंसापराश्च ये केचिद्ये च नास्तिकवृत्तयः ।
लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः ॥ ४ ॥
आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः ।
तेऽस्मिन्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः ॥ ५ ॥
कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः ।
अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥ ६ ॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि सत्वक्षेत्रज्ञयोर्यथा ।
संयोगो विप्रयोगश्च तन्निबोधत सत्तमाः ॥ ७ ॥

ऐसा वचन सुनके उन लोगोंसे यथार्थ रीतिसे कहने लगे। (१३-१७)

आश्वमेधिकपर्वमें ४९ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ५० अध्याय।

ब्रह्मा बोले, हे सत्तमगण! तुम लोगोंने मुझसे जो विषय पूछा है; गुरु योग्य शिष्यके समीप जिस विषयको कहा करता है; वही विषय मैं तुम लोगोंसे कहता हूं, सावधान होके सुनो। तुम लोग मेरे समीप उन विषयोंको सुनकर पूरी रीतिसे निश्चय करो। अहिंसाही सब प्राणियोंके विषयमें श्रेष्ठ कर्म है, यह साधुसम्मत तथा धर्मका वरिष्ठ लक्षण है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। निश्चितदर्शी वृद्धगण ज्ञानको मोक्ष कहते हैं, इसही निमित्त प्राणिवृन्द केवल ज्ञानके द्वारा सब पापोंसे मुक्त होसकते हैं और जो लोग हिंसापरायण, नास्तिक धर्मावलम्बी तथा लोग लोभ, मोहके वशवर्त्ती हैं; वे नरकगामी हुआ करते हैं। परन्तु जो सब मनुष्य अतन्द्रित होकर आशीर्युक्त समस्त कर्म करते हैं; वे इस लोकमें वारम्वार जन्म ग्रहण करते हुए प्रमुदित हुआ करते हैं। जो सब विपश्चितगण श्रद्धापूर्वक धर्म कर्म करते हैं, वे साधुदर्शी पुरुष आशीर्योग संयुक्त नहीं होते। (१—६)

हे सत्तमगण! सत्त्व और क्षेत्रज्ञका

विषयो विषयित्वं च संबन्धोऽयमिहोच्यते ।
विषयी पुरुषो नित्यं सत्वं च विषयः स्मृतः ॥ ८ ॥
व्याख्यातं पूर्वकल्पेन मशकोदुम्बरं यथा ।
भुज्यमानं न जानीते नित्यं सत्वमचेतनम् ॥
यस्त्वेवं तं विजानीते यो भुंक्ते यश्च भुज्यते ॥ ९ ॥
नित्यं द्वन्द्वसमायुक्तं सत्वमाहुर्मनीषिणः ।
निर्द्वन्द्वो निष्कलो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ॥१०॥
समं संज्ञानुगश्चैव स सर्वत्र व्यवस्थितः ।
उपभुंक्ते सदा सत्वमपः पुष्करपर्णवत् ॥ ११ ॥
सर्वैरपि गुणैर्विद्वान् व्यतिषक्तो न लिप्यते ।
जलबिन्दुर्यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः ॥ १२ ॥
एवमेवाप्यसंयुक्तः पुरुषः स्यान्न संशयः ।
द्रव्यमात्रमभूत्सत्वं पुरुषस्येति निश्चयः ॥ १३ ॥

जिस प्रकार संयोग तथा वियोग होता है, इसके अनन्तर मैं तुम लोगोंसे वह विषय कहता हूं, तुम लोग सावधान होकर सुनो। इस स्थलमें विषय और विषयीभाव सम्बन्ध कहा गया है, उसके बीच सत्वको विषय और पुरुषको विषयी जानो। जैसे पहले मशक तथा उडुम्बरका भोज्य भोक्तृभाव सम्बन्ध कहा गया है, वैसे ही इस स्थलमें भी सत्व और पुरुषका भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्ध वर्णित होता है। अचेतन तत्त्व भोक्ता पुरुषके द्वारा भुज्यमान होकर अपनेको नहीं जान सकता; परन्तु भोक्ता पुरुष मशककी भांति भुज्यमान सत्त्व तथा अपनेको जान सकता है। मनीषिगण सत्त्वको सर्वदा सुख दुःखादि द्वन्द्व समायुक्त कहते हैं और पुरुषको नित्य, निर्द्वन्द्व, निष्फल, निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ कहा करते हैं। सर्वत्र विद्यमान असङ्ग अधिष्ठानभूत वह परम पुरुष अध्यस्तभूत सत्वके समसंज्ञत्वको प्राप्त होकर सलिल उपभोगी कमलके पत्रकी भांति वह सदा सत्त्वको उपभोग किया करता है। (७-११)

विद्वान् पुरुष सब भांतिसे गुणके द्वारा व्यतिषक्त होनेपर भी पद्मिनीपत्र संस्थित चञ्चल जलबिन्दुकी भांति उसमें लिप्त नहीं होते; इसलिये पुरुषके असङ्ग होनेमें कुछ भी सन्देह नहीं है। ऐसा निश्चय है, कि सत्त्व पुरुषका द्रव्यमात्र है, सत्त्व और पुरुष, दोनों मिलकर द्रव्यमात्र हुआ करते हैं, कर्त्ता और

यथा द्रव्यं च कर्त्ता च संयोगोऽप्यनयोस्तथा ।
यथाप्रदीपमादाय कश्चित्तमसि गच्छति ॥
तथा सत्वप्रदीपेन गच्छन्ति परमैषिणः ॥ १४ ॥
यावद् द्रव्यं गुणस्तावत्प्रदीपः संप्रकाशते ।
क्षीणे द्रव्ये गुणे ज्योतिरन्तर्धानाय गच्छति ॥ १५ ॥
व्यक्तः सत्वगुणस्त्वेवं पुरुषोऽव्यक्त इष्यते ।
एतद्विप्रा विजानीत हन्त भूयो ब्रवीमि वः ॥ १६ ॥
सहस्रेणापि दुर्मेधा न बुद्धिमधिगच्छति ।
चतुर्थेनाप्यथांशेन बुद्धिमान् सुखमेधते ॥ १७ ॥
एवं धर्मस्य विज्ञेयं संसाधनमुपायतः ।
उपायज्ञो हि मेधावी सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ १८ ॥
यथाऽध्वानमपाथेयः प्रपन्नो मनुजः क्वचित् ।
क्लेशेन याति महता विनश्येदन्तराऽपि च ॥ १९ ॥

द्रव्यका जैसा सम्बन्ध है, सत्त्व तथा पुरुषका वैसाही सम्बन्ध जानो । जैसे कोई पुरुष दीपक लेकर अन्धकारके बीच गमन करता है, वैसेही परमपदके अभिलाषी मनुष्य सत्त्वरूपी प्रदीपके द्वारा प्रकाश करते हुए गमन किया करते हैं। जबतक तेल और बत्ती विद्यमान रहती है तबतक दीपक जलता है, परन्तु तेल और बत्तीके क्षीण होनेपर ज्योति अन्तर्हित होजाती है । जैसे प्रदीप तेज और बत्तीसे युक्त होकर गृह, आकाश तथा अपनेको प्रकाशित करता है और तेल तथा बत्तीके क्षीण होनेपर स्वयं अन्तर्हित होता है, वैसे सत्त्वगुण कर्मके द्वारा चरम-वृत्तिरूपसे अभिव्यक्त होकर पुरुष तथा अपनेको पृथक्रूपसे प्रकाशित करता है और कर्म शेष होनेपर स्वयं अन्तर्हित हुआ करता है; परन्तु पुरुष अव्यक्त भावसे निवास करता है । हे विप्रगण! यह विषय तुम लोगोंसे विशेष रीतिसे कहता हूं औरभी तुम लोगोंसे अन्य प्रकार कहता हूं, सुनो । (१२—१६)

दुर्मेधा मनुष्य सहस्रवार उपदिष्ट होनेपर भी नहीं समझ सकता, परन्तु बुद्धिमान मनुष्य चौथे अंशके उपदिष्ट होनेसे ही उस-विषयको हृदयङ्गम करके सुख अनुभव किया करता है । इसही प्रकार उपायके द्वारा धर्मका साधन विशेष रीतिसे मालूम करे, क्यों कि उपायज्ञ मेधावी मनुष्यही अत्यन्त सुख भोग किया करता है । जैसे पाथेय

तथा कर्मसु विज्ञेयं फलं भवति वा न वा ।
पुरुषस्यात्मनिःश्रेयः शुभाशुभनिदर्शनम् ॥ २० ॥
यथा च दीर्घमध्वानं पद्भ्यामेव प्रपद्यते ।
अदृष्टपूर्वं सहसा तत्त्वदर्शनवर्जितः ॥ २१ ॥
तमेव च यथाऽध्वानं रथेनेहाशुगामिना ।
गच्छत्यश्वप्रयुक्तेन तथा बुद्धिमतां गतिः ॥ २२ ॥
ऊर्ध्वं पर्वतमारुह्य नान्ववेक्षेत भूतलम् ।
रथेन रथिनं पश्य क्लिश्यमानमचेतनम् ॥ २३ ॥
यावद्रथपथस्तावद्रथेन स तु गच्छति ।
क्षीणे रथपदे विद्वान् रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ २४ ॥
एवं गच्छति मेधावी तत्त्वयोगविधानवित् ।
परिज्ञाय गुणज्ञश्च उत्तरादुत्तरोत्तरम् ॥ २५ ॥
यथार्णवं महाघोरमप्लवः संप्रगाहते ।
बाहुभ्यामेव संमोहाद्वधं वांछत्यसंशयम् ॥ २६ ॥

विहीन प्रसन्नचित्त मनुष्य महत्कष्टसे मार्गमें गमन करता है और बीचमें विनष्ट भी होता है उसही प्रकार जानना चाहिये, कि ज्ञानके साधनभूत कर्मसे फल उत्पन्न होते तथा विनष्ट होते हैं। परन्तु पुरुषका चित्त स्थिर कल्याण विषयमें शुभाशुभ दृष्टान्त है, अर्थात् पुरुषका बहुतसा पुण्य सञ्चय होनेपर सम्पूर्ण योग लाभ होता हैं और अल्प पुण्य सञ्चय होनेसे मृत्युलाभ हुआ करता है। तत्व दर्शनसे हीन मनुष्य अदृष्टके अनुसार पैरके सहारे जिस दीर्घ पथमें गमन करता है, तत्वदर्शी पुरुष शीघ्रगामी रथके द्वारा उस पथमें गमन किया करते हैं; इसलिये बुद्धिमानोंकी ऐसीही गति जाननी चाहिये। पुरुष पर्वतके ऊपर चढके भूतकालको न देखे अर्थात् परमपद प्राप्त होनेपर शास्त्र तथा उसके विहित कर्मको परित्याग करे। (१७—२४)

विद्वान मनुष्य कर्मसे क्लेशित आत्माको अवलोकन करते हुए जबतक कर्म नष्ट न हों, तबतक कर्म मार्गमें ही गमन करे; परन्तु कर्म नष्ट होनेपर उस कर्म मार्गको परित्याग करके ज्ञानपथमें गमन करे। तत्वयोग विधानज्ञ गुणज्ञ मेधावी मनुष्य इस ही प्रकार संन्यासाश्रमसे धीरे धीरे उत्तरोत्तर अर्थात् हंस परमहंस आश्रमको पूर्ण रीतिसे मालूम करके गमन करे। नौकारहित पुरुष

नावा चापि यथा प्राज्ञो विभागज्ञः स्वरित्रया ।
अश्रान्तः सलिले गच्छेच्छीघ्रं संतरते ह्रदम् ॥ २७ ॥
तीर्णो गच्छेत्परं पारं नावमुत्सृज्य निर्ममः ।
व्याख्यातं पूर्वकल्पेन यथा रथपदातिनोः ॥ २८ ॥
स्नेहात्संमोहमापन्नो नाविदाशो यथा तथा ।
ममत्वेनाभिभूतः संस्तत्रैव परिवर्तते ॥ २९ ॥
नावं न शक्यमारुह्य स्थले विपरिवर्त्तितुम् ।
तथैव रथमारुह्य नाप्सु चर्या विधीयते ॥ ३० ॥
एवं कर्म कृतं चित्रं विषयस्थं पृथक् पृथक् ।
यथा कर्म कृतं लोके तथैतानुपपद्यते ॥ ३१ ॥
यन्नैव गन्धिनो रस्यं न रूपस्पर्शशब्दवत् ।
मन्यन्ते मुनयो बुद्ध्या तत्प्रधानं प्रचक्षते ॥ ३२ ॥
तत्र प्रधानमव्यक्तमव्यक्तस्य गुणो महान् ।
महत्प्रधानभूतस्य गुणोऽहंकार एव च ॥ ३३ ॥
अहंकारात्तु संभूतो महाभूतकृतो गुणः ।

मोहके वशमें होकर महाघोर समुद्र पार होनेके निमित्त बाहुसे तैरते हुए थककर निश्चय ही मृत्युको प्राप्त होता है; परन्तु विभागवित प्राज्ञ पुरुष आरत्रयुक्त नौकाके सहारे जलमें गमन करते हुए अश्रान्तभावसे शीघ्रही ह्रदसे पार हुआ करता है। मैंने जिस प्रकार पहले रथी और पदातिका दृष्टान्त कहा है, वैसे ही ममतारहित मनुष्य ह्रदसे पार होकर नौका परित्यागके किनारे गमन करे। जैसे नाववाला कैवर्त्त स्नेहके वशमें मूढ होकर नौकामें ही परिभ्रमण करता है, वैसे ही पुरुष ध्यानयोग प्राप्त न कर सकनेसे ममतासे मूढ होकर उस गुरुके निकटमेंही परिभ्रमण किया करता है। जैसे पुरुष नौकामें चढके स्थलके बीच भ्रमण नहीं कर सकता; वैसे ही रथपर चढके जलके बीच विचरनेमें समर्थ नहीं होता। इसही प्रकार कर्मकृत फलको अनेक रूप तथा आश्रमस्थ फलको पृथक् पृथक् जानो; इसलोकमें जिस प्रकार कर्म अनुष्ठित होता है, उस ही प्रकार फल प्राप्त हुआ करता है। २५-३१

हे द्विजगण! जो गन्ध, रस, रूप स्पर्श और शब्दयुक्त नहीं है, विद्वान् मुनिगण उसे प्रधान कहा करते हैं। वही प्रधान अव्यक्त है, उस अव्यक्त प्रधान का गुण महान् है; उसे महत् कहा है; उस

पृथक्त्वेन हि भूतानां विषया वै गुणाः स्मृताः ॥ ३४ ॥
बीजधर्मं तथाऽव्यक्तं प्रसवात्मकमेव च ।
बीजधर्मा महानात्मा प्रसवश्चेति नः श्रुतम् ॥ ३५ ॥
बीजधर्मस्त्वहंकारः प्रसवश्च पुनः पुनः ।
बीजप्रसवधर्माणि महाभूतानि पञ्च वै ॥ ३६ ॥
बीजधर्मिण इत्याहुः प्रसवं च प्रकुर्वते ।
विशेषाः पञ्चभूतानां तेषां चित्तं विशेषणम् ॥ ३७ ॥
तत्रैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।
त्रिगुणं ज्योतिरित्याहुरापश्चापि चतुर्गुणाः ॥ ३८ ॥
पृथ्वी पञ्चगुणा ज्ञेया चरस्थावरसंकुला ।
सर्वभूतकरी देवी शुभाशुभनिदर्शिनी ॥ ३९ ॥
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एते पञ्च गुणा भूमेर्विज्ञेया द्विजसत्तमाः ॥ ४० ॥
पार्थिवश्च सदा गन्धो गन्धश्च बहुधा स्मृतः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून्गुणान् ॥ ४१ ॥
इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरोऽम्लः कटुस्तथा ।

महत्रूपी प्रधान भूतका गुण अहङ्कार है। अहङ्कारसे आकाश आदि पञ्च महाभूत उत्पन्न हुए हैं, शब्दादि प्रत्येक विषय पञ्चमहा भूतोंसे गुण कहके वर्णित हुए हैं; उस अव्यक्तको बीजधर्मा अर्थात् सृष्टिका कारण तथा प्रसवात्मक अर्थात् कार्यरूपी जानो। हमने ऐसा सुना है, कि महात्मा महान्, अहङ्कार तथा पञ्च-महाभूत, ये सभी बीजधर्मा तथा प्रसव-धर्मा कहके वर्णित हुए हैं। पण्डित लोग शब्दादि विषयोंको भी बीजधर्मा तथा प्रसवधर्मा कहा करते हैं; चित्त उनका व्यावर्त्तक होता है। उन पंच महाभूतोंके बीच आकाशमें एक गुण, वायुमें दो गुण, अग्निमें तीन गुण, जलमें चार गुण और सर्वभूतकारी शुभा-शुभ निदर्शनी चराचरोंसे परिपूरित पृथिवी पञ्चगुणयुक्त कहके वर्णित हुई है। (३२—३९.)

हे द्विजगण! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांचोंको पृथिवीका गुण जानो। गन्ध पार्थिव गुण है, वह गन्ध अनेक प्रकारसे वर्णित हुआ है; उस गन्धके सब गुणोंको विस्तारपूर्वक तुम लोगोंसे कहता हूं। इष्ट, अनिष्ट, मधुर, अम्ल, कटु, निर्हारी, संहत, स्निग्ध,

निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ॥ ४२ ॥
एवं दशविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्ध इत्युत ।
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं द्रवश्चापां गुणाः स्मृताः ॥४३॥
रसज्ञानं तु वक्ष्यामि रसस्तु बहुधा स्मृतः ।
मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायो लवणस्तथा ॥ ४४ ॥
एवं षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः ।
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ॥ ४५ ॥
ज्योतिषश्च गुणो रूपं रूपं च बहुधा स्मृतम् ।
शुक्लं कृष्णं तथा रक्तं नीलं पीतारुणं तथा ॥ ४६ ॥
ह्रस्वं दीर्घं कृशं स्थूलं चतुरस्रं तु वृत्तवत् ।
एवं द्वादशविस्तारं तेजसो रूपमुच्यते ॥ ४७ ॥
विज्ञेयं ब्राह्मणैर्वृद्धैर्धर्मज्ञैः सत्ववादिभिः ।
शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरुच्यते ॥ ४८ ॥
वायोश्चापि गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः ।
रूक्षः शीतस्तथैवोष्णः स्निग्धो विशद एव च ॥४९॥
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो दारुणो मृदुः ।
एवं द्वादशविस्तारो वायव्यो गुण उच्यते ॥ ५० ॥
विधिवद्ब्राह्मणैः सिद्धैर्धर्मज्ञैस्तत्वदर्शिभिः ॥ ५१ ॥

रूक्ष और विशद, यह दश प्रकार पार्थिव गन्ध जानो, शब्द, स्पर्श, रूप और द्रव्य, ये सब जलके गुण कहे गये हैं; परन्तु रस अनेक प्रकारका कहा गया है, रसज्ञान विस्तारपूर्वक कहता हूं। मीठा, खट्टा, कडवा, तीखा, कषैला और खारा ये छः प्रकार रसके विस्तार हैं, ये जलमय कहके वर्णित हुए हैं। शब्द, स्पर्श और रूप, ये तीनों अग्निके गुण कहे गये हैं। अग्निका गुण रूप अनेक प्रकारका है। सफेद, कृष्ण, लाल, नीला, पीला, अरुण, ह्रस्व, दीर्घ, कृश, स्थूल, चोकान और गोलाकार ये बारह प्रकारके अग्निके रूप वर्णित हुए हैं। इसही प्रकार शब्द और स्पर्श ये सब सत्यवादी ब्राह्मणोंके द्वारा विशेष रीतिसे विहित हुए हैं। वायुमें दो गुण हैं, वायुका गुण स्पर्शके कई भेद वर्णित हुए हैं। रूखा, शीतल, उष्ण, स्निग्ध, विशद, कठिन, चिकना, श्लक्ष्ण, पिच्छल, दारुण, मृदु और विस्तार, ये बारह प्रकार वायुके गुण हैं, इन्हें तत्त्वदर्शी

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव च स्मृतः ।
तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून्गुणान् ॥ ५२ ॥
षड्जर्षभः स गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा ।
अतः परं तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा ।
इष्टश्चानिष्टशब्दश्च संहतः प्रविभागवान् ॥ ५३ ॥
एवं दशविधो ज्ञेयः शब्द आकाशसम्भवः ।
आकाशमुत्तमं भूतमहङ्कारस्ततः परः ॥ ५४ ॥
अहङ्कारात्परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा ततः परः ।
तस्मात्तु परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ॥ ५५ ॥
परापरज्ञो भूतानां विधिज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा गच्छत्यात्मानमव्ययम् ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

ब्रह्मोवाच— भूतानामथ पञ्चानां यथैषामीश्वरं मनः ।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मन एव च ॥ १ ॥
अधिष्ठाता मनो नित्यं भूतानां महतां तथा ।
बुद्धिरैश्वर्यमाचष्टे क्षेत्रज्ञश्च स उच्यते ॥ २ ॥

धर्मज्ञ सिद्ध ब्राह्मणगण विधिपूर्वक जानते हैं । (४०—५१)

इसके अतिरिक्त हमने ऐसा सुना है, कि उन भूतोंके बीच आकाशमें भी एक गुण शब्द वर्णित हुआ है, उस शब्दके कई गुणोंको विस्तार पूर्वक कहता हूं । षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, निषाद, धैवत, इष्ट, अनिष्ट, विभागी और संहत ये दश प्रकारके शब्द आकाशसे उत्पन्न हुए हैं । सब भूतोंके बीच आकाश उत्तम है, आकाशसे उत्तम अहङ्कार; अहङ्कारसे श्रेष्ठ बुद्धि, उससे श्रेष्ठ आत्मा, आत्मासे श्रेष्ठ अव्यक्त और अव्यक्तसे पुरुषको श्रेष्ठ जानो, जो लोग सब भूतोंके परापर तथा सब कर्मोंकी विधिको विशेष रीतिसे जानते हैं, वे सब भूतोंके आत्मभूत आत्मास्वरूप होकर अव्यय परमात्माको प्राप्त हुआ करते हैं । (५२–५६)

आश्वमेधिकपर्वमें ५० अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ५१ अध्याय ।

ब्रह्मा बोले, मन पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति स्थिति और विनाशके विषयमें प्रभु होता है । मन पञ्चभूत तथा महतका

इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते सदश्वानिव सारथिः ।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः क्षेत्रज्ञे युज्यते सदा ॥ ३ ॥
महदश्वसमायुक्तं बुद्धिसंयमनं रथम् ।
समारुह्य स भूतात्मा समन्तात्परिधावति ॥ ४ ॥
इन्द्रियग्रामसंयुक्तो मनःसारथिरेव च ।
बुद्धिसंयमनो नित्यं महान्ब्रह्ममयो रथः ॥ ५ ॥
एवं यो वेत्ति विद्वान्वै सदा ब्रह्ममयं रथम् ।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥ ६ ॥
अव्यक्तादिविशेषान्तं सहस्थावरजङ्गमम् ।
सूर्यचन्द्रप्रभालोकं ग्रहनक्षत्रमण्डितम् ॥ ७ ॥
नदीपर्वतजालैश्च सर्वतः परिभूषितम् ।
विविधाभिस्तथा चाद्भिः सततं समलंकृतम् ॥ ८ ॥
आजीवं सर्वभूतानां सर्वप्राणभृतां गतिः ।
एतद्ब्रह्मवनं नित्यं तस्मिंश्चरति क्षेत्रवित् ॥ ९ ॥
लोकेऽस्मिन्यानि सत्वानि त्रसानि स्थावराणि च ।

अधिष्ठाता है, बुद्धि मनका ऐश्वर्य कहके वर्णित हुई है; वह मन ही क्षेत्रज्ञ कहा गया है । जैसे सारथी उत्तम घोड़ोंको नियुक्त करता है, वैसे ही मन इन्द्रियों को नियुक्त किया करता है और इन्द्रियें बुद्धिको सर्वदा क्षेत्रज्ञसे युक्त करती हैं। भूतात्मा शरीराभिमानी जीव महत और इन्द्रिय रूपी घोडे तथा बुद्धिरूपी सारथीयुक्त रथमें चढके सर्वत्र भ्रमण करता है । जिसमें वशीभूत इन्द्रियग्राम अश्वरूपसे नियुक्त, मन सारथी और बुद्धि प्रतोदस्वरूप हैं, उस ब्रह्मके विकारभूत शरीरको महारथ जानना चाहिये । जो ध्यानशील विद्वान् मनुष्य इस ब्रह्ममय रथको विशेष रीतिसे जानता है, वह प्राणियोंके बीच कदापि मोहित नहीं होता । आदिभूत अव्यक्त और शेषस्वरूप विशेषयुक्त स्थावर तथा जङ्गममय, चन्द्रमा और सूर्यकी प्रभासे प्रकाशित, ग्रह तथा नक्षत्रमण्डलसे मण्डित, नदी और पर्वतोंसे परिभूषित, जलके द्वारा विविध रूपसे समलंकृत, सर्वभूतोंके आजीवभूत तथा सब प्राणियोंकी गतिस्वरूप परब्रह्म सदा विराजित है; उसमें ही क्षेत्रज्ञ विचरण किया करता है । (१—९)

इस लोकमें जो सब स्थावर और जङ्गम प्रभृति सत्त्व हैं, पहले वेही सब

तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते पश्चाद्भूतकृता गुणाः ।
गुणेभ्यः पञ्च भूतानि एष भूतसमुच्छ्रयः ॥ १० ॥
देवा मनुष्या गन्धर्वाः पिशाचासुरराक्षसाः ।
सर्वे स्वभावतः सृष्टा न क्रियाभ्यो न कारणात् ॥११॥
एते विश्वसृजो विप्रा जायन्तीह पुनः पुनः ।
तेभ्यः प्रसूतास्तेष्वेव महाभूतेषु पञ्चसु ।
प्रलीयन्ते यथाकालमूर्मयः सागरे यथा ॥ १२ ॥
विश्वसृग्भ्यस्तु भूतेभ्यो महाभूतास्तु सर्वशः ।
भूतेभ्यश्चापि पञ्चभ्यो मुक्तो गच्छेत्परां गतिम् ॥१३॥
प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत्प्रभुः ।
तथैव देवानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥
तपसश्चानुपूर्व्येण फलमूलाशिनस्तथा ।
त्रैलोक्यं तपसा सिद्धाः पश्यन्तीह समाहिताः ॥१५॥
औषधान्यगदादीनि नानाविद्याश्च सर्वशः ।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपो मूलं हि साधनम् ॥ १६ ॥
यद्दुरापं दुराम्नायं दुराधर्षं दुरन्वयम् ।

लीन होते हैं, फिर सूक्ष्म शरीरारम्भक पञ्चमहाभूत, तिसके अनन्तर भूतोंके सब शब्दादि गुण लीन हुआ करते हैं; येही दो शरीररूपी भूतसमुच्छ्रय जानो । देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पिशाच, असुर और राक्षस, ये सब स्वभावसे उत्पन्न होते हैं, क्रिया वा कारणसे उत्पन्न नहीं होते । हे विप्रगण ! जैसे समुद्रमें तरङ्ग उठके यथा समयमें उसहीमें लीन होती है, वैसे ही ये विश्वस्रष्टा मरीच्यादि प्रजापतिगण पञ्च महाभुतोंसे उत्पन्न होकर उन्हींमें लीन हुआ करते हैं । परन्तु विश्व स्रष्टा भूतोंके लय होनेपर पञ्च महाभूत विद्यमान रहते हैं, पुरुष उन्हीं भूतोंसे मुक्त होनेसे परम गति प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।(१०–१३)

प्रभु प्रजापतिने इच्छा मात्रसे ही इस समस्त जगत्की सृष्टि की है, ऋषियोंने तपस्याके द्वारा देवत्व लाभ किया है। फल-मूल भोजन करनेवाले सिद्ध मुनिगण साधनके अनुसार तपस्यासे समाहित होकर त्रैलोक्यदर्शन करते हैं; रोगनाशक औषधी तथा अनेक-विद्या तपस्याके द्वारा सिद्ध होती हैं, क्यों कि तपस्याकोही साधनका मूल जानो । जो दुष्प्राप्य इन्द्रपदादि, दुराम्नाय वेदादि,

तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ १७ ॥
सुरापो ब्रह्महा स्तेयी भ्रूणहा गुरुतल्पगः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ १८ ॥
मनुष्याः पितरो देवाः पशवो मृगपक्षिणः ।
यानि चान्यानि भूतानि त्रसानि स्थावराणि च ॥१९॥
तपःपरायणा नित्यं सिद्ध्यन्ते तपसा सदा ।
तथैव तपसा देवा महामाया दिवं गताः ॥ २० ॥
आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः ।
अहङ्कारसमायुक्तास्ते सकाशे प्रजापतेः ॥ २१ ॥
ध्यानयोगेन शुद्धेन निर्ममा निरहङ्कृताः ।
आप्नुवन्ति महात्मानो महान्तं लोकमुत्तमम् ॥ २२ ॥
ध्यानयोगमुपागम्य प्रसन्नमतयः सदा ।
सुखोपचयमव्यक्तं प्रविशन्त्यात्मवित्तमाः ॥ २३ ॥
ध्यानयोगादुपागम्य निर्ममा निरहङ्कृताः ।
अव्यक्तं प्रविशन्तीह महतां लोकमुत्तमम् ॥ २४ ॥
अव्यक्तादेवसम्भूतः समसंज्ञां गतः पुनः ।

दुराधर्ष व्याघ्र आदि और प्रलयादि दुरन्वय है, वे सब तपस्यासे सिद्ध हुआ करते हैं; इसलिये तपस्या दुरतिक्रमणीय है। जो लोग सुरा पीनेवाले, ब्रह्महत्यारे, स्तेयी, भ्रूणहत्यारे तथा गुरुतल्पगामी हैं, वें भी सुतप्त तपस्याके द्वारा उन सब पापोंसे मुक्त हुआ करते हैं। मनुष्य पितर, देव, सब पशु-पक्षी, और स्थावर जंङ्गम सब भूत सदा तपस्या-परायण होनेसे उस तपोबलसे ही सिद्ध होते हैं। महामायाविशिष्ट देवताओंने उस तपोबलसे ही स्वर्गमें गमन किया है। (१०—२०)

जो लोग अतन्द्रित होकर आशीर्युक्त कर्म करते हैं, वे अहङ्कार समायुक्त होकर प्रजापतिके निकट निवास करते हैं। जो सब महात्मा केवल ध्यानयोग करते हैं, वे ममतारहित तथा निरहङ्कारी होकर उत्तम महत लोक पाते हैं, प्रसन्न-चित्त उत्तम आत्मवित पुरुष ध्यानयोग पर्याप्त होनेसे सदा लौकिक प्रकृतिमें प्रविष्ट हुआ करते हैं। ममतारहित निर-हङ्कारी मनुष्य ध्यानयोगसे निवृत्त होने पर इस लोकमें अव्यक्तमें प्रवेश करते हुए उत्तम महत् लोक पाते हैं; प्राणिवृन्द प्रकृतिसे उत्पन्न होके फिर प्रकृति संज्ञा

तमोरजोभ्यां निर्मुक्तः सत्वमास्थाय केवलम् ॥ २५ ॥
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वं सृजति निष्कलम् ।
क्षेत्रज्ञ इति तं विद्यायस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६ ॥
चित्तं चित्तादुपागम्य मुनिरासीत संयतः ।
यच्चित्तं तन्मयो वश्यं गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ २७ ॥
अव्यक्तादिविशेषान्तमविद्यालक्षणं स्मृतम् ।
निबोधत तथाहीदं गुणैर्लक्षणमित्युत ॥ २८ ॥
द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ २९ ॥
कर्म केचित्प्रशंसन्ति मन्दबुद्धिरता नराः ।
ये तु वृद्धा महात्मानो न प्रशंसन्ति कर्म ते ॥ ३० ॥
कर्मणा जायते जन्तुर्मूर्तिमान् षोडशात्मकः ।
पुरुषं ग्रसते विद्या तद्ग्राह्यममृताशिनाम् ॥ ३१ ॥
तस्मात्कर्मसु निःस्नेहा ये के चित्पारदर्शिनः ।
विद्यामयोऽयं पुरुषो न तु कर्ममयः स्मृतः ॥ ३२ ॥

लाभ करते हैं। जो पुरुष रज और तमोगुणसे निर्मुक्त होता है, वह केवल सतोगुण अवलम्बन करते हुए सब पापोंसे रहित होकर समस्त जगत्को उत्पन्न करता है; उसे ही निष्कल क्षेत्रज्ञ ईश्वर जानो। उसे जो पुरुष जान सकता है, वही वेद जाननेमें समर्थ होता है। मननशील मनसे संपूर्ण ज्ञानको लाभ करते हुए सदा संयत होके रहें, और जो चित्त है, उसे ही मन कहते हैं, इस मनके वशीभूत होनेपर इसेही सनातन ईश्वर जानना चाहिये; अव्यक्तादि विशेषान्त अविद्याके लक्षण कहके वर्णित हुए हैं; तुम लोग गुणके द्वारा इन लक्षणोंको विशेष रीतिसे मालूम करो। (२१—२८)

"मम" ये दो अक्षर मृत्यु और "न मम" इन तीन अक्षरोंको शाश्वत ब्रह्म जानो, मन्दबुद्धिरत कोई कोई मनुष्य कर्मकी प्रशंसा करते हैं, जो महात्मा ज्ञानवृद्ध हैं, वे कर्मकी प्रशंसा नहीं करते हैं। पञ्चमहाभूत और एकादश विकार, यह षोडषात्मक जीव कर्मके द्वारा मूर्त्तिमान होकर जन्म ग्रहण किया करता है। विद्या जो उस षोडशात्मक पुरुषको ग्रास करती है, उसे ही अमृताशियोंका उपादेय ग्राह्यविषय जानो। इस ही निमित्त पारदर्शी पुरुष कर्मसे

य एवममृतं नित्यमग्राह्यं शश्वदक्षरम् ।
वश्यात्मानमसंश्लिष्टं यो वेद न मृतो भवेत् ॥ ३३ ॥
अपूर्वमकृतं नित्यं य एनमविचारिणम् ।
य एवं विन्देदात्मानमग्राह्यममृताशनम् ॥
अग्राह्योऽमृतो भवति स एभिः कारणैर्ध्रुवः ॥ ३४ ॥
अयोज्य सर्वसंस्कारान्संयम्यात्मानमात्मनि ।
स तद्ब्रह्म शुभं वेत्ति यस्माद्भूयो न विद्यते ॥ ३५ ॥
प्रसादे चैव सत्वस्य प्रसादं समवाप्नुयात् ।
लक्षणं हि प्रसादस्य यथा स्यात्स्वप्नदर्शनम् ॥ ३६ ॥
गतिरेषा तु मुक्तानां ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः ।
प्रवृत्तयश्च याः सर्वाः पश्यन्ति परिणामजाः ॥ ३७ ॥
एषा गतिर्विरक्तानामेष धर्मः सनातनः ।
एषा ज्ञानवतां प्राप्तिरेतद् वृत्तमनिन्दितम् ॥ ३८ ॥
समेन सर्वभूतेषु निस्पृहेण निराशिषा ।
शक्त्या गतिरियं गन्तुं सर्वत्र समदर्शिना ॥ ३९ ॥
एतद्वः सर्वमाख्यातं मया विप्रर्षिसत्तमाः ।
एवमाचरत क्षिप्रं ततः सिद्धिमवाप्स्यथ ॥ ४० ॥

प्रीति न करें; यह पुरुष विद्यामय है कर्ममय नहीं है; जो लोग इस ही प्रकार उस अमृत, नित्य, अग्राह्य परमश्रेष्ठ अविनाशी जितचित्त और असङ्ग पुरुषको जानते हैं। वे अमर हुआ करते हैं। जो मनुष्य अपूर्व, अकृत्रिम, नित्य अपराजित आत्माको प्राप्त सकता है, वह इन सब कारणोंसे ही निश्चय अग्राह्य और अमृत हुआ करता है। जो पुरुष चित्तके मैत्रादि संस्कारोंको दृढ करते हुए हृदयपुण्डरीकमें चित्तको निरोध कर सकता है, वही उस सर्वाधिक शुभङ्कर ब्रह्मको जाननेमें समर्थ होता है; चित्त प्रसन्न रहनेसे पुरुष शान्ति लाभ कर सकता है; स्वप्न दर्शन चित्तप्रसादका लक्षण जानो। ज्ञानसिद्ध मुक्त पुरुषोंकी गति इस ही प्रकार जाननी चाहिये; योगिगण परिणामज प्रवृत्तियोंका दर्शन किया करते हैं; संसारसे विरत प्राणियोंकी ऐसी गति और यह सनातन धर्म, ज्ञानवान् पुरुषोंकी प्राप्ति तथा अनिन्दित वृत्तियोंको इस ही प्रकार जानना योग्य है। सर्वभूतोंमें सम, निस्पृह, निराशिष और सर्वत्र समदर्शी मनुष्य निज शक्तिके अनुसार

गुरुरुवाच— इत्युक्तास्ते तु मुनयो गुरुणा ब्रह्मणा तथा।
कृतवन्तो महात्मानस्ततो लोकमवाप्नुवन् ॥ ४१ ॥
त्वमप्येतन्महाभाग यथोक्तं ब्रह्मणो वचः।
सम्यगाचर शुद्धात्मंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ ४२ ॥
वासुदेव उवाच- इत्युक्तः स तदा शिष्यो गुरुणा धर्ममुत्तमम्।
चकार सर्वं कौन्तेय ततो मोक्षमवाप्तवान् ॥ ४३ ॥
कृतकृत्यश्च स तदा शिष्यः कुरुकुलोद्वह।
तत्पदं समनुप्राप्तो यत्र गत्वा न शोचति ॥ ४४ ॥
अर्जुन उवाच-को न्वसौ ब्राह्मणः कृष्ण कश्च शिष्यो जनार्दन।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद्वै तत्त्वमाचक्ष्व मे विभो ॥ ४५ ॥
वासुदेव उवाच- अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि मे।
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनंजय ॥ ४६ ॥
मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्नित्यं कुरुकुलोद्वह।
अध्यात्ममेतच्छ्रुत्वा त्वं सम्यगाचर सुव्रत ॥ ४७ ॥

इस गतिको प्राप्त कर सकते हैं। २९-४०

गुरु बोला, उन महात्मा मुनियोंने गुरु ब्रह्माका ऐसा वचन सुनके इस ही प्रकार आचरण करके उत्तम लोकोंको पाया था। हे महाभाग ! मैंने यह सब तुमसे ब्रह्माका वचन यथार्थ रीतिसे कहा है। हे शुद्धात्मन् ! तुमभी इसका पूरी रीतिसे आचरण करनेसे सिद्धिलाभ कर सकोगे। (४१—४२)

श्रीकृष्ण बोले, हे कुन्तीनन्दन ! उस समय जब गुरुने शिष्यसे उस ही प्रकार अनुत्तम धर्म कहा, तब शिष्यने उन सब धर्मोंका पूरी रीतिसे आचरण करके मुक्ति लाभ किया। हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! जिस स्थानमें जानेसे पुरुष शोक नहीं करता, शिष्य उसही पदको पाकर कृतकृत्य हुआ। (४३—४४)

अर्जुन बोले, हे कृष्ण ! आपने जिस ब्राह्मण और शिष्यकी कथा कही है, वह ब्राह्मण तथा शिष्य कौन है ? हे विभु ! यदि यह विषय मेरे सुनने योग्य हो, तो आप कृपा करके इसे मेरे समीप विस्तारपूर्वक कहिये। (४५)

श्रीकृष्ण बोले, हे महाबाहो ! मुझे गुरु और मेरे मनको शिष्य जानो; हे धनञ्जय ! तुम्हारे ऊपर मेरी प्रीति रहनेसे मैंने तुमसे यह गुप्त विषय कहा है। हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! यदि मेरे विषयमें तुम्हारी नित्य प्रीति हो, तो तुम इस अध्यात्म-विषयको मेरे समीप सुनके

ततस्त्वं सम्यगाचीर्णे धर्मेऽस्मिन्नरिकर्षण ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो मोक्षं प्राप्स्यसि केवलम् ॥ ४८ ॥
पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते ।
मया तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु ॥ ४९ ॥
मया तु भरतश्रेष्ठ चिरदृष्टः पिता प्रभुः ।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि संमते तव फाल्गुन ॥ ५० ॥
वैशम्पायन उवाच– इत्युक्तवचनं कृष्णं प्रत्युवाच धनंजयः ।
गच्छावो नगरं कृष्ण गजसाह्वयमद्य वै ॥ ५१ ॥
समेत्य तत्र राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
समनुज्ञाप्य राजानं स्वां पुरीं यातुमर्हसि ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

॥ गुरुशिष्यसंवादः समाप्तः ॥

वैशम्पायन उवाच– ततोऽभ्यनोदयत्कृष्णो युज्यतामिति दारुकम् ।
मुहूर्तादिव चाचष्ट युक्तमित्येव दारुकः ॥ १ ॥
तथैव चानुयात्रादि चोदयामास पाण्डवः ।

इसका पूरी रीतिसे आचरण करो । हे अरिकर्षण ! तुम इस धर्मको पूरी रीतिसे आचरण करनेपर सब पापोंसे मुक्त होकर कैवल्यमोक्ष लाभ करोगे । हे महाबाहो ! पहले युद्धके समयमें इस ही विषयको मैंने तुमसे कहा था, इस निमित्त इस विषयमें मन संयोग करो । परन्तु मैंने बहुत समयसे प्रभु पिताका दर्शन नहीं किया, अब उन्हें देखनेकी अभिलाष होती है । हे भरतश्रेष्ठ ! इसलिये तुम्हें इस विषयमें सम्मति देनी योग्य है । (४६–५०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जब कृष्णने अर्जुनसे इतनी कथा कही, तब धनञ्जयने कहा, हे कृष्ण ! आओ, हम लोग अब इस नगरसे हस्तिनापुरको चलें, फिर आप वहां धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको राज्यपालन करनेकी आज्ञा देकर निज पुरी में गमन करियेगा । (५१–५२)

आश्वमेधिकपर्वमें ५१ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ५२ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर कृष्णने दारुकको रथमें अश्व जोतनेकी आज्ञा दी, दारुक मुहूर्तभरके बीच रथमें घोडोंको जोतकर कृष्णसे

सज्जयध्वं प्रयास्यामो नगरं गजसाह्वयम् ॥ २ ॥
इत्युक्ताः सैनिकास्ते तु सज्जीभूता विशांपते ।
आचख्युः सज्जमित्येवं पार्थायामिततेजसे ॥ ३ ॥
ततस्तौ रथमास्थाय प्रयातौ कृष्णपाण्डवौ ।
विकुर्वाणौ कथाश्चित्राः प्रीयमाणौ विशांपते ॥ ४ ॥
रथस्थं तु महातेजा वासुदेवं धनंजयः ।
पुनरेवाब्रवीद्वाक्यमिदं भरतसत्तम ॥ ५ ॥
त्वत्प्रसादाज्जयः प्राप्तो राज्ञा वृष्णिकुलोद्वह ।
निहताः शत्रवश्चापि प्राप्तं राज्यमकण्टकम् ॥ ६ ॥
नाथवन्तश्च भवता पाण्डवा मधुसूदन ।
भवन्तं प्लवमासाद्य तीर्णाः स्म कुरुसागरम् ॥ ७ ॥
विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसत्तम ।
तथा त्वामभिजानामि यथा चाऽहं भवान्मतः ॥ ८ ॥
त्वत्तेजःसंभवो नित्यं भूतात्मा मधुसूदन ।
रतिः क्रीडामयी तुभ्यं माया ते रोदसी विभो ॥ ९ ॥
त्वयि सर्वमिदं विश्वं यदिदं स्थाणुजङ्गमम् ।

बोला, ' रथ तैयार है। ' इधर पाण्डुपुत्र अर्जुन अनुगामी सैनिक पुरुषोंसे बोले, हम लोग हस्तिनापुरमें जायंगे, तुम लोग सुसज्जित होके रहो। हे पृथ्वीनाथ! सैनिक पुरुष अमित तेजस्वी पृथापुत्र अर्जुनकी आज्ञानुसार सुसज्जित होकर उनसे बोले, कि हम लोग सज्जित हुए हैं। हे पृथ्वीपति! तिसके अनन्तर कृष्ण और अर्जुन प्रसन्नचित्तसे रथपर चढके आपसमें अनेक प्रकारकी वार्ता करते हुए नगरकी ओर चले। (१-४)

हे भरतसत्तम! महातेजस्वी धनञ्जय उस रथमें स्थित वसुदेवपुत्र कृष्णसे फिर इस प्रकार कहने लगे। हे वृष्णिकुलोद्वह! आपकी कृपासे सब शत्रु मारे गये और राजा युधिष्ठिरने अकण्टक राज्य लाभ करके जय पाई है। हे मधुसूदन!! आप पाण्डवोंके नाथ हैं, पाण्डव लोग प्लवस्वरूप आपको पाके कुरुसागरसे पार हुए हैं। हे विश्वात्मन्! हे विश्वकर्मन्! हे विश्वसत्तम! आपको नमस्कार है; मैं आपको जिस प्रकार जानता हूं, आप वैसे ही हैं। हे मधुसूदन! भूतात्मा नित्य आपके तेजसे उत्पन्न होता है। हे विभु! रति आपकी क्रीडामयी लीला है और द्युलोक तथा

त्वं हि सर्वं विकुरुषे भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥ १० ॥
पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव मधुसूदन ।
हसितं तेऽमला ज्योत्स्ना ऋतवश्चेन्द्रियाणि ते ॥ ११ ॥
प्राणो वायुः सततगः क्रोधो मृत्युः सनातनः ।
प्रसादे चापि पद्मा श्रीर्नित्यं त्वयि महामते ॥ १२ ॥
रतिस्तुष्टिर्धृतिः क्षान्तिर्मतिः कान्तिश्चराचरम् ।
त्वमेवेह युगान्तेषु निधनं प्रोच्यसेऽनघ ॥ १३ ॥
सुदीर्घेणाऽपि कालेन न ते शक्या गुणा मया ।
आत्मा च परमात्मा च नमस्ते नलिनेक्षण ॥ १४ ॥
विदितो मे सुदुर्धर्ष नारदाद्देवलात्तथा ।
कृष्णद्वैपायनाच्चैव तथा कुरुपितामहात् ॥ १५ ॥
त्वयि सर्वं समासक्तं त्वमेवैको जनेश्वरः ।
यच्चानुग्रहसंयुक्तमेतदुक्तं त्वयानघ ॥ १६ ॥
एतत्सर्वमहं सम्यगाचरिष्ये जनार्दन ।
इदं चाद्भुतमत्यन्तं कृतमस्मत्प्रियेप्सया ॥ १७ ॥
यत्पापो निहतः संख्ये कौरव्यो धृतराष्ट्रजः ।

भूलोक आपकी माया है। स्थावर-जङ्गमके सहित यह समस्त जगत् आपमें ही प्रतिष्ठित है, आप ही सब भूतोंको चार भांतिसे विभक्त किया करते हैं। (५—१०)

हे मधुसूदन! पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, निर्मल जोत्स्ना, छहों ऋतु और इन्द्रियें, ये सब आपकी हांसी हैं। हे मतिमन्! सदा गमनशील वायु आपका प्राण है, क्रोध सनातन मृत्यु है, पद्मालया लक्ष्मी आपमें नित्य विद्यमान रहती हैं। हे अनघ! आप रति, तुष्टि, धृति, क्षान्ति, मति, कान्ति और समस्त चराचर हैं, इन सबको इस काल तथा प्रलय-कालमें संहार किया करते हैं। हे कमलनेत्र! मैं अनन्त कालमें भी आपके गुणोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हूं, आप ही आत्मा और आप ही परमात्मा हैं, इसलिये आपको नमस्कार है। हे दुर्धर्ष! मैंने नारद, देवल, कृष्णद्वैपायन और कुरुपितामह भीष्मके निकट आपको जाना है। आपमें सब वस्तु समासक्त हैं, आप ही एकमात्र जनेश्वर हैं; आपने कृपा करके जो सब विषय मुझसे कहा है, मैं उसका पूरी रीतिसे आचरण करूंगा; आपने मेरे हितके लिये यह

त्वया दग्धं हि तत्सैन्यं मया विजितमाहवे ॥ १८ ॥
भवता तत्कृतं कर्म येनावाप्तो जयो मया।
दुर्योधनस्य संग्रामे तव बुद्धिपराक्रमैः ॥ १९ ॥
कर्णस्य च वधोपायो यथावत्संप्रदर्शितः।
सैन्धवस्य च पापस्य भूरिश्रवस एव च ॥ २० ॥
अहं च प्रीयमाणेन त्वया देवकिनन्दन।
यदुक्तस्तत्करिष्यामि न हि मेऽत्र विचारणा ॥ २१ ॥
राजानं च समासाद्य धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
चोदयिष्यामि धर्मज्ञ गमनार्थं तवाऽनघ ॥ २२ ॥
रुचितं हि ममैतत्ते द्वारकागमनं प्रभो।
अचिरादेव द्रष्टा त्वं मातुलं मे जनार्दन ॥ २३ ॥
बलदेवं च दुर्धर्षं तथाऽन्यान्वृष्णिपुंगवान्।
एवं संभाषमाणौ तौ प्राप्तौ वारणसाह्वयम् ॥ २४ ॥
तथा विविशतुश्चोभौ संप्रहृष्टनराकुलम्।
तौ गत्वा धृतराष्ट्रस्य गृहं शक्रगृहोपमम् ॥ २५ ॥
ददृशाते महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।

अत्यन्त अद्भुत कर्म किया है। धृतराष्ट्रपुत्र पापात्मा दुर्योधन जो युद्धमें मारा गया, आपनेही उसकी सेना जलाई है। मैंने जो युद्धमें विजय पाई है, वह आपकी बुद्धि तथा पराक्रमसे ही दुर्योधनके युद्धमें मुझे जय प्राप्त हुई है, ये सब कार्य तुम्हारे ही द्वारा पूरे हुए हैं। (११-१९)

कर्ण, पापात्मा सिन्धुराज जयद्रथ और भूरिश्रवाके वधकी उपाय तुम्हारे ही द्वारा प्रदर्शित हुई। हे देवकीनन्दन! आपने प्रसन्नचित्त होकर मुझसे जो कहा है, मैं वही करूंगा; इसमें मुझे कुछ भी विचार नहीं है। हे अनघ! मैं धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके निकट जाकर तुम्हारे गमन करनेके निमित्त उनसे निवेदन करूंगा। हे प्रभु! आपके द्वारकागमन विषयमें मुझे भी अभिलाष होती है। हे जनार्दन! आप शीघ्र ही उस मेरे मातुल वसुदेव, दुर्धर्ष बलदेव तथा अन्यान्य वृष्णिपुङ्गवोंका दर्शन करेंगे। २०-२४

अनन्तर वे कृष्णार्जुन, दोनों इसी प्रकार वार्तालाप करते हुए हस्तिनापुरमें पहुंचकर प्रहृष्ट जनसमूहसे परिपूरित उस पुरीके बीच प्रविष्ट हुए। हे महाराज! श्रीकृष्ण और अर्जुनने इन्द्रभवन-सदृश धृतराष्ट्रके गृहमें जाकर प्रजानाथ

विदुरं च महाबुद्धिं राजानं च युधिष्ठिरम् ॥ २६ ॥
भीमसेनं च दुर्धर्षं माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
धृतराष्ट्रमुपासीनं युयुत्सुं चापराजितम् ॥ २७ ॥
गान्धारीं च महाप्रज्ञां पृथां कृष्णां च भामिनीम् ।
सुभद्राद्याश्च ताः सर्वा भरतानां स्त्रियस्तथा ॥ २८ ॥
ददृशाते स्त्रियः सर्वा गान्धारीपरिचारिकाः ।
ततः समेत्य राजानं धृतराष्ट्रमरिंदमौ ॥ २९ ॥
निवेद्य नामधेये स्वे तस्य पादावगृह्णताम् ।
गान्धार्याश्च पृथायाश्च धर्मराजस्य चैव हि ॥ ३० ॥
भीमस्य च महात्मानौ तथा पादावगृह्णताम् ।
क्षत्तारं चाऽपि संगृह्य पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ॥ ३१ ॥
तैः सार्धं नृपतिं वृद्धं ततस्तौ पर्युपासताम् ।
ततो निशि महाराजो धृतराष्ट्रः कुरूद्वहान् ॥ ३२ ॥
जनार्दनं च मेधावी व्यसर्जयत वै गृहान् ।
तेऽनुज्ञाता नृपतिना ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ ३३ ॥
धनंजयगृहानेव ययौ कृष्णस्तु वीर्यवान् ।

धृतराष्ट्र, महाबुद्धिमान् विदुर, राजा युधिष्ठिर, दुर्धर्ष भीम, माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव, धृतराष्ट्रके समीप बैठे हुए अपराजित युयुत्सु, महाबुद्धिमती गान्धारी, पृथा, भामिनी द्रौपदी, सुभद्रा प्रभृति भरतकुलकी स्त्रियोंको देखा । तिसके अनन्तर अरिंदमन वासुदेव और अर्जुन, दोनों उस राजा धृतराष्ट्रके निकट अपना अपना नाम सुनाकर उनके दोनों चरण ग्रहण किये । अनन्तर गान्धारी, पृथा, धर्मराज युधिष्ठिर और भीमके दोनों चरण ग्रहण किये । फिर विदुरको आलिङ्गन करते हुए कुशल पूंछके उनके सहित बूढे राजा धृतराष्ट्रकी उपासना करने लगे । अनन्तर महाराज मेधावी धृतराष्ट्रने रात्रिके समयमें शयन करनेके लिये युधिष्ठिर प्रभृति कुरूद्वह और जनार्दन कृष्णके निमित्त गृह विभाग कर दिया । वे लोग राजा धृतराष्ट्रके द्वारा शयन करनेकी आज्ञा पाकर निज निज गृहमें गये, परन्तु वीर्यवान् कृष्णने धनञ्जयके गृहमें गमन किया।(२४–३४)

अर्जुनके सहायवान् मेधावी कृष्णने धनञ्जयके गृहमें सब प्रकारकी सामग्रियोंके द्वारा विधिपूर्वक पूजित होकर उस स्थानमें शयन किया । रात्रिके

तत्रार्चितो यथान्यायं सर्वकामैरुपस्थितः ॥ ३४ ॥
कृष्णः सुष्वाप मेधावी धनंजयसहायवान् ।
प्रभातायां तु शर्वर्यां कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ॥३५॥
धर्मराजस्य भवनं जग्मतुः परमार्चितौ ।
यत्रास्ते स सहामात्यो धर्मराजो महाबलः ॥ ३६ ॥
तौ प्रविश्य महात्मानौ तद्गृहं परमार्चितम् ।
धर्मराजं ददृशतुर्देवराजमिवाश्विनौ ॥ ३७ ॥
समासाद्य तु राजानं वार्ष्णेयकुरुपुङ्गवौ ।
निषीदतुरनुज्ञातौ प्रीयमाणेन तेन तौ ॥ ३८ ॥
ततः स राजा मेधावी विवक्षू प्रेक्ष्य तावुभौ ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो वचनं राजसत्तमः ॥ ३९ ॥
युधिष्ठिर उवाच- विवक्षू हि युवां मन्ये वीरौ यदुकुरूद्वहौ ।
ब्रूत कर्तास्मि सर्वं वां न चिरान्मा विचार्यताम् ॥४०॥
इत्युक्तः फाल्गुनस्तत्र धर्मराजानमब्रवीत् ।
विनीतवदुपागम्य वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४१ ॥

अनन्तर प्रभात होनेपर श्रीकृष्ण और अर्जुन प्रातःकृत्य करके अर्चित होकर जिस स्थानमें महाबल धर्मराज मन्त्रियोंके सहित निवास करते थे, उस गृहमें उपस्थित हुए। महात्मा कृष्ण और अर्जुन धर्मराजके अत्यन्त सुशोभित गृहमें प्रवेश करके इन्द्रका दर्शन करनेवाले अश्विनीकुमारोंकी भांति उनका दर्शन करने लगे। वृष्णि और कुरुपुङ्गव कृष्णार्जुन राजा युधिष्ठिरके निकट जाकर प्रसन्नचित्तसे उनके द्वारा अनुज्ञात होकर बैठे। तिसके अनन्तर वाग्मिवर मेधावी राजा युधिष्ठिर भाषणोन्मुख कृष्ण और अर्जुनको देखकर कहने लगे। (३४-३९)

युधिष्ठिर बोले, हे वीरवर यदुकुरूद्वह कृष्णार्जुन! मुझे मालूम होता है, कि तुम लोग कुछ कहोगे, इसलिये वक्तव्य विषयमें विचार न करके शीघ्र कहो। तुम लोग जैसा कहोगे, मैं वही करूंगा। वाक्यविशारद फाल्गुन अर्जुन धर्मराजका ऐसा वचन सुनकर उनके निकट जाके विनीतभावसे कहने लगे। महाराज! प्रतापवान् श्रीकृष्णचन्द्रको द्वारकासे आये बहुत समय बीत गया, अब आपकी अनुमति होनेसे ये पिता-माताके दर्शनके निमित्त द्वारकापुरीमें जानेकी इच्छा करते हैं। हे महावीर! यदि

अयं चिरोषितो राजन् वासुदेवः प्रतापवान् ।
भवन्तं समनुज्ञाप्य पितरं द्रष्टुमिच्छति ॥ ४२ ॥
स गच्छेदभ्यनुज्ञातो भवता यदि मन्यसे ।
आनर्तनगरीं वीरस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४३ ॥
युधिष्ठिर उवाच– पुण्डरीकाक्ष भद्रं ते गच्छ त्वं मधुसूदन ।
पुरीं द्वारवतीमद्य द्रष्टुं शूरसुतं प्रभो ॥ ४४ ॥
रोचते मे महाबाहो गमनं तव केशव ।
मातुलश्चिरदृष्टो मे त्वया देवी च देवकी ॥ ४५ ॥
समेत्य मातुलं गत्वा बलदेवं च मानद ।
पूजयेथा महाप्राज्ञ मद्वाक्येन यथार्हतः ॥ ४६ ॥
स्मरेथाश्चापि मां नित्यं भीमं च बलिनां वरम् ।
फाल्गुनं सहदेवं च नकुलं चैव मानद ॥ ४७ ॥
आनर्त्तानवलोक्य त्वं पितरं च महाभुज ।
वृष्णींश्च पुनरागच्छेर्हयमेधे ममाऽनघ ॥ ४८ ॥
स गच्छ रत्नान्यादाय विविधानि वसूनि च ।
यच्चाप्यन्यन्मनोज्ञं ते तदप्यादत्स्व सात्वत ॥ ४९ ॥
इयं च वसुधा कृत्स्ना प्रसादात्तव केशव ।

आप सम्मत होकर इन्हें आज्ञा दें, तो ये आनर्तनगरीकी ओर गमन करें, इसलिये आपको अनुमति देनी उचित है । (४०—४२)

युधिष्ठिरके बोले, हे पुण्डरीकाक्ष मधुसूदन ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम आज शूरसुत वसुदेवका दर्शन करनेके लिये द्वारका नगरीमें जाओ । हे महाबाहु केशव ! तुमने मेरे मामा वसुदेव और देवकी देवीका बहुत समयसे दर्शन नहीं किया, इसीसे तुम्हारे गमन विषयमें मुझे अभिलाष होती है । हे महाप्राज्ञ ! तुम मेरे मामा वसुदेव और बलदेवके निकट जाकर उनकी यथायोग्य पूजा करना । हे मानद ! तुम सदा मुझे और बलिश्रेष्ठ भीम, फाल्गुन अर्जुन, सहदेव और नकुलको स्मरण करना । हे महाभुज ! तुम आनर्तनगरवासी प्रजागण, पिता वसुदेव और वृष्णिवंशियोंको देखकर मेरे अश्वमेध यज्ञमें फिर आना । हे सात्वत ! विविध रत्न, धन तथा दूसरी जिन वस्तुओंके लिये तुम्हारी इच्छा हो, तुम उन्हें ग्रहण करके गमन करो । हे केशव ! तुम्हारी कृपासे ही यह समुद्रके

अस्मानुपगता वीर निहताश्चापि शात्रवः ॥ ५० ॥
एवं ब्रुवति कौरव्ये धर्मराजे युधिष्ठिरे।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५१ ॥
तवैव रत्नानि धनं च केवलं धरा तु कृत्स्ना तु महाभुजाद्य वै।
यदस्ति चान्यद् द्रविणं गृहे मम त्वमेव तस्येश्वर नित्यमीश्वरः ॥ ५२ ॥
तथेत्यथोक्तः प्रतिपूजितस्तदा गदाऽग्रजो धर्मसुतेन वीर्यवान्।
पितृष्वसारं त्ववदद्यथाविधि संपूजितश्चाप्यगमत्प्रदक्षिणम् ॥ ५३ ॥
तया स सम्यक् प्रतिनन्दितस्ततस्तथैव सर्वैर्विदुरादिभिस्तथा।
विनिर्ययौ नागपुराद्गदाऽग्रजो रथेन दिव्येन चतुर्भुजः स्वयम् ॥ ५४ ॥
रथे सुभद्रामधिरोप्य भाविनीं युधिष्ठिरस्यानुमते जनार्दनः।
पितृष्वसुश्चापि तथा महाभुजो विनिर्ययौ पौरजनाभिसंवृतः ॥ ५५ ॥
तमन्वयाद्वानरवर्यकेतनः ससात्यकिर्माद्रवतीसुतावपि।
अगाधबुद्धिर्विदुरश्च माधवं स्वयं च भीमो गजराजविक्रमः ॥ ५६ ॥
निवर्तयित्वा कुरुराष्ट्रवर्धनांस्ततः स सर्वान्विदुरं च वीर्यवान्।
जनार्दनो दारुकमाह सत्वरः प्रचोदयाश्वानिति सात्यकिं तथा ॥ ५७ ॥

सहित पृथ्वी हमारे हस्तगत हुई और सब शत्रु मारे गये हैं। (४५-५०)

कुरुपति धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र कहने लगे। श्रीकृष्ण बोले, हे महाभुज! यह पृथिवी, रत्न और सब धन तुम्हारा है। मेरे गृहमें जो सब अन्यान्य धन है, तुम ही उस समस्त धनके स्वामी हो। (५१—५२)

अनन्तर बलवान् गदाग्रज श्रीकृष्णचन्द्रने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके द्वारा प्रतिपूजित तथा उस ही प्रकार उक्त होकर पितृष्वसा कुन्तीकी विधिपूर्वक प्रदक्षिणा करते हुए उससे कहके भली भांति सम्मानित होकर गमन किया। अनन्तर चतुर्भुज गदाग्रज कृष्ण कुन्ती और विदुर प्रभृति मनुष्योंसे प्रतिनन्दित होकर दिव्य रथमें चढके नागपुरसे बाहिर हुए। महाभुज जनार्दन युधिष्ठिर तथा पितृष्वसा कुन्तीकी अनुमतिके अनुसार निज भगिनी सुभद्राको रथपर चढाके पुरवासियोंके बीच घिरकर हस्तिनापुरसे बाहिर हुए। कपिध्वज (अर्जुन), सात्यकि, माद्रवतीपुत्र नकुल-सहदेव, अगाधबुद्धि विदुर और गजराज-विक्रम भीमसेन उस माधवके अनुगामी हुए। अनन्तर जनार्दनने कुरुराष्ट्रवर्धन भीमादि तथा विदुरको लौटाकर दारुक

ततो ययौ शत्रुगणप्रमर्दनः शिनिप्रवीरानुगतो जनार्दनः ।
यथा निहत्यारिगणं शतक्रतुर्दिवं तथाऽऽनर्तपुरीं प्रतापवान् ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि कृष्णप्रयाणे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

वैशम्पायन उवाच– तथा प्रयान्तं वार्ष्णेयं द्वारकां भरतर्षभाः ।
परिष्वज्य न्यवर्तन्त सानुयात्राः परंतपाः ॥ १ ॥
पुनः पुनश्च वार्ष्णेयं पर्यष्वजत फाल्गुनः ।
आचक्षुर्विषयाच्चैनं स ददर्श पुनः पुनः ॥ २ ॥
कृच्छ्रेणैव तु तां पार्थो गोविन्दे विनिवेशिताम् ।
संजहार ततो दृष्टिं कृष्णश्चाप्यपराजितः ॥ ३ ॥
तस्य प्रयाणे यान्यासन्निमित्तानि महात्मनः ।
बहून्यद्भुतरूपाणि तानि मे गदतः शृणु ॥ ४ ॥
वायुर्वेगेन महता रथस्य पुरतो ववौ ।
कुर्वन्निःशर्करं मार्गं विरजस्कमकण्टकम् ॥ ५ ॥
ववर्ष वासवश्चैव तोयं शुचि सुगन्धि च ।
दिव्यानि चैव पुष्पाणि पुरतः शार्ङ्गधन्वनः ॥ ६ ॥

और सात्यकिको शीघ्र रथ चलानेके लिये आज्ञा दी। (५६—५७)

अनन्तर जैसे इन्द्र शत्रुओंको मारके स्वर्गपुरमें गमन करते हैं, वैसे ही अरिगणप्रमर्दन प्रतापवान् जनार्दनने शत्रुओंको संहार करके सात्यकीके सङ्ग आनर्तपुरीमें गमन किया। (५८)

आश्वमेधिकपर्वमें ५२ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ५३ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, वृष्णिकुल-नन्दन कृष्णके द्वारकाकी ओर गमन करनेपर परन्तप भरतश्रेष्ठ अनुयात्रिक-गण उन्हें आलिङ्गन करके उनके समीपसे निवृत्त हुए। फाल्गुन अर्जुन वृष्णि-वंशीय कृष्णको बार बार आलिङ्गन करके जबतक वह नेत्रोंसे दीख पडते थे, तबतक उन्हें बार बार देखने लगे; अनन्तर अर्जुनने गोविन्दमें निवेशित निज दृष्टिको अत्यन्त कष्टसे संहार की और अपराजित कृष्णने भी अति कष्टसे निज दृष्टि निवारण की। (१—३)

महात्मा कृष्णके चलनेके समयमें जो सब अद्भुत निमित्त प्रकट हुए थे, वह सब विषय मैं कहता हूं, तुम सुनो। वायु रथके अगाडी सारे मार्गको कङ्कड, धूलि और कांटोंसे रहित करके महावेग-

स प्रयातो महाबाहुः समेषु मरुधन्वसु ।
ददर्शाथ मुनिश्रेष्ठमुत्तङ्कममितौजसम् ॥ ७ ॥
स तं संपूज्य तेजस्वी मुनिं पृथुललोचनः ।
पूजितस्तेन च तदा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ ८ ॥
स पृष्टः कुशलं तेन संपूज्य मधुसूदनम् ।
उत्तङ्को ब्राह्मणश्रेष्ठस्ततः पप्रच्छ माधवम् ॥ ९ ॥
कच्चिच्छौरे त्वया गत्वा कुरुपाण्डवसद्म तत् ।
कृतं सौभ्रात्रमचलं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १० ॥
अपि संधाय तान्वीरानुपावृत्तोऽसि केशव ।
संबन्धिनः स्वदयितान्सततं वृष्णिपुंगव ॥ ११ ॥
कच्चित्पाण्डुसुताः पञ्च धृतराष्ट्रस्य चात्मजाः ।
लोकेषु विहरिष्यन्ति त्वया सह परंतप ॥ १२ ॥
स्वराष्ट्रे ते च राजानः कच्चित्प्राप्स्यन्ति वै सुखम् ।
कौरवेषु प्रशान्तेषु त्वया नाथेन केशव ॥ १३ ॥
या मे संभावना तात त्वयि नित्यमवर्तत ।
अपि सा सफला तात कृता ते भरतान्प्रति ॥ १४ ॥

पूर्वक प्रवाहित होने लगा; इन्द्र शार्ङ्ग-धन्वा कृष्णके रथके अगाडी सुगन्धित उत्तम शीतल जल तथा दिव्य फूलोंकी वर्षा करने लगा। अनन्तर महाबाहु कृष्णने समतल मरुभूमिमें गमन करते हुए अमिततेजस्वी मुनिश्रेष्ठ उत्तङ्कका दर्शन किया। विशालनेत्रवाले तेजस्वी कृष्णने मुनिकी पूजा करके अनामय कुशल प्रश्न किया। ब्राह्मणश्रेष्ठ उत्तङ्क कृष्णके द्वारा कुशल पूछे जानेपर माधवकी पूजा करते हुए पूछने लगे। (१०—९)

हे शौरि! आपने जो कुरुपाण्डवोंके गृहमें जाकर अचल सौभ्रात्र किया है, वह सब मेरे निकट वर्णन करो। हे वृष्णि-पुंगव केशव! आप अपने सदा प्रिय-सम्बन्धी उन वीरोंको एकत्रित करके आये हैं न? हे परन्तप! पाण्डुके पांचों पुत्र और धृतराष्ट्रके सब पुत्र आपके सहित विहार करते हैं न? हे केशव! आपके प्रभु होकर कौरव कुलकी सान्त्वना करनेसे सब राजा निज राज्यके बीच सुख भोग करेंगे न? हे तात! मेरी जो सम्भावना तुममें नित्य निवास करती है, तुम भरतकुलके विषयमें उसे सफल किया है न? (१०—१४)

×

श्रीभगवानुवाच-कृतो यत्नो मया पूर्वं सौशाम्ये कौरवान्प्रति ।
नाशक्यन्त यदा साम्ये ते स्थापयितुमञ्जसा ॥ १५ ॥
ततस्ते निधनं प्राप्ताः सर्वे ससुतबान्धवाः ।
न दिष्टमप्यतिक्रान्तुं शक्यं बुद्ध्या बलेन वा ॥ १६ ॥
महर्षे विदितं भूयः सर्वमेतत्तवाऽनघ ।
तेऽत्यक्रामन्मतिं मह्यं भीष्मस्य विदुरस्य च ॥ १७ ॥
ततो यमक्षयं जग्मुः समासाद्येतरेतरम् ।
पञ्चैव पाण्डवाः शिष्टा हतामित्रा हतात्मजाः ॥ १८ ॥
धार्तराष्ट्राश्च निहताः सर्वे ससुतबान्धवाः ।
इत्युक्तवचने कृष्णे भृशं क्रोधसमन्वितः ।
उत्तङ्क इत्युवाचैनं रोषादुत्फुल्ललोचनः ॥ १९ ॥
उत्तङ्क उवाच- यस्माच्छक्तेन ते कृष्ण न त्राताः कुरुपुंगवाः ।
संबन्धिनः प्रियास्तस्माच्छप्स्येऽहं त्वामसंशयम् ॥२०॥
न च ते प्रसभं यस्मात्ते निगृह्य निवारिताः ।
तस्मान्मन्युपरीतस्त्वां शप्स्यामि मधुसूदन ॥ २१ ॥
त्वया शक्तेन हि सता मिथ्याचारेण माधव ।

श्रीभगवान् बोले, मैंने पहले कौरवोंके लिये सन्धिविषयमें विशेष यत्न किया था, जब वे लोग शान्ति अवलम्बन करनेमें समर्थ न हुए, तब वे सब पुत्र तथा बान्धवोंके सहित मृत्युको प्राप्त हुए। कोई पुरुष बल वा बुद्धिसे दैवको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं होता। हे पापरहित महर्षि! उन कौरवोंने जो भीष्म, विदुर तथा मेरे मतको अतिक्रम किया था, उसे आप जानते हैं, उसहीसे वे सब परस्पर लडके यमलोकमें गये हैं; मित्रों और पुत्रोंके मारे जानेपर केवल पांचों पाण्डव अवशिष्ट हैं और धृतराष्ट्रपुत्रगण, पुत्रों तथा बान्धवोंके सहित मारे गये हैं। कृष्णके ऐसा कहनेपर उत्तङ्क अत्यन्त क्रुद्ध होकर क्रोधसे नेत्र लाल करके उनसे कहने लगे। (१५-१९)

उत्तङ्क बोले, हे कृष्ण! जब तुमने परित्राण करनेमें समर्थ होके भी उन प्रिय सम्बन्धी कुरुपुंगवोंका परित्राण नहीं किया, उसही निमित्त मैं तुम्हें निश्चयही शाप दूंगा। हे मधुसूदन! क्यों कि तुमने उसही समय उन लोगोंको निग्रह करके निवारित नहीं किया, इसही निमित्त मैं मन्युयुक्त होकर तुम्हें शाप दूंगा। हे माधव! तुमने समर्थ

ते परीताः कुरुश्रेष्ठा नश्यन्तः स्म ह्युपेक्षिताः ॥ २२ ॥

वासुदेव उवाच- शृणु मे विस्तरेणेदं यद्वक्ष्ये भृगुनन्दन ।
गृहाणानुनयं चापि तपस्वी ह्यसि भार्गव ॥ २३ ॥
श्रुत्वा च मे तदध्यात्मं मुञ्चेथाः शापमद्य वै ।
न च मां तपसाल्पेन शक्तोऽभिभवितुं पुमान् ॥२४॥
न च ते तपसो नाशमिच्छामि तपतां वर ।
तपस्ते सुमहद्दीप्तं गुरवश्चापि तोषिताः ॥ २५ ॥
कौमारं ब्रह्मचर्यं ते जानामि द्विजसत्तम ।
दुःखार्जितस्य तपसस्तस्मान्नेच्छामि ते व्ययम् ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कृष्णोत्तंकसमागमे त्रिपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

उत्तङ्क उवाच-ब्रूहि केशव तत्त्वेन त्वमध्यात्ममनिन्दितम् ।
श्रुत्वा श्रेयोऽभिधास्यामि शापं वा ते जनार्दन ॥१ ॥

वासुदेव उवाच- तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि भावान्मदाश्रयान् ।
तथा रुद्रान्वसूंश्चापि विद्धि मत्प्रभवान् द्विज ॥ २ ॥

होके भी मिथ्या आचरण किया है, इसीसे पुरुपुंगवगण उपेक्षित होकर विनष्ट हुए हैं । (२०—२२)

श्रीकृष्ण बोले, मैं विस्तारपूर्वक जो कहता हूं, उसे सुनो । तुम तपस्वी हो, इसलिये मैं जो तुमसे विनय करता हूं, उसे ग्रहण करो; मैं जो अध्यात्म विषय कहता हूं, उसे सुनके इस समय शाप-मोचन करो; कोई पुरुष अल्प तपस्यासे मुझे अभिभव करनेमें समर्थ नहीं होता। हे तपस्वीश्रेष्ठ ! तुम्हारी तपस्या नष्ट करनेकी मैं इच्छा नहीं करता, क्यों कि तुमने अत्यन्त कष्टसे उस उत्तम महद्दीप्त तपस्याका उपार्जन तथा गुरुजनोंको संतुष्ट किया है । हे द्विजसत्तम ! तुम्हारा कौमार ब्रह्मचर्य विशेष रीतिसे विदित है। तुमने अधिक दुःख करके जो तपस्या उपार्जनकी है, उसे मैं नष्ट करनेकी इच्छा नहीं करता । (२३-२६)

आश्वमेधिकपर्वमें ५३ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ५४ अध्याय।

उत्तङ्क बोले, हे केशव ! आप मुझसे अनिन्दित अध्यात्म विषय यथार्थ रीतिसे कहिये, मैं उस अध्यात्म विषयको सुनकर आपके शापका उत्तम रीतिसे अभिधान करूंगा । (१)

श्रीकृष्ण बोले, हे द्विज ! तम, रज और सत्त्व इन सब गुणोंको मेरे आश्रित

मयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चाप्यहम् ।
स्थित इत्यभिजानीहि मा तेऽभूदत्र संशयः ॥ ३ ॥
तथा दैत्यगणान्सर्वान्यक्षगन्धर्वराक्षसान् ।
नागानप्सरसश्चैव विद्धि मत्प्रभवान्द्विज ॥ ४ ॥
सदसच्चैव यत्प्राहुरव्यक्तं व्यक्तमेव च ।
अक्षरं च क्षरं चैव सर्वमेतन्मदात्मकम् ॥ ५ ॥
ये चाश्रमेषु वै धर्माश्चतुर्धा विहिता मुने ।
वैदिकानि च सर्वाणि विद्धि सर्वं मदात्मकम् ॥ ६ ॥
असच्च सदसच्चैव यद्विश्वं सदसत्परम् ।
मत्तः परतरं नास्ति देवदेवात्सनातनात् ॥ ७ ॥
ॐकारप्रमुखान्वेदान्विद्धि मां त्वं भृगूद्वह ।
यूपं सोमं चरुं होमं त्रिदशाप्यायनं मखे ॥ ८ ॥
होतारमपि हव्यं च विद्धि मां भृगुनन्दन ।
अध्वर्युः कल्पकश्चापि हविः परमसंस्कृतम् ॥ ९ ॥
उद्गाता चापि मां स्तौति गीतघोषैर्महाध्वरे ।
प्रायश्चित्तेषु मां ब्रह्मन् शान्तिमङ्गलवाचकाः ॥ १० ॥

जानो और रुद्र तथा वसुगणको मुझसे उत्पन्न हुआ समझो। सब भूतोंमें मैं विद्यमान हूं और यह निश्चय जानो, कि मुझमें सब भूत विद्यमान रहते हैं। हे द्विज! दैत्य, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, अप्सराओं और नागोंको मुझसे ही उत्पन्न हुआ समझो। पण्डित लोग जिसे सत्, असत्, अव्यक्त, व्यक्त, अक्षर और क्षर कहा करते हैं, उन सबको ही मदात्मक जानो। हे मुनि! चारों आश्रमोंमें जो चार प्रकारके धर्म और वैदिक कर्म विहित हैं, वे सब आपको विदित हैं, उन सबको भी सदा मदात्मक जानो। असत् 'शशविषाणादि' सदसत् 'घटपटादि' और सदसत्पर अव्यक्तत्रयरूपसे मैंही विश्वमें देवदेव सनातन हूं, इस लिये मुझसे जगत् भिन्न नहीं है। हे भृगूद्वह! मुझेही ओंकार प्रभृति सब वेद, यूप, सोम, चरु, होम और यज्ञमें त्रिदशाप्यायन जानो। (२-८)

हे भृगुनन्दन! मुझेही होता, हव्य, अध्वर्यु, कल्पक और परम संस्कृत हवि जानो। महायज्ञोंमें उद्गाता गीतघोषके द्वारा मेराही स्तव किया करते हैं और प्रायश्चित्तमें शान्ति तथा मङ्गलवाचक ब्राह्मणगण विश्वकर्मा कहके मेरीही

स्तुवन्ति विश्वकर्माणं सततं द्विजसत्तम ।
मम विद्धि सुतं धर्ममग्रजं द्विजसत्तम ॥ ११ ॥
मानसं दयितं विप्र सर्वभूतदयात्मकम् ।
तत्राहं वर्तमानैश्च निवृत्तैश्चैव मानवैः ॥ १२ ॥
बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम ।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥ १३ ॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव ।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ॥ १४ ॥
भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च ।
अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः ॥ १५ ॥
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे ।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया ॥ १६ ॥
यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन ।
तदाऽहं देववत्सर्वमाचरामि न संशयः ॥ १७ ॥
यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन ।
तदा गन्धर्ववत्सर्वमाचरामि न संशयः ॥ १८ ॥
नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत् ।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद्विचराम्यहम् ॥ १९ ॥

स्तुति किया करते हैं। हे द्विजसत्तम! धर्मको मेरा ज्येष्ठ पुत्र और सर्वभूत-दयात्मक मानसको दयित जानो। हे सत्तम! जो सब मनुष्य इस धर्ममें वर्तमान और निवृत्त रहते हैं, मैं उसही उस मनुष्यरूपसे अनेक योनियोंमें भ्रमण करते हुए धर्मसंस्थापन तथा धर्मरक्षाके हेतु निवास किया करता हूं। हे भार्गव! मैं तीनों लोकोंके बीच वही रूप तथा वही वेष धारण करता हूं। मैंही विष्णु, मैंही ब्रह्मा तथा मैंही उत्पत्तिलयकर्ता शम्भु हूं। मैंही सब भूतोंकी सृष्टि तथा संहारकर्ता हूं और अधर्ममें विद्यमान मनुष्योंके बीच मैंही अच्युत हूं। मैं प्रजा-समूहकी हितकामनासे युग युगमें उसही उस योनिमें प्रविष्ट होकर धर्मका सेतु-बन्धन किया करता हूं। (९-१६)

हे भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें प्रविष्ट होता हूं, तब देववत्; जब गन्धर्व-योनिमें प्रविष्ट होता हूं, उस समय गन्धर्वसदृश; जिस समय नागयोनिमें प्रविष्ट होता हूं, उस समय नागसदृश

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचिता मया ।
न च ते जातसंमोहा वचोऽगृह्णन्त मोहिताः ॥ २० ॥
भयं च महदुद्दिश्य त्रासिताः कुरवो मया ।
क्रुद्धेन भूत्वा तु पुनर्यथावदनुदर्शिताः ॥ २१ ॥
तेऽधर्मेणेह संयुक्ताः परीताः कालधर्मणा ।
धर्मेण निहता युद्धे गताः स्वर्गं न संशयः ॥ २२ ॥
लोकेषु पाण्डवाश्चैव गताः ख्यातिं द्विजोत्तम ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीता-पर्वणि उत्तंकोपाख्याने कृष्णवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

उत्तंक उवाच– अभिजानामि जगतः कर्तारं त्वां जनार्दन ।
नूनं भवत्प्रसादोऽयमिति मे नास्ति संशयः ॥ १ ॥
चित्तं च सुप्रसन्नं मे त्वद्भावगतमच्युत ।
विनिवृत्तं च मे शापादिति विद्धि परंतप ॥ २ ॥
यदि त्वनुग्रहं कंचित्त्वत्तोऽर्हामि जनार्दन ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं तन्निदर्शय ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच– ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद्वपुः ।

और यक्ष राक्षस प्रभृति जब जिस योनिमें प्रवृत्त होता हूं, तब उस ही प्रकार आचरण किया करता हूं। मैंने मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होकर उन कौरवोंके समीप कृपणभावसे बहुत ही याञ्चा की थी, क्रुद्ध होकर महत् भय दिखाके त्रासित किया तथा यथायोग्य शिक्षाप्रदान की थी; परन्तु उन लोगोंने महामोहसे विमोहित होकर मेरे वचनको ग्रहण नहीं किया। बल्कि उन लोगोंने कालधर्मसे घिरके तथा अधर्मसंयुक्त होकर धर्मके द्वारा युद्धमें मरके सुरपुरमें गमन किया है। हे द्विजोत्तम! पाण्डवोंको भी जगत् के बीच बडाई प्राप्त हुई है। हे विप्रवर! आपने मुझसे जो पूछा था, मैंने वह विषय पूरी रीतिसे तुम्हारे समीप वर्णन किया। (१७—२३)

आश्वमेधिकपर्वमें ५४ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ५५ अध्याय।

उत्तङ्क बोले, हे जनार्दन! मैं आपको जगत्कर्ता कहके जान सका हूं, निश्चय ही यह आपकी कृपा है, इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। हे अच्युत! मेरा चित्त आपमें आसक्त होनेसे प्रसन्न

शाश्वतं वैष्णवं धीमान्ददृशे यद्धनंजयः ॥ ४ ॥
स ददर्श महात्मानं विश्वरूपं महाभुजम् ।
सहस्रसूर्यप्रतिमं दीप्तिमत्पावकोपमम् ॥ ५ ॥
सर्वमाकाशमावृत्य तिष्ठन्तं सर्वतोमुखम् ।
तद् दृष्ट्वा परमं रूपं विष्णोर्वैष्णवमद्भुतम् ।
विस्मयं च ययौ विप्रस्तं दृष्ट्वा परमेश्वरम् ॥ ६ ॥
उत्तंक उवाच- विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसंभव ।
पद्भ्यां ते पृथिवी व्याप्ता शिरसा चावृतं नभः ॥ ७ ॥
द्यावापृथिव्योर्यन्मध्यं जठरेण तवावृतम् ।
भुजाभ्यामावृताश्चाशास्त्वमिदं सर्वमच्युत ॥ ८ ॥
संहरस्व पुनर्देव रूपमक्षय्यमुत्तमम् ।
पुनस्त्वां स्वेन रूपेण द्रष्टुमिच्छामि शाश्वतम् ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच- तमुवाच प्रसन्नात्मा गोविन्दो जनमेजय ।
वरं वृणीष्वेति तदा तमुत्तङ्कोऽब्रवीदिदम् ॥ १० ॥
पर्याप्त एष एवाद्य वरस्त्वत्तो महाद्युते ।

होकर आपसे निवृत्त हुआ। हे जनार्दन! यदि आपकी किञ्चित् कृपा हो, तो मैं आपका ईश्वररूप देखनेकी इच्छा करता हूं, आप अनुग्रह करके वह रूप मुझे दिखाइये। (१—३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धीमान् धनञ्जयने जिस शाश्वत वैष्णव रूपका दर्शन किया था, कृष्णने परम प्रसन्न होकर उत्तंकको वही मूर्ति दिखाई। उत्तङ्कने महात्मा महाभुज विश्वरूप, सहस्र सूर्य तथा जलती हुई अग्निसदृश सर्वव्यापी सर्वतोमुख कृष्णका दर्शन किया। अनन्तर विप्रवर उत्तङ्क उस अद्भुत परम रूप परमेश्वरका दर्शन करके अत्यन्त विस्मित होकर कहने लगे। (४—६)

उत्तंक बोले, हे विश्वकर्मन् विश्वात्मन्! आपको नमस्कार है। हे विश्वसम्भव! आपके दोनों चरणोंसे पृथ्वी, सिरसे आकाश, जठरके द्वारा द्युलोक तथा भूलोकका मध्य और दोनों भुजाओंसे सब दिशा आवृत हो रही हैं। हे अच्युत! आप ही इस विश्वरूपसे निवास करते हैं। हे देवदेव! यह समस्त अक्षय अनुत्तम रूप संहार करिये। मैं फिर आपको उस ही कृष्णरूपसे देखनेकी इच्छा करता हूं। (७—९)

श्रीवैशंपायन मुनि बोले, हे जनमेजय! गोविन्द कृष्ण प्रसन्न होकर उत्तंकसे

यत्ते रूपमिदं कृष्ण पश्यामि पुरुषोत्तम ॥ ११ ॥
तमब्रवीत्पुनः कृष्णो मा त्वमत्र विचारय ।
अवश्यमेतत्कर्तव्यममोघं दर्शनं मम ॥ १२ ॥
उत्तंक उवाच– अवश्यं करणीयं च यद्येतन्मन्यसे विभो ।
तोयमिच्छामि यत्रेष्टं मरुष्वेतद्धि दुर्लभम् ॥ १३ ॥
ततः संहृत्य तत्तेजः प्रोवाचोत्तङ्कमीश्वरः ।
एष्टव्ये सति चिन्त्योऽहमित्युक्त्वा द्वारकां ययौ॥१४॥
ततः कदाचिद्भगवानुत्तङ्कस्तोयकाङ्क्षया ।
तृषितः परिचक्राम मरौ सस्मार चाच्युतम् ॥ १५ ॥
ततो दिग्वाससं धीमान्मातङ्गं मलपङ्किनम् ।
अपश्यत मरौ तस्मिन् श्वयूथपरिवारितम् ॥ १६ ॥
भीषणं बद्धनिस्त्रिंशं बाणकार्मुकधारिणम् ।
तस्याऽधःस्रोतसोऽपश्यद्वारि भूरि द्विजोत्तमः ॥१७॥
स्मरन्नेव च तं प्राह मातङ्गः प्रहसन्निव ।
एह्युत्तङ्क प्रतीच्छस्व मत्तो वारि भृगूद्वह ॥ १८ ॥

बोले, कि तुम मुझसे वर मांगो। तब उत्तङ्कने उनसे यह वचन कहा, हे पुरुषोत्तम कृष्ण! आज मैंने आपके इस रूपका जिस प्रकार दर्शन किया, वही मुझे यथेष्ट वर प्राप्त हुआ है। कृष्ण फिर उत्तङ्कसे बोले, कि तुम निश्चय ही मेरा यह अमोघ दर्शन पाओगे; इसमें और विचार मत करो। (१०—१२)

उत्तङ्क बोले, हे विभु! यदि आप इसे अवश्य करणीय बोध करते हैं, तो इस मरुभूमिके बीच जिस स्थानमें मैं इस दुर्लभ जलकी अभिलाष करूं, उस स्थानमें ही मेरी अभिलाषा सिद्ध होवे। अनन्तर ईश्वरने उस तेजको संहार करके उत्तङ्कसे कहा, कि "तुम्हें जब जिस विषयमें अभिलाष होवे, उस समय मुझे स्मरण करना" ऐसा कहके कृष्ण द्वारकामें गये। अनन्तर किसी समय भगवान् उत्तङ्कने मरुभूमिमें घूमते हुए जलकी अभिलाष करके अच्युत कृष्णको स्मरण किया। अनन्तर धीमान् उत्तंकने मरुभूमिमें दिगम्बर मलिन श्वयूथपरिवेष्टित बद्धबाण और धनुषधारी एक भीषण मातङ्ग चाण्डालको देखा और उसके पांवके नीचे बहुतसा निर्मल जलका स्रोत अवलोकन किया। (१३—१७)

मातङ्गने उनका मत जानके हंसकर कहा। हे भृगूद्वह उत्तंक! तुम मेरे

कृपा हि मे सुमहती त्वां दृष्ट्वा तृट्समाश्रितम् ।
इत्युक्तस्तेन स मुनिस्तत्तोयं नाभ्यनन्दत ॥ १९ ॥
चिक्षेप च स तं धीमान्वाग्भिरुग्राभिरच्युतम् ।
पुनः पुनश्च मातङ्गः पिबस्वेति तमब्रवीत् ॥ २० ॥
न चापिबत्स सक्रोधः क्षुभितेनान्तरात्मना ।
स तथा निश्चयात्तेन प्रत्याख्यातो महात्मना ॥ २१ ॥
श्वभिः सह महाराज तत्रैवान्तरधीयत ।
उत्तङ्कस्तं तथा दृष्ट्वा ततो व्रीडितमानसः ॥ २२ ॥
मेने प्रलब्धमात्मानं कृष्णेनामित्रघातिना ।
अथ तेनैव मार्गेण शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २३ ॥
आजगाम महाबुद्धिरुत्तङ्कश्चैनमब्रवीत् ।
न युक्तं तादृशं दातुं त्वया पुरुषसत्तम ॥ २४ ॥
सलिलं विप्रमुख्येभ्यो मातङ्गस्रोतसा विभो ।
इत्युक्तवचनं तं तु महाबुद्धिर्जनार्दनः ॥ २५ ॥
उत्तङ्कं श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयन्निदमब्रवीत ।
यादृशेनेह रूपेण योग्यं दातुं धृतेन वै ॥ २६ ॥

समीप आके जल ग्रहण करो, तुम्हें तृष्णातुर देखके मुझे अत्यन्त दया हुई है। उस मुनिवर उत्तंकने मातङ्ग चाण्डालका ऐसा वचन सुनके अभिनन्दन न किया; वरन उस चाण्डालकी उग्र वचनसे निन्दा करने लगे। मातङ्ग भी बार बार उत्तंकको जल पीनेके लिये कहने लगा। उत्तंकने अन्तरात्मा क्षुधित होनेपर भी क्रोधित होकर उस जलको न पीया; जब उत्तंकने निश्चय करते हुए उसे प्रत्याख्यात किया; तब वह वहांपर कुत्तोंके सहित अन्तर्धान हुआ। उस समय उत्तंकने उसे अन्तर्हित होते देखकर लज्जितचित्त होकर अपनेको कृष्णके द्वारा ठगाया समझा। अनन्तर शंख, चक्र, गदाधारी कृष्ण उस ही मार्गसे उत्तंकके निकट उपस्थित हुए और महाबुद्धिमान् उत्तंक उनसे कहने लगे। (१८—२४)

उतंक बोले, हे पुरुषसत्तम! आपको उस प्रकार चाण्डालके स्रोतसे ब्राह्मणको जल प्रदान करनेके लिये आना उचित नहीं हुआ। उत्तंकका ऐसा वचन सुनके महाबुद्धिमान् जनार्दन कृष्ण मधुर वचनसे उन्हें सान्त्वना करते हुए कहने लगे। (२४—२६)

तादृशं खलु ते दत्तं यच्च त्वं नावबुध्यथाः ।
मया त्वदर्थमुक्तो वै वज्रपाणिः पुरन्दरः ॥ २७ ॥
उत्तङ्कायामृतं देहि तोयरूपमिति प्रभुः ।
स मामुवाच देवेन्द्रो न मर्त्योऽमर्त्यतां व्रजेत् ॥ २८ ॥
अन्यमस्मै वरं देहीत्यसकृद्भृगुनन्दन ।
अमृतं देयमित्येव मयोक्तः स शचीपतिः ॥ २९ ॥
स मां प्रसाद्य देवेन्द्रः पुनरेवेदमब्रवीत् ।
यदि देयमवश्यं वै मातङ्गोऽहं महामते ॥ ३० ॥
भूत्वाऽमृतं प्रदास्यामि भार्गवाय महात्मने ।
यद्येवं प्रतिगृह्णाति भार्गवोऽमृतमद्य वै ॥ ३१ ॥
प्रदातुमेष गच्छामि भार्गवस्यामृतं विभो ।
प्रत्याख्यातस्त्वहं तेन दास्यामि न कथंचन ॥ ३२ ॥
स तथा समयं कृत्वा तेन रूपेण वासवः ।
उपस्थितस्त्वया चापि प्रत्याख्यातोऽमृतं ददत् ॥ ३३ ॥
चाण्डालरूपी भगवान्सुमहांस्ते व्यतिक्रमः ।

कृष्ण बोले, इस स्थानमें जिस प्रकार दान करना उचित है, उसही प्रकार दिया जाता था, तुम उसे समझ न सके। मैंने तुम्हारे निमित्त वज्रपाणि पुरन्दर इन्द्रसे कहा था कि उत्तंकको तोयरूपी अमृत दान करो। हे भृगुनन्दन! देवेन्द्रने ऐसा वचन सुनके मुझसे कहा, कि मर्त्यको अमर्त्यता न प्राप्त होगी, इसलिये उन्हें अन्य वर प्रदान करो। परन्तु मैंने उनसे कहा, कि उत्तंकको अमृत वर ही देना होगा, तब वह मुझे प्रसन्न करके फिर बोले, हे महामति! यदि उत्तंकको यही वर देना योग्य है, तो मैं मातङ्ग होकर उस महात्मा भृगुनन्दनको अमृत दान करूंगा। हे विभु! आज यदि भृगुनन्दन उत्तंक इस ही प्रकार अमृत प्रतिग्रह करें, तो मैं उन्हें अमृत देनेके लिये जाता हूं, परन्तु यदि मैं उनसे विरुद्ध बोला जाऊं तो मैं कदापि उन्हें अमृत दान न करूंगा। (२६—३२)

वह इन्द्र मेरे निकट ऐसा ही अङ्गीकार करके तुम्हें अमृत देनेके लिये चाण्डालरूपी होकर तुम्हारे निकट उपस्थित हुए थे। तुम जान न सके, इसीसे उन्हें प्रत्याख्यात किया है। उस चाण्डालरूपी भगवान् इन्द्रके तुम्हारे द्वारा धिक्कृत होनेसे तुम्हारी महान्

यत्तु शक्यं मया कर्तुं भूय एव तवेप्सितम् ॥ ३४ ॥
तोयेप्सां तव दुर्धर्षां करिष्ये सफलामहम् ।
येष्वहःसु च ते ब्रह्मन्सलिलेप्सा भविष्यति ॥ ३५ ॥
तदा मरौ भविष्यन्ति जलपूर्णाः पयोधराः ।
रसवच्च प्रदास्यन्ति तोयं ते भृगुनन्दन ॥ ३६ ॥
उत्तङ्कमेघा इत्युक्ताः ख्यातिं यास्यन्ति चापि ते ।
इत्युक्तः प्रीतिमान्विप्रः कृष्णेन स बभूव ह ।
अद्याप्युत्तङ्कमेघाश्च मरौ वर्षन्ति भारत ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि उत्तंकोपाख्याने पंचपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

जनमेजय उवाच— उत्तंकः केन तपसा संयुक्तो वै महामनाः ।
यः शापं दातुकामोऽभूद्विष्णवे प्रभविष्णवे ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच- उत्तंको महता युक्तस्तपसा जनमेजय ।
गुरुभक्तः स तेजस्वी नान्यत्किंचिदपूजयत् ॥ २ ॥
सर्वेषामृषिपुत्राणामेष आसीन्मनोरथः ।
औत्तंकीं गुरुवृत्तिं वै प्राप्नुयामेति भारत ।

हानि हुई है; परन्तु मैं शक्तिके अनुसार फिर तुम्हारे अभिलषित विषयको सिद्ध करूंगा । हे ब्रह्मन् ! जिस दिन तुम्हें जलकी इच्छा होगी उस ही दिन मैं तुम्हारी उस दुरन्त जललालसा सफल करूंगा । हे भृगुनन्दन ! उस दिन मरुभूमिमें बादल जलसे पूरित होकर तुम्हें सुस्वादु जल प्रदान करेंगे और उत्तङ्क-मेघ नामसे विख्यात होंगे । हे भारत ! उस विप्रने, कृष्णका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त प्रीति लाभ की । इस ही लिये आजतक उत्तङ्क-मेघ उस महद्गुरुक मरुभूमिमें वर्षा किया करते हैं । (३३-३७)

आश्वमेधिकपर्वमें ५५ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ५६ अध्याय ।

राजा जनमेजय बोले, महामना उत्तङ्कने ऐसी कौनसी तपस्या की थी कि जगत्प्रभु विष्णुको शाप देनेके लिये उद्यत हुए ? (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे जनमेजय ! उत्तङ्क महातपोनिष्ठ थे, वह केवल तेजस्वी गुरुकी पूजा करते थे और किसीकी भी अर्चना नहीं करते थे । हे भारत ! ऋषिपुत्रगण उत्तङ्ककी गुरुभक्ति देखकर ऐसा समझते थे, कि हमें भी

गौतमस्य तु शिष्याणां बहूनां जनमेजय ॥ ३ ॥
उत्तंकेऽभ्यधिका प्रीतिः स्नेहश्चैवाभवत्तदा ।
स तस्य दमशौचाभ्यां विक्रान्तेन च कर्मणा ॥ ४ ॥
सम्यक्चैवोपचारेण गौतमः प्रीतिमानभूत् ।
अथ शिष्यसहस्राणि समनुज्ञातवानृषिः ॥ ५ ॥
उत्तंकं परया प्रीत्या नाभ्यनुज्ञातुमैच्छत ।
तं क्रमेण जरा तात प्रतिपेदे महामुनिम् ॥ ६ ॥
न चान्वबुद्ध्यत तदा स मुनिर्गुरुवत्सलः ।
ततः कदाचिद्राजेन्द्र काष्ठान्यानयितुं ययौ ॥ ७ ॥
उत्तंकः काष्ठभारं च महान्तं समुपानयत् ।
स तद्भाराभिभूतात्मा काष्ठभारमरिन्दम ॥ ८ ॥
निचिक्षेप क्षितौ राजन्परिश्रान्तो बुभुक्षितः ।
तस्य काष्ठे विलग्नाभूज्जटा रूप्यसमप्रभा ॥ ९ ॥
ततः काष्ठैः सह तदा पपात धरणीतले ।
ततः स भारनिष्पिष्टः क्षुधाविष्टश्च भारत ॥ १० ॥
दृष्ट्वा तां वयसोऽवस्थां रुरोदार्तस्वरस्तदा ।
ततो गुरुसुता तस्य पद्मपत्रनिभानना ॥ ११ ॥

उत्तङ्ककी गुरुवृत्ति प्राप्त होगी। हे जनमेजय ! गौतमके जितने शिष्य थे, उनके बीच उत्तङ्कके विषयमें उनकी अधिक प्रीति तथा स्नेह उत्पन्न हुआ । गौतम उत्तंङ्कके दम, पवित्रता, विक्रम और समाधिक सेवासे परम प्रसन्न हुए थे । एक समय गौतमऋषिने किसी कार्यके उपलक्षमें शिष्योंको घर जानेके लिये आज्ञा दी; परन्तु परम प्रीतिके वशमें होकर उत्तंकको आज्ञा देनेकी इच्छा नहीं की । हे तात ! क्रमसे उस उत्तंक मुनिको जरा प्राप्त हुई; परन्तु उस समय वह गुरुवत्सल उत्तंक उसे न जान सके । (२—७)

हे राजेन्द्र! अनन्तर वह किसी समय काष्ठ लानेके लिये गये और बहुतसा काष्ठ उठाकर लाने लगे । उन्होंने काष्ठभारसे अभिभूत, परिश्रान्त और भूखे होनेसे काष्ठका बोझा पृथ्वीपर फेंका; उस समय उनकी रौप्यसदृश प्रभाशालिनी जटा काष्ठमें फंस गई थी, इससे वह काष्ठके सहित गिर पडे । हे भारत! जब क्षुधाविष्ट उत्तंक काष्ठभारसे निष्पिष्ट होके पृथ्वीपर गिरे, उस समय अपनी

जग्राहाश्रूणि सुश्रोणी करेण पृथुलोचना ।
पितुर्नियोगाद्धर्मज्ञा शिरसाऽवनता तदा ॥ १२ ॥
तस्या निपेततुर्दग्धौ करौ तैरश्रुबिन्दुभिः ।
न हि तानश्रुपातांस्तु शक्ता धारयितुं मही ॥ १३ ॥
गौतमस्त्वब्रवीद्विप्रमुत्तङ्कं प्रीतमानसः ।
कस्मात्तात तवाद्येह शोकोत्तरमिदं मनः ॥ १४ ॥
सस्वैरं ब्रूहि विप्रर्षे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
उत्तंक उवाच- भवद्गतेन मनसा भवत्प्रियचिकीर्षया ।
भवद्भक्तिगतेनेह भवद्भावानुगेन च ॥ १५ ॥
जरेयं नावबुद्धा मे नाभिज्ञातं सुखं च मे ।
शतवर्षोषितं मां हि न त्वमभ्यनुजानिथाः ॥ १६ ॥
भवता त्वभ्यनुज्ञाताः शिष्याः प्रत्यवरा मम ।
उपपन्ना द्विजश्रेष्ठ शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥
गौतम उवाच- त्वत्प्रीतियुक्तेन मया गुरुशुश्रूषया तव ।
व्यतिक्रामन्महाकालो नावबुद्धो द्विजर्षभ ॥ १८ ॥
किंत्वद्य यदि ते श्रद्धा गमनं प्रति भार्गव ।

शरीरकी इतनी वृद्ध अवस्था देखकर वे आर्तस्वरसे रोदन करने लगे; पृथुलोचना सुश्रोणी धर्म जाननेवाली गुरुपुत्रीने पिताकी आज्ञानुसार सिर नीचा करके वह अश्रुजल ग्रहण किया। वह अश्रुजल उसके दोनों हाथोंको जलाते हुए पृथ्वीपर गिरा, पृथ्वी भी उस अश्रु-धाराको धारण न कर सकी। (७-१३)

उस समय गौतमने प्रसन्नचित्तसे उत्तङ्क विप्रसे कहा, हे तात! आज तुम्हारा मन शोकातुर क्यों हुआ है? हे विप्रर्षि! तुम धीरे धीरे मेरे समीप यथार्थ रीतिसे कहो, मैं इस विषयको सुननेकी इच्छा करता हूं। (१४-१५)

उत्तङ्क बोले, मेरा मन आपमें लगा रहनेसे, प्रियकर्ममें दत्तचित्त होनेसे, तथा मैं आपकी भक्ति वा भावके अनुगत होनेसे जरा और सुख न जान सका। मैं जो इस स्थानमें एक सौ वर्षसे वास करता हूं, तोभी आपने मुझे अनुमति न देकर जो मुझसे अपकृष्ट थे, वैसे सैकडों सहस्रों शिष्योंको अनुज्ञा की; उससे वे लोग कृतकार्य हुए। (१५—१७)

गौतम बोले, हे द्विजर्षभ! तुम्हारे गुरुसेवासे तुमपर अधिक प्रसन्न रहनेसे मैं यह न जान सका, कि अधिक समय

अनुज्ञां प्रतिगृह्य त्वं स्वगृहान्गच्छ मा चिरम् ॥ १९ ॥
उत्तंक उवाच- गुर्वर्थं कं प्रयच्छामि ब्रूहि त्वं द्विजसत्तम ।
तमुपाहृत्य गच्छेयमनुज्ञातस्त्वया विभो ॥ २० ॥
गौतम उवाच- दक्षिणा परितोषो वै गुरूणां सद्भिरुच्यते ।
तव ह्याचरतो ब्रह्मंस्तुष्टोऽहं वै न संशयः ॥ २१ ॥
इत्थं च परितुष्टं मां विजानीहि भृगूद्वह ।
युवा षोडशवर्षो हि यद्यद्य भविता भवान् ॥ २२ ॥
ददामि पत्नीं कन्यां च स्वां ते दुहितरं द्विज ।
एतामृतेऽङ्गना नान्या त्वत्तेजोऽर्हति सेवितुम् ॥ २३ ॥
ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनीम् ।
गुरुणा चाभ्यनुज्ञातो गुरुपत्नीमथाऽब्रवीत् ॥ २४ ॥
कं भवत्यै प्रयच्छामि गुर्वर्थं विनियुङ्क्ष्व माम् ।
प्रियं हितं च काङ्क्षामि प्राणैरपि धनैरपि ॥ २५ ॥
यद्दुर्लभं हि लोकेऽस्मिन् रत्नमत्यद्भुतं महत् ।
तदानयेयं तपसा न हि मेऽत्रास्ति संशयः ॥ २६ ॥
अहल्योवाच- परितुष्टाऽस्मि ते विप्र नित्यं भक्त्या तवानघ ।

किस प्रकार व्यतीत हुआ है। हे भार्गव! यदि आज तुम्हें गृहपर जानेकी अभिलाष हो, तो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं, तुम शीघ्र निज गृहपर जाओ। (१८-१९)

उत्तङ्क बोले, हे द्विजसत्तम! कहिये मैं आपको क्या दाक्षिणा दूं? हे विभु! आप जो कहें, मैं वही ले आऊं। (२०)

गौतम बोले, हे ब्रह्मन्! ऐसा पण्डित लोग कहा करते हैं कि गुरुजनोंका परितोष ही दक्षिणा है; इसलिये मैं तुम्हारे सदाचारसे ही परितुष्ट हुआ हूं। हे भृगूद्वह! तुम मुझे परितुष्ट जानो। हे ब्रह्मन्! यदि आज तुम षोडशवर्षीय युवा होते, तो मैं अपनी कन्या तुम्हें पत्नीरूपसे दान करता, इस कन्याके अतिरिक्त दूसरी कोई भी तुम्हारे तेजको धारण करनेमें समर्थ न होगी। अनन्तर उत्तङ्क मुनि युवा होकर गुरुकी आज्ञानुसार उस यशस्विनी कन्याको ग्रहण करके गुरुपत्नीसे बोले, तुम्हें क्या गुरुदक्षिणा दूं? उसके लिये मुझे आज्ञा करो, मैं प्राण और धनसे तुम्हारे प्रिय तथा हितकी आकांक्षा करता हूं। इस लोकमें जो रत्न दुर्लभ हैं, मैं तपोबलसे निःसन्देह उन अद्भुत महारत्नोंको लाऊंगा। (२१—२६)

पर्याप्तमेतद्भद्रं ते गच्छ तात यथेप्सितम् ॥ २७ ॥
वैशम्पायनउवाच- उत्तंकस्तु महाराज पुनरेवाब्रवीद्वचः ।
आज्ञापयस्व मां मातः कर्तव्यं च तव प्रियम् ॥२८॥
अहल्योवाच- सौदासपत्न्या विधृते दिव्ये ये मणिकुण्डले ।
ते समानय भद्रं ते गुर्वर्थः सुकृतो भवेत् ॥ २९ ॥
स तथेति प्रतिश्रुत्य जगाम जनमेजय ।
गुरुपत्नीप्रियार्थं वै ते समानयितुं तदा ॥ ३० ॥
स जगाम ततः शीघ्रमुत्तङ्को ब्राह्मणर्षभः ।
सौदासं पुरुषादं वै भिक्षितुं मणिकुण्डले ॥ ३१ ॥
गौतमस्त्वब्रवीत्पत्नीमुत्तङ्को नाऽद्य दृश्यते ।
इति पृष्टा तमाचष्ट कुण्डलार्थं गतं च सा ॥ ३२ ॥
ततः प्रोवाच पत्नीं स न ते सम्यगिदं कृतम् ।
शप्तः स पार्थिवो नूनं ब्राह्मणं तं वधिष्यति ॥ ३३ ॥
अहल्योवाच- अजानन्त्या नियुक्तः स भगवन्ब्राह्मणो मया ।

अहल्या बोली, हे विप्र ! मैं तुम्हारी इस भक्तिसे ही परितुष्ट हुई हूं, यह भक्ति ही यथेष्ट हुई है । हे तात ! इस समय तुम्हारा मङ्गल हो, तुम इच्छानुसार गमन करो । (२७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उत्तंकने अहल्यासे कहा, हे माता ! कहो, मुझे कौनसा प्रिय कार्य करना होगा ? २८

अहल्या बोली, सौदास राजाकी भार्या जो दिव्य मणिमय कुण्डल पहरती है, तुम वही कुण्डल ले आओ;ऐसा करनेसे तुम्हारा मङ्गल होगा और गुरुदक्षिणा सिद्ध होगी । हे जनमेजय ! उत्तंक मुनि " वही करूंगा " ऐसी प्रतिज्ञा करके गुरुपत्नीके प्रीतिके निमित्त कुण्डल लानेके लिये चले । अनन्तर ब्राह्मणश्रेष्ठ उत्तंक शीघ्र ही मनुष्यभक्षक सौदासके निकट गये । गौतमने निज पत्नी अहल्यासे पूछा, कि आज उत्तंकको नहीं देखता हूं । उत्तंक कहां है ? अहल्याने गौतमका वचन सुनके कहा, कि उत्तंक कुण्डल लानेके निमित्त गये हैं । (२९—३२)

तिसके अनन्तर गौतमने पत्नीसे कहा, कि तुमने यह अच्छा कार्य नहीं किया; क्यों कि वह सौदास शापित हुआ है अतः वह निश्चय ही उनका वध करेगा । (३३)

अहल्या बोली, हे भगवन् ! मैंने विना जाने उस ब्राह्मणको भेजा है,

भवत्प्रसादान्न भयं किंचित्तस्य भविष्यति ॥ ३४ ॥
इत्युक्तः प्राह तां पत्नीमेवमस्त्विति गौतमः ।
उत्तङ्कोऽपि वने शून्ये राजानं तं ददर्श ह ॥ ३५ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीता पर्वणि
उत्तंकोपाख्याने कुण्डलाहरणे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच– स तं दृष्ट्वा तथा भूतं राजानं घोरदर्शनम् ।
दीर्घश्मश्रुधरं नृणां शोणितेन समुक्षितम् ॥ १ ॥
चकार न व्यथां विप्रो राजा त्वेनमथाब्रवीत् ।
प्रत्युत्थाय महातेजा भयकर्त्ता यमोपमः ॥ २ ॥
दिष्ट्या त्वमसि कल्याण षष्ठे काले ममान्तिकम् ।
भक्ष्यं मृगयमाणस्य संप्राप्तो द्विजसत्तम ॥ ३ ॥
उत्तंक उवाच– राजन्गुर्वर्थिनं विद्धि चरन्तं मामिहागतम् ।
न च गुर्वर्थमुद्युक्तं हिंस्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥
राजोवाच— षष्ठे काले ममाहारो विहितो द्विजसत्तम ।
न शक्यस्त्वं समुत्स्रष्टुं क्षुधितेन मयाऽद्य वै ॥ ५ ॥

परन्तु आपके प्रसादसे उत्तंकको कुछ भी भय उपस्थित न होगा। गौतम अहल्याका ऐसा वचन सुनके उससे बोले, तुमने जो कहा, वही होवे। इधर उत्तंकने भी निर्जन वनके बीच राजा को देखा। (३४—३५)

आश्वमेधिकपर्वमें ५६ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ५७ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उत्तंक मुनि दीर्घश्मश्रुधारी मनुष्यशोणितसे समुक्षित घोरदर्शन राजा सौदासको देखकर व्यथित न हुए; परन्तु महा-तेजस्वी यमसदृश भयप्रद राजा सौदासने उत्तंकसे कहा। हे द्विजसत्तम! मैं भक्ष्य खोज रहा हूं, तुम प्रारब्धसे ही दिनके छटवें भागमें मेरे निकट आके उपस्थित हुए हो। (१–३)

उत्तंक बोले, हे राजन्! मैं गुरुके निमित्त धन मांगनेके लिये इस स्थानमें आया हूं, मुझे गुरुके लिये अर्थप्रार्थी जानो; मनीषिवृन्द गुरुके निमित्त उद्युक्त मनुष्यको अवध्य कहा करते हैं। (४)

राजा बोला, हे द्विजसत्तम! इस दिनके छठवें भागमें तुम मेरे आहार-रूपसे विहित हुए हो, मैं अत्यन्त ही भूखा हूं, इसलिये आज तुम्हें परित्याग नहीं कर सकता। (५)

उत्तङ्क उवाच- एवमस्तु महाराज समयः क्रियतां तु मे ।
गुर्वर्थमभिनिर्वर्त्य पुनरेष्यामि ते वशम् ॥ ६ ॥
संश्रुतश्च मया योऽर्थो गुरवे राजसत्तम ।
त्वदधीनः स राजेन्द्र तं त्वां भिक्षे नरेश्वर ॥ ७ ॥
ददासि विप्रमुख्येभ्यस्त्वं हि रत्नानि नित्यदा ।
दाता च त्वं नरव्याघ्र पात्रभूतः क्षिताविह ॥
पात्रं प्रतिग्रहे चापि विद्धि मां नृपसत्तम ॥ ८ ॥
उपाहृत्य गुरोरर्थं त्वदायत्तमरिंदम ।
समयेनेह राजेन्द्र पुनरेष्यामि ते वशम् ॥ ९ ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि नात्र मिथ्या कथंचन ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥ १० ॥
सौदास उवाच- यदि मत्तस्त्वायत्तो गुर्वर्थः कृत एव सः ।
यदि चास्मि प्रतिग्राह्यः सांप्रतं तद्वदस्व मे ॥ ११ ॥
उत्तंक उवाच- प्रतिग्राह्यो मतो मे त्वं सदैव पुरुषर्षभ ।
सोऽहं त्वामनुसंप्राप्तो भिक्षितुं मणिकुण्डले ॥ १२ ॥

उत्तंक बोले, हे महाराज ! आप जो अभिलाष करते हैं, वही होगा, परन्तु आप मेरी प्रतिज्ञा सफल करिये, मैं गुरुका कार्य पूरा करके फिर तुम्हारे अधिकारमें आऊंगा । हे राजसत्तम ! मैंने जो धन गुरुको दान करनेके निमित्त प्रतिज्ञा की है, वह धन तुम्हारे आधीन है; तुम नित्य विप्रोंको रत्न देते हैं; इसलिये उसे तुम्हारे निकट भिक्षा मांगता हूं। हे नरेश्वर ! इस पृथ्वीके बीच आप दाता और मैं प्रतिग्रहीता हूं; हे, नृपसत्तम ! मुझे प्रतिग्रहका पात्र समझो । हे अरिंदमन ! आपके निकटसे वह अर्थ गुरुके निमित्त ले जाकर मैं प्रतिज्ञाके अनुसार फिर आपके वशमें होऊंगा । हे राजन् ! मैं जो प्रतिज्ञा करता हूं, वह कभी मिथ्या न होगी, क्यों कि मैंने इच्छापूर्वक पहले कभी मिथ्या वचन नहीं कहा है; इसलिये किसी प्रकार इसमें अन्यथा न होगी । (६—१०)

सौदास बोले, मैं तुम्हें प्रतिग्रह करा सकूंगा । यदि तुम ऐसा स्वीकार करो, तो तुम उस गुरुदक्षिणाके धनको मेरे निकट प्राप्त हुआ ही निश्चय करो। (११)

उत्तंक बोले, हे पुरुषर्षभ ! आप मुझे प्रतिग्राह्य कहके अभिमत हुए हैं, इसही निमित्त मैं आपके निकट मणिकुण्डल मांगनेके लिये आया हूं । (१२)

सौदास उवाच– पत्न्यास्ते मम विप्रर्षे उचिते मणिकुंडले ।
वरयार्थं त्वमन्यं वै तं ते दास्यामि सुव्रत ॥ १३ ॥
उत्तंक उवाच– अलं ते व्यपदेशेन प्रमाणा यदि ते वयम् ।
प्रयच्छ कुण्डले मह्यं सत्यवाग्भव पार्थिव ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच– इत्युक्तस्त्वब्रवीद्राजा तमुत्तङ्क पुनर्वचः ।
गच्छ मद्वचनाद्देवीं ब्रूहि देहीति सत्तम ॥ १५ ॥
सैवमुक्ता त्वया नूनं मद्वाक्येन शुचिव्रता ।
प्रदास्यति द्विजश्रेष्ठ कुण्डले ते न संशयः ॥ १६ ॥
उत्तंक उवाच– क्व पत्नी भवतः शक्या मया द्रष्टुं नरेश्वर ।
स्वयं वापि भवान्पत्नीं किमर्थं नोपसर्पति ॥ १७ ॥
सौदास उवाच– तां द्रक्ष्यति भवानद्य कस्मिंश्चिद्वननिर्झरे ।
षष्ठे काले न हि मया सा शक्या द्रष्टुमद्य वै ॥१८ ॥
वैशम्पायन उवाच– उत्तंकस्तु तथोक्तः स जगाम भरतर्षभ ।
मदयन्तीं च दृष्ट्वा स ज्ञापयत्स्वप्रयोजनम् ॥ १९ ॥
सौदासवचनं श्रुत्वा ततः सा पृथुलोचना ।

सौदास बोले, हे विप्र ! वह मणिकुण्डल मेरी स्त्रीका है, मुझे उसे दान करनेका अधिकार नहीं है; इसलिये और जो कुछ धन मांगोगे, मैं उसे ही दान करूंगा । (१३)

उत्तंक बोले, हे पार्थिव ! यदि मुझपर आपका विश्वास हुआ हो, तो आप अब व्यर्थ छल न करके मुझे कुण्डल प्रदान करके सत्यवादी होइये । (१४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा उत्तंकका ऐसा वचन सुनके फिर उनसे बोला । हे सत्तम ! मेरे वचनके अनुसार मेरी पत्नीके निकट जाकर कहो, कि आप मुझे कुण्डल प्रदान करिये । हे द्विजवर ! वचनके अनुसार वह मेरी शुचिव्रता भार्या तुम्हारा ऐसा वचन सुनके निश्चय ही तुम्हें कुण्डल प्रदान करेगी । (१५—१६)

उत्तंक बोले, हे नरेश्वर ! मैं आपकी पत्नीको कहां देखूंगा ? आप स्वयं भार्याके निकट किस लिये नहीं जाते हैं ? (१७)

सौदास बोले, आज वनमें किसी झरनेके समीप उसे आप देखोगे । मैं आज दिनके छठवें भागमें उसे न देख सकूंगा । (१८)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उत्तंकने राजाका ऐसा वचन सुनके वहांसे

प्रत्युवाच महाबुद्धिमुत्तङ्कं जनमेजय ॥ २० ॥
एवमेतन्महाब्रह्मन्नानृतं वदसेऽनघ ।
अभिज्ञानं तु किंचित्त्वं समानयितुमर्हसि ॥ २१ ॥
इमे हि दिव्ये मणिकुण्डले मे देवाश्च यक्षाश्च महर्षयश्च ।
तैस्तैरुपायैरपहर्तुकामाश्छिद्रेषु नित्यं परितर्कयन्ति ॥ २२ ॥
निक्षिप्तमेतद्भुवि पन्नगास्तु रत्नं समासाद्य परामृशेयुः ।
यक्षास्तथोच्छिष्टधृतं सुराश्च निद्रावशाद्वा परिधर्षयेयुः ॥ २३ ॥
छिद्रेष्वेतेष्विमे नित्यं ह्रियेते द्विजसत्तम ।
देवराक्षसनागानामप्रमत्तेन धार्यते ॥ २४ ॥
स्यन्देते हि दिवा रुक्मं रात्रौ च द्विजसत्तम ।
नक्तं नक्षत्रताराणां प्रभामाक्षिप्य वर्ततः ॥ २५ ॥
एते ह्यामुच्य भगवन् क्षुत्पिपासाभयं कुतः ।
विषाग्निश्वापदेभ्यश्च भयं जातु न विद्यते ॥ २६ ॥
ह्रस्वेन चैते आमुक्ते भवतो ह्रस्वके तदा ।
अनुरूपेण चामुक्ते जायेते तत्प्रमाणके ॥ २७ ॥

जाकर वनके बीच सौदासकी भार्या मदयन्तीको देखा और उसे सौदासके वचनके अनुसार अपना प्रयोजन सुनाया । (१९-२०)

सौदासकी भार्या बोली, हे अनघ ! आपने जो कहा, वह सत्य है, परन्तु इस विषयमें किञ्चित् अभिज्ञान लाना उचित है । देवता, यक्ष और महर्षिगण अनेक प्रकारके उपायके सहारे मेरे इस दिव्य मणिमय कुण्डलको हरनेकी अभिलाषासे सदा छिद्र अन्वेषण करते हैं । यह रत्न पृथ्वीपर गिरनेसे सर्पगण, उच्छिष्ट अवस्थामें धारण करनेसे यक्षगण और निद्रावस्थामें धारण करनेसे देववृन्द हरण किया करते हैं । हे द्विजसत्तम ! इन सब छिद्रोंके उपस्थित होनेपर भी मेरा यह कुण्डल देवता, राक्षस और सर्पोंके द्वारा अपहृत होता है; इसलिये अप्रमत्त होके इसे धारण करना चाहिये । हे द्विजवर ! मेरे इस दिव्य कुण्डलसे दिनके समय सुवर्ण झरता है और रात्रिसमयमें यह नक्षत्रों तथा तारोंकी प्रभा आकर्षित करके निवास करता है । हे भगवन् ! इस कुण्डलको धारण करनेसे मनुष्य भूख-प्याससे पीडित नहीं होता । इतना ही नहीं; वरन विष, अग्नि तथा अन्यान्य भयजनक जन्तुओंसे उसे कदाचित् भय

एवंविधे ममैते वै कुण्डले परमार्चिते ।
त्रिषु लोकेषु विज्ञाते तदभिज्ञानमानय ॥ २८ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने सप्तपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

वैशम्पायन उवाच– स मित्रसहमासाद्य अभिज्ञानमयाचत ।
तस्मै ददावभिज्ञानं स चेक्ष्वाकुवरस्तदा ॥ १ ॥
सौदास उवाच– न चैवैषा गतिः क्षेम्या न चान्या विद्यते गतिः ।
एतन्मे मतमाज्ञाय प्रयच्छ मणिकुण्डले ॥ २ ॥
इत्युक्तस्तामुत्तंकस्तु भर्तुर्वाक्यमथाब्रवीत् ।
श्रुत्वा च सा तदा प्रादात्ततस्ते मणिकुण्डले ॥ ३ ॥
अवाप्य कुण्डले ते तु राजानं पुनरब्रवीत् ।
किमेतद् गुह्यवचनं श्रोतुमिच्छामि पार्थिव ॥ ४ ॥
सौदास उवाच— प्रजानिसर्गाद्विप्रान्वै क्षत्रियाः पूजयन्ति ह ।
विप्रेभ्यश्चापि बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्ति वै ॥ ५ ॥

नहीं होता । थोडी अवस्थावाला पुरुष इसे धारण करे, तो उसकी प्रकृत अवस्था ही रहती है । मेरे इस परम पूजित मणिमय कुण्डलके गुण तीनों लोकोंके बीच विख्यात है, इसलिये आप उसका अभिज्ञान ले आइये । (२१—२८)

आश्वमेधिकपर्वमें ५७ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ५८ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उत्तंक मुनिने मित्रतापूर्वक सौदासके निकट जाकर अभिज्ञानके निमित्त प्रार्थना की; तब उस इक्ष्वाकुश्रेष्ठ सौदासने उन्हें यह वाक्यरूपी अभिज्ञान प्रदान किया । (१)

सौदास बोले, हमारे लिये यह राक्षसयोनिरूपी गति मङ्गलकारी नहीं है, तथा इस कुण्डलदानकी अपेक्षा मुक्तिरूपी गति और कुछ भी नहीं है, इसलिये तुम मेरा ऐसा मत जानके इन्हें मणिमय कुण्डल प्रदान करो । (२)

उत्तंकने सौदासका ऐसा वचन सुनके सौदासपत्नीको उसके स्वामीका वचन सुनाया; उसने स्वामीका वचन सुनके उत्तंकको वह मणिमय कुण्डल प्रदान किया । उत्तंक वह मणिमय कुण्डल पाके फिर राजासे बोले, हे महाराज ! इस गुप्त वाक्यका क्या अर्थ है ? मैं उसे सुननेकी इच्छा करता हूं । (३—४)

सौदास बोले, ब्राह्मणगण प्रजा उत्पन्न करते हैं, इसीसे क्षत्रिय पुरुष

सोऽहं द्विजेभ्यः प्रणतो विप्राद्दोषमवाप्नवान् ।
गतिमन्यां न पश्यामि मदयन्तीसहायवान् ॥ ६ ॥
न चान्यामपि पश्यामि गतिं गतिमतां वर ।
स्वर्गद्वारस्य गमने स्थाने चेह द्विजोत्तम ॥ ७ ॥
न हि राज्ञा विशेषेण विरुद्धेन द्विजातिभिः ।
शक्यं हि लोके स्थातुं वै प्रेत्य वा सुखमेधितुम् ॥८॥
तदिष्टे ते मया दत्ते एते स्वे मणिकुण्डले ।
यः कृतस्तेऽद्य समयः सफलं तं कुरुष्व मे ॥ ९ ॥
उत्तंक उवाच– राजंस्तथेह कर्ताऽस्मि पुनरेष्यामि ते वशम् ।
प्रश्नं च कंचित्प्रष्टुं त्वां निवृत्तोऽस्मि परंतप ॥ १० ॥
सौदास उवाच– ब्रूहि विप्र यथाकामं प्रतिवक्ताऽस्मि ते वचः ।
छेत्ताऽस्मि संशयं तेऽद्य न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ११ ॥
उत्तंक उवाच– प्राहुर्वाक्संयतं विप्रं धर्मनैपुणदर्शिनः ।

उनकी पूजा किया करते हैं, तोभी ब्राह्मणोंके निकट क्षत्रियादिके बहुतसे दोष प्रकट होते हैं। मैं अपनी भार्या मदयन्तीके सहित ब्राह्मणोंके निकट दोषयुक्त होकर उनके समीप सदा प्रणत हुआ करता हूं; इसके अतिरिक्त और गति मुझे कुछ भी नहीं दिखाई देती है। हे गतिप्रवर! ब्राह्मणोंके निकट प्रणत रहनेके अतिरिक्त इस लोकमें सुख-भोग तथा स्वर्गद्वारमें गमन करनेका दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता है। राजा चाहे कितनाही ऐश्वर्यशाली क्यों न हो, द्विजातियोंके सङ्ग विरोध करनेसे वह इस लोकमें निवास तथा परलोकमें सुख भोग करनेमें समर्थ नहीं होता; इस ही कारण मैंने तुम्हारे अभिलषित अपना मणिमय कुण्डल तुम्हें प्रदान किया है; परन्तु आज आपने मेरे समीप जो अङ्गीकार किया है, उसे सफल करना। (५—९)

उत्तंक बोले, हे महाराज! मैं फिर आपके निकट आके अपने अङ्गीकार किये हुए वचनको सफल करूंगा। हे परन्तप! परन्तु मैं आपसे कुछ प्रश्न पूंछके यहांसे निवृत्त होता हूं। (१०)

सौदास बोले, हे विप्र! आपकी जो इच्छा हो, मुझसे वही विषय पूंछिये, मैं आपके प्रश्नका उत्तर दूंगा और विना विचारे आज आपका सब सन्देह दूर करूंगा। (११)

उत्तंक बोले, धर्म जाननेवाले पण्डित-गण संयतवाक्यवाले मनुष्यको विप्र

मित्रेषु यश्च विषमः स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ १२ ॥
स भवान्मित्रतामद्य संप्राप्तो मम पार्थिव ।
समे बुद्धिं प्रयच्छस्व संमतां पुरुषर्षभ ॥ १३ ॥
अवाप्तार्थोऽहमद्येह भवांश्च पुरुषादकः ।
भवत्सकाशमागन्तुं क्षमं मम तवेति वै ॥ १४ ॥
सौदास उवाच— क्षमं चेदिह वक्तव्यं तव द्विजवरोत्तम ।
मत्समीपं द्विजश्रेष्ठ नागन्तव्यं कथंचन ॥ १५ ॥
एवं तव प्रपश्यामि श्रेयो भृगुकुलोद्वह ।
आगच्छतो हि ते विप्र भवेन्मृत्युर्न संशयः ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच- इत्युक्तः स तदा राज्ञा क्षमं बुद्धिमता हितम् ।
अनुज्ञाप्य स राजानमहल्यां प्रतिजग्मिवान् ॥ १७ ॥
गृहीत्वा कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्याः प्रियंकरः ।
जवेन महता प्रायाद्गौतमस्याऽऽश्रमं प्रति ॥ १८ ॥
यथा तयो रक्षणं च मदयन्त्याऽभिभाषितम् ।
तथा ते कुंडले बद्ध्वा तदा कृष्णाजिनेऽनयत् ॥ १९ ॥

कहा करते हैं, और जो पुरुष मित्रोंके बीच विषमचित्तवाला होता है, उसे तस्कर समझते हैं। हे पार्थिव! आज आप मेरे मित्र हुए, इसलिये आप मुझे निज धर्मबुद्धि प्रदान करिये। आज मैंने आपके निकट धन पाया है, आप पुरुषादक हैं; इसलिये मुझे बतलाइये, कि फिर आपके समीप मुझे आना योग्य है, वा नहीं? (१२—१४)

सौदास बोले, हे द्विजवर! इस स्थलमें जो करना योग्य है, वह मैं आपसे कहता हूं; आप मेरे निकट कदापि न आना। हे भृगुकुलोद्वह! मेरे निकट न आनाही तुम्हारे लिये कल्याणकारी है, यदि आप आवेंगे, तो निश्चयही आपकी मृत्यु होगी। (१५—१६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जब बुद्धिमान् राजा सौदासने उत्तंकसे ऐसा वचन तथा कर्तव्य विषय कहा, तब उन्होंने पृथ्वीपति सौदासको समयानुकूल अनुज्ञा देकर अहल्याके निकट जानेके लिये प्रस्थान किया। उत्तंक दिव्य मणिमय कुण्डल लेकर महावेगपूर्वक गौतमके आश्रममें जाकर अहल्याके प्रीतिपात्र हुए। मदयन्तीने कुण्डलरक्षाका जिस प्रकार उपाय कहा था, उत्तंक उसही भांति उसे कृष्णाजिनमें बांध रखा था। कुण्डल लेकर चलनेके समयमें

स कस्मिंश्चित्क्षुधाविष्टः फलभारसमन्वितम् ।
बिल्वं ददर्श विप्रर्षिरारुरोह च तं ततः ॥ २० ॥
शाखामासज्ज्य तस्यैव कृष्णाजिनमरिंदम ।
पातयामास बिल्वानि तदा स द्विजपुंगवः ॥ २१ ॥
अथ पातयमानस्य बिल्वापहृतचक्षुषः ।
न्यपतंस्तानि बिल्वानि तस्मिन्नेवाजिने विभो ॥ २२ ॥
यस्मिंस्ते कुण्डले बद्धे तदा द्विजवरेण वै ।
बिल्वप्रहारैस्तस्याथ व्यशीर्यद्बन्धनं ततः ॥ २३ ॥
सकुण्डलं तदजिनं पपात सहसा तरोः ।
विशीर्णबन्धने तस्मिन्गते कृष्णाजिने महीम् ॥ २४ ॥
अपश्यद्भुजगः कश्चित्ते तत्र मणिकुण्डले ।
ऐरावतकुलोद्भूतः शीघ्रो भूत्वा तदा हि सः ॥ २५ ॥
विदश्यास्येन वल्मीकं विवेशाथ स कुण्डले ।
ह्रियमाणे तु दृष्ट्वा स कुण्डले भुजगेन ह ॥ २६ ॥
पपात वृक्षात्सोद्वेगो दुःखात्परमकोपनः ।
स दण्डकाष्ठमादाय वल्मीकमखनत्तदा ॥ २७ ॥
अहानि त्रिंशदव्यग्रः पञ्च चान्यानि भारत ।

उत्तंक क्षुधाविष्ट होकर फलके भारसे युक्त एक बेलका वृक्ष देखकर उसपर चढे। (१७-२०)

हे अरिंदमन ! द्विजवर उत्तंक कुण्डलके सहित कृष्णाजिन बेलवृक्षकी शाखामें बांधके बेलका फल तोडने लगे। हे विभु ! जब उत्तंक बेलका फल तोडने लगे, उस समय उनका नेत्र बेलकी चोटसे पीडित होनेसे जिस शाखामें कुण्डलके सहित कृष्णाजिन बांधा था, उस ही मृगखालयुक्त शाखापर बेलके फल गिरे। अनन्तर बेलके प्रहारसे कृष्णाजिनका बन्धन छूट जानेसे कुण्डलके सहित वह काले हरिणका चर्म सहसा पृथ्वीपर गिरा; जब बन्धन छूटनेसे वह कृष्णाजिन भूमिपर गिरा, तब वहां किसी सर्पने उस मणिमय कुण्डलको देखा; अनन्तर ऐरावतवंशमें उत्पन्न हुआ वह सर्प शीघ्रताके सहित मुखमें कुण्डल धारण करके कुण्डलसमेत बिलमें घुस गया। उत्तंक सर्पके द्वारा कुण्डल अपहृत होते देखकर अत्यन्त दुःखित तथा कोपित होकर उद्वेगपूर्वक वृक्षसे गिर पडे। अनन्तर

क्रोधामर्षाभिसंतप्तस्तदा ब्राह्मणसत्तमः ॥ २८ ॥
तस्य वेगमसह्यं तमसहन्ती वसुन्धरा ।
दण्डकाष्ठाभिनुन्नाङ्गी चचाल भृशमाकुला ॥ २९ ॥
ततः खनत एवाथ विप्रर्षेर्धरणीतलम् ।
नागलोकस्य पन्थानं कर्तुकामस्य निश्चयात् ॥ ३० ॥
रथेन हरियुक्तेन तं देशमुपजग्मिवान् ।
वज्रपाणिर्महातेजास्तं ददर्श द्विजोत्तमम् ॥ ३१ ॥
वैशम्पायन उवाच- स तु तं ब्राह्मणो भूत्वा तस्य दुःखेन दुःखितः ।
उत्तङ्कमब्रवीद्वाक्यं नैतच्छक्यं त्वयेति वै ॥ ३२ ॥
इतो हि नागलोको वै योजनानि सहस्रशः ।
न दण्डकाष्ठसाध्यं च मन्ये कार्यमिदं तव ॥ ३३ ॥
उत्तङ्क उवाच- नागलोके यदि ब्रह्मन्न शक्ये कुण्डले मया ।
प्राप्तुं प्राणान्विमोक्ष्यामि पश्यतस्ते द्विजोत्तम ॥ ३४ ॥
वैशम्पायन उवाच- यदा स नाशकत्तस्य निश्चयं कर्तुमन्यथा ।
वज्रपाणिस्तदा दण्डं वज्रास्त्रेण युयोज ह ॥ ३५ ॥
ततो वज्रप्रहारैस्तैर्दार्यमाणा वसुन्धरा ।

वह ब्राह्मणसत्तम उत्तङ्क क्रोध तथा अमर्षपूर्वक अत्यन्त सन्तापित होकर दण्डकाष्ठ लेकर पैंतीस दिन उस बिलको खोदते रहे । काष्ठके प्रहारसे विछिन्न-कलेवरयुक्त वसुन्धरा नागलोकमें जानेके निमित्त मार्ग बनानेके अभिलाषी धरणी-तलविदारी उत्तङ्कके असह्य वेगको न सह सकनेसे अत्यन्त आकुल आई । अनन्तर महातेजस्वी वज्रपाणि इन्द्रने घोडोंसे युक्त रथपर चढके उस स्थानमें आके उत्तंकको देखा । (२१—३१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, इन्द्र ब्राह्मणका वेष धारण करके उत्तंकके दुःखसे दुःखी होकर उनसे बोले, कि यह तुम्हारे लिये साध्य नहीं है । नाग-लोक यहांसे एक हजार योजन है, इसलिये मुझे बोध होता है, कि आप इसे काष्ठसे न खोद सकेंगे । (३२–३३)

उत्तंक बोले, हे ब्रह्मन् ! यदि मैं नागलोकसे कुण्डल पानेमें असमर्थ होऊं, तो आपके सम्मुखमें ही प्राण परित्याग करूंगा । (३४)

श्रीवैशम्पायन बोले, जब उत्तंकको अपने निश्चयसे निवृत्त करनेमें असमर्थ हुए तब इन्द्रने निज वज्रके साथ उस काष्ठको युक्त कर दिया । अनन्तर इन्द्रके

नागलोकस्य पन्थानमकरोज्जनमेजय ॥ ३६ ॥
स तेन मार्गेण तदा नागलोकं विवेश ह ।
ददर्श नागलोकं च योजनानि सहस्रशः ॥ ३७ ॥
प्राकारनिचयैर्दिव्यैर्मणिमुक्तास्वलंकृतैः ।
उपपन्नं महाभाग शातकुम्भमयैस्तथा ॥ ३८ ॥
वापीः स्फटिकसोपाना नदीश्च विमलोदकाः ।
ददर्श वृक्षांश्च बहून्नानाद्विजगणायुतान् ॥ ३९ ॥
तस्य लोकस्य च द्वारं स ददर्श भृगूद्वहः ।
पञ्चयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ४० ॥
नागलोकमुत्तङ्कस्तु प्रेक्ष्य दीनोऽभवत्तदा ।
निराशश्चाभवत्तत्र कुण्डलाहरणे पुनः ॥ ४१ ॥
तत्र प्रोवाच तुरगस्तं कृष्णश्वेतवालधिः ।
ताम्रास्यनेत्रः कौरव्य प्रज्वलन्निव तेजसा ॥ ४२ ॥
धमस्वापानमेतन्मे ततस्त्वं विप्रलप्स्यसे ।
ऐरावतसुतेनेह तवानीते हि कुण्डले ॥ ४३ ॥
मा जुगुप्सां कृथाः पुत्र त्वमत्रार्थे कथंचन ।
त्वयैतद्धि समाचीर्णं गौतमस्याऽऽश्रमे तदा ॥ ४४ ॥

वज्रके प्रहारसे वसुन्धरा विदीर्ण करके नागलोकका पथ किया। उन्होंने उस ही मार्गसे नागलोकमें प्रवेश करके सहस्रयोजनव्यापी नागलोक अवलोकन किया। हे महाभाग! वह नागलोक दिव्य मणि तथा मोतियोंसे अलंकृत, सुवर्णमय दीवारोंसे घिरा हुआ था, उसके बीच सब वापी स्फटिकके द्वारा बनी थीं, सोपानके सहित नदियोंको विमलजलयुक्त तथा वृक्षोंको अनेक भांतिके पक्षियोंके द्वारा परिपूरित देखा। भृगुनन्दन उत्तंक पांच योजन चौडा, एक सौ योजन लम्बा नागलोकका द्वार देखकर वहां दीनभावयुक्त होकर कुण्डल पानेसे निराश हुए। उस द्वारके स्थानमें तांबेके समान मुख, लाल नेत्र, सफेद वर्णकी पूंछयुक्त निज तेजसे प्रज्वलित एक काले रङ्गका घोडा उत्तंकसे बोला। हे विप्र! तुम इस मेरे अपानमें धमन करो। ऐसा करनेसे तुम कुण्डल पाओगे। ऐरावत नागका पुत्र तुम्हारा कुंडल इस स्थानमें ले आया है। हे पुत्र! तुम इस अपानविषयमें कदापि निन्दा न करना; क्यों कि तुम पहले

×

उत्तंक उवाच– कथं भवन्तं जानीयामुपाध्यायाऽऽश्रमं प्रति ।
यन्मया चीर्णपूर्वं हि श्रोतुमिच्छामि तद्ध्यहम् ॥ ४५ ॥
अश्व उवाच– गुरोर्गुरुं मां जानीहि ज्वलनं जातवेदसम् ।
त्वया ह्यहं सदा विप्र गुरोरर्थेऽभिपूजितः ॥ ४६ ॥
विधिवत्सततं विप्र शुचिना भृगुनन्दन ।
तस्माच्छ्रेयो विधास्यामि तवैवं कुरु मा चिरम् ॥४७॥
इत्युक्तस्तु तथाऽकार्षीदुत्तङ्कश्चित्रभानुना ।
घृतार्चिः प्रीतिमांश्चापि प्रजज्वाल दिधक्षया ॥ ४८ ॥
ततोऽस्य रोमकूपेभ्यो धम्यतस्तत्र भारत ।
घनः प्रादुरभूद्धूमो नागलोकभयावहः ॥ ४९ ॥
तेन धूमेन महता वर्धमानेन भारत ।
नागलोके महाराज न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५० ॥
हाहाकृतमभूत्सर्वमैरावननिवेशनम् ।
वासुकिप्रमुखानां च नागानां जनमेजय ॥ ५१ ॥
न प्राकाशन्त वेश्मानि धूमरुद्धानि भारत ।
नीहारसंवृतानीव वनानि गिरयस्तथा ॥ ५२ ॥

गौतमके आश्रममें ऐसा आचरण करते थे। (३५—४४)

उत्तंक बोले, मैं आपको नहीं जान सकता हूं, मैं पहले उपाध्यायके आश्रममें जैसा आचरण करता था, उसे सुननेकी इच्छा करता हूं। (४५)

अश्व बोला, हे विप्र ! मैं तुम्हारे गुरु गौतमका गुरु हूं, तुम मुझे ज्वलन्त जातवेदस् (अग्नि) जानो; तुम गुरुके प्रयोजनके निमित्त शुद्धभावसे सदा मेरी पूजा करते थे, इस ही निमित्त मैं तुम्हारे कल्याणका उपाय करूंगा। मैंने जैसा कहा, तुम शीघ्र वैसा ही करो, विलम्ब मत करो। उत्तंकने चित्रभानुका ऐसा वचन सुनके वैसा ही किया। अनन्तर घृतार्चि (अग्निदेव) उत्तंकसे प्रसन्न होकर नागलोक जलानेकी इच्छासे प्रज्वलित हुए। तब वहांपर उनके रोमकूपसे नागलोकको भयभीत करनेवाला निबिड धूआं प्रकट हुआ। हे भारत ! उस धूआंके अत्यन्त वर्धित होनेपर नागलोगमें कुछ भी न दीख पडा; अनन्तर ऐरावतनागके गृहमें और वासुकी प्रभृति नागोंका हाहाकार शब्द होने लगा। हे भारत ! उस समय नीहारावृत वन तथा पर्वतकी भांति धूएंसे परिपूरित

ते धूमरक्तनयना वह्नितेजोऽभितापिताः ।
आजग्मुर्निश्चयं ज्ञातुं भार्गवस्य महात्मनः ॥ ५३ ॥
श्रुत्वा च निश्चयं तस्य महर्षेरतितेजसः ।
संभ्रान्तनयनाः सर्वे पूजां चक्रुर्यथाविधि ॥ ५४ ॥
सर्वे प्राञ्जलयो नागा वृद्धबालपुरोगमाः ।
शिरोभिः प्रणिपत्योचुः प्रसीद भगवन्निति ॥ ५५ ॥
प्रसाद्य ब्राह्मणं ते तु पाद्यमर्घ्यं निवेद्य च ।
प्रायच्छन्कुण्डले दिव्ये पन्नगाः परमार्चिते ॥ ५६ ॥
ततः स पूजितो नागैस्तदोत्तङ्कः प्रतापवान् ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा जगाम गुरुसद्म तत् ॥ ५७ ॥
स गत्वा त्वरितो राजन् गौतमस्य निवेशनम् ।
प्रायच्छत् कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्यास्तदाऽनघ ॥ ५८ ॥
वासुकिप्रमुखानां च नागानां जनमेजय ।
सर्वं शशंस गुरवे यथावद् द्विजसत्तमः ॥ ५९ ॥
एवं महात्मना तेन त्रींल्लोकान् जनमेजय ।
परिक्रम्याहृते दिव्ये ततस्ते मणिकुण्डले ॥ ६० ॥
एवंप्रभावः स मुनिरुत्तङ्को भरतर्षभ ।

होकर सब गृह अप्रकाशित हुए; धूएंसे नेत्र लाल तथा अग्निके तेजसे तापित होकर सब नागोंने महात्मा भृगुनन्दन उत्तंकका निश्चय जाननेके लिये आगमन किया। (४६—५३)

उन सबने महर्षिका निश्चय सुनके भय-जनित चञ्चलतायुक्त नेत्रसे उनकी पूजा की; नागगण हाथ जोडके बालकों तथा बूढोंको आगे करके सिरसे प्रणाम करके बोले, हे भगवन्! आप हम लोगोंपर प्रसन्न होइये। नागोंने ब्राह्मणको प्रसन्न करते हुए पाद्य अर्घ्य देकर परम पूजित दिव्य मणिमय कुण्डल उन्हें प्रदान किया। अनन्तर प्रतापवान् उत्तंकने नागोंके द्वारा वहांपर पूजित होकर अग्निकी प्रदक्षिणा करके गुरुके गृहपर गमन किया। हे महाराज! उन्होंने शीघ्र ही गुरु गौतमके गृहपर जाकर गुरुपत्नी अहल्याको वह दिव्य कुण्डल प्रदान किया और वासुकि प्रभृति नागोंका वृत्तान्त गुरुके निकट पूरा रीतिसे वर्णन किया। हे जनमेजय! वह महात्मा उत्तङ्क इस ही प्रकार त्रिलोक परिभ्रमण करके उस दिव्य मणिमय कुण्डलको ले आये थे।

परेण तपसा युक्तो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने अष्टपंचाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८ ॥

जनमेजय उवाच- उत्तङ्कस्य वरं दत्वा गोविन्दो द्विजसत्तम।
अत ऊर्ध्वं महाबाहुः किं चकार महायशाः ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच- उत्तङ्काय वरं दत्त्वा प्रायात्सात्यकिना सह।
द्वारकामेव गोविन्दः शीघ्रवेगैर्महाहयैः ॥ २ ॥
सरांसि सरितश्चैव वनानि च गिरींस्तथा।
अतिक्रम्याससादाथ रम्यां द्वारवतीं पुरीम् ॥ ३ ॥
वर्तमाने महाराज महे रैवतकस्य च।
उपायात्पुण्डरीकाक्षो युयुधानानुगस्तदा ॥ ४ ॥
अलंकृतस्तु स गिरिर्नानारूपैर्विचित्रितैः।
बभौ रत्नमयैः कोशैः संवृतः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥
काञ्चनस्रग्भिरग्र्याभिः सुमनोभिस्तथैव च।
वासोभिश्च महाशैलः कल्पवृक्षैस्तथैव च ॥ ६ ॥
दीपवृक्षैश्च सौवर्णैरभीक्ष्णमुपशोभितः।
गुहानिर्झरदेशेषु दिवाभूतो बभूव ह ॥ ७ ॥

हे भरतर्षभ! तुमने जिसका विषय मुझसे पूंछा था, उस परम तपस्वी मुनिवर उत्तंकका ऐसा ही प्रभाव मालूम करो। (५४—३१)

आश्वमेधिकपर्वमें ५८ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ५९ अध्याय।

जनमेजय बोले, हे द्विजसत्तम! महायशस्वी महाबाहु गोविन्दने उत्तंकको वर देकर उसके अनन्तर क्या किया? (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, गोविन्दने उत्तंकको वर देकर सात्यकिके सहित शीघ्रगामी घोडोंसे युक्त रथपर चढके तालाब, नदी और पर्वतोंको अतिक्रम करते हुए द्वारकामें गमन किया। हे महाराज! उस समय रैवतक पर्वतका उत्सव उपस्थित होनेपर पुण्डरीकाक्ष गोविन्द युयुधानके सहित वहां जा पहुंचे। हे भरतपुत्र! वह गिरिवर रैवतक अनेक विचित्र वर्णोंसे अलंकृत, रत्नमय कोषसे पूरित, उत्तम सुवर्णमय माला, मनोहर पुष्प, वस्त्र, कल्पवृक्ष तथा सुवर्णमय दीपवृक्षसे सुशोभित होनेसे उसकी गुफा तथा निर्झर स्थान

पताकाभिर्विचित्राभिः सघण्टाभिः समन्ततः ।
पुंभिः स्त्रीभिश्च संघुष्टः प्रगीत इव चाभवत् ॥ ८ ॥
अतीव प्रेक्षणीयोऽभून्मेरुर्मुनिगणैरिव ।
मत्तानां हृष्टरूपाणां स्त्रीणां पुंसां च भारत ॥ ९ ॥
गायतां पर्वतेन्द्रस्य दिवस्पृगिव निःस्वनः ।
प्रमत्तामत्तसंमत्तक्ष्वेडितोत्कृष्टसंकुलः ॥ १० ॥
तथा किलकिलाशब्दैर्भूधरोऽभून्मनोहरः ।
विपणापणवान् रम्यो भक्ष्यभोज्यविहारवान् ॥ ११ ॥
वस्त्रमाल्योत्करयुतो वीणावेणुमृदङ्गवान् ।
सुरामैरेयमिश्रेण भक्ष्यभोज्येन चैव ह ॥ १२ ॥
दीनान्धकृपणादिभ्यो दीयमानेन चानिशम् ।
बभौ परमकल्याणो महस्तस्य महागिरेः ॥ १३ ॥
पुण्यावसथवान्वीरपुण्यकृद्भिर्निषेवितः ।
विहारो वृष्णिवीराणां महे रैवतकस्य ह ॥ १४ ॥
स नगो वेश्मसंकीर्णो देवलोक इवाबभौ ।
तदा च कृष्णंसान्निध्यमासाद्य भरतर्षभ ॥ १५ ॥
शक्रसद्मप्रतीकाशो बभूव स हि शैलराट् ।

दिनकी भांति प्रकाशित होने लगे। चारों ओर घण्टायुक्त विचित्र पताका और स्त्री-पुरुषोंके समूहसे परिपूरित होकर मानो उत्तम गीत होने लगा; मणियोंके द्वारा विभूषित होनेसे सुमेरुकी भांति दर्शनीय हुआ। प्रमत्त तथा हर्षित स्त्रियें और गीत गानेवाले पुरुषोंके गगनस्पर्शी शब्दके द्वारा ऐसा मालूम होने लगा, कि मानो वह पर्वतेन्द्र हि गान कर रहा है। प्रमत्त, मत्त और सम्मत्त प्राणियोंके क्ष्वेडित तथा उत्कृष्ट शब्दोंसे वह स्थान परिपूरित होगया; उस समय वह पर्वत किलकिल शब्दके द्वारा मनोहर तथा विपण, आपण, भक्ष्य-भोज्य और विहारकी वस्तुओंसे युक्त होनेसे अत्यन्त मनोरम हुआ। वहांपर ढेरके ढेर वस्त्र, माला, वीणा, वेणु, मृदङ्ग, मैरेय, सुरा और अनेक प्रकारकी भक्ष्य भोज्य उपस्थित रहने अथवा दीन, अन्धे और कृपण पुरुषोंको लगातार दान करनेसे उस रैवतक महागिरिका महोत्सव अत्यन्त आनन्दजनक हुआ था। रैवतकके उत्सवमें पुरुषोंने वृष्णि-वंशीय वीरोंके पवित्र गृहयुक्त विहार-

ततः संपूज्यमानः स विवेश भवनं शुभम् ॥ १६ ॥
गोविन्दः सात्यकिश्चैव जगाम भवनं स्वकम् ।
विवेश च प्रहृष्टात्मा चिरकालप्रवासतः ॥ १७ ॥
कृत्वा नसुकरं कर्म दानवेष्विव वासवः ।
उपयान्तं तु वार्ष्णेयं भोजवृष्ण्यन्धकास्तथा ॥ १८ ॥
अभ्यगच्छन्महात्मानं देवा इव शतक्रतुम् ।
स तानभ्यर्च्य मेधावी पृष्ट्वा च कुशलं तदा ।
अभ्यवादयत प्रीतः पितरं मातरं तदा ॥ १९ ॥
ताभ्यां स संपरिष्वक्तः सान्त्वितश्च महाभुजः ।
उपोपविष्टैः सर्वैस्तैर्वृष्णिभिः परिवारितः ॥ २० ॥
स विश्रान्तो महातेजाः कृतपादावनेजनः ।
कथयामास तत्सर्वं पृष्टः पित्रा महाहवम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीता-पर्वणि कृष्णस्य द्वारकाप्रवेशे ऊनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

वासुदेव उवाच– श्रुतवानस्मि वार्ष्णेय संग्रामं परमाद्भुतम् ।

स्थानमें निवास किया था। हे भरतश्रेष्ठ! उस समय गृहसमूहसे परिव्याप्त होकर वह गिरिवर कृष्णकी सान्निध्य पाके इन्द्रालय तथा देवलोककी भांति प्रकाशित हुआ था। (२—१६)

अनन्तर गोविन्द सात्यकिके सहित सम्मानित होकर बहुत समयतक प्रवासमें रहनेसे प्रहृष्टचित्तसे निज भवनमें गये। दानवोंके दलको दमन करके इन्द्रके अमरावती नगरीमें आनेपर देववृन्द जिस प्रकार उनके निकट गमन करते हैं, उसही प्रकार वृष्णिकुलनन्दन कृष्णने जब कुरुकुलध्वंसरूपी दुष्कर कर्म करके द्वारकापुरीमें प्रवेश किया, तब भोज, वृष्णि तथा अन्धकवंशीय पुरुष उनके निकट उपस्थित हुए। मेधावी कृष्णने उन लोगोंकी सम्मानता करते हुए कुशलादि पूंछकर प्रसन्नचित्तसे पिता तथा माताको प्रणाम किया। महाभुज कृष्ण पितामाताके द्वारा आलिङ्गित तथा सान्त्वित होकर समीपमें बैठे हुए उन वृष्णिवंशियोंके द्वारा परिवेष्टित हुए। जब महातेजस्वी कृष्ण पांव धोकर विश्रान्त भावसे बैठे, तब पिताके द्वारा युद्धका वृत्तान्त पूंछनेपर उनसे उस युद्धका सारा वृत्तान्त कहने लगे। (१७—२१)

आश्वमेधिकपर्वमें ५९ अध्याय समाप्त।

नराणां वदतां पुत्र कथोद्घातेषु नित्यशः ॥ १ ॥
त्वं तु प्रत्यक्षदर्शी च रूपज्ञश्च महाभुजः ।
तस्मात्प्रब्रूहि संग्रामं याथातथ्येन मेऽनघ ॥ २ ॥
यथा तदभवद्युद्धं पाण्डवानां महात्मनाम् ।
भीष्मकर्णकृपद्रोणशल्यादिभिरनुत्तमम् ॥ ३ ॥
अन्येषां क्षत्रियाणां च कृतास्त्राणामनेकशः ।
नानावेषाकृतिमतां नानादेशनिवासिनाम् ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच— इत्युक्तः पुण्डरीकाक्षः पित्रा मातुस्तदन्तिके ।
शशंस कुरुवीराणां संग्रामे निधनं यथा ॥ ५ ॥
वासुदेव उवाच— अत्यद्भुतानि कर्माणि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।
बहुलत्वान्न संख्यातुं शक्यान्यब्दशतैरपि ॥ ६ ॥
प्राधान्यतस्तु गदतः समासेनैव मे श्रृणु ।
कर्माणि पृथिवीशानां यथावदमरद्युते ॥ ७ ॥
भीष्मः सेनापतिरभूदेकादशचमूपतिः ।
कौरव्यः कौरवेन्द्राणां देवानामिव वासवः ॥ ८ ॥

आश्वमेधिकपर्वमें ६० अध्याय ।

वसुदेव बोले, हे वृष्णिकुलनन्दन कृष्ण! उस कुरुक्षेत्रमें नित्य कथा-प्रसङ्गसे परस्पर विवाद करनेवाले मनुष्योंका जो परम अद्भुत संग्राम हुआ था, उसे मैंने सुना है; परन्तु तुमने प्रत्यक्ष देखा तथा तुम्हें उसका रूप मालूम है। हे अनघ! इसलिये उस संग्रामका यथार्थ रीतिसे मेरे समीप वर्णन करो। भीष्म, द्रोण, कृप और शल्य, इनके सङ्ग महात्मा पाण्डवोंका तथा अनेक वेश वा रूपविशिष्ट अनेक देशवासी अन्यान्य कृतास्त्र क्षत्रियोंका जिस प्रकार युद्ध हुआ था, उसे भी कहो। (१-४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पुण्डरीकाक्ष कृष्ण माताके समीप पिताका ऐसा वचन सुनके युद्धमें जिस प्रकार कौरवोंकी मृत्यु हुई थी, उसे कहने लगे। (५)

श्रीकृष्ण बोले, महात्मा क्षत्रियोंका वह सब अत्यन्त अद्भुत कर्म एक सौ वर्षमें भी नहीं कहा जा सकता; तब संक्षेपमें मुख्य मुख्य राजाओंके कार्यका यथावत् वर्णन करता हूं, सुनिये। कुरुवंशावतंस कौरवोंके सेनापति भीष्म सुरसेनापति इन्द्रकी भांति कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके अधिपति हुए

शिखण्डी पाण्डुपुत्राणां नेता सप्तचमूपतिः ।
बभूव रक्षितो धीमान् श्रीमता सव्यसाचिना ॥ ९ ॥
तेषां तदभवद्युद्धं दशाहानि महात्मनाम् ।
कुरूणां पाण्डवानां च सुमहल्लोमहर्षणम् ॥ १० ॥
ततः शिखण्डी गाङ्गेयं युध्यमानं महाऽऽहवे ।
जघान बहुभिर्बाणैः सह गाण्डीवधन्वना ॥ ११ ॥
अकरोत्स ततः कालं शरतल्पगतो मुनिः ।
अयनं दक्षिणं हित्वा संप्राप्ते चोत्तरायणे ॥ १२ ॥
ततः सेनापतिरभूद् द्रोणोऽस्त्रविदुषां वरः ।
प्रवीरः कौरवेन्द्रस्य काव्यो दैत्यपतेरिव ॥ १३ ॥
अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्नवभिर्द्विजसत्तमः ।
संवृतः समरश्लाघी गुप्तः कृपवृषादिभिः ॥ १४ ॥
धृष्टद्युम्नस्त्वभून्नेता पाण्डवानां महास्त्रवित् ।
गुप्तो भीमेन मेधावी मित्रेण वरुणो यथा ॥ १५ ॥
स च सेनापरिवृतो द्रोणप्रेप्सुर्महामनाः ।
पितुर्निकारान्संस्मृत्य रणे कर्माकरोन्महत् ॥ १६ ॥
तस्मिंस्ते पृथिवीपाला द्रोणपार्षतसंगरे ।

थे। पाण्डवपक्षके नेता धीमान् शिखण्डी सात अक्षौहिणीके अधिपति हुए, श्रीमान् सव्यसाची अर्जुन उनकी रक्षा करते थे। उन महात्मा कुरुपाण्डवोंमें दश दिनतक रोमहर्षजनक युद्ध होता रहा, अनन्तर शिखण्डीने गाण्डीवधारी अर्जुनके सहित महासंग्राममें युध्यमान गङ्गानन्दन भीष्मको अनेक बाणोंसे मारा। उस मनस्वी भीष्मने दक्षिणायन भर शरशय्यापर रहके उत्तरायण उपस्थित होनेपर प्राण परित्याग किया। अनन्तर दैत्यगुरु भार्गवकी भांति कुरुकुलके गुरु महास्त्रवित् द्रोण कौरवोंके सेनापति हुए। वह युद्धमें प्रशंसित द्विजसत्तम द्रोण अवशिष्ट नव अक्षौहिणी सेनासे घिरकर युद्ध करनेमें प्रवृत्त हुए, कृप तथा मुख्य क्षत्रियगण उनकी रक्षामें नियुक्त हुए थे। (९-१४)

मेधावी महास्त्रवित् धृष्टद्युम्न पाण्डवोंके सेनापति हुए, मित्रोंके द्वारा रक्षित वरुणकी भांति वह भीमसे रक्षित हुए थे। उस महामना धृष्टद्युम्नने पिताका परिभव स्मरण करते हुए द्रोणको मारनेकी इच्छा करके सेनासमूहसे घिरकर

नानादिग्गागता वीराः प्रायशो निधनं गताः ॥ १७ ॥
दिनानि पञ्च तद्युद्धमभूत्परमदारुणम् ।
ततो द्रोणः परिश्रान्तो धृष्टद्युम्नवशं गतः ॥ १८ ॥
ततः सेनापतिरभूत्कर्णो दौर्योधने बले ।
अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्वृतः पञ्चभिराहवे ॥ १९ ॥
तिस्रस्तु पाण्डुपुत्राणां चम्वो बीभत्सुपालिताः ।
हतप्रवीरभूयिष्ठा बभूवुः समवस्थिताः ॥ २० ॥
ततः पार्थं समासाद्य पतङ्ग इव पावकम् ।
पञ्चत्वमगमत्सौतिर्द्वितीयेऽहनि दारुणः ॥ २१ ॥
हते कर्णे तु कौरव्या निरुत्साहा हतौजसः ।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिर्मद्रेशं पर्यवारयन् ॥ २२ ॥
हतवाहनभूयिष्ठाः पाण्डवास्तु युधिष्ठिरम् ।
अक्षौहिण्या निरुत्साहाः शिष्टया पर्यवारयन् ॥ २३ ॥
अवधीन्मद्रराजानं कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
तस्मिंस्तदार्धदिवसे कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ २४ ॥
हते शल्ये तु शकुनिं सहदेवो महामनाः ।

युद्धमें अत्यन्त दुष्कर कर्म किया था । कई दिशाओंसे आये हुए राजा लोग उस द्रोण और धृष्टद्युम्नके युद्धमें प्रायः सभी मृत्युको प्राप्त हुए । पांच दिनतक वह दारुण संग्राम हुआ, उसके अनन्तर द्रोणाचार्य विश्रान्त होकर धृष्टद्युम्नके वशवर्ती हुए । तब कर्ण दुर्योधनके सेनाके बीच अवशिष्ट पांच अक्षौहिणी सेनासे घिरकर युद्धमें सेनापतिके कार्यपर नियुक्त हुए । पाण्डवोंकी ओर बहुतसे वीरोंके मरनेपर अवशिष्ट तीन अक्षौहिणी सेना अर्जुनके द्वारा रक्षित होकर युद्धमें स्थित हुई । अनन्तर दूसरे दिन सूतनन्दन अत्यन्त प्रचण्ड कर्णने अग्निमें पडे हुए पतङ्गकी भांति पृथापुत्र अर्जुनको प्राप्त होकर पञ्चत्व लाभ किया । कर्णके मरनेपर कौरवोंने तेजरहित तथा निरुत्साह होकर मद्रराज शल्यको तीन अक्षौहिणी सेनाका अधिपति किया; पाण्डवोंने भी वाहन आदि नष्ट होनेपर निरुत्साही होकर शल्यके सङ्ग युद्ध करनेके लिये युधिष्ठिरको एक अक्षौहिणी सेनाका सेनापति किया । (१५—२३)

कुरुराज युधिष्ठिरने आधे दिनतक मद्रराज शल्यके सहित अत्यन्त दुष्कर संग्राम करके उन्हें संहार किया । शल्यके

आहर्तारं कलेस्तस्य जघानामितविक्रमः ॥ २५ ॥
निहते शकुनौ राजा धार्तराष्ट्रः सुदुर्मनाः ।
अपाक्रामद्गदापाणिर्हतभूयिष्ठसैनिकः ॥ २६ ॥
तमन्वधावत्संक्रुद्धो भीमसेनः प्रतापवान् ।
ह्रदे द्वैपायने चापि सलिलस्थं ददर्श तम् ॥ २७ ॥
हतशिष्टेन सैन्येन समन्तात्पर्यवार्य तम् ।
अथोपविविशुर्हृष्टा ह्रदस्थं पञ्च पाण्डवाः ॥ २८ ॥
विगाह्य सलिलं त्वाशु वाग्बाणैर्भृशविक्षतः ।
उत्थाय स गदापाणिर्युद्धाय समुपस्थितः ॥ २९ ॥
ततः स निहतो राजा धार्तराष्ट्रो महारणे ।
भीमसेनेन विक्रम्य पश्यतां पृथिवीक्षिताम् ॥ ३० ॥
ततस्तत्पाण्डवं सैन्यं प्रसुप्तं शिबिरे निशि ।
निहतं द्रोणपुत्रेण पितुर्वधममृष्यता ॥ ३१ ॥
हतपुत्रा हतबला हतमित्रा मया सह ।
युयुधानसहायेन पञ्च शिष्टास्तु पाण्डवाः ॥ ३२ ॥
सहैव कृपभोजाभ्यां द्रौणिर्युद्धादमुच्यत ।

मरनेपर महामना अमितविक्रम सहदेवने उस कलहके मूल शकुनिको मार डाला। शकुनि और सब सेनाके नष्ट होनेपर धृतराष्ट्रपुत्र राजा सुयोधनने अत्यन्त दुःखित होकर गदा लेके भागकर द्वैपायन ह्रदमें निवास किया, इधर प्रतापवान् भीमसेनने क्रुद्ध होकर उनका अनुसन्धान करते हुए उन्हें द्वैपायन ह्रदके बीच अवलोकन किया। अनन्तर पांचों पाण्डव प्रसन्नचित्तसे मारनेसे बची हुई सेनाके सहित तालावमें स्थित सुयोधनको घेरकर वहां बैठकर उनकी निन्दा करने लगे। जलके बीच सुयोधन वाग्बाणसे अत्यन्त पीडित होकर हाथमें गदा लेकर जलसे निकलकर युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए; तब भीमसेनने युद्धमें राजाओंके सम्मुख विक्रम प्रकाश करके धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको मारा। अनन्तर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने पिताके वधसे अत्यन्त क्रुद्ध होकर रात्रिके समय शिबिरमें सोई हुई पाण्डवोंकी समस्त सेनाका संहार किया। उस समय मेरे तथा सात्यकिके अतिरिक्त पुत्र, बल तथा मित्रोंके सहित केवल पांच पाण्डव शेष रहे; कृपाचार्य तथा कृतवर्माके सहित अश्वत्थामा, युद्धसे

युयुत्सुश्चापि कौरव्यो मुक्तः पाण्डवसंश्रयात् ॥ ३३ ॥
निहते कौरवेन्द्रे तु सानुबन्धे सुयोधने ।
विदुरः संजयश्चैव धर्मराजमुपस्थितौ ॥ ३४ ॥
एवं तदभवद्युद्धमहान्यष्टादश प्रभो ।
यत्र ते पृथिवीपाला निहताः स्वर्गमावसन् ॥ ३५ ॥
वैशम्पायन उवाच– शृण्वतां तु महाराज कथां तां लोमहर्षणाम् ।
दुःखशोकपरिक्लेशा वृष्णीनामभवंस्तदा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वासुदेववाक्ये षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

वैशम्पायन उवाच– कथयन्नेव तु तदा वासुदेवः प्रतापवान् ।
महाभारतयुद्धं तत्कथान्ते पितुरग्रतः ॥ १ ॥
अभिमन्योर्वधं वीरः सोत्यक्रान्महामतिः ।
अप्रियं वसुदेवस्य मा भूदिति महामतिः ॥ २ ॥
मा दौहित्रवधं श्रुत्वा वसुदेवो महात्ययम् ॥ ३ ॥
दुःखशोकाभिसंतप्तो भवेदिति महामतिः ।
सुभद्रा तु तमुत्क्रान्तमात्मजस्य वधं रणे ॥ ४ ॥

निवृत्त हुए और कुरुवंशीय युधिष्ठिर पाण्डवोंके निकट रहनेसे बच गये। कौरवेन्द्र सुयोधन जब बान्धवोंके सहित मारे गये, तब विदुर और सञ्जय धर्मराजके निकट उपस्थित हुए। हे प्रभु! इस ही प्रकार वह युद्ध अठारह दिन हुआ था, उसमें जो सब राजा मारे गये, वे स्वर्गलोकमें गये हैं। (२४–३५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज! वृष्णिवंशीय पुरुष यह लोमहर्षण कथा सुनके दुःख तथा शोकसे अत्यन्त शोकित हुए। (३६)

आश्वमेधिकपर्वमें ६० अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ६१ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाबुद्धिमान् प्रतापवान् कृष्ण उस भारत-युद्धका वृत्तान्त वर्णन करते हुए अभिमन्युका वृत्तान्त वसुदेवको अप्रिय होगा, ऐसा समझके उसे अतिक्रम करके कहने लगे। वसुदेव दौहित्रवधका वृत्तान्त सुननेसे दुःख तथा शोकसे अत्यन्त सन्तापित होंगे; ऐसा विचारके उसे न कहा, परन्तु सुभद्रा कृष्णसे बोली, "हे कृष्ण! तुमने जो मेरे पुत्र अभिमन्युका वध-वृत्तान्त गोपन किया है, उसे कहो," इतना कहके पृथ्वीपर गिर पडी। उस

आचक्ष्व कृष्ण सौभद्रवधमित्यपतद्भुवि ।
तामपश्यन्निपतितां वसुदेवः क्षितौ तदा ॥ ५ ॥
दृष्ट्वैव च पपातोर्व्यां सोऽपि दुःखेन मूर्च्छितः ।
ततः स दौहित्रवधदुःखशोकसमाहतः ॥ ६ ॥
वसुदेवो महाराज कृष्णं वाक्यमथाऽब्रवीत् ।
न नु त्वं पुण्डरीकाक्ष सत्यवाग्भुवि विश्रुतः ॥ ७ ॥
यद्दौहित्रवधं मेऽद्य न ख्यापयसि शत्रुहन् ।
तद्भागिनेयनिधनं तत्त्वेनाचक्ष्व मे प्रभो ॥ ८ ॥
सदृशाक्षस्तव कथं शत्रुभिर्निहतो रणे ।
दुर्मरं बत वार्ष्णेय कालेऽप्राप्ते नृभिः सह ॥ ९ ॥
यत्र मे हृदयं दुःखाच्छतधा न विदीर्यते ।
किमब्रवीत्त्वां संग्रामे सुभद्रां मातरं प्रति ॥ १० ॥
मां चापि पुण्डरीकाक्ष चपलाक्षः प्रियो मम ।
आहवं पृष्ठतः कृत्वा कच्चिन्न निहतः परैः ॥ ११ ॥
कच्चिन्मुखं न गोविन्द तेनाजौ विकृतं कृतम् ।
स हि कृष्ण महातेजाः श्लाघन्निव ममाग्रतः ॥ १२ ॥

समय सुभद्राको पृथ्वीमें गिरती देखकर वसुदेव भी दुःखसे मूर्च्छित होकर भूमिमें गिरे । अनन्तर वसुदेव दौहित्र-वधजनित शोकसे पीडित होकर कृष्णसे बोले । हे पुण्डरीकाक्ष ! तुम जो सत्यवादी कहके पृथ्वीमें विख्यात हुए हो, उसमें मुझे विश्वास नहीं होता; क्यों कि आज तुमने मेरे समीप दौहित्रवधवृत्तान्त प्रकाश न किया । हे कृष्ण ! तुम अपने भानजेका वध-वृत्तान्त मुझसे यथार्थ रीतिसे कहो । (१-८)

हे वार्ष्णेय ! तुम्हारे नेत्रसदृश नयन-सम्पन्न सुभद्रापुत्र अभिमन्यु अकालमें मनुष्योंके सहित दुर्मरणकी भांति युद्धमें शत्रुओंके द्वारा क्यों मारा गया ? हे कृष्ण ! इतनेपर भी दुःखसे मेरा हृदय सौ टुकडे होकर विदीर्ण न हुआ ! जब वह अभिमन्यु युद्धमें मारा गया, उस समय उसने अपनी माता सुभद्राको और मुझे क्या कहा था ? हे पुण्डरीकाक्ष ! वह चञ्चलनेत्रवाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु मेरा परम प्रियपात्र था, क्या युद्धमें पराङ्मुख होनेपर शत्रुओंने उसे मारा है ? हे गोविन्द ! शत्रुओंने युद्धमें उसका मुख विकृत तो नहीं किया ? हे कृष्ण ! वह महातेजस्वी मेरे निकट तो

बालभावेन विनयमात्मनोऽकथयत्प्रभुः ।
कच्चिन्न निकृतो बालो द्रोणकर्णकृपादिभिः ॥ १३ ॥
धरण्यां निहतः शेते तन्ममाऽऽचक्ष्व केशव ।
स हि द्रोणं च भीष्मं च कर्णं च बलिनां वरम् ॥ १४ ॥
स्पर्धते स्म रणे नित्यं दुहितुः पुत्रको मम ।
एवंविधं बहु तदा विलपन्तं सुदुःखितम् ॥ १५ ॥
पितरं दुःखिततरो गोविन्दो वाक्यमब्रवीत् ।
न तेन विकृतं वक्त्रं कृतं संग्राममूर्धनि ॥ १६ ॥
न पृष्ठतः कृतश्चापि सङ्ग्रामस्तेन दुस्तरः ।
निहत्य पृथिवीपालान्सहस्रशतसङ्घशः ॥ १७ ॥
खेदितो द्रोणकर्णाभ्यां दौःशासनिवशं गतः ।
एको ह्येकेन सततं युध्यमानो यदि प्रभो ॥ १८ ॥
न स शक्येत संग्रामे निहन्तुमपि वज्रिणा ।
समाहूते च संग्रामात्पार्थे संशप्तकैस्तदा ॥ १९ ॥
पर्यवार्यत संक्रुद्धैः स द्रोणादिभिराहवे ।
ततः शत्रुवधं कृत्वा सुमहान्तं रणे पितः ॥ २० ॥

प्रशंसित हुआ था ? वह बालभावसे सबके निकट अपनी विनय कहता था। हे केशव ! वह बालक द्रोण, कर्ण, कृप प्रभृति तथा क्षत्रियोंके द्वारा तो नहीं मारा गया ? वह शत्रुके द्वारा मरकर जिस प्रकार पृथ्वीपर सोया था, वह मुझसे कहो। वह दुहितृका पुत्र अभिमन्यु युद्धमें द्रोण, भीष्म और अत्यन्त बलशाली कर्णकी स्पर्धा करता था। (९-१५)

जिस समय वसुदेव दुःखके सहित इस प्रकार अनेक भांति विलाप करने लगे; तब गोविन्द अत्यन्त दुःखित होकर उनसे बोले, कि अभिमन्युने युद्धभूमिमें वक्त्र विकृत नहीं किया, बल्कि युद्धसे पराङ्मुख न होकर दुस्तर संग्राम किया था। सैकडों सहस्रों राजाओंको मारकर द्रोणाचार्य और कर्णके द्वारा पीडित होकर दुःशासनपुत्रके वशवर्ती हुआ था। हे प्रभु ! यदि कौरवगण अकेले अकेले अभिमन्युके सङ्ग युद्ध करते, तो कोई भी उसे पराजित न कर सकता; कौरवोंकी बात तो दूर रहे, वज्रपाणि इन्द्र भी युद्धमें अकेले उसका वध करनेमें समर्थ न होते। उस समय जब अर्जुन संसप्तकोंके सङ्ग पृथक् होकर युद्ध करने लगे, तब द्रोण प्रभृति योद्धा-

दौहित्रस्तव वार्ष्णेय दौःशासनिवशं गतः ।
नूनं च स गतः स्वर्गं जहि शोकं महामते ॥ २१ ॥
न हि व्यसनमासाद्य सीदन्ति कृतबुद्धयः ।
द्रोणकर्णप्रभृतयो येन प्रतिसमासिताः ॥ २२ ॥
रणे महेन्द्रप्रतिमाः स कथं नाप्नुयाद्दिवम् ।
स शोकं जहि दुर्धर्ष मा च मन्युवशं गमः ॥ २३ ॥
शस्त्रपूतां हि स गतिं गतः परपुरंजयः ।
तस्मिंस्तु निहते वीरे सुभद्रेयं स्वसा मम ॥ २४ ॥
दुःखार्तार्थो सुतं प्राप्य कुररीव ननाद ह ।
द्रौपदीं च समासाद्य पर्यपृच्छत दुःखिता ॥ २५ ॥
आर्ये क दारकाः सर्वे द्रष्टुमिच्छामि तानहम् ।
अस्यास्तु वचनं श्रुत्वा सर्वास्ताः कुरुयोषितः ॥ २६ ॥
भुजाभ्यां परिगृह्यैनां चुक्रुशुः परमार्तवत् ॥ २७ ॥
उत्तरां चाब्रवीद्भद्रे भर्ता स क नु ते गतः ।
क्षिप्रमागमनं मह्यं तस्य त्वं वेदयस्व ह ॥ २८ ॥

ओंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसे घेर लिया। हे पिता ! इतनेपर भी सुभद्रापुत्र युद्धमें अत्यन्त महत् तथा समधिक शत्रुओंका संहार करके अन्तमें दुःशासनपुत्रके वश-वर्ती हुआ। हे महाप्राज्ञ ! वह सुभद्रा-पुत्र निश्चय ही स्वर्गमें गया है, आप उसके लिये शोक न करिये, शोक परित्याग करिये; इस विषयमें आपके सदृश कृतबुद्धि पुरुषोंको व्यसनमें पडके अवसन्न होना उचित नहीं है। जब कि महेन्द्रसदृश बलशाली कर्ण प्रभृति वीरगण जिसके सङ्ग युद्ध करके स्वर्गमें गये हैं, तब वह अभिमन्यु स्वर्गमें क्यों न जायगा ? (१५–२३)

हे दुर्धर्ष ! आप शोक परित्याग करिये, मन्युके वशमें न होइये, उस पराये देसको जीतनेवाले अभिमन्युको निश्चय ही शस्त्रपूत गति प्राप्त हुई है। उस वीर अभिमन्युके मरनेपर मेरी यह सुभद्रा बहिनने दुःखसे आर्त होकर पृथाके निकट जाकर कुररीकी भांति अत्यन्त रोदन करती हुई दुःखित चित्तसे द्रौपदीसे पूछा, कि हे आर्ये ! पुत्रगण कहां हैं ? मैं उन्हें एक बार देखूंगी। सुभद्राका ऐसा वचन सुनकर कुरुस्त्रीगण दोनों भुजाओंसे इसे धारण करके अत्यन्त आर्तकी भांति रोने लगीं। सुभद्रा कुरुस्त्रियोंके सहित उत्तरासे बोली, भद्रे !

न नु नामाद्य वैराटि श्रुत्वा मम गिरं सदा ।
भवनान्निष्पतत्याशु कस्मान्नाभ्येति ते पतिः ॥ २९ ॥
अभिमन्यो कुशलिनो मातुलास्ते महारथाः ।
कुशलं चाब्रुवन्सर्वे त्वां युयुत्सुमिहागतम् ॥ ३० ॥
आचक्ष्व मेऽद्य संग्रामं यथापूर्वमरिंदम ।
कस्मादेवं विलपतीं नाद्येह प्रतिभाषसे ॥ ३१ ॥
एवमादि तु वार्ष्णेय्यास्तस्यास्तत्परिदेवितम् ।
श्रुत्वा पृथा सुदुःखार्ता शनैर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३२ ॥
सुभद्रे वासुदेवेन तथा सात्यकिना रणे ।
पित्रा च लालितो बालः स हतः कालधर्मणा ॥ ३३ ॥
ईदृशो मर्त्यधर्मोऽयं मा शुचो यदुनन्दिनि ।
पुत्रो हि तव दुर्धर्षः संप्राप्तः परमां गतिम् ॥ ३४ ॥
कुले महति जाताऽसि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।
मा शुचः चपलाक्षं त्वं पद्मपत्रनिभेक्षणे ॥ ३५ ॥
उत्तरां त्वमवेक्षस्व गुर्विणीं मा शुचः शुभे ।

तुम्हारा स्वामी कहां गया है ? तुम मुझसे बताओ, वह कब आवेगा ? हे विराट-नन्दिनी ! जब मैं अभिमन्युको बुलाती थी, तब वह मेरी बात सुनते ही उसी समय तुम्हारे सहित गृहसे बाहिर होता था; आज तुम्हारा पति क्यों नहीं आता है ? हे अभिमन्यु ! तुम्हारे इस स्थानमें रहनेपर तुम्हें युद्धप्रिय जानके तुम्हारे मामा तुमसे युद्धका कुशलादि वृत्तान्त कहते थे। हे अरिदमन ! आज तुम मुझसे पूरी रीतिसे संग्रामका वृत्तान्त कहो, इस समय मैं इस प्रकार विलाप करती हूं, तुम किस निमित्त प्रत्युत्तर नहीं देते हो ? (२३—३१)

पृथा वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुई सुभद्राका ऐसा विलाप सुनकर अत्यन्त दुःखित-चित्तसे धीरे धीरे उससे बोली, हे सुभद्रे ! वह बालक अभिमन्यु युद्धमें श्रीकृष्ण, सात्यकि और निज पिता अर्जुनके द्वारा लालित होनेपर भी काल-धर्मके अनुसार मारा गया है । हे यदुनन्दिनी ! मृत्युधर्म ही ऐसा है, इसलिये इस विषयमें शोक मत करो; तुम्हारे उस दुर्धर्ष पुत्रको निश्चयही परम गति प्राप्त हुई है। हे पद्म-पलाश-नयनी ! तुम महात्मा क्षत्रियोंके बीच महत्कुलमें जन्मी हो, हे चञ्चलनयनी ! इसलिये तुम्हें शोक करना उचित नहीं

पुत्रमेषा हि तस्याशु जनयिष्यति भाविनी ॥ ३६ ॥
एवमाश्वासयित्वैनां कुन्ती यदुकुलोद्वह ।
विहाय शोकं दुर्धर्षं श्राद्धमस्य ह्यकल्पयत् ॥ ३७ ॥
समनुज्ञाप्य धर्मज्ञं राजानं भीममेव च ।
यमौ यमोपमौ चैव ददौ दानान्यनेकशः ॥ ३८ ॥
ततः प्रदाय बह्वीर्गा ब्राह्मणाय यदूद्वह ।
समाहूष्य तु वार्ष्णेयी वैराटीमब्रवीदिदम् ॥ ३९ ॥
वैराटि नेह संतापस्त्वया कार्यो ह्यनिन्दिते ।
भर्तारं प्रति सुश्रोणि गर्भस्थं रक्ष वै शिशुम् ॥ ४० ॥
एवमुक्त्वा ततः कुन्ती विरराम महाद्युते ।
तामनुज्ञाप्य चैवेमां सुभद्रां समुपानयम् ॥ ४१ ॥
एवं स निधनं प्राप्तो दौहित्रस्तव मानद ।
संतापं त्यज दुर्धर्ष मा च शोके मनः कृथाः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वसुदेवसान्त्वने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच– एतच्छ्रुत्वा तु पुत्रस्य वचः शूरात्मजस्तदा ।

है। हे शुभे ! तुम गर्भिणी उत्तराको अवलोकन करो, यह भाविनी उत्तराके गर्भसे शीघ्रही उस अभिमन्युका पुत्र उत्पन्न होगा। हे यदुकुलोद्वह ! कुन्तीने इसही प्रकार सुभद्राको धीरज देकर शोक परित्याग करके अभिमन्युका श्राद्धादि किया। धर्म जाननेवाली कुंतीने अभिमन्युके उद्देश्यसे दान करनेके निमित्त युधिष्ठिर, भीष्म, यमसदृश नकुल-सहदेवको आज्ञा करके बहुतसा धन दान दिया। अनन्तर वह ब्राह्मणोंको बहुतसी गऊ प्रदान करके विराटपुत्री उत्तराको बुलाकर बोली। हे अनिन्दिते विराटनन्दिनि ! इस समय तुम्हें पतिके लिये सन्ताप करना उचित नहीं है, तुम गर्भस्थ शिशुकी रक्षा करो। हे महातेजस्वी ! कुन्ती उत्तराको ऐसाही कहके विरत हुई, इधर मैं सुभद्राको ले आया। हे दुर्धर्ष मानद ! आपके दौहित्रकी इसी प्रकार मृत्यु हुई है, इसलिये आप शोक परित्याग करिये, तथा चित्तको शोकाकुल न करिये। (३१–४२)

आश्वमेधिकपर्वमें ६१ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ६२ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उस समय धर्मात्मा शूरनन्दन वसुदेवने पुत्रका इस

विहाय शोकं धर्मात्मा ददौ श्राद्धमनुत्तमम् ॥ १ ॥
तथैव वासुदेवश्च स्वस्रीयस्य महात्मनः ।
दयितस्य पितुर्नित्यमकरोदौर्ध्वदेहिकम् ॥ २ ॥
षष्टिं शतसहस्राणि ब्राह्मणानां महौजसाम् ।
विधिवद्भोजयामास भोज्यं सर्वगुणान्वितम् ॥ ३ ॥
आच्छाद्य च महाबाहुर्धनतृष्णामपानुदत् ।
ब्राह्मणानां तदा कृष्णस्तदभूल्लोमहर्षणम् ॥ ४ ॥
सुवर्णं चैव गाश्चैव शयनाच्छादनानि च ।
दीयमानं तदा विप्रा वर्धतामिति चाब्रुवन् ॥ ५ ॥
वासुदेवोऽथ दाशार्हो बलदेवः ससात्यकिः ।
अभिमन्योस्तदा श्राद्धमकुर्वन्सत्यकस्तदा ॥ ६ ॥
अतीव दुःखसंतप्ता न शमं चोपलेभिरे ।
तथैव पाण्डवा वीरा नगरे नागसाह्वये ॥ ७ ॥
नोपागच्छन्त वै शान्तिमभिमन्युविनाकृताः ।
सुबहूनि च राजेन्द्र दिवसानि विराटजा ॥ ८ ॥
नाभुङ्क्त पतिदुःखार्ता तदभूत्करुणं महत् ।

प्रकार वचन सुनके शोक परित्याग करके अनुत्तम श्राद्ध तथा दानादि कार्य किया । वासुदेवने भी पिताके प्रियपात्र स्वसृपुत्र महात्मा अभिमन्युका और्ध्व-देहिक कार्य किया । अनन्तर साठ सौ सहस्र महातेजस्वी ब्राह्मणोंको सर्वगुण-युक्त भोज्य द्रव्य विधिपूर्वक भोजन कराया । उस समय महाबाहु कृष्णने वस्त्र आदिसे ब्राह्मणोंकी इस प्रकार धनतृष्णा दूर की थी, कि वह सबके विषयमें लोमहर्षकारी हुई थी । उस समय सुवर्ण, गऊ, शय्या और वस्त्र दान करनेसे ब्राह्मण लोग "बढती हो," ऐसा ही वचन कहने लगे । अनन्तर सात्यकिके सहित दाशार्ह वासुदेव और सात्यक, ये लोग जिस प्रकार अभिम-न्युका श्राद्ध करते हुए दुःखसे अत्यन्त सन्तापित होकर उस समय शान्तिलाभ न कर सके; उसही भांति महावीर पाण्डवगण भी अभिमन्युके विरहसे हस्तिनानगरमें शान्तिलाभ नहीं कर सके । (१—८)

हे राजेन्द्र ! विराटपुत्री उत्तराने पतिके विरहजनित दुःखसे अत्यन्त आर्त होकर बहुत दिनतक भोजन नहीं किया, उस समय उसे महत् करुणा

×

कुक्षिस्थ एव तस्याऽथ गर्भो वै संप्रलीयत ॥ ९ ॥
आजगाम ततो व्यासो ज्ञात्वा दिव्येन चक्षुषा ।
समागम्याब्रवीद्धीमान् पृथां पृथुललोचनाम् ॥ १० ॥
उत्तरां च महातेजाः शोकः संत्यज्यतामयम् ।
भविष्यति महातेजाः पुत्रस्तव यशस्विनि ॥ ११ ॥
प्रभावाद्वासुदेवस्य मम व्याहरणादपि ।
पाण्डवानामयं चान्ते पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ १२ ॥
धनंजयं च संप्रेक्ष्य धर्मराजस्य शृण्वतः ।
व्यासो वाक्यमुवाचेदं हर्षयन्निव भारत ॥ १३ ॥
पौत्रस्तव महाभागो जनिष्यति महामनाः ।
पृथ्वीं सागरपर्यन्तां पालयिष्यति धर्मतः ॥ १४ ॥
तस्माच्छोकं कुरुश्रेष्ठ जहि त्वमरिकर्शन ।
विचार्यमत्र न हि ते सत्यमेतद्भविष्यति ॥ १५ ॥
यच्चापि वृष्णिवीरेण कृष्णेन कुरुनन्दन ।
पुरोक्तं तत्तथा भावि मा तेऽत्रास्तु विचारणा ॥ १६ ॥
विबुधानां गतो लोकानक्षयानात्मनिर्जितान् ।
न स शोच्यस्त्वया वीरो न चान्यैः कुरुभिस्तथा ॥ १७ ॥

उपस्थित हुई और भोजनके अभावसे उसका कुक्षिस्थ गर्भ प्रलीन हो गया। अनन्तर धीमान् महातेजस्वी व्यासदेव दिव्य दृष्टिके सहारे उसे जानके वहां आकर पृथुलोचना पृथा और उत्तरासे बोले कि, तुम लोग शोक मत करो, तुम्हारे महातेजस्वी पुत्र होगा। वह पुत्र वासुदेव तथा मेरे वचनके अनुसार पाण्डवोंके अनन्तर पृथ्वीपालन करेगा। हे भारत! व्यासदेव धर्मराजके सम्मुख अर्जुनको देखकर उन्हें हर्षित करते हुए बोले, हे अर्जुन! तुम्हारे महामना भाग्यवान् पौत्र उत्पन्न होगा, वह पौत्र धर्मपूर्वक समुद्रके सहित पृथ्वीपालन करेगा। हे अरिकर्षण कुरुपुङ्गव! इसलिये तुम शोक परित्याग करो; मैंने जो कहा, इसमें तुम कुछ भी विचार मत करो, यह वचन सत्य होगा। हे कुरुनन्दन! पहले वृष्णिप्रवर कृष्णने जो कहा है, वही होगा, इसमें तुम सन्देह मत करो; उस वीरश्रेष्ठ अभिमन्युने निज अर्जित अमरलोक पाया है, इसलिये वह तुम्हारे तथा दूसरे कुरुगणोंका शोचनीय नहीं है। हे महाराज!

एवं पितामहेनोक्तो धर्मात्मा स धनंजयः ।
त्यक्त्वा शोकं महाराज हृष्टरूपोऽभवत्तदा ॥ १८ ॥
पितापि तव धर्मज्ञ गर्भे तस्मिन्महामते ।
अवर्धत यथाकामं शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १९ ॥
ततः संचोदयामास व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ।
अश्वमेधं प्रति तदा ततः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ॥ २० ॥
धर्मराजोऽपि मेधावी श्रुत्वा व्यासस्य तद्वचः ।
वित्तस्यानयने तात चकार गमने मतिम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि वसुदेवसान्त्वने द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

जनमेजय उवाच- श्रुत्वैतद्वचनं ब्रह्मन् व्यासेनोक्तं महात्मना ।
अश्वमेधं प्रति तदा किं भूयः प्रचकार ह ॥ १ ॥
रत्नं चयन्मरुत्तेन निहितं वसुधातले ।
तदवाप कथं चेति तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच- श्रुत्वा द्वैपायनवचो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄन्सर्वान्समानाय्य काले वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ यमावपि ।

धर्मात्मा धनञ्जय पितामह व्यासका ऐसा वचन सुनके शोक परित्याग कर हृष्टचित्त हुए । हे धर्मज्ञ ! तुम्हारे पिता उस गर्भके बीच इच्छानुसार शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भांति बढने लगे । अनन्तर व्यासदेव धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये आज्ञा देकर अन्तर्धान हुए । मेधावी धर्मराजने भी व्यासदेवका वचन सुनके धन लानेके निमित्त चलनेकी सम्मति की । (८-२१)

आश्वमेधिकपर्वमें ६२ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ६३ अध्याय ।

जनमेजय बोले, हे ब्रह्मन् ! युधिष्ठिरने महात्मा व्यासदेवका वचन सुनके फिर अश्वमेधका किस प्रकार अनुष्ठान किया ? हे द्विजसत्तम ! मरुत्तने जो रत्न पृथ्वीतलमें सञ्चय कर रखा था, उन रत्नोंको उन्होंने किस प्रकार पाया, वह विषय मुझसे कहिये । (१—२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मराज युधिष्ठिर व्यासदेवका वचन सुनके अपने भाई अर्जुन, भीम और माद्रीपुत्र यमज नकुल-सहदेवको बुलाकर बोले, हे वीर-गण ! कुरुकुलहितैषी सुहृदोंके ऐश्वर्यकी

श्रुतं वो वचनं वीराः सौहृदाद्यन्महात्मना ॥ ४ ॥
कुरूणां हितकामेन प्रोक्तं कृष्णेन धीमता ।
तपोवृद्धेन महता सुहृदा भूतिमिच्छता ॥ ५ ॥
गुरुणा धर्मशीलेन व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
भीष्मेण च महाप्राज्ञ गोविन्देन च धीमता ॥ ६ ॥
संस्मृत्य तदहं सम्यक्कर्तुमिच्छामि पाण्डवाः ।
आयत्यां च तदात्वे च सर्वेषां तद्धि नो हितम् ॥ ७ ॥
अनुबन्धे च कल्याणं यद्वचो ब्रह्मवादिनः ।
इयं हि वसुधा सर्वा क्षीणरत्ना कुरूद्वहाः ॥ ८ ॥
तच्चाचष्ट तदा व्यासो मरुत्तस्य धनं नृपाः ।
यद्येतद्वो बहुमतं मन्यध्वं वाक्षमं यदि ॥ ९ ॥
तथा यथाह धर्मेण कथं वा भीम मन्यसे ।
इत्युक्तवाक्ये नृपतौ तदा कुरुकुलोद्वह ॥ १० ॥
भीमसेनो नृपश्रेष्ठं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
रोचते मे महाबाहो यदिदं भाषितं त्वया ॥ ११ ॥
व्यासाख्यातस्य वित्तस्य समुपानयनं प्रति ।
यदि तत्प्राप्नुयामेह धनमाविक्षितं प्रभो ॥ १२ ॥

इच्छा करनेवाले तपोवृद्ध धीमान् महात्मा कृष्णने सुहृदतापूर्वक जो कहा था और अद्भुतकर्मा धर्मशील गुरु व्यासदेव तथा भीष्म, इन्होंने भी जो कहा था, उसे तुम लोगोंने सुना है। हे पाण्डवगण ! इस समय वह हमारे स्मृतिगोचर होनेसे हम वर्तमान तथा भविष्यत्के लिये हितजनक उस कार्यको करनेकी इच्छा करते हैं, क्यों कि ब्रह्मवादियोंके वाक्य फलोत्पत्तिके विषयमें कल्याणकर हुआ करते हैं। हे कुरूद्वहगण ! इस वसुन्धराके वसुरहित होनेसे ही उस समयमें व्यासने मरुत्तके धनकी कथा कही थी। हे नृपगण ! इसलिये यदि आप लोग इसे कर्तव्य तथा बहुमत समझते हो, तो उस धनको हम यहांपर ले आवें। हे भीम ! कहो, इस विषयमें तुम्हारा क्या मत है ? हे कुरुकुलोद्वह ! उस समय जब राजा युधिष्ठिरने ऐसा कहा तब भीमसेन हाथ जोडके राजेन्द्र युधिष्ठिरसे कहने लगे। (३—११)

भीमसेन बोले, हे महाबाहो ! आपने व्यासदेवके उपदेशानुसार धन लानेके विषयमें जिस प्रकार कहा, वह मुझे

कृतमेव महाराज भवेदिति मतिर्मम ।
ते वयं प्रणिपातेन गिरीशस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
तदानयाम भद्रं ते समभ्यर्च्य कपर्दिनम् ।
तद्वित्तं देवदेवेशं तस्यै वाऽनुचरांश्च तान् ॥ १४ ॥
प्रसाद्यार्थमवाप्स्यामो नूनं वाग्बुद्धिकर्मभिः ।
रक्षन्ते ये च तद् द्रव्यं किन्नरा रौद्रदर्शनाः ॥ १५ ॥
ते च वश्या भविष्यन्ति प्रसन्ने वृषभध्वजे ।
श्रुत्वैवं वदतस्तस्य वाक्यं भीमस्य भारत ॥ १६ ॥
प्रीतो धर्मात्मजो राजा बभूवातीव भारत ।
अर्जुनप्रमुखाश्चापि तथेत्येवाब्रुवन्वचः ॥ १७ ॥
कृत्वा तु पाण्डवाः सर्वे रत्नाहरणनिश्चयम् ।
सेनामाज्ञापयामासुर्नक्षत्रेऽहनि च ध्रुवे ॥ १८ ॥
ततो ययुः पाण्डुसुता ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ।
अर्चयित्वा सुरश्रेष्ठं पूर्वमेव महेश्वरम् ॥ १९ ॥
मोदकैः पायसेनाथ मांसापूपैस्तथैव च ।
आशास्य च महात्मानं प्रययुर्मुदिता भृशम् ॥ २० ॥

अभिमत है । हे प्रभु ! यदि अविक्षित-पुत्र मरुत्तका वह धन मिल जाय, तो मुझे बोध होता है, कि उससे ही हम लोगोंके सब कार्य पूरे होंगे; इसलिये आपके कल्याणके निमित्त हम कपर्दी गिरीश महात्मा महादेवको प्रणाम कर उनकी विधिपूर्वक पूजा करके वह धन लाएंगे । हम लोग वचन, कर्म और ज्ञानसे उस देवाधिदेवपति विभु भूत-नाथ तथा उनके सेवकोंको प्रसन्न करनेसे निश्चयही वह धन पा सकेंगे । वृषभध्वजके प्रसन्न होनेपर जो सब रौद्रदर्शन किन्नर उस धनकी रक्षा करते हैं, वे भी वशी-भूत होंगे । (११—१६)

हे भारत ! जब भीमसेनने इतनी बात कही तब राजा युधिष्ठिर उसे सुनके अत्यन्त प्रसन्न हुए और अर्जुन प्रभृति भाइयोंने कहा, 'ऐसा ही होगा ।' १६-१७

अनन्तर पाण्डवोंने रत्न लानेका निश्चय करके उत्तम नक्षत्रयुक्त दिनमें सेनाको उस ओर चलनेके लिये आज्ञा दी । अनन्तर पाण्डुपुत्रोंने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराके मोदक, पायस और पिष्टकके सहारे देवोंके देव महेश्वरकी पूजा करते हुए महात्मा युधिष्ठिरको आश्वासित करके अत्यन्त हर्षके सहित

तेषां प्रयास्यतां तत्र मङ्गलानि शुभान्यथ ।
प्राहुः प्रहृष्टमनसो द्विजाग्र्या नागराश्च ते ॥ २१ ॥
ततः प्रदक्षिणीकृत्य शिरोभिः प्रणिपत्य च ।
ब्राह्मणानग्निसहितान्प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥ २२ ॥
समनुज्ञाप्य राजानं पुत्रशोकसमाहतम् ।
धृतराष्ट्रं सभार्यं वै पृथां च पृथुलोचनाम् ॥ २३ ॥
मूले निक्षिप्य कौरव्यं युयुत्सु धृतराष्ट्रजम् ।
संपूज्यमानाः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च मनीषिभिः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयनोपक्रमे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततस्ते प्रययुर्हृष्टाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
रथघोषेण महता पूरयन्तो वसुन्धराम् ॥ १ ॥
संस्तूयमानाः स्तुतिभिः सूतमागधबन्दिभिः ।
स्वेन सैन्येन संवीता यथाऽऽदित्याः स्वरश्मिभिः ॥२॥
पाण्डुरेणाऽऽतपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
बभौ युधिष्ठिरस्तत्र पौर्णमास्यामिवोडुराट् ॥ ३ ॥

यात्रा किया। उनके चलनेके समय वहांपर नगरवासी लोग माङ्गलिक कार्य और ब्राह्मणगण शुभ आशिर्वाद करने लगे। अनन्तर उन लोगोंने अग्निके सहित ब्राह्मणोंको प्रदक्षिणा तथा सिर झुकाके प्रणाम करते हुए पुत्रशोकयुक्त भार्याके सहित राजा धृतराष्ट्र और पृथुलोचना पृथाकी अनुमति पाके वहांसे प्रस्थान किया। कुरुवंशीय धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सुको धृतराष्ट्र तथा कुन्तीके निकट सौंपकर पुरवासियों तथा मनीषि ब्राह्मणोंके द्वारा वे भली भांति सम्मानित हुए। (१८—२४)

आश्वमेधिकपर्वमें ६३ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ६४ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर प्रहृष्ट नरवाहनयुक्त पाण्डवगण आनन्दित होकर बहुतसे रथशब्दके द्वारा पृथ्वीको परिपूरित करते हुए गमन करने लगे। उस समय सूत, मागध और बन्दिजन स्तुतिवाक्योंसे उनका स्तव करने लगे, वे लोग मानो निज किरणसे युक्त सूर्यकी भांति अपनी सेनाके बीच घिरकर चले, उस समय सिरके ऊपर पाण्डुरवर्ण छाता लगानेसे राजा युधिष्ठिर पूर्णमासीमें उदय हुए

जयाशिषः प्रहृष्टानां नराणां पथि पाण्डवः ।
प्रत्यगृह्णाद्यथान्यायं यथावत्पुरुषर्षभः ॥ ४ ॥
तथैव सैनिका राजन् राजानमनुयान्ति ये ।
तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा व्यतिष्ठत ॥ ५ ॥
सरांसि सरितश्चैव वनान्युपवनानि च ।
अत्यक्रामन्महाराजो गिरिं चाप्यन्वपद्यत ॥ ६ ॥
तस्मिन्देशे च राजेन्द्र यत्र तद् द्रव्यमुत्तमम् ।
चक्रे निवेशनं राजा पाण्डवः सहसैनिकैः ।
शिवे देशे समे चैव तदा भरतसत्तम ॥ ७ ॥
अग्रतो ब्राह्मणान्कृत्वा तपोविद्यादमान्वितान् ।
पुरोहितं च कौरव्य वेदवेदाङ्गपारगम् ।
आग्निवेश्यं च राजानो ब्राह्मणाः सपुरोधसः ॥ ८ ॥
कृत्वा शान्तिं यथान्यायं सर्वशः पर्यवारयन् ।
कृत्वा तु मध्ये राजानममात्यांश्च यथाविधि ॥ ९ ॥
षट्पदं नवसंख्यानं निवेशं चक्रिरे द्विजाः ।
मत्तानां वारणेन्द्राणां निवेशं च यथाविधि ॥ १० ॥

चन्द्रमाकी भाँति शोभित हुए । पुरुषश्रेष्ठ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने मार्गमें प्रहृष्ट पुरुषोंके जययुक्त आशीर्वादको विधि तथा नीतिके अनुसार प्रतिग्रह किया । हे राजन् ! राजाके अनुगामी सैनिक पुरुषोंका हलहला शब्द गगनमण्डलको स्तब्ध करके स्थित हुआ । अनन्तर महाराज युधिष्ठिर तालाब, नदी, वन और उपवनोंको अतिक्रम करके पर्वतके समीप उपस्थित हुए । हे राजेन्द्र ! जिस स्थानमें उस मरुत्त राजाका उत्तम धन रखा था, युधिष्ठिर पाण्डव तथा सैनिक लोगोंके सहित उसही स्थानमें पहुंचकर वासस्थान तैयार कराने लगे । (१-७)

हे भरतसत्तम ! राजा लोग तपस्या, विद्या और दमगुणयुक्त ब्राह्मणों तथा वेदवेदाङ्ग जाननेवाले अग्निवेश्य धौम्य पुरोहितको अगाडीं करके उस समतल शुभकर स्थानमें पुरोहित और ब्राह्मणोंके सहित शान्ति करके सेवकोंके सहित राजा युधिष्ठिरको मध्यवर्ती कर विधिपूर्वक उन्हें घेरके स्थित रहे । द्विजगणके लिये छः राजमार्ग और नव वासस्थानयुक्त एक गृह बनाकर मतवारे हाथियोंके रहने योग्य एक हयशाला तैयार

कारयित्वा स राजेन्द्रो ब्राह्मणानिदमब्रवीत् ।
अस्मिन्कार्ये द्विजश्रेष्ठा नक्षत्रे दिवसे शुभे ॥ ११ ॥
यथा भवन्तो मन्यन्ते कर्तुमर्हन्ति तत्तथा ।
न नः कालात्ययो वै स्यादिहैव परिलम्बताम् ॥ १२॥
इति निश्चित्य विप्रेन्द्राः क्रियतां यदनन्तरम् ।
श्रुत्वैतद्वचनं राज्ञो ब्राह्मणाः सपुरोधसः ।
इदमूचुर्वचो हृष्टा धर्मराजप्रियेप्सवः ॥ १३ ॥
अद्यैव नक्षत्रमहश्च पुण्यं यतामहे श्रेष्ठतमक्रियासु ।
अम्भोभिरद्येह वसाम राजन्नुपोष्यतां चापि भवद्भिरद्य ॥१४॥
श्रुत्वा तु तेषां द्विजसत्तमानां कृतोपवासा रजनीं नरेन्द्राः ।
ऊषुः प्रतीताः कुशसंस्तरेषु यथाऽध्वरे प्रज्वलिता हुताशाः ॥ १५॥
ततो निशा सा व्यगमन्महात्मनां संशृण्वतां विप्रसमीरिता गिरः ।
ततः प्रभाते विमले द्विजर्षभा वचोऽब्रुवन्धर्मसुतं नराधिपम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि द्रव्याऽऽनयनोपक्रमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः– क्रियतामुपहारोऽद्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः ।

कराया । अनन्तर राजेन्द्र युधिष्ठिर वासस्थान तैयार कराके ब्राह्मणोंसे बोले, हे द्विजेन्द्रगण! उत्तम नक्षत्रयुक्त शुभ दिनमें यह कार्य सम्पन्न करना होगा; इसमें आप लोगोंकी जैसी अभिलाष हो, वैसाही करना चाहिये; परन्तु जिसमें हम लोगोंके समयमें विलम्ब न हो, वैसाही निश्चय करके उसके अनन्तर कर्तव्य कार्योंको सिद्ध करिये । धर्मराजके हितकी अभिलाष करनेवाले पुरोहितके सहित ब्राह्मण लोग राजाका ऐसा वचन सुनके प्रसन्न चित्तसे बोले। हे महाराज ! आज उत्तम नक्षत्र तथा पुण्याह है, इसलिये आज ही हम लोग श्रेष्ठ कार्यके लिये एकत्र होंगे, हम लोग इस स्थानमें आज जल पीके निवास करें और आप भी उपवास करिये । राजाओंने ब्राह्मणोंका वचन सुनके प्रसन्नचित्तसे उपवास करते हुए रात्रिके समय यज्ञस्थलमें प्रज्वलित अग्निकी भांति कुशशय्यापर शयन किया । ब्राह्मणोंके धर्मयुक्त वचनको सुनते सुनते रात बीत गई; अनन्तर निर्मल प्रभातका समय उपस्थित होनेपर ब्राह्मण लोग धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे कहने लगे (७-१६)

आश्वमेधिकपर्वमें ६४ अध्याय समाप्त ।

दत्त्वोपहारं नृपते ततः स्वार्थं यतामहे ॥ १ ॥
श्रुत्वा तु वचनं तेषां ब्राह्मणानां युधिष्ठिरः ।
गिरीशस्य यथान्यायमुपहारमुपाहरत् ॥ २ ॥
आज्येन तर्पयित्वाऽग्निं विधिवत्संस्कृतेन च ।
मन्त्रसिद्धं चरुं कृत्वा पुरोधाः स ययौ तदा ॥ ३ ॥
स गृहीत्वा सुमनसो मन्त्रपूता जनाऽधिप ।
मोदकैः पायसेनाऽथ मांसैश्चोपाहरद्बलिम् ॥ ४ ॥
सुमनोभिश्च चित्राभिर्लाजैरुच्चावचैरपि ।
सर्वं स्विष्टतमं कृत्वा विधिवद्वेदपारगः ॥ ५ ॥
किंकराणां ततः पश्चाच्चकार बलिमुत्तमम् ।
यक्षेन्द्राय कुबेराय मणिभद्राय चैव ह ॥ ६ ॥
तथाऽन्येषां च यक्षाणां भूतानां पतयश्च ये ।
कृसरेण च मांसेन निवापैस्तिलसंयुतैः ॥ ७ ॥
ओदनं कुम्भशः कृत्वा पुरोधाः समुपाहरत् ।
ब्राह्मणेभ्यः सहस्राणि गवां दत्त्वा तु भूमिपः ॥ ८ ॥
नक्तंचराणां भूतानां व्यादिदेश बलिं तदा ।
धूपगन्धनिरुद्धं तत्सुमनोभिश्च संवृतम् ॥ ९ ॥

आश्वमेधिकपर्वमें ६५ अध्याय ।

ब्राह्मणगण बोले, हे नरनाथ ! पहले आप महात्मा त्र्यम्बककी पूजा करिये, उसके अनन्तर हम लोग तुम्हारे अर्थ-सिद्धिके विषयमें यत्नवान् होंगे । राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंका वचन सुनके महादेवके लिये विधानपूर्वक पूजाकी सामग्री मंगाई। तब पुरोहितने संस्कार-युक्त घृतसे अग्निकी विधिपूर्वक पूजा करते हुए मन्त्रसिद्ध चरु तैयार करके गमन किया । हे प्रजानाथ ! उन्होंने मन्त्रपूरित पुष्प, मोदक, पायस और मांस प्रभृति बलि मंगाकर महादेवकी पूजा की, अनेक प्रकारके फूल उच्चाव-च लाजके सहित सब उत्तम वस्तुओंको संग्रह करके यक्षेन्द्र कुबेर और मणिभद्र प्रभृति किङ्करोंको बलि प्रदान किया । अनन्तर कृशर, मांस, तिलयुक्त निवाप और घडे भर जलके द्वारा अन्यान्य यक्षों तथा भूतपतिकी पूजा की, उस समय राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको सहस्र गऊ देकर रात्रिचर भूतोंको बलिप्रदान करनेके लिये आज्ञा दी । (१—९)

हे पार्थिव ! देवाधिदेव महादेवका

शुशुभे स्थानमत्यर्थं देवदेवस्य पार्थिव ।
कृत्वा पूजां तु रुद्रस्य गणानां चैव सर्वशः ॥ १० ॥
ययौ व्यासं पुरस्कृत्य नृपो रत्ननिधिं प्रति ।
पूजयित्वा धनाध्यक्षं प्रणिपत्याभिवाद्य च ॥ ११ ॥
सुमनोभिर्विचित्राभिरपूपैः कृसरेण च ।
शङ्खादींश्च निधीन्सर्वान्निधिपालांश्च सर्वशः ॥ १२ ॥
अर्चयित्वा द्विजाग्र्यान्स स्वस्ति वाच्य च वीर्यवान् ।
तेषां पुण्याहघोषेण तेजसा समवस्थितः ॥ १३ ॥
प्रीतिमान्स कुरुश्रेष्ठः खानयामास तद्धनम् ।
ततः पात्र्यः सकरका बहुरूपा मनोरमाः ॥ १४ ॥
भृङ्गाराणि कटाहानि कलशान्वर्धमानकान् ।
बहूनि च विचित्राणि भाजनानि सहस्रशः ॥ १५ ॥
उद्धारयामास तदा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
तेषां रक्षणमप्यासीन्महान्करपुटस्तथा ॥ १६ ॥
नद्धं च भाजनं राजंस्तुलार्धमभवन्नृप ।
वाहनं पाण्डुपुत्रस्य तत्रासीत्तु विशांपते ॥ १७ ॥
षष्टिरुष्ट्रसहस्राणि शतानि द्विगुणा हयाः ।

स्थान धूपसुगन्धसे निरुद्ध तथा अनेक प्रकारके फूलोंसे परिपूरित होनेसे अत्यन्त शोभित हुआ । अनन्तर राजा युधिष्ठिर रुद्र और उनके गणकी पूजा करते हुए व्यासदेवको अगाडी करके यत्न तथा निधिके निकट गये । वहांपर वीर्यवान् युधिष्ठिरने विचित्र पुष्प, पिष्टक और कृशरके द्वारा धनाध्यक्ष कुबेर, शङ्खादि निधि तथा निधिपालोंकी पूजा करते हुए दण्डवत् तथा प्रणाम करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया । कुरुपति युधिष्ठिर ब्राह्मणोंके पुण्याह शब्द तथा तेजके सहित स्थित होके प्रसन्नचित्तसे उस धनको खुदवाने लगे । (९-१४)

अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर उस खजानेसे करकाके सहित अनेक प्रकारके मनोरम पात्र, भृङ्गार, कटाह, कलश, सराव तथा सैकडों सहस्रों विचित्र पात्रोंको बाहिर निकाला । हे राजन् ! वहां बहुतसे महत् करपुटाकार पात्र थे; ये सब पुरुषके तुलार्ध परिमित पात्र उष्ट्रादिके ऊपर बद्ध थे; परन्तु वहांपर पाण्डवोंके भार ढोनेवाले वाहन साठ सौ हजार ऊंट, उससे दुने घोडे, सो

वारणाश्च महाराज सहस्रशतसंमिताः ॥ १८ ॥
शकटानि रथाश्चैव तावदेव करेणवः ।
खराणां पुरुषाणां च परिसंख्या न विद्यते ॥ १९ ॥
एतद्वित्तं तदभवद्युदुद्धे युधिष्ठिरः ।
षोडशाष्टौ चतुर्विंशत्सहस्रं भारलक्षणम् ॥ २० ॥
एतेष्वादाय तद् द्रव्यं पुनरभ्यर्च्य पाण्डवः ।
महादेवं प्रतिययौ पुरं नागाह्वयं प्रति ॥ २१ ॥
द्वैपायनाऽभ्यनुज्ञातः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ।
गोयुते गोयुते चैव न्यवसत्पुरुषर्षभः ॥ २२ ॥
सा पुराभिमुखा राजन्नुवाह महती चमूः ।
कृच्छ्राद् द्रविणभारार्ता हर्षयन्ती कुरूद्वहान् ॥ २३ ॥

इति श्रीम० श० सं० वै० आश्व० अनुगीता० द्रव्याऽऽनयने पंचषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

वैशम्पायन उवाच-एतस्मिन्नेव काले तु वासुदेवोऽपि वीर्यवान् ।
उपायाद् वृष्णिभिः सार्धं पुरं वारणसाह्वयम् ॥ १ ॥
समयं वाजिमेधस्य विदित्वा पुरुषर्षभः ।
यथोक्तो धर्मपुत्रेण प्रव्रजन्स्वपुरीं प्रति ॥ २ ॥
रौक्मिणेयेन सहितो युयुधानेन चैव ह ।
चारुदेष्णेन साम्बेन गदेन कृतवर्मणा ॥ ३ ॥

हजार हाथी, शकट, रथ, करेणु, असंख्य गधे तथा मनुष्य विद्यमान थे। राजा युधिष्ठिर सोलह, आठ और चौबीस हजार भार उस वित्त-खानिसे बाहिर करके फिर महादेवकी पूजा करके उन वस्तुओंको सब वाहनोंके ऊपर सामर्थ्यके अनुसार बांधकर हस्तिनापुरकी ओर चले। अनन्तर वेदव्यासकी आज्ञाके अनुसार पुरोहितको आगे करके प्रतिदिन दो कोसकी दूरीपर निवास करने लगे। हे राजन्! वह नगरकी ओर चलनेवाली बहुतसी सेना द्रविणभारसे थककर भी अत्यन्त कष्टसे बोझा ढोती हुई कौरवोंको हर्षित करने लगी। (१४—२३)

आश्वमेधिकपर्वमें ६५ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ६६ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, इतनेही समयके बीच पुरुषश्रेष्ठ वीर्यवान् कृष्ण निजपुरी द्वारका नगरीकी ओर चलनेके समय धर्मराजने जो वचन कहा था, उस वाजिमेधके समयको स्मरण करके

सारणेन च वीरेण निशठेनोल्मुकेन च ।
बलदेवं पुरस्कृत्य सुभद्रासहितस्तदा ॥ ४ ॥
द्रौपदीमुत्तरां चैव पृथां चाप्यवलोककः ।
समाऽऽश्वासयितुं चापि क्षत्रिया निहतेश्वराः ॥ ५ ॥
तानागतान्समीक्ष्यैव धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रत्यगृह्णाद्यथान्यायं विदुरश्च महामनाः ॥ ६ ॥
तत्रैव न्यवसत्कृष्णः स्वर्चितः पुरुषोत्तमः ।
विदुरेण महातेजास्तथैव च युयुत्सुना ॥ ७ ॥
वसत्सु वृष्णिवीरेषु तत्राऽथ जनमेजय ।
जज्ञे तव पिता राजन्परिक्षित्परवीरहा ॥ ८ ॥
स तु राजा महाराज ब्रह्मास्त्रेणाऽवपीडितः ।
शवो बभूव निश्चेष्टो हर्षशोकविवर्धनः ॥ ९ ॥
हृष्टानां सिंहनादेन जनानां तत्र निःस्वनः ।
प्रविश्य प्रदिशः सर्वाः पुनरेव व्युपारमत् ॥ १० ॥
ततः सोऽतित्वरः कृष्णो विवेशान्तःपुरं तदा ।
युयुधानद्वितीयो वै व्यथितेन्द्रियमानसः ॥ ११ ॥

वृष्णिवंशीय रौक्मिणेय, युयुधान, चारुदेष्ण, साम्ब, गद, कृतवर्मा, वीरवर सारण, निशठ और उल्मुक, इन सबके सहित सुभद्राको सङ्ग लेकर बलदेवको अगाडी करके हस्तिनापुरमें आके उपस्थित हुए। अनन्तर कृष्ण वृष्णिवंशियोंके सहित द्रौपदी, उत्तरा, पृथा तथा अन्यान्य स्वामीरहित क्षत्रिया स्त्रियोंको धीरज देते हुए आने लगे, तब राजा धृतराष्ट्र और महात्मा विदुरने उन वृष्णिवंशियोंको समागत देखकर सम्मानके सहित आह्वान किया, पुरुषश्रेष्ठ महातेजस्वी कृष्ण, विदुर और युयुत्सुके द्वारा उत्तम रीतिसे सम्मानित होकर वृष्णिवंशियोंके सहित उस स्थानमें बैठे (१—७)

हे जनमेजय ! अनन्तर वृष्णिवंशियोंके वहां बैठनेपर तुम्हारे पिता परवीरघाती परिक्षित उत्पन्न हुए। परन्तु सबके हर्ष और शोक निबन्धनसे वह राजा परिक्षित गर्भके बीच ब्रह्मास्त्रके द्वारा पीडित होनेसे मृतकसमान निश्चेष्ट हुए। उस समय हर्षयुक्त पुरुषोंके सिंहनादके सहित तुमुल शब्द प्रकट होके सब दिशाओंमें प्रवेश करते हुए फिर उपरत हुआ। अनन्तर कृष्णने व्यथि-

ततस्त्वरितमायान्तीं ददर्श स्वां पितृष्वसाम् ।
क्रोशन्तीमभिधावेति वासुदेवं पुनः पुनः ॥ १२ ॥
पृष्ठतो द्रौपदीं चैव सुभद्रां च यशस्विनीम् ।
सविक्रोशं सकरुणं बान्धवानां स्त्रियो नृप ॥ १३ ॥
ततः कृष्णं समासाद्य कुन्ती भोजसुता तदा ।
प्रोवाच राजशार्दूल बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १४ ॥
वासुदेव महाबाहो सुप्रजा देवकी त्वया ।
त्वं नो गतिः प्रतिष्ठा च त्वदायत्तमिदं कुलम् ॥ १५ ॥
यदुप्रवीर योऽयं ते स्वस्रीयस्यात्मजः प्रभो ।
अश्वत्थाम्ना हतो जातस्तमुज्जीवय केशव ॥ १६ ॥
त्वया ह्येतत्प्रतिज्ञातमैषीके यदुनन्दन ।
अहं संजीवयिष्यामि मृतं जातमिति प्रभो ॥ १७ ॥
सोऽयं जातो मृतस्तात पश्यैनं पुरुषर्षभ ।
उत्तरां च सुभद्रां च द्रौपदीं मां च माधव ॥ १८ ॥
धर्मपुत्रं च भीमं च फाल्गुनं नकुलं तथा ।
सहदेवं च दुर्धर्ष सर्वान्नस्त्रातुमर्हसि ॥ १९ ॥

तेन्द्रिय तथा दुःखितचित्त होकर सात्यकिके सङ्ग अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक अन्तःपुरमें प्रवेश किया । कृष्णने रनिवासमें प्रवेश करके देखा, कि निज पितृष्वसा पृथा ऊंचे स्वरसे रोदन करती तथा 'शीघ्र श्रीकृष्णके निकट चलो' ऐसा वचन कहती हुई शीघ्रतापूर्वक आ रही है । उसके पीछे, द्रौपदी, सुभद्रा तथा बान्धवोंकी अन्यान्य स्त्रियें भी करुणा स्वरसे रोती हुई चली आती हैं । हे राजशार्दूल ! उस समय भोजराजपुत्री कुन्ती कृष्णको निकट स्थानपर पहुंचकर गद्गद वचनसे बोली, हे महाबाहु कृष्ण ! तुम्हारे ही द्वारा देवकी सुप्रजा हुई है, हे कृष्ण! तुम ही हम लोगोंकी एकमात्र गति तथा प्रतिष्ठा हो, यह कुरुकुल तुम्हारेही आधीन हुआ है । हे यदुप्रवीर! इसलिये जो तुम्हारा स्वस्रीयात्मज अश्वत्थामाके अस्त्रसे मरकर उत्पन्न हुआ है, तुम उसे जीवित करो । (८—१६)

हे यदुनन्दन ! ऐषिकास्त्र चलानेके समयमें तुमने ऐसी प्रतिज्ञा की थी, कि मृत पुत्र होनेपर भी मैं जीवित करूंगा । हे तात ! देखो इस समय यह मरा हुआ पुत्र जन्मा है ! हे यदुवीर ! इसलिये तुम इस बालकको जिलाकर उत्तरा,

अस्मिन् प्राणाः समायत्ताः पाण्डवानां ममैव च।
पाण्डोश्च पिण्डो दाशार्ह तथैव श्वशुरस्य मे ॥ २० ॥
अभिमन्योश्च भद्रं ते प्रियस्य सदृशस्य च।
प्रियमुत्पादयाऽद्य त्वं प्रेतस्यापि जनार्दन ॥ २१ ॥
उत्तरा हि पुरोक्तं वै कथयत्यरिसूदन।
अभिमन्योर्वचः कृष्ण प्रियत्वात्तन्न संशयः ॥ २२ ॥
अब्रवीत्किल दाशार्ह वैराटीमार्जुनिस्तदा।
मातुलस्य कुलं भद्रे तव पुत्रो गमिष्यति ॥ २३ ॥
गत्वा वृष्णयन्धककुलं धनुर्वेदं ग्रहीष्यति।
अस्त्राणि च विचित्राणि नीतिशास्त्रं च केवलम् ॥२४॥
इत्येतत्प्रणयात्तात सौभद्रः परवीरहा।
कथयामास दुर्धर्षस्तथा चैतन्न संशयः ॥ २५ ॥
तास्त्वां वयं प्रणम्येह याचामो मधुसूदन।
कुलस्याऽस्य हितार्थं त्वं कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ २६ ॥
एवमुक्त्वा तु वार्ष्णेयं पृथा पृथुललोचना।
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्ता ताश्चान्याः प्रापतन्भुवि ॥२७॥

सुभद्रा, द्रौपदी, धर्मपुत्र, भीम, अर्जुन, नकुल, दुर्धर्ष सहदेव और मेरी रक्षा करो। विशेष करके यह बालक पाण्डवोंका प्राण और पाण्डु तथा मेरे श्वशुरके पिण्डका अधिकारी हुआ है। हे जनार्दन! तुम्हारे प्रियपात्र मृत अभिमन्युका मङ्गल होवे, आज तुम इस बालकको जिलाकर उसका प्रिय कार्य करो। हे शत्रुसूदन! पहले अभिमन्युने प्रणयवशसे उत्तरासे जो कहा था, उसके उस वचनमें कुछ भी सन्देह नहीं है। हे दाशार्ह! उस समय अर्जुनपुत्र अभिमन्युने विराट-पुत्री उत्तरासे कहा था, हे भद्रे! तुम्हारा पुत्र मेरे मातुलकुलमें जाकर उस वृष्णि तथा अन्धकवंशमें ही धनुर्वेद, विचित्र अस्त्र तथा नीतिशास्त्र ग्रहण करेगा। हे तात! परवीरघाती दुर्धर्ष सुभद्रापुत्रने जो प्रणयनिबन्धनसे इस ही प्रकार कहा था निश्चयही वैसा हुआ। हे मधुसूदन! हम लोग सिर नीचा करके तुम्हारे समीप प्रार्थना करती हैं, कि इस कुरुकुलके हितके विषयमें जिस प्रकार उत्तम कल्याण हो, तुम वैसा ही करो। (१७—२६)

पृथुलोचना पृथा अन्यान्य कुरुस्त्रियोंके सहित वृष्णिवंशीय कृष्णसे ऐसा ही कहके अत्यन्त दुःखित चित्तसे दोनों

अब्रुवंश्च महाराज सर्वाः सास्राविलेक्षणाः ।
स्वस्त्रीयो वासुदेवस्य मृतो जात इति प्रभो ॥ २८ ॥
एवमुक्ते ततः कुन्तीं पर्यगृह्णाज्जनार्दनः ।
भूमौ निपतितां चैनां सान्त्वयामास भारत ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि परिक्षिज्जन्मकथने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन उवाच- उत्थितायां पृथायां तु सुभद्रा भ्रातरं तदा ।
दृष्ट्वा चुक्रोश दुःखार्ता वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥
पुण्डरीकाक्ष पश्य त्वं पौत्रं पार्थस्य धीमतः ।
परिक्षीणेषु कुरुषु परिक्षीणं गतायुषम् ॥ २ ॥
इषीका द्रोणपुत्रेण भीमसेनार्थमुद्यता ।
सोत्तरायां निपतिता विजये मयि चैव ह ॥ ३ ॥
सेयं विदीर्णे हृदये मयि तिष्ठति केशव ।
यन्न पश्यामि दुर्धर्ष सह पुत्रं तु तं प्रभो ॥ ४ ॥
किं नु वक्ष्यति धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चापि माद्रवत्याः सुतौ च तौ ॥ ५ ॥
श्रुत्वाऽभिमन्योस्तनयं जातं च मृतमेव च ।

भुजा उठाके पृथ्वीपर गिरी । इधर आखोंमें आंसू भरे हुए कौरवोंकी स्त्रियें कहने लगीं, कि श्रीकृष्णके भानजेका पुत्र मरा हुआ जन्मा है । हे भारत ! सबके इसही प्रकार कहते रहनेपर जनार्दन पृथ्वीपर गिरी हुई कुन्तीको उठाकर धीरज देने लगे । (२७—२९)

आश्वमेधिकपर्वमें ६६ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ६७ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उस समय कुन्तीके उठनेपर सुभद्रा अपने भाई कृष्णको देखकर दुःखसे अत्यन्त आर्त होकर रोती हुई यह वचन बोली । हे पुण्डरीकाक्ष ! देखो कुरुकुलके परिक्षीण होनेसे ही यह बुद्धिमान् अर्जुनका पौत्र परिक्षीण तथा गतायु होके उत्पन्न हुआ है । द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने जो भीमसेनके वधके लिये ऐषिकास्त्र चलाया था, वह अस्त्र अर्जुन और मेरे विद्यमान रहते भी उत्तराको लगा था । हे केशव! इस समय उस पुत्रसहित अभिमन्युको न देखनेपर मेरा हृदय विदीर्ण होनेसे मुझमें ही विद्यमान रहा । धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और

मुषिता इव वार्ष्णेय द्रोणपुत्रेण पाण्डवाः ॥ ६ ॥
अभिमन्युः प्रियः कृष्ण भ्रातॄणां नात्र संशयः ।
ते श्रुत्वा किं नु वक्ष्यन्ति द्रोणपुत्रास्त्रनिर्जिताः ॥ ७ ॥
भविताऽतःपरं दुःखं किं तदन्यज्जनार्दन ।
अभिमन्योः सुतात्कृष्ण मृताज्जातादरिंदम ॥ ८ ॥
साऽहं प्रसादये कृष्ण त्वामद्य शिरसाऽऽनता ।
पृथेयं द्रौपदी चैव ताः पश्य पुरुषोत्तम ॥ ९ ॥
यदा द्रोणसुतो गर्भान्पाण्डूनां हन्ति माधव ।
तदा किल त्वया द्रौणिः क्रुद्धेनोक्तोऽरिमर्दन ॥ १० ॥
अकामं त्वां करिष्यामि ब्रह्मबन्धो नराधम ।
अहं संजीवयिष्यामि किरीटितनयात्मजम् ॥ ११ ॥
इत्येतद्वचनं श्रुत्वा जानानाऽहं बलं तव ।
प्रसादये त्वां दुर्धर्ष जीवतामभिमन्युजः ॥ १२ ॥
यद्येतत्त्वं प्रतिश्रुत्य न करोषि वचः शुभम् ।
सकलं वृष्णिशार्दूल मृतां मामवधारय ॥ १३ ॥
अभिमन्योः सुतो वीर न संजीवति यद्ययम् ।

माद्रीपुत्र नकुल—सहदेव ये लोग अभिमन्युके पुत्रको मरा उत्पन्न हुआ सुनके क्या कहेंगे ? हे कृष्ण ! इससे मानो पाण्डव लोग द्रोणपुत्रके द्वारा अपहृत हुए । हे वार्ष्णेय ! अभिमन्यु जो सब भाइयोंका प्रियपात्र था, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है; परन्तु क्या वे लोग द्रोणपुत्रके अस्त्रसे निर्जित हुए ? हे जनार्दन ! अभिमन्युके मृत पुत्र उत्पन्न होनेसे इससे अधिक दुःखका विषय और क्या होगा ? हे पुरुषोत्तम ! आज मैं सिर झुकाके तुम्हें प्रसन्न करती हूं, तुम इस पृथा तथा द्रौपदीकी ओर देखो । (१-९)

हे माधव ! जिस समय द्रोणपुत्रने पाण्डवोंकी वधुओंका गर्भ विनाश किया उस समय तुमने क्रुद्ध होके उससे कहा, था, रे नराधम ब्रह्मबन्धु ! मैं अभिमन्युके पुत्रको जीवित करके तेरी कामना विफल करूंगा; मैं यह वाक्य सुनकर तुम्हारा बल मालूम करके तुम्हें प्रसन्न करती हूं, तुम अभिमन्युके पुत्रको जीवित करो । हे वृष्णिशार्दूल ! यदि तुम ऐसी प्रतिज्ञा करके इस समय उस प्रतिश्रुत वचनको सफल न करोगे, तो जान रखो, कि मैं तुम्हारे सम्मुखमें

जीवति त्वयि दुर्धर्ष किं करिष्याम्यहं त्वया ॥ १४ ॥
सञ्जीवयैनं दुर्धर्ष मृतं त्वमभिमन्युजम् ।
सहशाक्षसुतं वीर सस्यं वर्षन्निवाम्बुदः ॥ १५ ॥
त्वं हि केशव धर्मात्मा सत्यवान्सत्यविक्रमः ।
स तां वाचमृतां कर्तुमर्हसि त्वमरिन्दम ॥ १६ ॥
इच्छन्नपि हि लोकांस्त्रीन् जीवयेथा मृतानिमान् ।
किं पुनर्दयितं जातं स्वस्रीयस्याऽऽत्मजं मृतम् ॥ १७ ॥
प्रभावज्ञाऽस्मि ते कृष्ण तस्मात्त्वां याचयाम्यहम् ।
कुरुष्व पाण्डुपुत्राणामिमं परमनुग्रहम् ॥ १८ ॥
स्वसेति वा महाबाहो हतपुत्रेति वा पुनः ।
प्रपन्ना मामियं चेति दयां कर्तुमिहार्हसि ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सुभद्रावाक्ये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तस्तु राजेन्द्र केशिहा दुःखमूर्च्छितः ।
तथेति व्याजहारोच्चैर्ह्लादयन्निव तं जनम् ॥ १ ॥

निश्चय ही प्राण परित्याग करूंगी । हे वीर ! यदि यह अभिमन्युका पुत्र जीवित न होगा, तो तुम्हारे जीवित रहते मैं तुम्हें लेके क्या करूंगी ? हे दुर्धर्ष ! इसलिये जैसे बादल जलकी वर्षा करके सस्यको जीवित करते हैं, वैसे ही तुम अभिमन्युके इस मरे हुए पुत्रको जीवित करो । हे केशव ! तुम धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यपराक्रमी तथा तुम ही मिथ्या वचनको सत्य करनेमें समर्थ हो; इस मृत उत्पन्न हुए परमप्रियपात्र भानजेके पुत्रको जीवित करना, तुम्हारे पक्षमें कुछ बडी बात नहीं है, क्यों कि तुम इच्छा करनेसे त्रिलोकवासी समस्त मृत लोगोंको जीवित कर सकते हो । हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा प्रभाव जानती हूं; इसही लिये तुम्हारे समीप प्रार्थना करती हूं । तुम पाण्डुपुत्रोंके विषयमें यह परम अनुग्रह प्रकाशित करो । हे महाबाहो ! बहिन जानके तथा हतपुत्रा अथवा शरणमें आई हुई समझके मेरे विषयमें तुम्हें दया करनी उचित है । (१०--१९)

आश्वमेधिकपर्वमें ६७ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ६८ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजेन्द्र ! जब सुभद्राने ऐसा कहा, तब केशिनिषूदन कृष्णने दुःखसे मूर्छित होकर ऊंचे स्वरसे 'ऐसा ही होगा' इतना वचन

वाक्यनैतेन हि तदा तं जनं पुरुषर्षभः ।
ह्लादयामास स विभुर्घर्मार्तं सलिलैरिव ॥ २ ॥
ततः स प्राविशत्तूर्णं जन्मवेश्म पितुस्तव ।
अर्चितं पुरुषव्याघ्र सितैर्माल्यैर्यथाविधि ॥ ३ ॥
अपां कुम्भैः सुपूर्णैश्च विन्यस्तैः सर्वतो दिशम् ।
घृतेन तिन्दुकालातैः सर्षपैश्च महाभुज ॥ ४ ॥
अस्त्रैश्च विमलैर्न्यस्तैः पावकैश्च समन्ततः ।
वृद्धाभिश्चापि रामाभिः परिचारार्थमावृतम् ॥ ५ ॥
दक्षैश्च परितो धीर भिषग्भिः कुशलैस्तथा ।
ददर्श च स तेजस्वी रक्षोघ्नान्यपि सर्वशः ॥ ६ ॥
द्रव्याणि स्थापितानि स्म विधिवत् कुशलैर्जनैः ।
तथायुक्तं च तद्दृष्ट्वा जन्मवेश्म पितुस्तव ॥ ७ ॥
हृष्टोऽभवद्धृषीकेशः साधु साध्विति चाब्रवीत् ।
तथा ब्रुवति वार्ष्णेये प्रहृष्टवदने तदा ॥ ८ ॥
द्रौपदी त्वरिता गत्वा वैराटीं वाक्यमब्रवीत् ।
अयमायाति ते भद्रे श्वशुरो मधुसूदनः ॥ ९ ॥
पुराणर्षिरचिन्त्यात्मा समीपमपराजितः ।

कहके वहां पर सब लोगोंको हर्षित किया। जैसे सूर्यकी धूपसे आर्त हुआ पुरुष जलसेचनसे सुखी होता है, वैसे ही उस समय पुरुषश्रेष्ठ कृष्णके उस वचनसे सब कोई अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। अनन्तर उन्होंने शीघ्र ही तुम्हारे पिताके जन्मगृहमें प्रवेश करके देखा, कि वह गृह सफेद मालासे विधिपूर्वक सज्जित, चारों ओर जलभरे कलशोंसे युक्त है, घृत, तिन्दुक, वृक्षोंके पल्लव, सर्षप, विमल अस्त्र और अग्नि यथायोग्य स्थानपर स्थित हैं, वहांपर सेवा टहलनेके लिये बूढी रमणीय परिचारिकाएं खडी हैं, चिकित्साके लिये उत्तम निपुण वैद्य विद्यमान हैं और कुशल पुरुषोंके द्वारा रक्षोघ्न वस्तुएं विधिपूर्वक स्थापित होरही हैं। हृषीकेश तुम्हारे पिताका ऐसा जन्मगृह देखकर अत्यन्त हर्षित होके 'धन्य धन्य' कहने लगे। वृष्णिनन्दन कृष्णके ऐसा कहनेपर द्रौपदी शीघ्रताके सहित विराटनन्दिनी उत्तराके पास जाकर उससे बोली, 'हे भद्रे! ये तुम्हारे श्वशुर पुराण ऋषि अचिन्त्यात्मा अपराजित मधुसूदन कृष्ण तुम्हारे निकट

साऽपि बाष्पकलां वाचं निगृह्याश्रूणि चैव ह ॥ १० ॥
सुसंवीताऽभवद्देवी देववत्कृष्णमीयुषी ।
सा तथा दूयमानेन हृदयेन तपस्विनी ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा गोविन्दमायान्तं कृपणं पर्यदेवयत् ।
पुण्डरीकाक्ष पश्यावां बालेन हि विनाकृतौ ।
अभिमन्युं च मां चैव हतौ तुल्यं जनार्दन ॥ १२ ॥
वार्ष्णेय मधुहन्वीर शिरसा त्वां प्रसादये ।
द्रोणपुत्रास्त्रनिर्दग्धं जीवयैनं ममात्मजम् ॥ १३ ॥
यदि स्म धर्मराज्ञा वा भीमसेनेन वा पुनः ।
त्वया वा पुण्डरीकाक्ष वाक्यमुक्तमिदं भवेत् ॥ १४ ॥
अजानतीमिषीकेयं जनित्रीं हन्त्विति प्रभो ।
अहमेव विनष्टा स्यां नैतदेवं गते भवेत् ॥ १५ ॥
गर्भस्थस्यास्य बालस्य ब्रह्मास्त्रेण निपातनम् ।
कृत्वा नृशंसं दुर्बुद्धिर्द्रौणिः किं फलमश्नुते ॥ १६ ॥
सा त्वां प्रसाद्य शिरसा याचे शत्रुनिबर्हणम् ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि गोविन्द नाऽयं संजीवते यदि ॥१७॥

आरहे हैं। (१—१०)

उत्तरा देवी द्रौपदीका वचन सुनके शोकयुक्त वचन और आंसूके जलको रोककर देवताकी भांति कृष्णको देखके अवगुण्ठनवती हुई। अनन्तर वह तपस्विनी विराटपुत्री आये हुए गोविन्दको देखकर शोकपूरित हृदय होकर करुणायुक्त वचनसे इस प्रकार विलाप करने लगी। हे पुण्डरीकाक्ष! देखिये, मैं बालकविहीन हुई हूं; अभिमन्युको तथा मुझे भी मरी हुई जानो। हे मधुसूदन! मैं सिर नीचा करके आपके निकट यह प्रार्थना करती हूं, कि आप द्रोणपुत्रके अस्त्रसे जले हुए मेरे इस पुत्रको जीवित करिये, हे पुण्डरीकाक्ष! यदि धर्मराज, भीमसेन अथवा आप ऐसा कहते, कि ऐषिकास्त्र इस अज्ञानवती गर्भिणीका वध करे, तो उस समय मेरा विनाश होनेसेही भला होता, क्यों कि तब ऐसी घटना न होती। दुर्बुद्धि द्रोणपुत्रने ब्रह्मास्त्रसे इस गर्भके बालकको मारके कौनसा फल पाया? हे शत्रुनिबर्हण! मैं सिर झुकाके तुम्हें प्रसन्न करती हुई प्रार्थना करती हूँ, कि आप इस बालकको जीवित करिये। हे गोविन्द! यदि यह बालक जीवित न

अस्मिन्हि बहवः साधो ये ममाऽऽसन्मनोरथाः ।
ते द्रोणपुत्रेण हताः किं नु जीवामि केशव ॥ १८ ॥
आसीन्मम मतिः कृष्ण पुत्रोत्सङ्गा जनार्दन ।
अभिवादयिष्ये हृष्टेति तदिदं वितथीकृतम् ॥ १९ ॥
चपलाक्षस्य दायादे मृतेऽस्मिन्पुरुषर्षभ ।
विफला मे कृताः कृष्ण हृदि सर्वे मनोरथाः ॥ २० ॥
चपलाक्षः किलातीव प्रियस्ते मधुसूदन ।
सुतं पश्य त्वमस्यैनं ब्रह्मास्त्रेण निपातितम् ॥ २१ ॥
कृतघ्नोऽयं नृशंसोऽयं यथाऽस्य जनकस्तथा ।
यः पाण्डवीं श्रियं त्यक्त्वा गतोऽद्य यमसादनम् ॥२२॥
मया चैतत्प्रतिज्ञातं रणमूर्धनि केशव ।
अभिमन्यौ हते वीर त्वामेष्याम्यचिरादिति ॥ २३ ॥
तच्च नाकरवं कृष्ण नृशंसा जीवितप्रिया ।
इदानीं मां गतां तत्र किं नु वक्ष्यति फाल्गुनिः ॥२४॥

इति श्रीम० श०सं० वै० आश्व० पर्वणि अनु० पर्वणि उत्तरावाक्ये अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

होगा, तो मैं आपके सामने ही प्राण परित्याग करूंगी । (१०–१७)

हे साधो ! इस विषममें मेरे मनमें जो मनोरथ उत्पन्न हुए थे, द्रोणपुत्रने उन्हें नष्ट किया है, तब किस लिये प्राण धारण करूंगी ? हे कृष्ण ! पहले मेरी यह इच्छा थी, कि मैं आपको मेरे पुत्र के सहित प्रणाम करूंगी, परन्तु वह अब विफल हुई है । हे पुरुषर्षभ ! मेरे मनमें जो सब मनोरथ उत्पन्न हुए थे, चञ्चललोचन वह पुत्र मृत होनेसे वे सब मनोरथ निष्फल हुए हैं । हे मधुसूदन ! वह चपलाक्ष आपके परम प्रियपात्र थे, देखिये उनका यह पुत्र ब्रह्मास्त्रसे मरा हुआ है; इसका पिता जैसा कृतघ्न और नृशंस था, यह बालक भी वैसाही हुआ, क्यों कि आज इस बालकने पाण्डवी श्री परित्याग करके यमके स्थानमें गया है । हे केशव ! पहले मैंने उनके समीप ऐसी प्रार्थना की थी, हे वीर अभिमन्यु ! यदि तुम युद्धभूमिमें मरोगे, तो उसी समय मैं तुम्हारे निकट गमन करूंगी; हे कृष्ण ! मैंने नृशंसताके वशमें होकर जीनेकी आशासे ऐसा नहीं किया; इस समय मेरे वहां जानेपर वह फाल्गुनि मुझे क्या कहेंगे ? (१८—२४)

आश्वमेधिकपर्वमें ६८ अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच- सैवं विलप्य करुणं सोन्मादेव तपस्विनी।
उत्तरा न्यपतद्भूमौ कृपणा पुत्रगृद्धिनी ॥ १ ॥
तां तु दृष्ट्वा निपतितां हतपुत्रपरिच्छदाम्।
चुक्रोश कुन्ती दुःखार्ता सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥ २ ॥
मुहूर्तमिव राजेन्द्र पाण्डवानां निवेशनम्।
अप्रेक्षणीयमभवदार्तस्वनविनादितम् ॥ ३ ॥
सा मुहूर्तं च राजेन्द्र पुत्रशोकाऽभिपीडिता।
कश्मलाभिहता वीर वैराटी त्वभवत्तदा ॥ ४ ॥
प्रतिलभ्य तु सा संज्ञामुत्तरा भरतर्षभ।
अङ्कमारोप्य तं पुत्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥
धर्मज्ञस्य सुतः स त्वमधर्मं नावबुध्यसे।
यस्त्वं वृष्णिप्रवीरस्य कुरुषे नाभिवादनम् ॥ ६ ॥
पुत्र गत्वा मम वचो ब्रूयास्त्वं पितरं त्विदम्।
दुर्मरं प्राणिनां वीर काले प्राप्ते कथंचन ॥ ७ ॥
याऽहं त्वया विनाऽद्येह पत्या पुत्रेण चैव ह।
मर्तव्ये सति जीवामि हतस्वस्तिरकिंचना ॥ ८ ॥

आश्वमेधिकपर्वमें ६९ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, वह पुत्राभिलाषिणी तपस्विनी उत्तरा कातर होके पागलिनीकी भांति करुणा वाक्यसे इस ही प्रकार विलाप करके पृथ्वीपर गिरी। दुःखसे आर्त कुन्ती और अन्यान्य भरतकुलकी स्त्रियें उस पुत्र और वस्त्ररहित उत्तराको पृथ्वीपर गिरती हुई देख ऊंचे स्वरसे रोने लगीं। हे राजेन्द्र! उस समय पाण्डवोंके गृह मुहूर्तभरके बीच आर्तस्वरसे निनादित होकर अदर्शनीय हुए। हे राजन्! उस समय पुत्रशोकसे सन्तापित विराटपुत्री उत्तरा मूर्च्छित हुई, अनन्तर वह सावधान होकर उस मरे हुए पुत्रको गोदीमें लेकर उससे कहने लगी, कि तुम धार्मिकके पुत्र होकर वृष्णिप्रवीर कृष्णको प्रणाम न करनेसे तुम्हें जो अधर्म होता है, उसे क्या तुम नहीं जानते हो? हे पुत्र! तुम अपने पिताके निकट जाकर मेरा यह वचन उनसे कहना, कि हे वीर! आप प्राणियोंके मृत्युकाल उपस्थित न होतेही क्यों अकालमें मृत हुए? आपके सदृश पति और पुत्रका विरह होनेसे मेरा मरनाही कल्याणकारी है; इतनेपर भी जो अबतक मैं जीवित

अथवा धर्मराज्ञाऽहमनुज्ञाता महाभुज ।
भक्षयिष्ये विषं घोरं प्रवेक्ष्ये वा हुताशनम् ॥ ९ ॥
अथवा दुर्मरं तात यदिदं मे सहस्रधा ।
पतिपुत्रविहीनाया हृदयं न विदीर्यते ॥ १० ॥
उत्तिष्ठ पुत्र पश्येमां दुःखितां प्रपितामहीम् ।
आर्तामुपप्लुतां दीनां निमग्नां शोकसागरे ॥ ११ ॥
आर्यां च पश्य पाञ्चालीं सात्वतीं च तपस्विनीम् ।
मां च पश्य सुदुःखार्तां व्याधविद्धां मृगीमिव ॥१२॥
उत्तिष्ठ पश्य वदनं लोकनाथस्य धीमतः ।
पुण्डरीकपलाशाक्षं पुरेव चपलेक्षणम् ॥ १३ ॥
एवं विप्रलपन्तीं तु दृष्ट्वा निपतितां पुनः ।
उत्तरां तां स्त्रियः सर्वाः पुनरुत्थापयंस्ततः ॥ १४ ॥
उत्थाय च पुनर्धैर्यात्तदा मत्स्यपतेः सुता ।
प्राञ्जलिः पुण्डरीकाक्षं भूमावेवाभ्यवादयत् ॥ १५ ॥
श्रुत्वा स तस्या विपुलं विलापं पुरुषर्षभः ।
उपस्पृश्य ततः कृष्णो ब्रह्मास्त्रं प्रत्यसंहरत् ॥ १६ ॥

हूं, उससे मेरा कौनसा मङ्गल होगा ? हे महाभुज ! मैं धर्मराजकी अनुमति लेकर घोर विषभक्षण अथवा अग्निमें प्रवेश करूंगी। (१-९)

हाय ! मैं पुत्र और पतिसे हीन हुई हूं, तोभी मेरा यह दुर्धर हृदय सहस्र टूकडे होके न फट गया! हे पुत्र ! तुम उठकर दुःखित शोकसे आर्त विपद्-ग्रस्त दीन तथा शोकमें डूबी हुई सात्त्व-तवंशीय इस अपनी प्रपितामही आर्या कुन्ती, तपस्विनी द्रौपदी और व्याधके द्वारा विद्ध हुई हरिनीकी भांति मुझे अवलोकन करो। हे पुत्र ! तुम उठके अपने चपलनेत्र पिताके मुखमण्डलकी भांति बुद्धिमान् लोकनाथके पद्मपलाश-सदृश नेत्रसम्पन्न वदनमण्डल देखो। उत्तराके पृथ्वीमें गिरके इसही प्रकार विलाप करती रहनेपर उन स्त्रियोंने उसे देखकर अत्यन्त दुःखित होकर फिर उसे उठाया। तब मत्स्यराजपुत्रीने उठकर धीरज अवलम्बनकर हाथ जोडके पुण्डरीकाक्ष कृष्णको प्रणाम किया। (१०—१५)

अनन्तर वह पुरुषश्रेष्ठ कृष्ण उत्तरा-का बहुतसा विलापवचन सुनके जलस्पर्श करके ब्रह्मास्त्र प्रतिसंहार करने

प्रतिजज्ञे च दाशार्हस्तस्य जीवितमच्युतः ।
अब्रवीच्च विशुद्धात्मा सर्वं विश्रावयन् जगत् ॥ १७ ॥
न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद्भविष्यति ।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥
नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात्परावृत्तस्तथा संजीवतामयम् ॥ १९ ॥
यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ॥ २० ॥
यथाऽहं नाभिजानामि विजये तु कदाचन ।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ॥ २१ ॥
यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ॥ २२ ॥
यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम् ॥ २३ ॥
इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ ।
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतनः ॥ २४ ॥

इति श्रीम० श० सं० वै० आश्व० अनुगीता० परिक्षित्संजीवन ऊनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

लगे। विशुद्धात्मा अच्युत दाशार्ह कृष्ण बालकके जीवनदानकी प्रतिज्ञा करके अखिल भूमण्डलको सुनाकर बोले, हे उत्तरा! मैं मिथ्या नहीं कहता, मैंने जो कहा है, वह सत्य होगा, देखो सबके सामनेही मैं इस बालकको जिलाता हूं। जब कि पहले मैंने किसी प्रकार तनिक भी मिथ्या नहीं कहा, तथा युद्धमें पराजित नहीं हुआ हूं, तब उस पुण्यबलसेही यह बालक जीवित होवे। जिस प्रकार धर्म और ब्राह्मणगण मुझे प्रिय हैं, अभिमन्युका पुत्रभी वैसाही प्रिय है; इस लिये यह मरके जन्मा हुआ पुत्र जीवित हो। जो मैंने विजय अर्जुनके सङ्ग कभी विरोध न किया हो, तो उसही सत्यके अनुसार यह मरा हुआ पुत्र जीवित होवे। सत्य और धर्म मुझमें सदा प्रतिष्ठित हो, तो अभिमन्युका यह मृत पुत्र जीवित हो जाय। जो कंस और केशी धर्मपूर्वक मेरे हाथसे मारे गये हों, तो उसही सत्यधर्मके अनुसार यह मरा हुआ बालक जीवित होवे। हे भरत-श्रेष्ठ! जब कृष्णने इतना वचन कहा, तब वह बालक धीरे धीरे सचेत

वैशम्पायन उवाच– ब्रह्मास्त्रं तु यदा राजन् कृष्णेन प्रतिसंहृतम् ।
तदा तद्वेश्म त्वत्पित्रा तेजसाऽभिविदीपितम् ॥ १ ॥
ततो रक्षांसि सर्वाणि नेशुस्त्यक्त्वा गृहं तु तत् ।
अन्तरिक्षे च वागासीत्साधु केशव साध्विति ॥ २ ॥
तदस्त्रं ज्वलितं चापि पितामहमगात्तदा ।
ततः प्राणान्पुनर्लेभे पिता तव नरेश्वर ॥ ३ ॥
व्यचेष्टत च बालोऽसौ यथोत्साहं यथाबलम् ।
बभूवुर्मुदिता राजंस्ततस्ता भरतस्त्रियः ॥ ४ ॥
ब्राह्मणा वाचयामासुर्गोविन्दस्यैव शासनात् ।
ततस्ता मुदिताः सर्वाः प्रशशंसुर्जनार्दनम् ॥ ५ ॥
स्त्रियो भरतसिंहानां नावं लब्ध्वेव पारगाः ।
कुन्ती द्रुपदपुत्री च सुभद्रा चोत्तरा तथा ॥ ६ ॥
स्त्रियश्चान्या नृसिंहानां बभूवुर्हृष्टमानसाः ।
तत्र मल्ला नटाश्चैव ग्रन्थिकाः सौख्यशायिकाः ॥ ७ ॥
सूतमागधसङ्घाश्चाप्यस्तुवंस्तं जनार्दनम् ।
कुरुवंशस्तवाख्याभिराशीर्भिर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥

होकर अङ्ग प्रत्यङ्ग सञ्चालन करने लगा। (१६—२४)

आश्वमेधिकपर्वमें ६९ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ७० अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जब कृष्णने उस ब्रह्मास्त्रको प्रतिसंहार किया, तब तुम्हारे पिताके तेजप्रभावसे वह गृह प्रदीप्त हुआ। अनन्तर राक्षसगण उस गृहको छोडके भाग गये; इधर आकाशसे केशवके विषयमें साधुवाद होने लगा। हे प्रजानाथ! उस समय उस अस्त्रके प्रज्वलित होकर पितामहके निकट जाने पर तुम्हारे पिता फिर जीवित हुए। अनन्तर जब वह बालक निज अङ्गोंको सञ्चालन करने लगा, तब भरतकुलकी स्त्रियें बल और उत्साहके सहित हर्ष प्रकाश करने लगीं। वे सब हर्षित होकर कृष्णकी आज्ञानुसार ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराके जनार्दनकी प्रशंसा करने लगीं। जैसे पार जानेवाले लोग नौका पाके आनन्दित होते हैं, वैसेही कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा और उत्तरा प्रभृति भरतकुलकी सब स्त्रियें मृत बालकको जीवित देखकर हर्षित हुईं। वहांपर मल्ल, नट, ज्योतिषी, सुखशयन, जिज्ञासु, सूत और मागधगण कुरुवंशके

उत्थाय तु यथाकालमुत्तरा यदुनन्दनम् ।
अभ्यवादयत प्रीता सह पुत्रेण भारत ॥ ९ ॥
तस्य कृष्णो ददौ हृष्टो बहु रत्नं विशेषतः ।
तथाऽन्ये वृष्णिशार्दूला नाम चास्याऽकरोत्प्रभुः ॥१०॥
पितुस्तव महाराज सत्यसंधो जनार्दनः ।
परिक्षीणे कुले यस्माज्जातोऽयमभिमन्युजः ॥ ११ ॥
परिक्षिदिति नामाऽस्य भवत्वित्यब्रवीत्तदा ।
सोऽवर्धत यथाकालं पिता तव जनाधिप ॥ १२ ॥
मनःप्रह्लादनश्चासीत्सर्वलोकस्य भारत ।
मासजातस्तु ते वीर पिता भवति भारत ॥ १३ ॥
अथाऽऽजग्मुः सुबहुलं रत्नमादाय पाण्डवाः ।
तान्समीपगतान् श्रुत्वा निर्ययुर्वृष्णिपुंगवाः ॥ १४ ॥
अलंचक्रुश्च माल्यौघैः पुरुषा नागसाह्वयम् ।
पताकाभिर्विचित्राभिर्ध्वजैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥
वेश्मानि समलंचक्रुः पौराश्चापि जनेश्वर ।
देवतायतनानां च पूजाः सुविविधास्तथा ॥ १६ ॥

स्तवसूचक आशीर्वचनके द्वारा जनार्दनकी स्तुति करने लगे। हे भारत! उत्तराने समयके अनुसार उठके प्रसन्नचित्त होकर पुत्रके सहित यदुनन्दन कृष्णको प्रणाम किया। कृष्णने अत्यन्त हर्षित होकर उसे बहुतसा रत्न प्रदान करते हुए अन्यान्य वृष्णिवंशियोंकी भांति उसका नामकरण किया। हे महाराज! उस समय सत्यसन्ध जनार्दनने कहा 'अभिमन्युका पुत्र भरतकुल क्षीणप्राय होनेपर उत्पन्न हुआ, इसलिये इसका नाम परिक्षित होवे'; इसही लिये तुम्हारे पिताका परिक्षित नाम हुआ। (१—१२)

हे प्रजानाथ! तुम्हारे पिता समयके अनुसार वर्धित होकर सबके चित्तको आनन्दित करने लगे। हे वीर! आपके पिताकी एक महीनेकी अवस्था होनेपर पाण्डवलोग बहुतसा रत्न लेकर हस्तिनापुरमें उपस्थित हुए; वृष्णिपुङ्गवगण उन लोगोंकी आगमन वार्ता सुनके उन्हें देखनेके लिये गृहसे बाहिर हुए; हे नरनाथ! जनपद तथा पुरवासी पुरुषोंने अनेक प्रकारकी माला, विचित्र पताका, अनेक भांति की ध्वजा और पूजाकी विविध वस्तुओंसे हस्तिना-

संदिदेशाथ विदुरः पाण्डुपुत्रप्रियेप्सया ।
राजमार्गाश्च तत्राऽऽसन्सुमनोभिरलंकृताः ॥ १७ ॥
शुशुभे तत्पुरं चापि समुद्रौघनिभस्वनम् ।
नर्तकैश्चापि नृत्यद्भिर्गायकानां च निःस्वनैः ॥ १८ ॥
आसीद्वैश्रवणस्येव निवासस्तत्पुरं तदा ।
बन्दिभिश्च नरै राजन् स्त्रीसहायैश्च सर्वशः ॥ १९ ॥
तत्र तत्र विविक्तेषु समन्तादुपशोभितम् ।
पताका धूयमानाश्च समन्तान्मातरिश्वना ॥ २० ॥
अदर्शयन्निव तदा कुरून्वै दक्षिणोत्तरान् ।
अघोषयंस्तदा चापि पुरुषा राजधूर्गताः ।
सर्वराष्ट्रविहारोऽद्य रत्नाभरणलक्षणः ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि पाण्डवागमने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

वैशम्पायन उवाच– तान्समीपगतान् श्रुत्वा पाण्डवान् शत्रुकर्शनः ।
वासुदेवः सहामात्यः प्रययौ ससुहृद्गणः ॥ १ ॥
ते समेत्य यथान्यायं प्रत्युद्याता दिदृक्षया ।

नगर, राजभवन तथा देवालयोंको अलंकृत किया। अनन्तर विदुरने पाण्डुपुत्रोंकी परम प्रियकामनासे राजमार्गोंको पुष्पमालाके द्वारा सुशोभित करनेके लिये आज्ञा किया। हे महाराज! उस समय नाचनेवाले नर्तक और गीत-गानेवालोंके सङ्गीतशब्दसे राजनगरी प्रतिध्वनित होकर शब्दायमान समुद्र-की भांति शोभित हुई। वहांपर चारों ओर निर्जन स्थानोंमें सस्त्रीक बन्दिगण के स्तुतिवाद करते रहनेसे उस समय वह राजमन्दिर कुबेरके भवनकी भांति प्रकाशित होने लगा। सब पताका वायुके द्वारा सञ्चालित होकर मानो उत्तर और दक्षिण कुरुगणको प्रदर्शन करने लगीं और राजभाराधिकृत पुरुष-गण उस समय इस प्रकार घोषणा करने लगे, कि 'पाण्डवगण रत्न लानेके निमित्त जाकर सब राष्ट्रोंमें विहार करके आज हस्तिनानगरमें प्रवेश करेंगे'। (१३—२१)

आश्वमेधिकपर्वमें ७० अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ७१ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, शत्रुसूदन श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंकी आगमनवार्ता सुनके उन्हें देखने की इच्छासे

ते समेत्य यथाधर्मं पाण्डवा वृष्णिभिः सह ॥ २ ॥
विविशुः सहिता राजन् पुरं वारणसाह्वयम् ।
महतस्तस्य सैन्यस्य खुरनेमिस्वनेन ह ॥ ३ ॥
द्यावापृथिव्योः खं चैव सर्वमासीत्समावृतम् ।
ते कोशानग्रतः कृत्वा विविशुः स्वपुरं तदा ॥ ४ ॥
पाण्डवाः प्रीतमनसः सामात्याः ससुहृद्गणाः ।
ते समेत्य यथान्यायं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ५ ॥
कीर्तयन्तः स्वनामानि तस्य पादौ ववन्दिरे ।
धृतराष्ट्रादनु च ते गान्धारीं सुबलात्मजाम् ॥ ६ ॥
कुन्तीं च राजशार्दूल तदा भरतसत्तम ।
विदुरं पूजयित्वा च वैश्यापुत्रं समेत्य च ॥ ७ ॥
पूज्यमानाः स्म ते वीरा व्यरोचन्त विशांपते ।
ततस्तत्परमाश्चर्यं विचित्रं महदद्भुतम् ॥ ८ ॥
शुश्रुवुस्ते तदा वीराः पितुस्ते जन्म भारत ।
तदुपश्रुत्य तत्कर्म वासुदेवस्य धीमतः ॥ ९ ॥
पूजार्हं पूजयामासुः कृष्णं देवकिनन्दनम् ।
ततः कतिपयाहस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १० ॥

मन्त्रियोंके सहित उनके समीप गये । हे राजन् ! पाण्डवोंने वृष्णिवंशियोंके सङ्ग धर्मपूर्वक मिलकर नगरमें प्रवेश किया । उस समय उस महासेनामें स्थित वाहनोंके खुर तथा रथके शब्दसे स्वर्ग, मर्त्य, पाताल और समस्त जगत् परिपूरित हुआ । अनन्तर पाण्डव लोग रत्नकोष आगे करके प्रसन्नचित्तसे मन्त्रियों और सुहृदोंके सहित निज पुरमें प्रविष्ट हुए; वे सब लोग मिलकर न्यायके अनुसार प्रजानाथ धृतराष्ट्रके समीप अपना अपना नाम कहकर उनके दोनों चरणोंकी वन्दना करने लगे । हे राजेन्द्र ! भरतसत्तम पाण्डवगण धृतराष्ट्रकी चरणवन्दना करके क्रमसे सुबलनन्दिनी गान्धारी, कुन्ती और वैश्यापुत्र विदुरकी पूजा करते हुए पुरवासियोंसे पूजित होकर विशेष रूपसे प्रकाशित होने लगे । (१–८)

फिर उन लोगोंने तुम्हारे पिताका वह परमाश्चर्य विचित्र अद्भुत जन्म-वृत्तान्त और बुद्धिमान् श्रीकृष्णचन्द्रका वैसा विस्मयकर कर्म सुनके पूजनीय देवकी पूजा की । अनन्तर कुछ दिनके

आजगाम महातेजा नगरं नागसाह्वयम् ।
तस्य सर्वे यथान्यायं पूजां चक्रुः कुरूद्वहाः ॥ ११ ॥
सहवृष्ण्यन्धकव्याघ्रैरुपासांचक्रिरे तदा ।
तत्र नानाविधाकाराः कथाः समभिकीर्त्य वै ॥ १२ ॥
युधिष्ठिरो धर्मसुतो व्यासं वचनमब्रवीत ।
भवत्प्रसादाद्भगवन् यदिदं रत्नमाहृतम् ॥ १३ ॥
उपयोक्तुं तदिच्छामि वाजिमेधे महाक्रतौ ।
तमनुज्ञातुमिच्छामि भवता मुनिसत्तम ॥
त्वदधीना वयं सर्वे कृष्णस्य च महात्मनः ॥ १४ ॥

व्यास उवाच– अनुजानामि राजंस्त्वां क्रियतां यदनन्तरम् ।
यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता ॥ १५ ॥
अश्वमेधो हि राजेन्द्र पावनः सर्वपाप्मनाम् ।
तेनेष्ट्वा त्वं विपाप्मा वै भविता नात्र संशयः ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच– इत्युक्तः स तु धर्मात्मा कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
अश्वमेधस्य कौरव्य चकाराऽऽहरणे मतिम् ॥ १७ ॥
समनुज्ञाप्य तत्सर्वं कृष्णद्वैपायनं नृपः ।

बाद सत्यवतीपुत्र व्यासदेव हस्तिनापुरमें आये । कुरूद्वह पाण्डवगण वृष्णि तथा अन्धकवंशीय पुरुषोंके सहित व्यासदेवकी पूजा करके उनकी उपासना करने लगे; तब वहां धर्मपुत्र युधिष्ठिर व्यासके समीप अनेक भांतिकी वार्ता करके उनसे बोले, हे भगवन्! आपकी कृपासे ये सब रत्न लाये गये हैं, मैं उन सब रत्नोंको अश्वमेध यज्ञमें व्यय करनेकी इच्छा करता हूं । हे मुनिसत्तम ! हम सब कोई आपके तथा कृष्णके वशमें हैं, इसलिये यह प्रार्थना करता हूं, कि उस विषयमें आप मुझे अनुमति दीजिये । (८—१४)

श्रीवेदव्यास मुनि बोले, हे राजन् ! मैं तुम्हें अनुमति देता हूं, इसके अनन्तर यदि और कुछ कार्य हो, तो उसे तुम पूरा करके विधिपूर्वक दाक्षिणायुक्त अश्वमेध यज्ञ करो । हे राजेन्द्र ! अश्वमेधयज्ञ सब पापोंसे पवित्र करता है, इसलिये तुम उस यज्ञको करनेसे निश्चय ही पापरहित होगे; इसमें कुछ सन्देह नहीं है । (१५–१६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उस धर्मात्मा कुरुराज युधिष्ठिरने व्यासदेवका ऐसा वचन सुनकर अश्वमेध यज्ञ करने-

वासुदेवमथाभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥
देवकी सुप्रजा देवी त्वया पुरुषसत्तम ।
यद् ब्रूयां त्वां महाबाहो तत्कृथास्त्वमिहाच्युत ॥ १९ ॥
त्वत्प्रभावार्जितान्भोगानश्नीम यदुनन्दन ।
पराक्रमेण बुद्धया च त्वयेयं निर्जिता मही ॥ २० ॥
दीक्षयस्व त्वमात्मानं त्वं हि नः परमो गुरुः ।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ॥ २१ ॥
त्वं हि यज्ञोऽक्षरः सर्वस्त्वं धर्मस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चिता मतिः ॥ २२ ॥
वासुदेव उवाच– त्वमेवैतन्महाबाहो वक्तुमर्हस्यरिंदम ।
त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चिता मतिः ॥ २३ ॥
त्वं चाद्य कुरुवीराणां धर्मेण हि विराजसे ।
गुणीभूताः स्म ते राजंस्त्वं नो राजा गुरुर्मतः ॥ २४ ॥
यजस्व मदनुज्ञातः प्राप्य एष क्रतुस्त्वया ।
युनक्तु नो भवान्कार्ये यत्र वाञ्छसि भारत ॥ २५ ॥

के लिये सम्मति की । वाग्मिवर राजा युधिष्ठिर कृष्णद्वैपायन व्यास मुनिसे सब वृत्तान्त कहके वसुदेवपुत्र कृष्णके निकट जाकर उनसे बोले, हे पुरुषसत्तम ! तुम्हारे द्वारा देवकी उत्तम प्रजावती हुई हैं, हे महाबाहो ! मैं तुमसे जो कहता हूं, तुम उसे सुनो । हे यदुनन्दन ! हम लोग तुम्हारे प्रतापसे अर्जित भोग्य वस्तुओंको भोगते हैं, तुमने ही पराक्रम और बुद्धिसे इस पृथ्वीको जीता है; तुमही हम लोगोंके परम गुरु हो, हे दाशार्ह ! इसलिये तुम्हें स्वयं यज्ञमें दीक्षित होना योग्य है, क्यों कि तुम्हारे दीक्षित होनेसे मैं निष्पाप होऊंगा । मैंने यह निश्चय जाना है, कि तुमही यज्ञ, तुमही अक्षर, तुमही धर्म, तुमही प्रजापति और तुम ही सब प्राणियोंकी गति हो । (१७-२२)

श्रीकृष्ण बोले, हे अरिंदमन ! आपको ऐसा कहना चाहिये, परन्तु मुझे ऐसा निश्चय ज्ञात है, कि आप ही सब भूतोंकी गति हैं; और आप कुरुवीर पुरुषोंकी आदि होकर इस लोकमें धर्मरूपसे विराजते हैं । हे राजन् ! हम सब कोई आपके गुणभूत हुए हैं, हम आपको ही अपना गुरु जानते हैं; इस लिये मैं कहता हूं, कि आप इस यज्ञमें दीक्षित होकर जो जो करनेकी इच्छा

सत्यं ते प्रतिजानामि सर्वं कर्तास्मि तेऽनघ ।
भीमसेनार्जुनौ चैव तथा माद्रवतीसुतौ ।
इष्टवन्तो भविष्यन्ति त्वयीष्टवति पार्थिव ॥ २६ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि कृष्णव्यासानुज्ञायां एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच– एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
व्यासमामन्त्र्य मेधावी ततो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
यदा कालं भवान्वेत्ति हयमेधस्य तत्त्वतः ।
दीक्षयस्व तदा मां त्वं त्वय्यायत्तो हि मे क्रतुः ॥ २ ॥
व्यास उवाच– अहं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव च ।
विधानं यद्यथाकालं तत्कर्तारो न संशयः ॥ ३ ॥
चैत्र्यां हि पौर्णमास्यां तु तव दीक्षा भविष्यति ।
संभाराः संभ्रियन्तां च यज्ञार्थं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥
अश्वविद्याविदश्चैव सूता विप्राश्च तद्विदः ।
मेध्यमश्वं परीक्षन्तां तव यज्ञार्थसिद्धये ॥ ५ ॥
तमुत्सृज यथाशास्त्रं पृथिवीं सागराम्बराम् ।

हो, उन कार्योंके लिये मुझे आज्ञा करिये। हे अनघ! मैं आपके समीप सत्य प्रतिज्ञा करता हूं, कि मैं भीमसेन, अर्जुन और माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव हम सब कोई आपके सब कार्य करेंगे। हे राजन्! आपका इष्ट साधन होनेसे सबकी अभिलाष पूर्ण होगी। (२३-२६)

आश्वमेधिकपर्वमें ७१ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ७२ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मपुत्र मेधावी युधिष्ठिरने कृष्णका ऐसा वचन सुनके व्यासदेवको आह्वान करके कहा, कि आप अश्वमेध यज्ञके समयको विशेष रीतिसे जानते हैं, इस लिये उस ही समयमें मुझे दीक्षित करिये; क्यों कि यह मेरा यज्ञ आपहीके अधीन है। (१-२)

श्रीवेदव्यास मुनि बोले, हे कौन्तेय! मैं, पैल और याज्ञवल्क्य, हम लोग जिस कार्यका जो विधान और समय है, उसे निरूपण किया करते हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! चैत्री पूर्णिमामें तुम्हारी दीक्षा होगी, इस लिये तुम लोग यज्ञकी सामाग्रियोंको इकट्ठी करो। अश्वविद्या जाननेवाले सूत और ब्राह्मण लोग तुम्हारी यज्ञसिद्धिके लिये मेध्य अश्वकी परीक्षा करें। हे पार्थिव! घोडेकी

स पर्येतु यशो दीप्तं तव पार्थिव दर्शयन् ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच– इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पाण्डवः पृथिवीपतिः।
चकार सर्वं राजेन्द्र यथोक्तं ब्रह्मवादिना ॥ ७ ॥
संभाराश्चैव राजेन्द्र सर्वे संकल्पिताऽभवन्।
स संभारान्समाहृत्य नृपो धर्मसुतस्तदा ॥ ८ ॥
न्यवेदयदमेयात्मा कृष्णद्वैपायनाय वै।
ततोऽब्रवीन्महातेजा व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ॥ ९ ॥
यथाकालं यथायोगं सज्जाः स्म तव दीक्षणे।
स्फ्यश्च कूर्चश्च सौवर्णो यच्चान्यदपि कौरव ॥ १० ॥
तत्र योग्यं भवेत्किंचिद्रौक्मं तत् क्रियतामिति।
अश्वश्चोत्सृज्यतामद्य पृथ्व्यामथ यथाक्रमम्।
सुगुप्तं चरतां चापि यथाशास्त्रं यथाविधि ॥ ११ ॥
युधिष्ठिर उवाच– अयमश्वो यथा ब्रह्मन्नुत्सृष्टः पृथिवीमिमाम्।
चरिष्यति यथाकामं तत्र वै संविधीयताम् ॥ १२ ॥
पृथिवीं पर्यटन्तं हि तुरगं कामचारिणम्।

परीक्षा होनेपर शास्त्रके अनुसार उसे छोडो, वह घोडा तुम्हारे प्रदीप्त यशको प्रदर्शित करता हुआ सागराम्बरा पृथ्वी-पर भ्रमण करे। (३—६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर ब्रह्मवादी व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके "वही करूंगा" इसही प्रकार स्वीकार करके श्रीव्यासदेव मुनिके वचनके अनुसार सब कार्य करने लगे। हे महाराज! सामग्रियोंके कार्य होनेपर अमेयात्मा धर्मपुत्र नरनाथ युधिष्ठिरने उन सञ्चित सामग्रियोंको इकट्ठी करके कृष्णद्वैपायन मुनिसे सब वृत्तान्त कहा। तब महातेजस्वी व्यासदेव मुनि धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे बोले, कि समय और योगके अनुसार हम लोग तुम्हारी दीक्षानिमित्त सजित हुए हैं; अब तुम स्फ्य अर्थात् काष्ठका खड्ग, कूर्च, आस-नके लिये कुशमुष्टि और यज्ञकी अन्यान्य उपकरण-सामग्रियोंको सुवर्णके द्वारा निर्माण कराओ। आजही पृथ्वीके बीच यथाक्रमसे घोडा छोडो और विधिपूर्वक तथा शास्त्रके अनुसार जिसमें घोडा उत्तम रीतिसे रक्षित होवे उसका उपाय करो। (७—११)

युधिष्ठिर बोले, हे ब्रह्मन्! घोडा उत्सृष्ट होकर जिस भांति पृथ्वीमें विच-रण कर सके, आप उस उपायका विधान

कः पालयेदिति मुने तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच- इत्युक्तः स तु राजेन्द्र कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
भीमसेनादवरजः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १४ ॥
जिष्णुः सहिष्णुर्धृष्णुश्च स एनं पालयिष्यति ।
शक्तः स हि महीं जेतुं निवातकवचान्तकः ॥ १५ ॥
तस्मिन् ह्यस्त्राणि दिव्यानि दिव्यं संहननं तथा ।
दिव्यं धनुश्चेषुधी च स एनमनुयास्यति ॥ १६ ॥
स हि धर्मार्थकुशलः सर्वविद्याविशारदः ।
यथाशास्त्रं नृपश्रेष्ठ चारयिष्यति ते हयम् ॥ १७ ॥
राजपुत्रो महाबाहुः श्यामो राजीवलोचनः ।
अभिमन्योः पिता वीरः स एनं पालयिष्यति ॥ १८ ॥
भीमसेनोऽपि तेजस्वी कौन्तेयोऽमितविक्रमः ।
समर्थो रक्षितुं राष्ट्रं नकुलश्च विशांपते ॥ १९ ॥
सहदेवस्तु कौरव्य समाधास्यति बुद्धिमान् ।
कुटुम्बतन्त्रं विधिवत्सर्वमेव महायशाः ॥ २० ॥
तत्तु सर्वं यथान्यायमुक्तः कुरुकुलोद्वहः ।
चकार फाल्गुनं चापि संदिदेश हयं प्रति ॥ २१ ॥

करिये । हे मुनि ! घोडाके स्वेच्छापूर्वक पृथ्वीपर विचरण करते रहनेपर कौन पुरुष उसकी रक्षा करेगा, वह भी आप निश्चय करके कहिये । (१२–१३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजेन्द्र! कृष्णद्वैपायन व्यासदेवने युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके कहा, कि भीमसेनके भाई सब धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ जिष्णु सहिष्णु धृष्णु अर्जुन उस अश्वको पालन करेंगे । निवातकवचोंके नाशक धनञ्जय पृथ्वीको जीतनेमें समर्थ हैं, उनके पास दिव्य अस्त्र, दिव्य संहनन, दिव्य धनुष और और दिव्य बाण विद्यमान हैं; इसलिये वह अर्जुन ही घोडेके अनुगामी होवें । हे राजेन्द्र ! वह धर्मार्थकुशल और सर्वविद्या-विशारद हैं, इस लिये वही शास्त्रके अनुसार तुम्हारे घोडेको विचरण करानेमें समर्थ होगा । हे पृथ्वीनाथ ! अमितपराक्रमी कुन्तीपुत्र भीमसेन और नकुल राज्यकी रक्षा करें। महायशस्वी बुद्धिमान् सहदेव सब कुटुम्बतन्त्रको विधिपूर्वक साव- धान करें । जब व्यासदेवने युधिष्ठिरसे इन सब कार्योंको विधिपूर्वक समाधान

युधिष्ठिर उवाच- एह्यर्जुन त्वया वीर हयोऽयं परिपाल्यताम् ।
त्वमर्हो रक्षितुं ह्येनं नान्यः कश्चन मानवः ॥ २२ ॥
ये चापि त्वां महाबाहो प्रत्युद्यान्ति नराधिपाः ।
तैर्विग्रहो यथा न स्यात्तथा कार्यं त्वयाऽनघ ॥ २३ ॥
आख्यातव्यश्च भवता यज्ञोऽयं मम सर्वशः ।
पार्थिवेभ्यो महाबाहो समये गम्यतामिति ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्रातरं सव्यसाचिनम् ।
भीमं च नकुलं चैव पुरगुप्तौ समादधत् ॥ २५ ॥
कुटुम्बतन्त्रे च तदा सहदेवं युधां पतिम् ।
अनुमान्य महीपालं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ॥ २६ ॥

इति श्रीम० आश्वमे० प० अनु० यज्ञसामग्रीसंपादने द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

वैशम्पायन उवाच- दीक्षाकाले तु संप्राप्ते ततस्ते सुमहर्त्विजः ।
विधिवद्दीक्षयामासुरश्वमेधाय पार्थिवम् ॥ १ ॥
कृत्वा स पशुबन्धांश्च दीक्षितः पाण्डुनन्दनः ।
धर्मराजो महातेजाः सहर्त्विग्भिर्व्यरोचत ॥ २ ॥

करनेको कहा, तब उन्होंने अर्जुनको घोडेकी रक्षाके लिये नियुक्त किया। (१४-२१)

युधिष्ठिर बोले, हे अर्जुन ! आओ, तुम इस घोडेकी रक्षा करनेमें सब प्रकारसे यत्नवान् रहो। हे वीरश्रेष्ठ ! तुम्हारे अतिरिक्त कोई मनुष्यही इसकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। हे महाबाहो ! यदि कोई कोई राजा तुम्हारे विरुद्ध आचरण करनेमें प्रवृत्त हों, तो जिस भांति तुम्हारे सङ्ग उनका संग्राम न हो, वही उपाय करना और उन राजाओंको मेरे इस यज्ञका वृत्तान्त कहके यज्ञके समयमें उन्हें आनेके लिये निमन्त्रण करना। (२२—२४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मात्मा युधिष्ठिरने भाई अर्जुनसे ऐसा कहके भीम और नकुलको नगरकी रक्षामें नियुक्त किया और महीपाल धृतराष्ट्रकी अनुमति लेकर योद्धाश्रेष्ठ सहदेवको कुटुम्बतन्त्रमें नियुक्त किया। (२५-२६)

आश्वमेधिकपर्वमें ७२ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ७३ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, दीक्षाका समय उपस्थित होनेपर उन महा ऋत्विजोंने राजाको विधिपूर्वक दीक्षित किया। पाण्डुपुत्र महातेजस्वी धर्मराज पशुबन्धनके काष्ठोंको संग्रह करके ऋत्विजोंके

हयश्च हयमेधार्थं स्वयं स ब्रह्मवादिना ।
उत्सृष्टः शास्त्रविधिना व्यासेनामिततेजसा ॥ ३ ॥
स राजा धर्मराड् राजन्दीक्षितो विबभौ तदा ।
हेममाली रुक्मकण्ठः प्रदीप्त इव पावकः ॥ ४ ॥
कृष्णाजिनी दण्डपाणिः क्षौमवासाः स धर्मजः ।
विबभौ द्युतिमान्भूयः प्रजापतिरिवाध्वरे ॥ ५ ॥
तथैवास्यर्त्विजः सर्वे तुल्यवेषा विशाम्पते ।
बभूवुरर्जुनश्चापि प्रदीप्त इव पावकः ॥ ६ ॥
श्वेताश्वः कृष्णसारं तं ससाराश्वं धनञ्जयः ।
विधिवत् पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ॥ ७ ॥
विक्षिपन् गाण्डिवं राजन्बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
तमश्वं पृथिवीपाल मुदा युक्तः ससार च ॥ ८ ॥
आकुमारं तदा राजन्नागमत्तत्पुरं विभो ।
द्रष्टुकामं कुरुश्रेष्ठं प्रयास्यं तं धनञ्जयम् ॥ ९ ॥
तेषामन्योन्यसंमर्दादूष्मेव समजायत ।

सहित समधिक प्रकाशित होने लगे। ब्रह्मवादी अमिततेजस्वी स्वयं व्यासदेवके द्वारा विधि और शास्त्रके अनुसार अश्वमेधके लिये वह घोडा छोडा गया। धर्मराज युधिष्ठिर दीक्षित होकर गलेमें सुवर्णकी माला तथा सुवर्णकण्ठी पहरके उस समय प्रदीप्त अग्निकी भांति प्रकाशित होने लगे। (१-४)

हे पृथ्वीपति ! उस समय तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर कृष्णाजिन और रेशमी वस्त्र परिधानकर, हाथ में दण्ड धारण करके, उस यज्ञमें प्रजापति की भांति शोभने लगे। उनके ऋत्विक्गण भी वैसा ही वेष धारण करके उस ही प्रकार शोभित हुए। धनञ्जय अर्जुन सफेद घोडेपर चढके उस श्यामकर्ण घोडेका अनुसरण करते हुए प्रज्वलित अग्निकी भांति शोभायमान हुए। (५-७)

हे महीपाल ! चर्मपादुका और अंगुलीत्राणधारी अर्जुन धर्मराजकी आज्ञानुसार गाण्डीव धनुष चढाकर हर्षपूर्वक उस घोडेका अनुसरण करने लगे। हे राजन् ! आबालवृद्ध पुरवासीवृन्द घोडेका अनुसरण करनेवाले कुरुकुलश्रेष्ठ धनञ्जयको देखनेके लिये आये, उस समय उन लोगोंकी परस्पर भीडसे अत्यन्त ही उष्मा उत्पन्न हुई। (७-१०)

दिदृक्षूणां हयं तं च तं चैव हयसारिणम् ॥ १० ॥
ततः शब्दो महाराज दिशः खं प्रतिपूरयन् ।
बभूव प्रेक्षतां नृणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ ११ ॥
एष गच्छति कौन्तेयस्तुरगश्चैव दीप्तमान् ।
यमन्वेति महाबाहुः संस्पृशन्धनुरुत्तमम् ॥ १२ ॥
एवं शुश्राव वदतां गिरो जिष्णुरुदारधीः ।
स्वस्ति तेऽस्तु व्रजारिष्टं पुनश्चैहीति भारत ॥ १३ ॥
अथापरे मनुष्येन्द्र पुरुषा वाक्यमब्रुवन् ।
नैनं पश्याम संमर्दे धनुरेतत्प्रदृश्यते ॥ १४ ॥
एतद्धि भीमनिर्ह्रादं विश्रुतं गाण्डिवं धनुः ।
स्वस्ति गच्छ त्वरिष्टो वै पन्थानमकुतोभयम् ॥ १५ ॥
निवृत्तमेनं द्रक्ष्यामः पुनरेष्यति च ध्रुवम् ।
एवमाद्या मनुष्याणां स्त्रीणां च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
शुश्राव मधुरा वाचः पुनः पुनरुदारधीः ।
याज्ञवल्क्यस्य शिष्यश्च कुशलो यज्ञकर्मणि ॥ १७ ॥

हे महाराज! उसके अनन्तर उस समय घोडेके अनुगामी अर्जुनके दर्शनकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके कोलाहल शब्दसे दशों दिशा तथा आकाशमण्डल परिपूर्ण हो गया; वे लोग कहने लगे, कि 'यह प्रदीप्त घोडा जा रहा है, इसके पीछे वह महाबाहु कुन्तीपुत्र धनञ्जय उत्तम धनुष धारण करके गमन करते हैं। (११-१२)

महाबुद्धिमान् जिष्णु धनञ्जयने उन लोगोंका ऐसा ही वचन सुना। हे भारत! दूसरे पुरुषोंने अर्जुनको देखकर यह कहना आरम्भ किया। हे अर्जुन! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम गमन करो, फिर आना। हम लोगोंने युद्धके समयमें अर्जुनको इस प्रकार नहीं देखा था और भीमनिर्ह्रादयुक्त गाण्डीव धनुष भी नहीं देखा था। हे अर्जुन! तुम जाओ, तुम्हारा मङ्गल हो, अरिष्ट दूर हो, तुम्हारा मार्ग भयविहीन होवे। हम लोग ऐसी प्रार्थना करते हैं, कि तुम्हारे लौटनेपर फिर हम लोग इसी प्रकार तुम्हें देखें। (१३-१६)

हे भरतर्षभ! महाबुद्धिमान् अर्जुन पुरुष और स्त्रियोंका ऐसा मधुर वचन सुनके चलने लगे। धर्मराजकी आज्ञानुसार शान्ति करनेके निमित्त यज्ञकार्यमें प्रवीण याज्ञवल्क्यके शिष्य

प्राग्ज्ञात्पार्थेन सहितः शान्त्यर्थं वेदपारगः ।
ब्राह्मणाश्च महीपाल बहवो वेदपारगाः ॥ १८ ॥
अनुजग्मुर्महात्मानं क्षत्रियाश्च विशांपते ।
विधिवत्पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ॥ १९ ॥
पाण्डवैः पृथिवीमश्वो निर्जितामस्त्रतेजसा ।
चचार स महाराज यथादेशं च सत्तम ॥ २० ॥
तत्र युद्धानि वृत्तानि यान्यासन्पाण्डवस्य ह ।
तानि वक्ष्यामि ते वीर विचित्राणि महान्ति च ॥२१॥
स हयः पृथिवीं राजन्प्रदक्षिणमवर्तत ।
ससारोत्तरतः पूर्वं तन्निबोध महीपते ॥ २२ ॥
अवमृद्नन्स राष्ट्राणि पार्थिवानां हयोत्तमः ।
शनैस्तदा परिययौ श्वेताश्वश्च महारथः ॥ २३ ॥
तत्र संगणना नास्ति राज्ञामयुतशस्तदा ।
येऽयुद्ध्यन्त महाराज क्षत्रिया हतबान्धवाः ॥ २४ ॥
किराता यवना राजन्बहवोऽसिधनुर्धराः ।
म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ॥ २५ ॥
आर्याश्च पृथिवीपालाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
समीयुः पाण्डुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः ॥ २६ ॥

वेदपारग ब्राह्मणों और क्षत्रियोंने महात्मा धनञ्जयके सङ्ग गमन किया । हे महाराज ! पाण्डवोंके अस्त्र-प्रभावसे जो सब देश जीते गये थे, घोडा उन्हीं देशोंमें विचरने लगा । (१९—२०)

हे वीर ! वहांपर पांडुपुत्र अर्जुनका जिस प्रकार विचित्र महायुद्ध हुआ था, उसे कहूंगा । हे राजन् ! वह घोडा पृथ्वीकी परिक्रमा करते हुए जिस प्रकार उत्तरसे पूर्व दिशामें आया था, उसे सुनो । हे महाराज ! वह घोडा तथा श्वेत घोडेपर चढे हुए महारथी अर्जुन क्रमसे राजाओंके राष्ट्रोंको विमर्दित करके भ्रमण करते रहनेपर उस समय जिन सब हतबान्धव क्षत्रियोंने उनके सङ्ग युद्ध किया था, उसकी गिनती नहीं हो सकती । हे महाराज ! पहलेके निर्जित धनुर्धारी बहुतेरे सैकडों किरात, यवन अनेक भांतिके म्लेच्छ और प्रहृष्टनरवाहन आर्य राजा लोग युद्धदुर्मद होकर पांडुपुत्रसे लडनेके लिये उनके समीप आये । हे पृथ्वीनाथ ! वहां

एवं वृत्तानि युद्धानि तत्र तत्र महीपते ।
अर्जुनस्य महीपालैर्नानादेशसमागतैः ॥ २७ ॥
यानि तूभयतो राजन्प्रतप्तानि महान्ति च ।
तानि युद्धानि वक्ष्यामि कौन्तेयस्य तवाऽनघ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

वैशम्पायन उवाच– त्रिगर्तैरभवद्युद्धं कृतवैरैः किरीटिनः ।
महारथसमाज्ञातैर्हतानां पुत्रनप्तृभिः ॥ १ ॥
ते समाज्ञाय संप्राप्तं यज्ञियं तुरगोत्तमम् ।
विषयान्तं ततो वीरा दंशिताः पर्यवारयन् ॥ २ ॥
रथिनो बद्धतूणीराः सदश्वैः समलंकृतैः ।
परिवार्य हयं राजन् ग्रहीतुं संप्रचक्रमुः ॥ ३ ॥
ततः किरीटी संचिन्त्य तेषां तत्र चिकीर्षितम् ।
वारयामास तान्वीरान्सान्त्वपूर्वमरिंदमः ॥ ४ ॥
तदनादृत्य ते सर्वे शरैरभ्यहनंस्तदा ।
तमोरजोभ्यां संछन्नांस्तान्किरीटी न्यवारयत् ॥ ५ ॥
तानब्रवीत्ततो जिष्णुः प्रहसन्निव भारत ।
निवर्तध्वमधर्मज्ञाः श्रेयो जीवितमेव च ॥ ६ ॥

अनेक देशोंके समागत राजाओंके संग जिस प्रकार अर्जुनका युद्ध हुआ था और उस युद्धमें दोनों ओरकी जो समस्त महासेना प्रतप्त हुई थी, वह सब मैं तुमसे विशेष रीतिसे कहता हूं । (२१—२८)

आश्वमेधिकपर्वमें ७३ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ७४ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पहले पाण्डवोंने त्रिगर्तवासी जिन सब लोगोंको मारा था, उनके महारथी पुत्र और पौत्रगण अर्जुनके सङ्ग युद्ध करने लगे । उन महावीर त्रिगर्तोंने पाण्डवोंका यज्ञीय घोडा आया हुआ जानके तूणीर बांधकर घोडोंपर चढके उस अश्वको घेरकर पकडना चाहा । तब शत्रुसूदन अर्जुनने उन लोगोंकी चिकीर्षा जानके सान्त्वनापूर्वक उन्हें निवारण किया । वे सब कोई अर्जुनके वचनका अनादर करके बाण चलाने लगे; तब अर्जुनने तम तथा रजोगुणसे युक्त उन बाणोंको निवारण किया और हंसके बोले, हे

स हि वीरः प्रयास्यन्वै धर्मराजेन वारितः ।
हतबान्धवा न ते पार्थ हन्तव्याः पार्थिवा इति ॥ ७ ॥
स तदा तद्वचः श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
तान्निवर्तध्वमित्याह न न्यवर्तन्त चापि ते ॥ ८ ॥
ततस्त्रिगर्त्तराजानं सूर्यवर्माणमाहवे ।
विचित्य शरजालेन प्रजहास धनंजयः ॥ ९ ॥
ततस्ते रथघोषेण रथनेमिस्वनेन च ।
पूरयन्तो दिशः सर्वा धनञ्जयमुपाद्रवन् ॥ १० ॥
सूर्यवर्मा ततः पार्थे शराणां नतपर्वणाम् ।
शतान्यमुञ्चद्राजेन्द्र लघ्वस्त्रमभिदर्शयन् ॥ ११ ॥
तथैवान्ये महेष्वासा ये च तस्याऽनुयायिनः ।
मुमुचुः शरवर्षाणि धनंजयवधैषिणः ॥ १२ ॥
स तान् ज्यामुखनिर्मुक्तैर्बहुभिः सुबहून् शरान् ।
चिच्छेद पाण्डवो राजंस्ते भूमौ न्यपतंस्तदा ॥ १३ ॥
केतुवर्मा तु तेजस्वी तस्यैवावरजो युवा ।

अधर्मज्ञगण ! यदि तुम लोग निज जीवनकी कुशल चाहते हो, तो निवृत्त हो जाओ । चलनेके समयमें धर्मराजने अर्जुनसे कहा था । 'हे पार्थ ! हतबान्धव राजाओंके विरुद्धाचारी होनेपर भी तुम उन्हें न मारना,' उन्होंने धर्मराजका वही वचन स्मरण करके उन लोगोंसे कहा, 'कि तुम लोग निवृत्त हो जाओ;' परन्तु वे लोग निवृत्त न हुए । तब वह शरजालसे त्रिगर्तराज सूर्यवर्माको जीत-कर हंसने लगे । तिसके अनन्तर वे लोग रथ तथा रथचक्रकी घरघराहटसे सब दिशाओंको परिपूरित करते हुए अर्जुनके निकट आये । अनन्तर सूर्य-वर्माने अपनी लघुशस्त्रता प्रकाशित करके अर्जुनके ऊपर एक सौ नतपर्व बाण चलाये और उसके अनुयायी अन्यान्य धनुर्धारी पुरुष अर्जुनके वधकी अभिलाष करके बहुतसे बाण बरसाने लगे । (१—१२)

हे महाराज ! उस समय अर्जुनने धनुषसे छूटे हुए कई सौ बाणोंसे उनके चलाये हुए बाणोंको काटके उन्हें पृथ्वीमें गिरा दिया । सूर्यवर्माके गिरने पर उसका भाई युवा तेजस्वी केतुवर्मा भ्राताके निमित्त यशस्वी अर्जुनके सङ्ग युद्ध करनेमें प्रवृत्त हुआ । परवीरघाती बीभत्सु अर्जुनने केतुवर्माको युद्ध करनेके

युयुधे भ्रातुरर्थाय पाण्डवेन यशस्विना ॥ १४ ॥
तमापतन्तं संप्रेक्ष्य केतुवर्माणमाऽऽहवे ।
अभ्यघ्नन्निशितैर्बाणैर्बीभत्सुः परवीरहा ॥ १५ ॥
केतुवर्मण्यभिहते धृतवर्मा महारथः ।
रथेनाऽऽशु समुत्पत्य शरैर्जिष्णुमवाकिरत् ॥ १६ ॥
तस्य तां शीघ्रतामीक्ष्य तुतोषातीव वीर्यवान् ।
गुडाकेशो महातेजा बालस्य धृतवर्मणः ॥ १७ ॥
न संदधानं ददृशे नाददानं च तं तदा ।
किरन्तमेव स शरान्ददृशे पाकशासनिः ॥ १८ ॥
स तु तं पूजयामास धृतवर्माणमाऽऽहवे ।
मनसा तु मुहूर्तं वै रणे समभिहर्षयन् ॥ १९ ॥
तं पन्नगमिव क्रुद्धं कुरुवीरः स्मयन्निव ।
प्रीतिपूर्वं महाबाहुः प्राणैर्न व्यपरोपयत् ॥ २० ॥
स तथा रक्ष्यमाणो वै पार्थेनामिततेजसा ।
धृतवर्मा शरं दीप्तं मुमोच विजये तदा ॥ २१ ॥
स तेन विजयस्तूर्णमासीद्विद्धः करे भृशम् ।
मुमोच गाण्डिवं मोहात्तत्पपाताथ भूतले ॥ २२ ॥

लिये आया हुआ देखकर शिकल कियेहुए बाणोंसे उसे घायल किया । केतुवर्माके घायल होनेपर महारथ धृतवर्मा शीघ्रगामी रथपर चढके आया और उसने जिष्णु अर्जुनको बाणोंसे छिपा दिया; महातेजस्वी गुडाकेश अर्जुन उस बालक धृतवर्माका हस्तलाघव देखकर परम सन्तुष्ट हुए । (१३–१७)

अनन्तर जब धृतवर्मा बाण बरसाने लगा, उस समय इन्द्रपुत्र अर्जुन उसके बाणग्रहण और सन्धानको लक्ष्य करनेमें समर्थ न हुए। बल्कि वह धृतवर्माको हर्षित करते हुए मुहूर्तभर मनही मन उसकी प्रशंसा करने लगे; महाबाहु कुरुप्रवीर धनञ्जयने सर्पकी भांति क्रुद्ध उस धृतवर्माकी मानो उपहास करते हुए प्रीतिपूर्वक उसका प्राण संहार न किया । उस समय धृतवर्माने अमिततेजस्वी अर्जुनसे इस प्रकार रक्षित होकर उनके ऊपर प्रदीप्त बाण चलाया; धनञ्जयका हाथ धृतवर्माके द्वारा अत्यन्त विद्ध होनेसे मोहवशसे उनके हाथसे गाण्डीव धनुष पृथ्वीपर गिरा । (१८–२२)

धनुषः पततस्तस्य सव्यसाचिकराद्विभो ।
बभूव सदृशं रूपं शक्रचापस्य भारत ॥ २३ ॥
तस्मिन्निपतिते दिव्ये महाधनुषि पार्थिवः ।
जहास सस्वनं हासं धृतवर्मा महाऽऽहवे ॥ २४ ॥
ततो रोषार्दितो जिष्णुः प्रमृज्य रुधिरं करात् ।
धनुरादत्त तद्दिव्यं शरवर्षैर्ववर्ष च ॥ २५ ॥
ततो हलहलाशब्दो दिवस्पृगभवत्तदा ।
नानाविधानां भूतानां तत्कर्माणि प्रशंसताम् ॥ २६ ॥
ततः संप्रेक्ष्य संक्रुद्धं कालान्तकयमोपमम् ।
जिष्णुं त्रैगर्तका योधाः परितः पर्यवारयन् ॥ २७ ॥
अभिसृत्य परीप्सार्थं ततस्ते धृतवर्मणः ।
परिवव्रुर्गुडाकेशं तत्राक्रुद्ध्यद्धनंजयः ॥ २८ ॥
ततो योधान् जघानाऽऽशु तेषां स दश चाष्ट च ।
महेन्द्रवज्रप्रतिमैरायसैर्बहुभिः शरैः ॥ २९ ॥
तान्संप्रभग्नान्संप्रेक्ष्य त्वरमाणो धनंजयः ।
शरैराशीविषाकारैर्जघान स्वनवद्धसन् ॥ ३० ॥
ते भग्नमनसः सर्वे त्रैगर्तकमहारथाः ।

हे विभु ! सव्यसाचीके हाथसे गाण्डीव धनुष गिरनेसे उस समय उसका इन्द्रधनुषके सदृश रूप प्रकट हुआ । हे महाराज ! युद्धमें उस दिव्य महा धनुषके गिरनेपर धृतवर्मा ऊंचे स्वरसे हंसने लगा । अनन्तर जिष्णु धनञ्जय क्रोधित हो हाथसे रुधिर पोंछकर उस दिव्य धनुषको ग्रहण करके बाण बरसाने लगे । तब धनञ्जयके वैसे कर्मकी प्रशंसा करनेवाले अनेक प्रकारके प्राणियोंका हलहला शब्द आकाश-मण्डलमें प्रकट हुआ । तिसके अनन्तर त्रिगर्तवासी योद्धाओंने कालान्तक यमकी भांति क्रुद्ध उस जिष्णु धनञ्जयको घेर लिया अन्तमें उन लोगोंने धृतवर्माकी जयप्राप्तिके निमित्त उसके समीप जाके गुडाकेशकी निन्दा करने लगे ! उससे उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर महेन्द्रबलसदृश कई सौ आयत बाणोंसे शीघ्र ही उनकी अठारह सेना संहार की । धनंजय उस सारी सेनाको भागती हुई देखकर ऊंचे स्वरसे हंसते हुए शीघ्रतापूर्वक सर्पसदृश बाणोंसे शत्रुओंका संहार करने लगे। महाराज ! वे त्रिगर्तवासी

दिशोऽभिदुद्रुवू राजन् धनंजयशरार्दिताः ॥ ३१ ॥
तमूचुः पुरुषव्याघ्रं संशप्तकनिषूदनम् ।
तवाऽऽस्म किंकराः सर्वे सर्वे वै वशगास्तव ॥ ३२ ॥
आज्ञापयस्व नः पार्थ प्रह्वान्प्रेष्यानवस्थितान् ।
करिष्यामः प्रियं सर्वे तव कौरवनन्दन ॥ ३३ ॥
एतदाज्ञाय वचनं सर्वांस्तानब्रवीत्तदा ।
जीवितं रक्षत नृपाः शासनं प्रतिगृह्यताम् ॥ ३४ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि त्रिगर्तपराभवे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

वैशम्पायन उवाच– प्राग्ज्योतिषमथाभ्येत्य व्यचरत्स हयोत्तमः ।
भगदत्तात्मजस्तत्र निर्ययौ रणकर्कशः ॥ १ ॥
सहयं पाण्डुपुत्रस्य विषयान्तमुपागतम् ।
युयुधे भरतश्रेष्ठ वज्रदत्तो महीपतिः ॥ २ ॥
सोऽभिनिर्याय नगराद्भगदत्तसुतो नृपः ।
अश्वमायान्तमुन्मथ्य नगराभिमुखो ययौ ॥ ३ ॥
तमालक्ष्य महाबाहुः कुरूणामृषभस्तदा ।

महारथगण अर्जुनके बाणोंसे अर्दित होकर कई ओर भागने लगे । अनन्तर वे लोग संशप्तकनिषूदन पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जयके निकट आके उनसे बोले, हे पार्थ ! हम सब तुम्हारे किङ्कर तथा अनुवर्ती हुए । हम सब प्रेष्य होकर स्थित हैं, आप हम लोगोंको आज्ञा करिये । हे कौरवनन्दन ! हम लोग तुम्हारा समस्त प्रियकार्य करेंगे । उस समय अर्जुनने उन त्रिगर्तवासियोंको इस प्रकार आज्ञा की, ' हे नृपगण ! मैंने तुम लोगोंके जीवनकी रक्षा की है, तुम लोग मेरे शासनको प्रतिग्रह करो । (२३–३४)

आश्वमेधिकपर्वमें ७४ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ७५ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर वह उत्तम घोडा प्राग्ज्योतिषपुरमें जाकर विचरने लगा तब भगदत्तका पुत्र रणकर्कश वज्रदत्त वहां उपस्थित हुआ । पृथ्वीपति वज्रदत्तने अपने देशमें आये हुए उस पाण्डुपुत्रके घोडेको पकडनेकी इच्छा की। हे राजन् ! अनन्तर वह भगदत्तका पुत्र नगरसे निकलकर समागत घोडेको उन्मथित करते हुए नगरकी ओर चला।

गाण्डीवं विक्षिपंस्तूर्णं सहसा समुपाद्रवत् ॥ ४ ॥
ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैरिषुभिर्मोहितो नृपः ।
हयमुत्सृज्य तं वीरस्ततः पार्थमुपाद्रवत् ॥ ५ ॥
पुनः प्रविश्य नगरं दंशितः स नृपोत्तमः ।
आरुह्य नागप्रवरं निर्ययौ रणकर्कशः ॥ ६ ॥
पाण्डुरेणाऽऽतपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
दोधूयता चामरेण श्वेतेन च महारथः ॥ ७ ॥
ततः पार्थं समासाद्य पाण्डवानां महारथम् ।
आह्वयामास बीभत्सुं बाल्यान्मोहाच्च संयुगे ॥ ८ ॥
स वारणं नगप्रख्यं प्रभिन्नकरटामुखम् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धः श्वेताश्वं प्रति पार्थिवः ॥ ९ ॥
विक्षरन्तं महामेघं परवारणवारणम् ।
शास्त्रवत्कल्पितं संख्ये त्रिवशं युद्धदुर्मदम् ॥ १० ॥
प्रचोद्यमानः स गजस्तेन राज्ञा महाबलः ।
तदाङ्कुशेन विबभावुत्पतिष्यन्निवाम्बरम् ॥ ११ ॥
तमापन्ततं संप्रेक्ष्य क्रुद्धो राजन्धनंजयः ।

उस समय कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुन उसे देखकर सहसा गाण्डीव धनुष चढाकर उसकी ओर दौडे । तब वीर वज्रदत्त धनञ्जयके बाणोंसे घायल तथा विमोहित होकर घोडेको छोडके अर्जुनकी ओर दौडा । अनन्तर वह नृपश्रेष्ठ वज्रदत्त बाणोंसे घायल होकर नगरमें जाके फिर महामातङ्गपर चढके नगरसे बाहिर हुआ । उस समय उसके ऊपर पाण्डुर आतपत्र धरा था और अङ्गपर सफेद चंवर सञ्चालित होता था । अनन्तर वह महारथ पार्थके समीप पहुंचके बाल्यस्वभाव तथा मोहनिबन्धनसे रणभूमिमें युद्धके लिये अर्जुनको आह्वान करने लगा । हे महाराज ! उस वज्रदत्तने अत्यन्त क्रुद्ध होकर श्वेताश्व अर्जुनके निकट अचलसदृश शास्त्रकी भांति कल्पित संग्राममें विवश युद्धदुर्मद महामेघकी भांति मदचूनेवाले मतवारे हाथीको चलाया । (१-१०)

उस समय वह महाबली गजराज वज्रदत्तके अंकुशकी ताडनासे मानों आकाशमार्गमें उडता हुआ मालूम हुआ । हे महाराज ! अर्जुन उस हाथीको आया हुआ देखके अत्यन्त क्रुद्ध हुए और पृथ्वीपर रहके हाथीपर चढे हुए उस

भूमिष्ठो वारणगतं योधयामास भारत ॥ १२ ॥
वज्रदत्तस्ततः क्रुद्धो मुमोचाऽऽशु धनंजये ।
तोमरानग्निसंकाशान् शलभानिव वेगितान् ॥ १३ ॥
अर्जुनस्तानसंप्राप्तान् गाण्डीवप्रभवैः शरैः ।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद ख एव खगमैस्तदा ॥ १४ ॥
स तान् दृष्ट्वा तथा छिन्नांस्तोमरान्भगदत्तजः ।
इषूनसक्तांस्त्वरितः प्राहिणोत्पाण्डवं प्रति ॥ १५ ॥
ततोऽर्जुनस्तूर्णतरं रुक्मपुङ्खानजिह्मगान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो भगदत्ताऽऽत्मजं प्रति ॥ १६ ॥
स तैर्विद्धो महातेजा वज्रदत्तो महामृधे ।
भृशाऽऽहतः पपातोर्व्यां न त्वेनमजहात्स्मृतिः ॥१७॥
ततः स पुनरुत्सृज्य वारणप्रवरं रणे ।
अव्यग्रः प्रेषयामास जयार्थी विजयं प्रति ॥ १८ ॥
तस्मै बाणांस्ततो जिष्णुर्निर्मुक्ताशीविषोपमान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो ज्वलितज्वलनोपमान् ॥ १९ ॥
स तैर्विद्धो महानागो विस्रवन् रुधिरं बभौ ।

वज्रदत्तके सङ्ग युद्ध करने लगे । तब वज्रदत्तने अत्यन्त क्रुद्ध होकर शीघ्र ही वेगवान् शलभसमूहकी भांति अर्जुनके ऊपर अग्निसदृश बहुतसे बाण चलाये । उस समय अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूठे हुए बाणोंके समीपमें आये हुए बाणोंको आकाशमें ही दो तीन टुकडे कर डाला । भगदत्तके पुत्र वज्रदत्तने बाणोंको कटते हुए देखकर शीघ्रतापूर्वक बहुतसे असक्त बाण अर्जुनकी ओर चलाये अनन्तर अर्जुनने अत्यन्त क्रुद्ध होकर शीघ्र ही वज्रदत्तके ऊपर शीघ्रगामी रुक्मपुंख बाण छोडे । वह महातेजस्वी अर्जुनके बाणोंसे उस महायुद्धमें अत्यन्त घायल तथा विद्ध होकर पृथ्वीपर गिरा, परन्तु उसकी स्मृति लुप्त नहीं हुई । तिसके अनन्तर वह जयकी इच्छा करनेवाले वज्रदत्तने मोह परित्याग करके सावधान-चित्तसे फिर युद्धभूमिमें अर्जुनको ओर उस श्रेष्ठ हाथीको चलाया । जिष्णु धनञ्जयने अत्यन्त क्रुद्ध होकर बहुतसे आशीविष तथा अग्निसदृश बाण उस हाथीके ऊपर चलाये । उस समय वह श्रेष्ठ हस्ती बाणोंसे विद्ध होकर रुधिर झरता हुआ गेरुके झरनेयुक्त पर्वतकी

गैरिकाक्तमिवाम्भोऽद्रिर्बहुप्रस्रवणं तदा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि वज्रदत्तयुद्धे पंचसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

वैशम्पायन उवाच– एवं त्रिरात्रमभवत्तद्युद्धं भरतर्षभ ।
अर्जुनस्य नरेन्द्रेण वृत्रेणेव शतक्रतोः ॥ १ ॥
ततश्चतुर्थे दिवसे वज्रदत्तो महाबलः ।
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमथाब्रवीत ॥ २ ॥
अर्जुनाऽर्जुन तिष्ठस्व न मे जीवन्विमोक्ष्यसे ।
त्वां निहत्य करिष्यामि पितुस्तोयं यथाविधि ॥ ३ ॥
त्वया वृद्धो मम पिता भगदत्तः पितुः सखा ।
हतो वृद्धो मम पिता शिशुं मामद्य योधय ॥ ४ ॥
इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धो वज्रदत्तो नराधिपः ।
प्रेषयामास कौरव्य वारणं पाण्डवं प्रति ॥ ५ ॥
संप्रेष्यमाणो नागेन्द्रो वज्रदत्तेन धीमता ।
उत्पतिष्यन्निवाकाशमभिदुद्राव पाण्डवम् ॥ ६ ॥
अग्रहस्तसुमुक्तेन सीकरेण स नागराट् ।
समौक्षत गुडाकेशं शैलं नीलमिवाम्बुदः ॥ ७ ॥

भांति प्रकाशित होने लगा । (११–२०)

आश्वमेधिकपर्वमें ७५ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ७६ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे भरतर्षभ ! जिस प्रकार पहले वृत्रासुरके सङ्ग इन्द्रका संग्राम हुआ था, उसही भांति राजा वज्रदत्तके सङ्ग अर्जुनका यह तीन रात्रितक युद्ध हुआ था । अनन्तर चौथे दिन महाबली वज्रदत्तने ऊंचे स्वरसे हंसकर अर्जुनसे कहा, कि 'अर्जुन ! अर्जुन !! तुम खडे रहो ! जीवित रहते मेरे निकटसे तुम उबरने न पाओगे । तुमने अपने पितृसखा मेरे पिता वृद्ध भगदत्तको मारा है, मैं शिशु हूं, आज मेरे सङ्ग युद्ध करो ।' हे कौरव ! नरनाथ वज्रदत्तने अर्जुनसे ऐसा कहके उनकी ओर हाथी चलाया । वह गजराज धीमान् वज्रदत्तके चलानेपर मानो आकाशमार्गसे कूदता हुआ वेगपूर्वक अर्जुनके समीप उपस्थित हुआ । जैसे बादल जलकी वर्षासे नीलगिरिको सेचन करता है, वैसे ही अग्रहस्तप्रयुक्त शीकरसमूहके द्वारा उस गजराजने गुडाकेशको सेचन किया । वह नागेन्द्र राजा

स तेन प्रेषितो राज्ञा मेघवद्विनदन्मुहुः ।
मुखाडम्बरसंह्रादैरभ्यद्रवत फाल्गुनम् ॥ ८ ॥
स नृत्यन्निव नागेन्द्रो वज्रदत्तप्रचोदितः ।
आससाद द्रुतं राजन्कौरवाणां महारथम् ॥ ९ ॥
तमायान्तमथालक्ष्य वज्रदत्तस्य वारणम् ।
गाण्डीवमाश्रित्य बली न व्यकम्पत शत्रुहा ॥ १० ॥
चुक्रोध बलवच्चापि पाण्डवस्तस्य भूपतेः ।
कार्यविघ्नमनुस्मृत्य पूर्ववैरं च भारत ॥ ११ ॥
ततस्तं वारणं क्रुद्धः शरजालेन पाण्डवः ।
निवारयामास तदा वेलेव मकरालयम् ॥ १२ ॥
स नागप्रवरः श्रीमानर्जुनेन निवारितः ।
तस्थौ शरैर्विनुन्नाङ्गः श्वाविच्छललितो यथा ॥ १३ ॥
निवारितं गजं दृष्ट्वा भगदत्तसुतो नृपः ।
उत्ससर्ज शितान्बाणानर्जुनं क्रोधमूर्च्छितः ॥ १४ ॥
अर्जुनस्तु महाबाहुः शरैरारिनिघातिभिः ।
वारयामास तान्बाणांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १५ ॥
ततः पुनरभिक्रुद्धो राजा प्राग्ज्योतिषाधिपः ।
प्रेषयामास नागेन्द्रं बलवत्पर्वतोपमम् ॥ १६ ॥

वज्रदत्तके चलानेपर बार बार अर्जुनकी ओर दौडा । हे महाराज ! वज्रदत्तके द्वारा प्रेरित वह नागेन्द्र मानो नृत्य करता हुआ वेगपूर्वक कौरवोंके महारथ अर्जुनके पास आया । शत्रुसूदन धनञ्जय वज्रदत्तके हाथीको आया हुआ देखकर विचलित न हुए । उन्होंने भगदत्तके पहले वैरको स्मरण करके बलपूर्वक क्रुद्ध होकर राजा वज्रदत्तके हाथीको कार्यमें विघ्नकारी समझा । अनन्तर जैसे तट समुद्रको रोकता है, वैसे ही उन्होंने क्रुद्ध होकर शरजालके द्वारा उस हाथीको निवारण किया । भगदत्तपुत्र राजा वज्रदत्त हाथीको निवारित होते देखकर क्रोधसे मूर्च्छित होके अर्जुनकी ओर शिकल किये हुए बाण चलाने लगे । महाबाहु अर्जुनने शत्रुसंहारक बाणोंके द्वारा उन बाणोंको अद्भुतरूपसे निवारण किया । (८–१५)

अनन्तर प्राग्ज्योतिषाधिपति राजा वज्रदत्तने क्रोधित होकर फिर पर्वतके सदृश बलवान् हाथीको चलाया । इन्द्र-

तमापतन्तं संप्रेक्ष्य बलवत्पाकशासनिः ।
नाराचमग्निसंकाशं प्राहिणोद्वारणं प्रति ॥ १७ ॥
स तेन वारणो राजन्मर्मस्वभिहतो भृशम् ।
पपात सहसा भूमौ वज्ररुग्ण इवाचलः ॥ १८ ॥
स पतन् शुशुभे नागो धनंजयशराऽऽहतः ।
विशन्निव महाशैलो महीं वज्रप्रपीडितः ॥ १९ ॥
तस्मिन्निपतिते नागे वज्रदत्तस्य पाण्डवः ।
तं न भेतव्यमित्याह ततो भूमिगतं नृपम् ॥ २० ॥
अब्रवीद्धि महातेजाः प्रस्थितं मां युधिष्ठिरः ।
राजानस्ते न हन्तव्या धनंजय कथंचन ॥ २१ ॥
सर्वमेतन्नरव्याघ्र भवत्येतावता कृतम् ।
योधाश्चापि न हन्तव्या धनंजय रणे त्वया ॥ २२ ॥
वक्तव्याश्चापि राजानः सर्वे सह सुहृज्जनैः ।
युधिष्ठिरस्याश्वमेधो भवद्भिरनुभूयताम् ॥ २४ ॥
इति भ्रातृवचः श्रुत्वा न हन्मि त्वां नराधिप ।
उत्तिष्ठ न भयं तेऽस्ति स्वस्तिमान्गच्छ पार्थिव ॥२४॥
आगच्छेथा महाराज परां चैत्रीमुपस्थिताम् ।

पुत्र अर्जुनने उस नागेन्द्रको आते हुए देखकर बलपूर्वक उसके ऊपर अग्नि-सदृश बाण चलाया । हे राजन् ! बाणोंके द्वारा मर्मस्थलोंमें अत्यन्त चोट लगनेसे वह हाथी वज्रसे टूटे हुए पर्वतकी भांति सहसा पृथ्वीपर गिर पडा । उस समय वह गजेन्द्र अर्जुनके बाणोंकी चोटसे गिरके वज्रसे प्रपीडित पृथ्वीमें प्रविष्ट पर्वतकी भांति शोभित हुआ । (१६–१८)

जब वज्रदत्तका हाथी मरके गिर पडा, तब अर्जुन पृथ्वीपर स्थित राजा वज्रदत्तसे बोले, 'तुम्हें भय नहीं है । मेरे चलनेके समयमें महातेजस्वी युधिष्ठिरने मुझसे कहा था, कि हे "धनञ्जय ! राजा लोग यदि तुम्हारे प्रतिकूलचारी होवें, तोभी तुम युद्धमें उन्हें तथा उनकी सेनाको न मारना; बल्कि उन्हें कहना, कि आप लोग सुहृदोंके सहित युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञमें अधिष्ठित होवें ।" हे नरनाथ ! मैं भाईकी आज्ञानुसार तुम्हें न मारूंगा, जो किया है, वह यहांतक ही हुआ, तुम्हें भय नहीं है, तुम उठके कुशलपूर्वक गमन करो ।

तदाऽश्वमेधो भविता धर्मराजस्य धीमतः ॥ २५ ॥
एवमुक्तः स राजा तु भगदत्तात्मजस्तदा ।
तथेत्येवाब्रवीद्वाक्यं पाण्डवेनाभिनिर्जितः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वज्रदत्तपराक्रमे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

वैशम्पायन उवाच– सैन्धवैरभवद्युद्धं ततस्तस्य किरीटिनः ।
हतशेषैर्महाराज हतानां च सुतैरपि ॥ १ ॥
तेऽवतीर्णमुपश्रुत्य विषयं श्वेतवाहनम् ।
प्रत्युद्ययुरमृष्यन्तो राजानः पाण्डवर्षभम् ॥ २ ॥
अश्वं च तं परामृश्य विषयान्ते विषोपमाः ।
न भयं चक्रिरे पार्थाद्भीमसेनादनन्तरात् ॥ ३ ॥
तेऽविदूराद्धनुष्पाणिं यज्ञियस्य हयस्य च ।
बीभत्सुं प्रत्यपद्यन्त पदातिनमवस्थितम् ॥ ४ ॥
ततस्ते तं महावीर्या राजानः पर्यवारयन् ।
जिगीषन्तो नरव्याघ्रं पूर्वं विनिकृता युधि ॥ ५ ॥
ते नामान्यपि गोत्राणि कर्माणि विविधानि च ।
कीर्तयन्तस्तदा पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ६ ॥

उपस्थित चैत्री पूर्णिमामें बुद्धिमान् धर्मराजका अश्वमेध यज्ञ होगा, उस समय तुम वहां गमन करना। अनन्तर भगदत्तका पुत्र राजा वज्रदत्त अर्जुनके द्वारा निर्जित तथा उनका ऐसा ऐसा वचन सुनके बोला, कि 'वही होगा।'(१९-२६)

आश्वमेधिकपर्वमें ७६ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ७७ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज! अनन्तर मरनेसे बचे हुए सिन्धुराजवंशियोंके सङ्ग अर्जुनका युद्ध होने लगा। सिन्धुराजगण श्वेताश्व अर्जुनको राज्यमें आया हुआ सुनके असह्यतापूर्वक युद्ध करनेके लिये उनके सामने आये। उन विषसदृश सिन्धुराजगणने निज राज्यके बीच घोडेको पकड लिया, वे भीमसेनके भाई अर्जुनसे भयभीत न हुए। उन महाक्रमी राजाओंने पहले शरनिकृत होनेसे जिगीषाके वशमें होकर अर्जुनके समीप जाकर यज्ञीय अश्वके अनुगामी पदातिरूपसे स्थित धनुष्पाणि धनञ्जयको घेर लिया। उन लोगोंने युद्धमें अपना अपना नाम, गोत्र और विविध कर्म कहके बाणोंकी वर्षासे इन्द्रपुत्र

ते किरन्तः शरव्रातान्वारणप्रतिवारणान् ।
रणे जयमभीप्सन्तः कौन्तेयं पर्यवारयन् ॥ ७ ॥
ते समीक्ष्य च तं कृष्णमुग्रकर्माणमाहवे ।
सर्वे युयुधिरे वीरा रथस्थास्तं पदातिनम् ॥ ८ ॥
ते तमाजघ्निरे वीरं निवातकवचान्तकम् ।
संशप्तकनिहन्तारं हन्तारं सैन्धवस्य च ॥ ९ ॥
ततो रथसहस्रेण हयानामयुतेन च ।
कोष्ठकीकृत्य बीभत्सुं प्रहृष्टमनसोऽभवन् ॥ १० ॥
तं स्मरन्तो वधं वीराः सिन्धुराजस्य चाहवे ।
जयद्रथस्य कौरव्य समरे सव्यसाचिना ॥ ११ ॥
ततः पर्जन्यवत्सर्वे शरवृष्टीरवासृजन् ।
तैः कीर्णः शुशुभे पार्थो रविर्मेघान्तरे यथा ॥ १२ ॥
स शरैः समवच्छन्नश्चकाशे पाण्डवर्षभः ।
पञ्जरान्तरसंचारी शकुन्त इव भारत ॥ १३ ॥
ततो हाहाकृतं सर्वं कौन्तेये शरपीडिते ।
त्रैलोक्यमभवद्राजन् रविरासीच्च निष्प्रभः ॥ १४ ॥
ततो ववौ महाराज मारुतो लोमहर्षणः ।

अर्जुनको छिपा दिया। राजाओंने युद्धमें जयकी अभिलाषा करके वारणनिवारण बाणोंको चलाते हुए कुन्तीपुत्र धनञ्जयको घेरा; वे वीर लोग रथपर चढके पैदलस्थित श्यामवर्ण शरीरसे युक्त उग्र कर्म करनेवाले अर्जुनको देखकर सब कोई एकबारही युद्ध करने लगे। अनन्तर उन लोगोंने निवातकवचान्तक संशप्तकोंके नाशक सैन्धवसंहारकारी अर्जुनको घायल किया। (१—९)

हे कौरव ! युद्धमें सव्यसाचीके हाथसे सिन्धुराज जयद्रथका वध स्मरण करके वे लोग एक हजार रथ और दश हजार घोडोंके द्वारा अर्जुनको घेरकर अत्यन्त हर्षित हुए। अनन्तर जब वे लोग अर्जुनपर पर्जन्यकी भांति बाणोंको बरसाने लगे, उस समय अर्जुन उनके बाणोंसे छिपकर इस प्रकार शोभित हुए जैसे बादलोंके बीच सूर्य शोभित होता है। (१०—१२)

हे भारत ! वह बाणोंसे छिपकर पञ्जरान्तर-सञ्चारी शकुनकी भांति शोभायमान हुए; अनन्तर कुन्तीपुत्रके बाणोंसे अति पीडित होनेपर त्रिलोकवासी सब

राहुरग्रसदादित्यं युगपत्सोममेव च ॥ १५ ॥
उल्काश्च जघ्निरे सूर्यं विकीर्यन्त्यः समन्ततः ।
वेपथुश्चाभवद्राजन्कैलासस्य महागिरेः ॥ १६ ॥
मुमुचुः श्वासमत्युष्णं दुःखशोकसमन्विताः ।
सप्तर्षयो जातभयास्तथा देवर्षयोऽपि च ॥ १७ ॥
शशं चाऽऽशु विनिर्भिद्य मण्डलं शशिनोऽपतन् ।
विपरीता दिशश्चापि सर्वा धूमाऽऽकुलास्तथा ॥ १८ ॥
रासभारुणसंकाशा धनुष्मन्तः सविद्युतः ।
आवृत्य गगनं मेघा मुमुचुर्मांसशोणितम् ॥ १९ ॥
एवमासीत्तदा वीरे शरवर्षेण संवृते ।
फाल्गुने भरतश्रेष्ठ तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २० ॥
तस्य तेनावकीर्णस्य शरजालेन सर्वतः ।
मोहात्पपात गाण्डीवमावापश्च करादपि ॥ २१ ॥
तस्मिन्मोहमनुप्राप्ते शरजालं महत्तदा ।
सैन्धवा मुमुचुस्तूर्णं गतसत्त्वे महारथे ॥ २२ ॥
ततो मोहसमापन्नं ज्ञात्वा पार्थं दिवौकसः ।

प्राणी हाहाकार करने लगे और सूर्य तेजरहित हो गया। हे महाराज! उस समय रोएंको खडा करनेवाला वायु बहने लगा, राहुने एक ही समयमें चन्द्रमा और सूर्यको ग्रास किया, उल्कासमूहसे सूर्य सब प्रकारसे छिप गया, कैलासगिरि कांपने लगा और सप्तर्षि तथा देवर्षि लोग दुःखित तथा शोकार्त होकर अत्यन्त गर्म श्वास छोडने लगे। (१३—१७)

अनन्तर आकाशसे चन्द्रमंडल गगनमण्डलको भेदकर पतित हुआ, सब दिशा धूएंसे परिपूरित होनेसे विपरीत बोध होने लगीं, रासभारुणवर्णविशिष्ट धनुष और बिजलीयुक्त सब बादल आकाशमंडलमें भ्रमण करते हुए मांस और रुधिरकी वर्षा करने लगे। हे भरतर्षभ! जब वीरश्रेष्ठ धनञ्जय बाणोंकी वर्षासे छिप गये, तब इसही प्रकार अनेक भांतिकी अद्भुत घटना होने लगीं। (१८–२०)

अर्जुनके शरजालसे छिपनेपर मोहवशसे उनके हाथसे गाण्डीव और हाथके रोदेकी चोटको रोकनेवाली चर्मपट्टिका गिर पडी, महारथ अर्जुनके मूर्च्छित तथा चेतरहित होनेपर भी

सर्वे वित्रस्तमनसस्तस्य शान्तिकृतोऽभवन् ॥ २३ ॥
ततो देवर्षयः सर्वे तथा सप्तर्षयोऽपि च ।
ब्रह्मर्षयश्च विजयं जेपुः पार्थस्य धीमतः ॥ २४ ॥
ततः प्रदीपिते देवैः पार्थतेजसि पार्थिव ।
तस्थावचलवद्धीमान्संग्रामे परमास्त्रवित् ॥ २५ ॥
विचकर्ष धनुर्दिव्यं ततः कौरवनन्दनः ।
यन्त्रस्येवेह शब्दोऽभून्महांस्तस्य पुनः पुनः ॥ २६ ॥
ततः स शरवर्षाणि प्रत्यमित्रान्प्रति प्रभुः ।
ववर्ष धनुषा पार्थो वर्षाणीव पुरंदरः ॥ २७ ॥
ततस्ते सैन्धवा योधाः सर्व एव सराजकाः ।
नादृश्यन्त शरैः कीर्णाः शलभैरिव पादपाः ॥ २८ ॥
तस्य शब्देन वित्रेसुर्भयार्ताश्च विदुद्रुवुः ।
मुमुचुश्चाश्रुशोकार्ताः शुशुचुश्चापि सैन्धवाः ॥ २९ ॥
तांस्तु सर्वान्नरव्याघ्रः सैन्धवान् व्यचरद्बली ।
अलातचक्रवद्राजन् शरजालैः समार्पयत ॥ ३० ॥
तदिन्द्रजालप्रतिमं बाणजालममित्रहा ।

सिन्धुराजगण उनके ऊपर शीघ्र शरजाल छोडनेसे निवृत्त न हुए। तब द्युलोकवासी देवतावृन्द अर्जुनको मूर्च्छित जानकर त्रासित चित्तसे उनके निमित्त शान्ति करनेमें प्रवृत्त हुए और देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा सप्तर्षिवृन्द बुद्धिमान् अर्जुनके लिये विजयरूप जप करने लगे। (२१—२४)

हे राजन्! तिसके अनन्तर देवताओंके द्वारा तेजसे प्रदीप्त होनेपर वह परमास्त्रवेत्ता बुद्धिमान् अर्जुनने युद्धमें अचलकी भांति निवास किया। फिर उनके दिव्य धनुषको कर्षण करते रहने-पर उनका बार बार महान् शब्द होने लगा। अनन्तर जैसे इन्द्र जल बरसते हैं, वैसेही अर्जुन दिव्य धनुष्यके द्वारा विरुद्धाचारी शत्रुओंके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे। जैसे वृक्षसमूह शलभसमूहसे परिपूरित होते हैं, वैसे ही राजाके सहित सिन्धुदेशीय योद्धा लोग अर्जुनके बाणोंसे छिपकर अदृश्य हुए; सैन्धवगण उनके शब्दसे त्रासित, भयार्त और शोकार्त होकर अश्रुओंसे आंसू बहाते हुए इधर उधर होने लगे। हे महाराज! बलवान् अर्जुन शरजालसे सैन्धव वीरोंको परिपूरित करते हुए अलात

विसृज्य दिक्षु सर्वासु महेन्द्र इव वज्रभृत् ॥ ३१ ॥
मेघजालनिभं सैन्यं विदार्य शरवृष्टिभिः ।
विबभौ कौरवश्रेष्ठः शरदीव दिवाकरः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततो गाण्डीवभृच्छूरो युद्धाय समुपस्थितः ।
विबभौ युधि दुर्धर्षो हिमवानचलो यथा ॥ १ ॥
ततस्ते सैन्धवा योधाः पुनरेव व्यवस्थिताः ।
व्यमुञ्चन्त सुसंरब्धाः शरवर्षाणि भारत ॥ २ ॥
तान्प्रहस्य महाबाहुः पुनरेव व्यवस्थितान् ।
ततः प्रोवाच कौन्तेयो मुमूर्षून् श्लक्ष्णया गिरा ।
युध्यध्वं परया शक्त्या यतध्वं विजये मम ॥ ३ ॥
कुरुध्वं सर्वकार्याणि महद्वो भयमागतम् ।
एष योत्स्यामि सर्वांस्तु निवार्य शरवागुराम् ॥ ४ ॥
तिष्ठध्वं युद्धमनसो दर्पं शमयिताऽस्मि वः ।
एतावदुक्त्वा कौरव्यो रोषाद्गाण्डीवभृत्तदा ॥ ५ ॥

चक्रकी भांति भ्रमण करने लगे। शत्रुघाती धनंजयने वज्रधारी महेन्द्रकी भांति सब दिशाओंमें इन्द्रजालसदृश बाण-जाल चलाया। हे महाराज! कौरवेन्द्र धनंजय बाणवृष्टिके द्वारा मेघजालसदृश सैन्धव-वीरोंकी सब सेना विदारित करते हुए शरत्कालके सूर्यसमान सुशोभित हुए। (२५—३२)

आश्वमेधिकपर्वमें ७७ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ७८ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन० मुनि बोले, तिसके अनन्तर गाण्डीवधारी दुर्धर्ष अर्जुन युद्धके निमित्त रणभूमिमें उपस्थित होकर हिमाचलकी भांति प्रकाशित हुए; तब सैन्धवी सेना अधिक संरम्भके सहित फिर युद्धमें उपस्थित होकर बाणोंकी वर्षा करने लगी। (१—२)

महाबाहु कुन्तीपुत्र मुमूर्षु सैन्धवोंके गणको फिर युद्धमें उपस्थित होते देखकर हंसते हुए यह मधुर वचन बोले, कि तुम लोग समधिक शक्तिके अनुसार युद्ध करके मुझे जीतनेके लिये यत्न करो और सब कार्य उत्तम रीतिसे पूरा करो; तुम लोगोंको महान् भय उपस्थित हुआ है। मैं अकेलाही शरजाल निवारण करके तुम लोगोंके साथ युद्ध करता हूं,

ततोऽथ वचनं स्मृत्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत ।
न हन्तव्या रणे तात क्षत्रिया विजिगीषवः ॥ ६ ॥
जेतव्याश्चेति यत्प्रोक्तं धर्मराज्ञा महात्मना ।
चिन्तयामास स तदा फाल्गुनः पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥
इत्युक्तोऽहं नरेन्द्रेण न हन्तव्या नृपा इति ।
कथं तन्न मृषेदं स्याद्धर्मराजवचः शुभम् ॥ ८ ॥
न हन्येरंश्च राजानो राज्ञश्चाज्ञा कृता भवेत् ।
इति संचिन्त्य स तदा फाल्गुनः पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥
प्रोवाच वाक्यं धर्मज्ञः सैन्धवान् युद्धदुर्मदान् ।
श्रेयो वदामि युष्माकं न हिंसेयमवस्थितान् ॥ १० ॥
यश्च वक्ष्यति संग्रामे तवास्मीति पराजितः ।
एतच्छ्रुत्वा वचो मह्यं कुरुध्वं हितमात्मनः ॥ ११ ॥
ततोऽन्यथा कृच्छ्रगता भविष्यथ मयाऽर्दिताः ।
एवमुक्त्वा तु तान्वीरान् युयुधे कुरुपुंगवः ॥ १२ ॥
अर्जुनोऽतीव संक्रुद्धः संक्रुद्धैर्विजिगीषुभिः ।
शतं शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ॥ १३ ॥
मुमुचुः सैन्धवा राजंस्तदा गाण्डीवधन्वनि ।

तुम लोग युद्धमना होकर थोडे समयतक स्थिर रहो, मैं शीघ्रही तुम लोगोंका घमंड तोड दूंगा । (३--५)

हे भारत ! अर्जुन इतनी बात कहके उस समय जेठे भाईने जो कहा था, कि हे तात ! युद्धमें जिगीषु क्षत्रियोंको न मारना, केवल जय करना । उसे स्मरण करके ऐसी चिन्ता करने लगे, कि राजेन्द्र धर्मराजने नरहत्या करनेको निषेध किया है, वह शुभवचन किस प्रकार मिथ्या न होगा । यदि राजा लोग मुझे न मारें, तभी उनकी आज्ञा प्रतिपालित होगी; पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ऐसाही विचार करके उन युद्धदुर्मद सैन्धव वीरोंसे बोले, कि जिससे तुम लोगोंका कल्याण होगा, मैं तुमसे वह वचन कहता हूं । तुम लोग मेरे समीप हार मानके मेरे शरणागत होनेसे मैं तुम्हें न मारूंगा, तुम लोग मेरा यह वचन सुनके अपने हितका उपाय करो, यदि इसके विपरीत कार्य करोगे, तो मेरे बाणोंसे पीडित होकर अत्यन्त क्लेश पाओगे । (६—१२)

कुरुपुङ्गव अर्जुन उन वीरोंसे इतना

शरानापततः क्रूरानाशीविषविषोपमान् ॥ १४ ॥
चिच्छेद निशितैर्बाणैरन्तरा स धनंजयः ।
छित्त्वा तु तानाशु चैव कङ्कपत्रान् शिलाशितान् ॥१५॥
एकैकमेषां समरे बिभेद निशितैः शरैः ।
ततः प्रासांश्च शक्तीश्च पुनरेव धनंजयम् ॥ १६ ॥
जयद्रथं हतं स्मृत्वा चिक्षुपुः सैन्धवा नृपाः ।
तेषां किरीटी संकल्पं मोघं चक्रे महाबलः ॥ १७ ॥
सर्वांस्तानन्तरा छित्त्वा तदा चुक्रोश पाण्डवः ।
तथैवापततां तेषां योधानां जयगृद्धिनाम् ॥ १८ ॥
शिरांसि पातयामास भल्लैः सन्नतपर्वभिः ।
तेषां प्रद्रवतां चापि पुनरेवाभिधावताम् ॥ १९ ॥
निवर्ततां च शब्दोऽभूत्पूर्णस्येव महोदधेः ।
ते वध्यमानास्तु तदा पार्थेनामिततेजसा ॥ २० ॥
यथाप्राणं यथोत्साहं योधयामासुरर्जुनम् ।
ततस्ते फाल्गुनेनाजौ शरैः सन्नतपर्वभिः ॥ २१ ॥
कृता विसंज्ञा भूमिष्ठाः क्लान्तवाहनसैनिकाः ।

वचन कहके अत्यन्त क्रुद्ध विजयकी इच्छा करनेवाले सैन्धवोंके सङ्ग क्रोधपूर्वक युद्ध करने लगे । हे महाराज ! उस समय सैन्धवगण गांडीवधारी अर्जुनके ऊपर सैकडों तथा सहस्रों नतपर्व बाण चलाने लगे । अर्जुनने अपने चोखे बाणोंसे उनके समागत विषैले सर्पसदृश विषसे बुझे हुए बाणोंको आकाशमें ही काटके गिरा दिया । फिर उन्होंने युद्धमें चोखे बाणोंसे सैन्धवोंके कङ्कपत्रयुक्त शिलापर घिसे हुए बाणोंको शीघ्र ही काटके उन्हें वेधने लगे । अनन्तर सिन्धुराजगण जयद्रथके वधका वृत्तान्त स्मरण करके फिर अर्जुनके ऊपर प्रास और शक्ति चलाने लगे । महाबली अर्जुनने सैन्धवोंके प्रास और शक्तियोंको आकाशमें ही काटके उनके सङ्कल्पको व्यर्थ करके आक्रोश प्रकाश किया और जयकी इच्छा करनेवाले समागत सैन्धव वीरोंके सिर सन्नतपर्व भल्लास्त्रके द्वारा काटके गिराने लगे । उन लोगोंके लौटने और फिर वेगपूर्वक अर्जुनके सामीप आते रहनेपर परिपूर्ण समुद्रकी भांति तुमुल शब्द उत्पन्न हुआ । उस समय वे लोग अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा घायल होके शक्ति और

तांस्तु सर्वान्परिग्लानान् विदित्वा धृतराष्ट्रजा ॥२२॥
दुःशला बालमादाय नप्तारं प्रययौ तदा।
सुरथस्य सुतं वीरं रथेनाथागमत्तदा ॥ २३ ॥
शान्त्यर्थं सर्वयोधानामभ्यगच्छत पाण्डवम्।
सा धनंजयमासाद्य रुरोदाऽऽर्तस्वरं तदा ॥ २४ ॥
धनंजयोऽपि तां दृष्ट्वा धनुर्विससृजे प्रभुः।
समुत्सृज्य धनुः पार्थो विधिवद्भगिनीं तदा ॥ २५ ॥
प्राह किं करवाणीति सा च तं प्रत्युवाच ह।
एष ते भरतश्रेष्ठ स्वस्रीयस्याऽऽत्मजः शिशुः ॥ २६ ॥
अभिवादयते पार्थ तं पश्य पुरुषर्षभ।
इत्युक्तस्तस्य पितरं स पप्रच्छाऽर्जुनस्तथा ॥ २७ ॥
क्वासाविति ततो राजन्दुःशला वाक्यमब्रवीत्।
पितृशोकाभिसंतप्तो विषादार्तोऽस्य वै पिता ॥ २८ ॥
पञ्चत्वमगमद्वीरो यथा तन्मे निशामय।
स पूर्वं पितरं श्रुत्वा हतं युद्धे त्वयाऽनघ ॥ २९ ॥
त्वामागतं च संश्रुत्य युद्धाय हयसारिणम्।
पितुश्च मृत्युदुःखार्तो जहात्प्राणान्धनंजय ॥ ३० ॥

उत्साहपूर्वक उनके सङ्ग युद्ध करने लगे। अनन्तर वे लोग वाहन तथा समस्त सेनाके सहित युद्धमें अर्जुनके बाणोंकी चोटसे थककर चेतरहित हो गये। (१२—२२)

अनन्तर धृतराष्ट्रकी पुत्री दुःशला सिन्धुराजगणको पीडित समझकर सेनामें शान्तिके लिये नाती सुरथपुत्रके सहित रथपर चढके अर्जुनके समीप जाकर आर्तस्वरसे रोने लगी। धनजंयने उसे देखकर धनुष परित्याग किया। अर्जुन धनुष परित्याग करके सम्मानपूर्वक भगिनी दुःशलासे बोले, कहो, मैं कौनसा कार्य करूं? तब दुःशला उनसे बोली, हे भरतश्रेष्ठ! तुम्हारा स्वस्रीयात्मज शिशु तुम्हें प्रणाम करता है, हे पुरुष-श्रेष्ठ पार्थ! तुम इसकी ओर कृपादृष्टि करो। हे राजन्! अर्जुनने दुःशलाका ऐसा वचन सुनके पूछा, कि इसका पिता कहां हैं? ऐसा पूछनेपर दुःशला उससे कहने लगी, इस बालकका पिता पितृशोकसे सन्तापित तथा आर्त होकर जिस प्रकार विषादपूर्वक पञ्चत्वको प्राप्त हुआ है, वह मेरे निकट सुनो। (२२–२९)

प्राप्तो बीभत्सुरित्येव नाम श्रुत्वैव तेऽनघ ।
विषादार्तः पपातोर्व्यां ममार च ममाऽऽत्मजः ॥ ३१ ॥
तं दृष्ट्वा पतितं तत्र ततस्तस्याऽऽत्मजं प्रभो ।
गृहीत्वा समनुप्राप्ता त्वामद्य शरणैषिणी ॥ ३२ ॥
इत्युक्त्वाऽऽर्तस्वरं सा तु मुमोच धृतराष्ट्रजा ।
दीनादीनं स्थितं पार्थमब्रवीचाप्यधोमुखम् ॥ ३३ ॥
स्वसारं समवेक्षस्व स्वस्रीयाऽऽत्मजमेव च ।
कर्तुमर्हसि धर्मज्ञ दयां कुरुकुलोद्वह ॥ ३४ ॥
विस्मृत्य कुरुराजानं तं च मन्दं जयद्रथम् ।
अभिमन्योर्यथा जातः परिक्षित्परवीरहा ॥ ३५ ॥
तथाऽयं सुरथाज्जातो मम पौत्रो महाभुजः ।
तमादाय नरव्याघ्र संप्राप्ताऽस्मि तवाऽन्तिकम् ॥ ३६ ॥
शमार्थं सर्वयोधानां शृणु चेदं वचो मम ।
आगतोऽयं महाबाहो तस्य मन्दस्य पुत्रकः ॥ ३७ ॥
प्रसादमस्य बालस्य तस्मात्त्वं कर्तुमर्हसि ।

हे अनघ ! उस सुरथने तुम्हारे हाथसे पिताका मरना तथा घोडेका अनुसरण करते हुए युद्धके लिये तुम्हारा यहांपर आना सुनकर पिताके मृत्यु-जनित दुःखसे अत्यन्त आर्त होकर प्राण परित्याग किया है। हे प्रभु ! मेरा सुरथ यह सुनके कि बीभत्सु आये हैं, तथा तुम्हारा नाम सुनकर शोकसे अत्यन्त आर्त होकर पृथ्वीपर गिरके मर गया। हे पार्थ ! मैं पुत्रको वहांपर गिरा तथा मरा हुआ देखकर उसके पुत्रको लेकर आज तुम्हारे शरणमें आई हूं। वह धृतराष्ट्रकी पुत्री दीना दुःशला आर्तस्वरसे ऐसा ही कहके, आंसू बहाते हुए दीनभावसे स्थित सिर नीचा किये हुए अर्जुनसे फिर कहने लगी। हे धर्मज्ञ ! उस कुरुराज दुर्योधन और जयद्रथको भूलकर स्वसा तथा स्वस्रीय पुत्रको कृपापूर्वक देखकर तुम्हें दया करनी योग्य है। हे कुरुकुलधुरन्धर ! परवीरघाती परिक्षित जिस प्रकार अभिमन्युसे उत्पन्न हुआ है, मेरा यह महाभुज पौत्रभी उस ही भांति सुरथके द्वारा जन्मा है। हे पुरुषश्रेष्ठ ! मैं उस पौत्रको लेकर सब सेनाकी शान्तिके लिये तुम्हारे निकट आई हूं। हे महाबाहो ! यह मन्द सुरथपुत्र तुम्हारे समीप आया है, तुम इसपर अनुग्रह करो। हे

एष प्रसाद्य शिरसा प्रशमार्थमरिंदम ॥ ३८ ॥
याचते त्वां महाबाहो शमं गच्छ धनंजय।
बालस्य हतबन्धोश्च पार्थ किंचिदजानतः ॥ ३९ ॥
प्रसादं कुरु धर्मज्ञ मा मन्युवशमन्वगाः।
तमनार्यं नृशंसं च विस्मृत्यास्य पितामहम् ॥ ४० ॥
आगस्कारिणमत्यर्थं प्रसादं कर्तुमर्हसि।
एवं ब्रुवत्यां करुणं दुःशलायां धनंजयः ॥ ४१ ॥
संस्मृत्य देवीं गान्धारीं धृतराष्ट्रं च पार्थिवम्।
उवाच दुःखशोकार्तः क्षत्रधर्मं व्यगर्हयत् ॥ ४२ ॥
यत्कृते बान्धवाः सर्वे मया नीता यमक्षयम्।
इत्युक्त्वा बहु सान्त्वादि प्रसादमकरोज्जयः ॥ ४३ ॥
परिष्वज्य च तां प्रीतो विससर्ज गृहान्प्रति ॥ ४४ ॥
दुःशला चापि तान् योधान् निवार्य महतो रणात्।
संपूज्य पार्थं प्रययौ गृहानेव शुभानना ॥ ४५ ॥
एवं निर्जित्य तान्वीरान्सैन्धवान्स धनंजयः।
अन्वधावत धावन्तं तं हयं कामचारिणम् ॥ ४६ ॥
ततो मृगमिवाऽऽकाशे यथा देवः पिनाकधृक्।

अरिंदम! यह बालक शान्तिके लिये सिर नीचा करके तुम्हारे समीप यह प्रार्थना करता है, कि तुम शान्त हो जाओ। हे पार्थ! इस बान्धवरहित अज्ञ बालकके ऊपर कृपा करो, इसपर क्रुद्ध न होना। धर्मज्ञ उस अनार्य अत्यन्त अपराधी नृशंस इस बालकके पितामहको भूलकर तुम्हें इसके ऊपर प्रसन्न होना उचित है। (३९-४१)

जब दुःशला करुणवाक्यसे ऐसा वचन बोली, तब धनञ्जय राजा धृतराष्ट्र और गान्धारीदेवीको स्मरण करके दुःख तथा शोकसे अत्यन्त आर्त होकर क्षत्रधर्मकी निन्दा करते हुए कहने लगे, कि उस क्षुद्रचित्तवाले राज्यलोभी मानी दुर्योधनको धिक्कार है, उसहीके कारण ये सब बान्धव मेरे द्वारा यमलोकमें गये हैं। अर्जुनने इसी भांति बहुतसे सान्त्वन-वाक्य कहके बालकपर कृपा प्रकाशित करके प्रीतिपूर्वक दुःशलाको अभिनन्दित करके गृहपर भेजा। शुभानना दुःशला भी उस सेनाको युद्धसे लौटाकर अर्जुनको प्रणाम करके गृहपर गई। धनञ्जयने इसही प्रकार सैन्धव

ससार तं तथा वीरो विधिवद्यज्ञियं हयम् ॥ ४७ ॥
स च वाजी यथेष्टेन तांस्तान्देशान् यथाक्रमम् ।
विचचार यथाकामं कर्म पार्थस्य वर्धयन् ॥ ४८ ॥
क्रमेण स हयस्त्वेवं विचरन्पुरुषर्षभ ।
मणिपूरपतेर्देशमुपायात्सहपाण्डवः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सैन्धवपराजये अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

वैशम्पायन उवाच– श्रुत्वा तु नृपतिः प्राप्तं पितरं बभ्रुवाहनः ।
निर्ययौ विनयेनाथ ब्राह्मणार्थपुरःसरः ॥ १ ॥
मणिपूरेश्वरं त्वेवमुपयातं धनंजयः ।
नाभ्यनन्दत्स मेधावी क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ २ ॥
उवाच च स धर्मात्मा समन्युः फाल्गुनस्तदा ।
प्रक्रियेयं न ते युक्ता बहिस्त्वं क्षत्रधर्मतः ॥ ३ ॥
संरक्ष्यमाणं तुरगं यौधिष्ठिरमुपागतम् ।
यज्ञियं विषयान्ते मां नायोत्सीः किं नु पुत्रक ॥ ४ ॥
धिक् त्वामस्तु सुदुर्बुद्धिं क्षत्रधर्मबहिष्कृतम् ।
यो मां युद्धाय संप्राप्तं साम्नैव प्रत्यगृह्णथाः ॥ ५ ॥

वीरोंको जीतकर कामचारी घोडेका अनुसरण किया। जैसे पिनाकी महादेवने आकाशमें हरिनका अनुसरण किया था, उस ही भांति महाप्रतापी तेजस्वी वीर अर्जुन उस यज्ञीय अश्वका अनुगमन करने लगे। वह यज्ञका घोडा पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनके कर्मको वर्धित करता हुआ इच्छानुसार क्रमसे सब देशोंमें विचरने लगा। हे पुरुषर्षभ! वह घोडा इस ही प्रकार पृथ्वीमें विचरता हुआ धीरे धीरे पार्थके सहित मणिपूरपतिके देशमें उपस्थित हुआ। (४१—४९)

आश्वमेधिकपर्वमें ७८ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ७९ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा बभ्रुवाहन पिता अर्जुनकी आगमनवार्ता सुनके ब्राह्मण, अर्थ और उपहार आगे करके विनीत भावसे उनके समीप हुए। मणिपूरेश्वर बभ्रुवाहनके इस प्रकार समीप आनेपर बुद्धिमान् अर्जुनने क्षत्रधर्मको स्मरण करके उसे अभिनन्दित न किया; बल्कि वह धर्मात्मा अर्जुन क्रोधपूर्वक उससे बोले, कि तुम्हारी प्रक्रिया युक्तियुक्त नहीं हुई। तुम क्षत्र-

न त्वया पुरुषार्थो हि कश्चिदस्तीह जीवता ।
यस्त्वं स्त्रीवद्यथा प्राप्तं मां साम्ना प्रत्यगृह्णथाः ॥ ६ ॥
यद्यहं न्यस्तशस्त्रस्त्वामागच्छेयं सुदुर्मते ।
प्रक्रियेयं भवेद्युक्ता तावत्तव नराधम ॥ ७ ॥
तमेवमुक्तं भर्त्रा तु विदित्वा पन्नगाऽऽत्मजा ।
अमृष्यमाणा भित्त्वोर्वीमुलूपी समुपागमत् ॥ ८ ॥
सा ददर्श ततः पुत्रं विमृशन्तमधोमुखम् ।
संतर्ज्यमानमसकृत्पित्रा युद्धार्थिना प्रभो ॥ ९ ॥
ततः सा चारुसर्वाङ्गी समुपेत्योरगाऽऽत्मजा ।
उलूपी प्राह वचनं धर्म्यं धर्मविशारदम् ॥ १० ॥
उलूपीं मां निबोध त्वं मातरं पन्नगाऽऽत्मजाम् ।
कुरुष्व वचनं पुत्र धर्मस्ते भविता परः ॥ ११ ॥
युध्यस्वैनं कुरुश्रेष्ठं पितरं युद्धदुर्मदम् ।
एवमेष हि ते प्रीतो भविष्यति न संशयः ॥ १२ ॥
एवं दुर्मर्षितो राजा स मात्रा बभ्रुवाहनः ।

धर्मके बाहिर हो, मैं युधिष्ठिरके यज्ञीय घोडेकी रक्षा करते हुए तुम्हारे राज्यमें आया हूं, तुम किस निमित्त मेरे सङ्ग युद्ध नहीं करते हो ? हे दुर्बुद्धि ! तू क्षत्रियधर्मके बाहिर हुआ है, मेरे युद्धके लिये उपस्थित होनेपर जब तू युद्ध न करके सामके द्वारा प्रतिग्रह करता है, तब तुझे धिक्कार है । हे दुर्मति ! मैं युद्धके लिये यहांपर आया हूं, तू स्त्रियों की भांति मुझे प्रतिग्रह करता है; हे नराधम ! यदि मैं शस्त्ररहित होकर तेरे पास आता, तो तेरा ऐसा कार्य युक्तियुक्त होता । (१-७)

पन्नगपुत्री उलूपी पतिके द्वारा पुत्र बभ्रुवाहनका ऐसा तिरस्कार होना जानके पातालको भेदकर पुत्रके निकट आई । हे प्रभु ! उलूपीने युद्धकी इच्छा करनेवाले पिताके द्वारा बारबार तिरस्कृत विमर्ष सिर नीचा करके खडे हुए पुत्र बभ्रुवाहनको देखा । अनन्तर वह मनोहराङ्गी उरगपुत्री उलूपी धर्मविशारद पुत्रके समीप आके उससे धर्मयुक्त वचन बोली, कि मैं पन्नगकन्या उलूपी हूं, तुम मुझे अपनी माता जानो । हे पुत्र ! मैं जो कहती हूं, वैसा करनेसे तुम्हें परम धर्म होगा । हे तात ! तुम इस युद्धदुर्मद कुरुश्रेष्ठ पिताके सङ्ग युद्ध करो, तो ये तुम्हारे ऊपर निश्चयही प्रसन्न होंगे । (८-१२)

मनश्चक्रे महातेजा युद्धाय भरतर्षभ ॥ १३ ॥
सन्नह्य काञ्चनं वर्म शिरस्त्राणं च भानुमत् ।
तूणीरशतसंबाधमारुरोह रथोत्तमम् ॥ १४ ॥
सर्वोपकरणोपेतं युक्तमश्वैर्मनोजवैः ।
सचक्रोपस्करं श्रीमान्हेमभाण्डपरिष्कृतम् ॥ १५ ॥
परमार्चितमुच्छ्रित्य ध्वजं सिंहं हिरण्मयम् ।
प्रययौ पार्थमुद्दिश्य स राजा बभ्रुवाहनः ॥ १६ ॥
ततोऽभ्येत्य हयं वीरो यज्ञियं पार्थरक्षितम् ।
आहयामास पुरुषैर्हयशिक्षाविशारदैः ॥ १७ ॥
गृहीतं वाजिनं दृष्ट्वा प्रीतात्मा स धनंजयः ।
पुत्रं रथस्थं भूमिष्ठः संन्यवारयदाहवे ॥ १८ ॥
स तत्र राजा तं वीरं शरसंघैरनेकशः ।
अर्दयामास निशितैराशीविषविषोपमैः ॥ १९ ॥
तयोः समभवद्युद्धं पितुः पुत्रस्य चातुलम् ।
देवासुररणप्रख्यमुभयोः प्रीयमाणयोः ॥ २० ॥
किरीटिनं प्रविव्याध शरेणानतपर्वणा ।

हे भरतश्रेष्ठ ! महातेजस्वी राजा बभ्रुवाहनने माताका ऐसा वचन सुनके क्रुद्ध होकर युद्ध करनेमें चित्त लगाया। अनन्तर वह सुवर्णसे बने हुए प्रभायुक्त वर्म और शिरस्त्राण पहरकर एक सौ तूणीरयुक्त युद्धकी सब सामग्रियोंसे पूरित मनके समान वेगगामी उत्तम घोडोंसे युक्त रथपर चढा। राजा बभ्रुवाहनने चक्र और उपकरणयुक्त परम शोभायमान, सुवर्ण कलशसे परिष्कृत, परम पूजित, बहुत ऊंचा, सिंहध्वजाविशिष्ट सोनेके बने हुए रथपर चढके पार्थके निकट गमन किया। तिसके अनन्तर वीरश्रेष्ठ बभ्रुवाहनने यज्ञीय घोडेके निकट जाकर अश्वविद्याविशारद पुरुषोंके सहारे उस घोडेको ग्रहण किया। अर्जुनने घोडेको बभ्रुवाहनके द्वारा पकडा हुआ देखकर प्रसन्नचित्तसे पृथ्वीपर खडे होकर रथमें चढे हुए पुत्रको निवारित किया। राजा बभ्रुवाहनने युद्धमें विषैले सर्पसदृश विषसे बुझे हुए बाणोंसे वीर अर्जुनको पीडित किया। इस ही प्रकार देवासुर-संग्रामकी भांति उन प्रियमाण पितापुत्र दोनोंका तुमुल संग्राम होने लगा। (१३-२०)

अनन्तर बभ्रुवाहनने हंसकर अर्जुनके

जत्रुदेशे नरव्याघ्रं प्रहसन्बभ्रुवाहनः ॥ २१ ॥
सोऽभ्यगात्सह पुङ्खेन वल्मीकमिव पन्नगः ।
विनिर्भिद्य च कौन्तेयं प्रविवेश महीतलम् ॥ २२ ॥
स गाढवेदनो धीमानालम्ब्य धनुरुत्तमम् ।
दिव्यं तेजः समाविश्य प्रमीत इव सोऽभवत् ॥ २३ ॥
स संज्ञामुपलभ्याथ प्रशस्य पुरुषर्षभः ।
पुत्रं शक्रात्मजो वाक्यमिदमाह महाद्युतिः ॥ २४ ॥
साधु साधु महाबाहो वत्स चित्राङ्गदात्मज ।
सदृशं कर्म ते दृष्ट्वा प्रीतिमानस्मि पुत्रक ॥ २५ ॥
विमुञ्चाम्येष ते बाणान्पुत्र युद्धे स्थिरो भव ।
इत्येवमुक्त्वा नाराचैरभ्यवर्षदमित्रहा ॥ २६ ॥
तान्स गाण्डीवनिर्मुक्तान्वज्राशनिसमप्रभान् ।
नाराचानच्छिनद्राजा भल्लैः सर्वांस्त्रिधा द्विधा ॥ २७ ॥
तस्य पार्थः शरैर्दिव्यैर्ध्वजं हेमपरिष्कृतम् ।
सुवर्णतालप्रतिमं क्षुरेणापाहरद्रथात् ॥ २८ ॥
हयांश्चास्य महाकायान्महावेगानरिंदम ।
चकार राजन्निर्जीवान्प्रहसन्निव पाण्डवः ॥ २९ ॥

जत्रुस्थानमें आनतपर्व बाण मारा, वह बाण बिलमें घुसनेवाले सर्पकी भांति पंखके सहित अर्जुनके शरीरमें घुस गया। उस समय उस बाणके कुन्तीपुत्र अर्जुनके शरीरको भेदकर पृथ्वीमें प्रविष्ट होनेपर धृतिमान् धनञ्जय अत्यन्त पीडायुक्त होके तेजको सम्भालकर दिव्य धनुष अवलम्बन करके प्रमत्तकी भांति अचेत हुए। अनन्तर महातेजस्वी इन्द्रपुत्र पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनने सावधान होकर पुत्रसे कहा, हे तात! चित्राङ्गदा-पुत्र महाबाहो बभ्रुवाहन! तुम्हें धन्य हो। हे पुत्र! मैं तुम्हारा ऐसा कर्म देखकर परम प्रसन्न हुआ। हे पुत्र! तुम क्षणभर युद्धमें स्थिर रहो, मैं तुम्हारे ऊपर बाणोंको छोडता हूं। शत्रुघाती अर्जुन इतनी बात कहके बाण बरसाने लगे। राजा बभ्रुवाहनने भल्लके सहारे गाण्डीवसे छूटे हुए उन वज्रसदृश बाणोंको दो दो खण्ड करके काटके गिरा दिया। अर्जुनने दिव्य बाण और क्षुरास्त्रसे बभ्रुवाहनके रथकी सुवर्णतालसदृश सोनेसे बनी हुई ध्वजा काट दी और हंसके उसके महाकाय घोडोंको मारके

स रथादवतीर्याथ राजा परमकोपनः ।
पदातिः पितरं क्रुद्धो योधयामास पाण्डवम् ॥ ३० ॥
संप्रीयमाणः पार्थानामृषभः पुत्रविक्रमात् ।
नात्यर्थं पीडयामास पुत्रं वज्रधराऽऽत्मजः ॥ ३१ ॥
स मन्यमानो विमुखं पितरं बभ्रुवाहनः ।
शरैराशीविषाकारैः पुनरेवार्दयद्बली ॥ ३२ ॥
ततः स बाल्यात्पितरं विव्याध हृदि पत्रिणा ।
निशितेन सुपुङ्खेन बलवद्बभ्रुवाहनः ॥ ३३ ॥
विवेश पाण्डवं राजन्मर्म भित्त्वातिदुःखकृत ।
स तेनातिभृशं विद्धः पुत्रेण कुरुनन्दनः ॥ ३४ ॥
महीं जगाम मोहार्तस्ततो राजन्धनंजयः ।
तस्मिन्निपतिते वीरे कौरवाणां धुरंधरे ॥ ३५ ॥
सोऽपि मोहं जगामाथ ततश्चित्राङ्गदासुतः ।
व्यायम्य संयुगे राजा दृष्ट्वा च पितरं हतम् ॥ ३६ ॥
पूर्वमेव स बाणौघैर्गाढविद्धोऽर्जुनेन ह ।
पपात सोऽपि धरणीमालिङ्ग्य रणमूर्धनि ॥ ३७ ॥
भर्तारं निहतं दृष्ट्वा पुत्रं च पतितं भुवि ।
चित्राङ्गदा परित्रस्ता प्रविवेश रणाजिरे ॥ ३८ ॥

प्राणरहित कर दिया । राजा बभ्रुवाहन अत्यन्त क्रुद्ध होकर पैदल ही पिताके सङ्ग युद्ध करने लगा । (२१–३०)

इन्द्रपुत्र पार्थप्रवर अर्जुनने पुत्रके विक्रमसे परमप्रसन्न होकर उसे अत्यन्त पीडित नहीं किया । अनन्तर बभ्रुवाहनने बालस्वभावसे शिकल करी हुई उत्तम पङ्खवाली पत्रीसे पिताका हृदय विद्ध किया, वह बाण पाण्डवके मर्मस्थलको भेदकर प्रविष्ट होनेसे अत्यन्त दुःखदायक हुआ । हे महाराज ! कुरुनन्दन अर्जुन पत्रीसे अत्यन्त विद्ध होनेपर अत्यन्त विमोहित होकर पृथ्वीमें गिर पडे । कुरुकुलधुरन्धर धनञ्जयके गिरनेपर चित्राङ्गदापुत्र बभ्रुवाहन भी युद्धमें पिताको मरा हुआ देखकर शर संयम करके मोहको प्राप्त हुआ । अर्जुनने भी पहले बाणोंसे उसे अत्यन्तही विद्ध किया था, इसलिये वह भी युद्धमें पृथ्वीपर गिर पडा । मणिपूरपतिकी माता चित्राङ्गदा पति और पुत्रको मरके पृथ्वीपर गिरे हुए देखकर अत्यन्त त्रासित होकर

शोकसंतप्तहृदया रुदती वेपती भृशम् ।
मणिपूरपतेर्माता ददर्श निहतं पतिम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि अर्जुनबभ्रुवाहनयुद्धे उनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततो बहुतरं भीरुर्विलप्य कमलेक्षणा ।
मुमोह दुःखसंतप्ता पपात च महीतले ॥ १ ॥
प्रतिलभ्य च सा संज्ञां देवी दिव्यवपुर्धरा ।
उलूपीं पन्नगसुतां दृष्ट्वेदं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥
उलूपि पश्य भर्तारं शयानं निहतं रणे ।
त्वत्कृते मम पुत्रेण बाणेन समितिंजयम् ॥ ३ ॥
ननु त्वमार्यधर्मज्ञा ननु चासि पतिव्रता ।
यत्त्वत्कृतेऽयं पतितः पतिस्ते निहतो रणे ॥ ४ ॥
किं तु सर्वापराद्धोऽयं यदि तेऽद्य धनंजयः ।
क्षमस्व याच्यमाना वै जीवयस्व धनंजयम् ॥ ५ ॥
ननु त्वमार्ये धर्मज्ञा त्रैलोक्यविदिता शुभे ।
यद्घातयित्वा पुत्रेण भर्तारं नानुशोचसि ॥ ६ ॥
नाहं शोचामि तनयं हतं पन्नगनन्दिनि ।

रणभूमिमें आई और पतिको मरा हुआ देखके बहुतही कांपती हुई शोकसन्तप्त हृदयसे रोदन करने लगी । (३१-३९)

आश्वमेधिकपर्वमें ७९ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ८० अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज ! वह कमलनयनी चित्राङ्गदा दुःखसे सन्तापित होकर बहुत ही विलाप करती हुई विमोहित होकर पृथ्वीमें गिरी । क्षणभरके अनन्तर वह मनोहराङ्गी चित्राङ्गदा देवी सावधान होकर पन्नगपुत्री उलूपीको देखकर बोली, हे उलूपी ! यह देखो तुम्हारे ही कारणसे मेरे बालक पुत्र बभ्रुवाहनके द्वारा समितिञ्जय स्वामी युद्धमें मरके सोये हुए हैं । हे उलूपी ! तुम धर्म जाननेवाली तथा पतिव्रता स्त्रियोंमें मुख्य हो, तुम्हारे ही कारणसे पति रणमें मरके पडा हुआ है, यदि अर्जुनने तुम्हारे अनेक अपराध किये हों, तोभी मैं तुम्हारे समीप पार्थना करती हूं, कि तुम क्षमा करके उन्हें जीवित करो । हे आर्ये ! तुम तीनों लोकके बीच धर्म जाननेवाली कहके विदित हो, तोभी पुत्रके हाथसे पतिको

पतिमेव तु शोचामि यस्याऽऽतिथ्यमिदं कृतम् ॥ ७ ॥
इत्युक्त्वा सा तदा देवीमुलूपीं पन्नगात्मजाम् ।
भर्तारमभिगम्येदमित्युवाच यशस्विनी ॥ ८ ॥
उत्तिष्ठ कुरुमुख्यस्य प्रिय मुख्य मम प्रिय ।
अयमश्वो महाबाहो मया ते परिमोक्षितः ॥ ९ ॥
ननु त्वया नाम विभो धर्मराजस्य यज्ञियः ।
अयमश्वोऽनुसर्तव्यः स शेषे किं महीतले ॥ १० ॥
त्वयि प्राणा ममायत्ताः कुरूणां कुरुनन्दन ।
स कस्मात्प्राणदोऽन्येषां प्राणान्संत्यक्तवानसि ॥ ११ ॥
उलूपि साधु पश्येमं पतिं निपतितं भुवि ।
पुत्रं चेमं समुत्साह्य घातयित्वा न शोचसि ॥ १२ ॥
कामं स्वपितु बालोऽयं भूमौ मृत्युवशं गतः ।
लोहिताक्षो गुडाकेशो विजयः साधु जीवतु ॥ १३ ॥
नापराधोऽस्ति सुभगे नराणां बहुभार्यता ।
प्रमदानां भवत्येष मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ १४ ॥
सख्यं चैतत्कृतं धात्रा शश्वदव्ययमेव तु ।

मरवाके शोक नहीं करती हो ? हे पन्नग-नन्दिनी ! मैं अपने पुत्रके मरनेसे शोक नहीं करती हूं, जिसके निमित्त यह आतिथ्य किया गया, उस पतिहीके लिये शोक करती हूं यशस्विनी चित्राङ्गदा देवी उरगपुत्री उलूपीसे ऐसा कहके स्वामीके निकट जाके उन्हें कहने लगी। हे प्यारे! आप कुरुकुलके परम-प्रिय है, आप उठिये। हे महाबाहो! मैं आपके इस घोडेको मुक्त करती हूं। हे विभु! आपको धर्मराजके यज्ञीय घोडेका अनुसरण करना योग्य है, आप उस कार्यको न करके किस लिये पृथ्वीपर सोये हुए हैं? हे कुरुनन्दन ! मेरा प्राण आपके वशमें है, इसलिये आपने प्राणद होके किस प्रकार अपने प्राणको परित्याग किया ? (१–११)

चित्राङ्गदा बोली, हे उलूपी ! तुम पृथ्वीतलमें पडे हुए पतिको भली भांति देखो, तुम पुत्रको इस प्रकार समुत्साहित कर तथा मरवाके शोक नहीं करती हो ! यह बालक मृत्युके वशमें होकर पृथ्वीपर सोया रहे, परन्तु लोहितनयन गुडाकेश विजय जीवित होवें। हे सुभगे! पुरुषोंका बहुभार्यता अपराध कहके परिगणित नहीं होता,

सख्यं समभिजानीहि सत्यं संगतमस्तु ते ॥ १५ ॥
पुत्रेण घातयित्वैनं पतिं यदि न मेऽद्य वै ।
जीवन्तं दर्शयस्यद्य परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १६ ॥
साऽहं दुःखान्विता देवि पतिपुत्रविनाकृता ।
इहैव प्रायमासिष्ये प्रेक्षन्त्यास्ते न संशयः ॥ १७ ॥
इत्युक्त्वा पन्नगसुतां सपत्नी चैत्रवाहनी ।
ततः प्रायमुपासीना तूष्णीमासीज्जनाधिप ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच– ततो विलप्य विरता भर्तुः पादौ प्रगृह्य सा ।
उपविष्टाऽभवद्दीना सोच्छ्वासं पुत्रमीक्षती ॥ १९ ॥
ततः संज्ञां पुनर्लब्ध्वा स राजा बभ्रुवाहनः ।
मातरं तामथालोक्य रणभूमावथाब्रवीत् ॥ २० ॥
इतो दुःखतरं किं नु यन्मे माता सुखैधिता ।
भूमौ निपतितं वीरमनुशेते मृतं पतिम् ॥ २१ ॥
निहन्तारं रणेऽरीणां सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
मया विनिहतं संख्ये प्रेक्षते दुर्मरं बत ॥ २२ ॥

तुम सन्देह न करके ऐसा निश्चय बोध करो, कि ये सब स्त्रियोंके स्वामी होते हैं; विधाताने यह नित्य सख्यता उत्पन्न की है, तुम निश्चय जानो, कि तुम्हारी वह नित्य सख्यता बनी रहेगी। तुमने पुत्रके द्वारा पतिका वध कराया है, परन्तु यदि आज मुझे पतिको जीवित न दिखाओगी, तो मैं जीवन परित्याग करूंगी। हे देवि! मैं पति और पुत्रके विरहसे अत्यन्त दुःखी हुई हूं, इस स्थानमें तुम्हारे सामने निश्चय ही योगव्रत अवलम्बन करके प्राण परित्याग करूंगी। हे प्रजानाथ! चैत्रवाहनी चित्राङ्गदाने पन्नगनन्दिनी सौतसे ऐसाही कहके योगव्रत अवलम्बन करके मौनभावसे निवास किया। (१२—१८)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर पुत्रकी इच्छा करनेवाली चित्राङ्गदा लम्बी सांस छोडती और बहुत विलाप करती हुई शोकसे विरत होकर पतिके दोनों पांव पकडके दीनभावसे बैठी। अनन्तर बभ्रुवाहनने फिर सावधान होके रणभूमिमें बैठी हुई माताको देखकर कहा। जब कि सदा सुख भोगने योग्य मेरी माताने पृथ्वीमें गिरे हुए महावीर पतिका अनुशयन किया है, तब इससे बढके और कौनसा दुःख होगा? हाय! माताने मेरे हाथसे युद्धमें मरे हुए शत्रु-

अहोऽस्या हृदयं देव्या दृढं यन्न विदीर्यते ।
व्यूढोरस्कं महाबाहुं प्रेक्षन्त्या निहतं पतिम् ॥ २३ ॥
दुर्मरं पुरुषेणेह मन्ये ह्यध्वन्यनागते ।
यत्र नाहं न मे माता विप्रयुज्येत जीवितात् ॥ २४ ॥
हाहा धिक्कुरुवीरस्य सन्नाहं काञ्चनं भुवि ।
अपविद्धं हतस्येह मया पुत्रेण पश्यत ॥ २५ ॥
भो भो पश्यत मे वीरं पितरं ब्राह्मणा भुवि ।
शयानं वीरशयने मया पुत्रेण पातितम् ॥ २६ ॥
ब्राह्मणाः कुरुमुख्यस्य ये मुक्ता हयसारिणः ।
कुर्वन्ति शान्तिं कामस्य रणे योऽयं मया हतः॥ २७ ॥
व्यादिशन्तु च किं विप्राः प्रायश्चित्तमिहाद्य मे ।
आनृशंसस्य पापस्य पितृहन्तू रणाजिरे ॥ २८ ॥
दुश्चराद्वा दश समा हत्वा पितरमद्य वै ।
ममेह सुनृशंसस्य संवीतस्यास्य चर्मणा ॥ २९ ॥
शिरः कपाले चास्यैव भुञ्जतः पितुरद्य मे ।

नाशन सर्वशस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ दुर्मरणकी भांति मृत पतिको देखा है। ओहो! व्यूढोरस्क महाबाहु पतिको युद्धमें मरा हुआ देखकर इसका दृढ हृदय अबतक भी विदीर्ण नहीं होता है? जब मैं और मेरी माता, हम दोनों ही जीवित हैं, तब मुझे बोध होता है, कि इस लोकमें मृत्युकालके विना उपस्थित हुए किसी प्रकार पुरुषकी मृत्यु नहीं होती। १९-२४

हाय! जब मैं पुत्र होकर सम्मुखमें मारके पिताका सन्नाह (कवच) काटा है, तब कुरुवीरके इस सुवर्ण-सन्नाहको महा धिक्कार है। हे ब्राह्मणगण! देखिये, मेरे पिता महावीर धनञ्जय मेरे द्वारा मरके वीरशय्यापर सोये हैं। यदि ये युद्धमें मेरे हाथसे मारे गये, तब अश्वका अनुसरण करनेवाले इस कुरु-प्रधान धनञ्जयकी शान्तिके लिये जो सब ब्राह्मण युधिष्ठिरकी आज्ञासे उनके साथ आये हैं, वे क्यों शान्ति करते हैं? मैं नृशंसकी भांति रणभूमिमें पितृहत्या करके महापापी हुआ हूं, इसलिये आज मुझे इस विषयमें कैसी प्रायश्चित्त करना उचित है, उसके लिये ब्राह्मण लोग आज्ञा करें। जब मैंने अत्यन्त निष्ठुर होकर पितृहत्या की है, तब आज इनका चर्म पहरकर इस स्थानमें दुःख-पूर्वक मुझे बारह वर्ष व्यतीत करना

प्रायश्चित्तं हि नास्त्यन्यद्धत्वाऽद्य पितरं मम ॥ ३० ॥
पश्य नागोत्तमसुते भर्तारं निहतं मया ।
कृतं प्रियं मया तेऽद्य निहत्य समरेऽर्जुनम् ॥ ३१ ॥
सोऽहमद्य गमिष्यामि गतिं पितृनिषेविताम् ।
न शक्नोम्यात्मनाऽऽत्मानमहं धारयितुं शुभे ॥ ३२ ॥
सा त्वं मयि मृते मातस्तथा गाण्डीवधन्वनि ।
भव प्रीतिमती देवि सत्येनात्मानमालभे ॥ ३३ ॥
इत्युक्त्वा स ततो राजा दुःखशोकसमाहतः ।
उपस्पृश्य महाराज दुःखाद्वचनमब्रवीत् ॥ ३४ ॥
शृण्वन्तु सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ।
त्वं च मातर्यथा सत्यं ब्रवीमि भुजगोत्तमे ॥ ३५ ॥
यदि नोत्तिष्ठति जयः पिता मे नरसत्तमः ।
अस्मिन्नेव रणोद्देशे शोषयिष्ये कलेवरम् ॥ ३६ ॥
न हि मे पितरं हत्वा निष्कृतिर्विद्यते क्वचित् ।
नरकं प्रतिपत्स्यामि ध्रुवं गुरुवधार्दितः ॥ ३७ ॥
वीरं हि क्षत्रियं हत्वा गोशतेन प्रमुच्यते ।

योग्य है। जब मैंने पिताके मस्तक तथा सिरमें बाण मारके इन्हें मारा है, तब मुझे प्रायश्चित्तके लिये और कुछभी नहीं दीखता है। (२५—३०)

हे नागोत्तमपुत्री! देखो, मैंने तुम्हारे पतिको मारा है, आज मैंने युद्धमें अर्जुनका वध करके तुम्हारा प्रियकार्य किया है। हे शुभे! इसके अनन्तर मैं निज शरीरको धारण करनेमें समर्थ नहीं होता हूं, इसलिये आजही मैं पितृनिषेवित स्थानमें गमन करूंगा। हे मातः! मेरे तथा गाण्डीवधारी अर्जुनके मरनेसे तुम प्रसन्न होओ, मैं सत्यपथ अवलम्बन करके परमात्म लाभ करूं। ३१-३३

महाराज! दुःख और शोकसे पीडित राजा बभ्रुवाहन ऐसा ही कहके जलसे आचमन करके दुःखपूर्वक बोला। हे सर्वभूत चराचर! तुम लोग मेरी प्रतिज्ञा सुनो; हे माता भुजगोत्तमे! मैं तुमसे सत्य कहता हूं, यदि मेरे पिता विजय न उठेंगे, तो मैं इस रणभूमिमें अपना शरीर सुखा दूंगा। पितृहत्या करनेसे मेरी किसी भांति निष्कृति नहीं है, मैं गुरुवधसे अर्दित होकर निश्चय ही नरकमें गमन करूंगा। पुरुष क्षत्रिय वीरका वध करके एक सौ गऊ दान करनेसे

पितरं तु निहत्यैवं दुर्लभा निष्कृतिर्मम ॥ ३८ ॥
एष एको महातेजाः पाण्डुपुत्रो धनंजयः ।
पिता च मम धर्मात्मा तस्य मे निष्कृतिः कुतः ॥३९॥
इत्येवमुक्त्वा नृपते धनंजयसुतो नृपः ।
उपस्पृश्याभवत्तूष्णीं प्रायोपेतो महामतिः ॥ ४० ॥
वैशम्पायन उवाच– प्रायोपविष्टे नृपतौ मणिपूरेश्वरे तदा ।
पितृशोकसमाविष्टे सह मात्रा परंतप ॥ ४१ ॥
उलूपी चिन्तयामास तदा संजीवनं मणिम् ।
स चोपातिष्ठत तदा पन्नगानां परायणम् ॥ ४२ ॥
तं गृहीत्वा तु कौरव्य नागराजपतेः सुता ।
मनःप्रह्लादनीं वाचं सैनिकानामथाब्रवीत् ॥ ४३ ॥
उत्तिष्ठ मा शुचः पुत्र नैव जिष्णुस्त्वया जितः ।
अजेयः पुरुषैरेष तथा देवैः सवासवैः ॥ ४४ ॥
मया तु मोहनी नाम मायैषा संप्रदर्शिता ।
प्रियार्थं पुरुषेन्द्रस्य पितुस्तेऽद्य यशस्विनः ॥ ४५ ॥
जिज्ञासुर्ह्येष पुत्रस्य बलस्य तव कौरव ।

उस पापसे मुक्त होके निष्कृति लाभ कर सकता है, परन्तु मैंने पितृहत्या की है, इसलिये इस समय मेरी निष्कृति होनी दुर्लभ है। ये महातेजस्वी धर्मात्मा पाण्डुपुत्र धनञ्जय मेरे पिता और विशेष करके अकेले हैं, इसका वध करनेसे मेरी निष्कृति क्यों होगी ? हे नरनाथ ! महाबुद्धिमान् धनञ्जयका पुत्र बभ्रुवाहनने ऐसाही कहके आचमन करते हुए योगव्रत अवलम्बन करके मौनभावसे निवास किया। (३४—४०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे, महाराज ! उस समय पितृशोकसे व्याकुल मणिपूरेश्वर राजा बभ्रुवाहनके मातासहित अनशनव्रत अवलम्बन करके बैठनेपर उलूपीने सञ्जीवन मणिका ध्यान किया, ध्यान करते ही वह पन्नगपरायण मणि उस ही समय वहां उपस्थित हुई। हे कौरव्य ! पन्नगराजपुत्री उलूपी उस मणिको लेकर सैनिक पुरुषोंके चित्तको आनन्दित करनेवाले वचन कहने लगी। उलूपी बभ्रुवाहनसे बोली, हे पुत्र ! अब शोक परित्याग करके उठो। जिष्णु तुम्हारे द्वारा निर्जित नहीं हुए हैं; ये इन्द्रके सहित देवताओं तथा सब पुरुषोंके अजेय हैं; परन्तु मैंने आज

संग्रामे युद्धयतो राजन्नागतः परवीरहा ॥ ४६ ॥
तस्मादसि मया पुत्र युद्धाय परिचोदितः ।
मा पापमात्मनः पुत्र शङ्केथा ह्यण्वपि प्रभो ॥ ४७ ॥
ऋषिरेष महानात्मा पुराणः शाश्वतोऽक्षरः ।
नैनं शक्तो हि संग्रामे जेतुं शक्रोऽपि पुत्रक ॥ ४८ ॥
अयं तु मे मणिर्दिव्यः समानीतो विशांपते ।
मृतान्मृतान्पन्नगेन्द्रान् यो जीवयति नित्यदा ॥ ४९ ॥
एनमस्योरसि त्वं च स्थापयस्व पितुः प्रभो ।
संजीवितं तदा पार्थं स त्वं द्रष्टासि पाण्डवम् ॥५० ॥
इत्युक्तः स्थापयामास तस्योरसि मणिं तदा ।
पार्थस्यामिततेजाः स पितुः स्नेहादपापकृत् ॥ ५१ ॥
तस्मिन्न्यस्ते मणौ वीरो जिष्णुरुज्जीवितः प्रभुः ।
चिरसुप्त इवोत्तस्थौ मृष्टलोहितलोचनः ॥ ५२ ॥
तमुत्थितं महात्मानं लब्धसंज्ञं मनस्विनम् ।
समीक्ष्य पितरं स्वस्थं ववन्दे बभ्रुवाहनः ॥ ५३ ॥

पुरुषश्रेष्ठ तुम्हारे यशस्वी पिताकी प्रीतिके लिये यह मोहनी माया दिखाई है। तुम्हें पुत्र समझके तुम्हारा बल जाननेके लिये ये शत्रुनाशन अर्जुन तुम्हारे सङ्ग युद्ध करनेके लिये आये थे। हे पुत्र! इस ही लिये मैंने तुम्हें युद्ध करनेके लिये भेजा था, इस निमित्त इस विषयमें तुम तनिक भी पापकी आशङ्का मत करो। हे प्रभु! ये महात्मा पुराणर्षि शाश्वत तथा अक्षर हैं; हे पुत्र! इसलिये इन्द्र भी उन्हें युद्धमें जय नहीं कर सकते। हे प्रजानाथ! जो सदा, बार बार मृत पन्नगोंको जीवित करती है, मैंने उस मणिको मंगाया है, हे प्रभु! तुम इस मणिको लेकर अपने पिताके वक्षस्थलपर रखनेसे इन्हें जीवित देखोगे। (४१–५०)

अनन्तर पापरहित अमित तेजस्वी बभ्रुवाहनने उलूपीका ऐसा वचन सुनके पितृस्नेहके वशमें होकर शीघ्र ही अर्जुनके वक्षस्थलपर उस मणिको रखा। वह मणि अर्जुनके वक्षस्थलपर रखते ही वीरवर प्रभु जिष्णु जीवित होकर बहुत समयके सोये हुए पुरुषकी भांति लोहित नेत्र मार्जन करते हुए उठे। तब बभ्रुवाहन महात्मा मनस्वी पिताको उठते तथा सावधान होते देखकर उनकी स्तुति करने लगा। (५१–५३)

उत्थिते पुरुषव्याघ्रे पुनर्लक्ष्मीवति प्रभो ।
दिव्याः सुमनसः पुण्या ववृषे पाकशासनः ॥ ५४ ॥
अनाहता दुन्दुभयो विनेदुर्मेघनिःस्वनाः ।
साधु साध्विति चाऽकाशे बभूव सुमहान्स्वनः ॥५५॥
उत्थाय च महाबाहुः पर्याश्वस्तो धनंजयः ।
बभ्रुवाहनमालिङ्ग्य समाजिघ्रत मूर्धनि ॥ ५६ ॥
ददर्श चापि दूरेऽस्य मातरं शोककर्शिताम् ।
उलूप्या सह तिष्ठन्तीं ततोऽपृच्छद्धनंजयः ॥ ५७ ॥
किमिदं लक्ष्यते सर्वं शोकविस्मयहर्षवत् ।
रणाजिरममित्रघ्न यदि जानासि शंस मे ॥ ५८ ॥
जननी च किमर्थं ते रणभूमिमुपागता ।
नागेन्द्रदुहिता चेयमुलूपी किमिहागता ॥ ५९ ॥
जानाम्यहमिदं युद्धं त्वया मद्वचनात्कृतम् ।
स्त्रीणामागमने हेतुमहमिच्छामि वेदितुम् ॥ ६० ॥
तमुवाच तथा पृष्टो मणिपूरपतिस्तदा ।
प्रसाद्य शिरसा विद्वानुलूपी पृच्छयतामियम् ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहा०आश्व०पर्वणि अनु०अश्वानुसरणे अर्जुनप्रत्युज्जीवने अशीतितमोऽध्यायः ॥८०॥

हे प्रभु ! लक्ष्मीवान् पुरुषश्रेष्ठ पार्थके फिर उठनेपर इन्द्र दिव्य तथा पुण्य-गन्धयुक्त फूलोंकी वर्षा करने लगे। आकाशमें बादलकी भांति गम्भीर शब्द तथा ऊंचे स्वरसे दिव्य दुन्दुभिका शब्द तथा ऊंचे स्वरसे साधुध्वनि प्रकट हुई। अनन्तर महाबाहु धनञ्जयने सब भांतिसे आश्वस्त होकर उठके बभ्रुवाह-नको आलिङ्गन करके उसका मस्तक सूंघा। फिर कुछ दूरपर उलूपीके सङ्ग स्थित शोककर्षित बभ्रुवाहनकी माता चित्राङ्गदाको देखकर उससे पूछने लगे। हे शत्रुनाशन पुत्र ! इस रणभूमिमें सब लोगोंको शोकसे विस्मित तथा हर्षित देखता हूं, इसका क्या कारण है ? यदि तुम जानते हो, तो मुझसे कहो। तुम्हारी माता चित्राङ्गदा और नागेन्द्रपुत्री उलूपी किस लिये रणभूमिमें आई है ? मेरे कह-नेके अनुसार तुमने यह युद्ध किया था, उसे मैं जानता हूं; परन्तु स्त्रियोंके यहां आनेका कारण जाननेकी इच्छा करता हूं। तब मणिपूरपति विद्वान् बभ्रुवाहन अर्जुनका ऐसा वचन सुन सिर झुकाकर उन्हें प्रसन्न करके बोला, आप इस

अर्जुन उवाच- किमागमनकृत्यं ते कौरव्यकुलनन्दिनि ।
मणिपूरपतेर्मातुस्तथैव च रणाजिरे ॥ १ ॥
कच्चित्कुशलकामासि राज्ञोऽस्यऽभुजगाऽऽत्मजे ।
मम वा चपलापाङ्गि कच्चित्त्वं शुभमिच्छसि ॥ २ ॥
कच्चित्ते पृथुलश्रोणि नाप्रियं प्रियदर्शने ।
अकार्षमहमज्ञानादयं वा बभ्रुवाहनः ॥ ३ ॥
कच्चिन्नु राजपुत्री ते सपत्नी चैत्रवाहनी ।
चित्राङ्गदा वरारोहा नापराध्यति किंचन ॥ ४ ॥
तमुवाचोरगपतेर्दुहिता प्रहसन्निव ।
न मे त्वमपराद्धोऽसि न हि मे बभ्रुवाहनः ॥ ५ ॥
न जनित्री तथाऽस्येयं मम या प्रेष्यवत् स्थिता ।
श्रूयतां यद्यथा चेदं मया सर्वं विचेष्टितम् ॥ ६ ॥
न मे कोपस्त्वया कार्यः शिरसा त्वां प्रसादये ।
त्वत्प्रियार्थं हि कौरव्य कृतमेतन्मया विभो ॥ ७ ॥
यत्तच्छृणु महाबाहो निखिलेन धनंजय ।

उलूपीसे सब वृत्तान्त पूछिये। (५४-६१)

आश्वमेधिकपर्वमें ८० अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ८१ अध्याय।

अर्जुन बोले, हे कौरवकुलनन्दिनि ! तुम मणिपूरके राजा बभ्रुवाहनकी जननी होकर किस लिये रणभूमिमें आई हो ? हे चपलाङ्गि भुजगात्मजे ! क्या तुम इस राजा बभ्रुवाहनकी कुशलकामना करती हो ? अथवा मेरे मङ्गलकी इच्छा करती हो ? हे पृथुलश्रोणि प्रियदर्शने ! मैंने अथवा बभ्रुवाहनने विना जाने तुम्हारे विषयमें कुछ अप्रिय आचरण तो नहीं किया है ? इस वरारोहा राजपुत्री तुम्हारी सौत चैत्रवाहनी चित्राङ्गदाने तुम्हारा कोई अपराध तो नहीं किया ? (१—४)

उरगराजपुत्री उलूपी अर्जुनका वचन सुनकर हंसके उनसे बोली। आप बभ्रुवाहन अथवा बभ्रुवाहनकी जननी प्रेष्यकी भांति स्थित यह चित्राङ्गदा, आप लोगोंमेंसे किसीने भी मेरा कुछ अपराध नहीं किया है; परन्तु मैंने जो कुछ जिस प्रकार किया है, मेरा वह समस्त कार्य सुनिये। हे विभु ! मैं सिर नीचा करके आपको प्रणाम करती हूं, आप मुझपर क्रोध न करिये। हे कौरव्य ! मैंने आपकी प्रीतिके लिये ऐसा किया है। हे महाबाहो ! पहले

महाभारतयुद्धे यत्त्वया शान्तनवो नृपः ॥ ८ ॥
अधर्मेण हतः पार्थ तस्यैषा निष्कृतिः कृता ।
न हि भीष्मस्त्वया वीर युध्यमानो हि पातितः ॥९॥
शिखण्डिना तु संयुक्तस्तमाश्रित्य हतस्त्वया ।
तस्य शान्तिमकृत्वा त्वं त्यजेथा यदि जीवितम् ॥१०॥
कर्मणा तेन पापेन पतेथा निरये ध्रुवम् ।
एषा तु विहिता शान्तिः पुत्राद्यां प्राप्तवानसि ।
वसुभिर्वसुधापाल गङ्गया च महामते ॥ ११ ॥
पुरा हि श्रुतमेतत्ते वसुभिः कथितं मया ।
गङ्गायास्तीरमाश्रित्य हते शान्तनवे नृप ॥ १२ ॥
आप्लुत्य देवा वसवः समेत्य च महानदीम् ।
इदमूचुर्वचो घोरं भागीरथ्या मते तदा ॥ १३ ॥
एष शान्तनवो भीष्मो निहतः सव्यसाचिना ।
अयुध्यमानः संग्रामे संसक्तोऽन्येन भाविनि ।
तदनेनानुषङ्गेण वयमद्य धनंजयम् ॥ १४ ॥
शापेन योजयामेति तथास्त्विति च साऽब्रवीत् ।

जो घटना हुई थी, आप उसे पूरी रीतिसे सुनिये । हे धनञ्जय ! आप जो महाभारत युद्धमें अधर्माचरण करके शान्तनुपुत्र भीष्मको मारके पापग्रस्त हुए थे, आज उस पापसे तुम्हारा निस्तार हुआ । हे वीरवर ! आप सामने लडके भीष्मका वध न कर सकते, इसी लिये शिखण्डीयुक्त रथको अवलम्बन करके उनका वध किया । यदि आप उसकी शान्ति न करके जीवन परित्याग करते, तो निश्चय ही आपको उस कर्मरूपी पापसे नरकमें गिरना होता । हे महाबुद्धिमान् पृथ्वीनाथ ! भीष्मके मरनेपर गङ्गा और वसुगणने यही शान्ति की थी, इस ही लिये पुत्रके हाथसे आपको पीडा प्राप्त हुई । हे राजन् ! पहले शान्तनुपुत्रके मरनेपर वसुगणने गंगाके तटपर आके जिस समय अपको शाप दिया था, उस समय मैंने इस विषयको सुना था; वसुगण महानदी भागीरथीके निकट आके सब कोई एकत्रित होकर उससे यह घोर वाक्य बोले, हे भाविनि ! सव्यसाचीने रणभूमिमें युद्ध न करके दूसरेके सङ्ग मिलके शान्तनुपुत्र भीष्मको मारा है, इस ही लिये आज हम लोगोंने धनञ्जयको शापयुक्त किया । भागीरथी

तदहं पितुरावेद्य प्रविश्य व्यथितेन्द्रिया ॥ १५ ॥
अभवं स च तच्छ्रुत्वा विषादमगमत्परम् ।
पिता तु मे वसून् गत्वा त्वदर्थे समयाचत ॥ १६ ॥
पुनः पुनः प्रसाद्यैतांस्त एनमिदमब्रुवन् ।
पुत्रस्तस्य महाभाग मणिपूरेश्वरो युवा ॥ १७ ॥
स एनं रणमध्यस्थः शरैः पातयिता भुवि ।
एवं कृते स नागेन्द्र मुक्तशापो भविष्यति ॥ १८ ॥
गच्छेति वसुभिश्चोक्तो मम चेदं शशंस सः ।
तच्छ्रुत्वा त्वं मया तस्माच्छापादसि विमोक्षितः ॥१९॥
न हि त्वां देवराजोऽपि समरेषु पराजयेत् ।
आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात्तेनेहासि पराजितः ॥ २० ॥
न हि दोषो मम मतः कथं वा मन्यसे विभो ।
इत्येवमुक्तो विजयः प्रसन्नात्माऽब्रवीदिदम् ॥ २१ ॥
सर्वं मे सुप्रियं देवि यदेतत्कृतवत्यसि ।
इत्युक्त्वा सोऽब्रवीत्पुत्रं मणिपूरपतिं जयः ॥ २२ ॥
चित्राङ्गदायाः शृण्वन्त्याः कौरव्यदुहितुस्तदा ।

गङ्गा इतना वचन सुनके बोली, कि 'ऐसा ही होवे। (५-१५)

मैंने वह वृत्तान्त पिताको सुनाकर व्यथितचित्तसे गृहमें प्रवेश किया, पिता भी सुनके परम शोकित हुए; अनन्तर पिताने वसुओंके निकट जाकर उन्हें बार बार प्रसन्न करके आपके निमित्त प्रार्थना की। तब वे लोग मेरे पितासे बोले, हे महाभाग! उसका पुत्र मणिपुरका राजा युवा बभ्रुवाहन जब रणभूमिके बीच उसे बाणसे मारके पृथ्वीपर गिरावेगा, तब वह शापसे मुक्त होगा। देवराजभी युद्धमें आपको पराजित नहीं कर सकते; परन्तु आत्मा पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, इस ही लिये उस पुत्रके द्वारा आप पराजित हुए हैं। हे विभु! इस विषयमें मेरा कुछ भी दोष नहीं हो सकता; परन्तु आप इस विषयको कैसा समझते हैं, उसे मैं नहीं कह सकती। (१५-२१)

अर्जुन उलूपीका ऐसा वचन सुनके उससे प्रसन्नचित्तसे बोले, हे देवि! तुमने जो कुछ किया, वह सब मुझे प्रिय बोध हुआ है। धनञ्जय उलूपीसे ऐसा कहके चित्राङ्गदाके सम्मुख मणिपूरपति अपने पुत्र बभ्रुवाहनसे बोले, हे

युधिष्ठिरस्याश्वमेधः परिचैत्रीं भविष्यति ॥ २३ ॥
तत्रागच्छेः सहामात्यो मातृभ्यां सहितो नृप ॥ २४ ॥
इत्येवमुक्तः पार्थेन स राजा बभ्रुवाहनः ।
उवाच पितरं धीमानिदमस्राविलेक्षणः ॥ २५ ॥
उपयास्यामि धर्मज्ञ भवतः शासनादहम् ।
अश्वमेधे महायज्ञे द्विजातिपरिवेषकः ॥ २६ ॥
मम त्वनुग्रहार्थाय प्रविशस्व पुरं स्वकम् ।
भार्याभ्यां सह धर्मज्ञ मा भूत्तेऽत्र विचारणा ॥ २७ ॥
उषित्वेह निशामेकां सुखं स्वभवने प्रभो ।
पुनरश्वानुगमनं कर्तासि जयतां वर ॥ २८ ॥
इत्युक्तः स तु पुत्रेण तदा वानरकेतनः ।
स्मयन्प्रोवाच कौन्तेयस्तदा चित्राङ्गदासुतम् ॥ २९ ॥
विदितं ते महाबाहो यथा दीक्षां चराम्यहम् ।
न स तावत्प्रवेक्ष्यामि पुरं ते पृथुलोचन ॥ ३० ॥
यथाकामं व्रजत्येष यज्ञियाश्वो नरर्षभ ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि न स्थानं विद्यते मम ॥ ३१ ॥

पुत्र ! आगामी चैत्री पूर्णिमामें युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ होगा, तुम दोनों माता और मन्त्रियोंके सहित वहां गमन करना। बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहनने पार्थका ऐसा वचन सुनके आंखोंमें आंसू भरके पितासे कहा। हे धर्मज्ञ ! आपकी आज्ञानुसार मैं अश्वमेध महायज्ञमें आकर द्विजातियोंका परिवेषक हूंगा। हे धार्मिकश्रेष्ठ ! परन्तु आप कृपा करके अपनी इन दोनों भार्याओंके सहित निज पुरीमें प्रवेश करिये, इसमें कुछ भी विचार न करिये। हे प्रभु ! निज भवनमें एक रात्रि सुखसे वास करके दूसरे दिन फिर घोडेका अनुगमन करना। (२१–२८)

कपिध्वज कुन्तीपुत्र धनञ्जय पुत्रका ऐसा वचन सुनके उस चित्राङ्गदानन्दन बभ्रुवाहनसे बोले, हे महाबाहो ! मैंने तुम्हारा अभिप्राय मालूम किया; हे पृथुलोचन ! परन्तु मैं जिस प्रकार दीक्षित हुआ हूं, उस ही भांति परिभ्रमण करूंगा; मैं इस समय तुम्हारे नगरमें नहीं जा सकता। हे नरेन्द्र ! यह यज्ञीय घोडा इच्छानुसार विचरेगा, इसकी गति रोध न होगी; इसलिये घोडा न रहनेसे मैंभी नहीं रह सकता,

स तत्र विधिवत्तेन पूजितः पाकशासनिः ।
भार्याभ्यामभ्यनुज्ञातः प्रायाद्भरतसत्तमः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

वैशम्पायन उवाच– स तु वाजी समुद्रान्तां पर्येत्य वसुधामिमाम् ।
निवृत्तोऽभिमुखो राजन् येन वारणसाह्वयम् ॥ १ ॥
अनुगच्छंश्च तुरगं निवृत्तोऽथ किरीटभृत् ।
यदृच्छया समापेदे पुरं राजगृहं तदा ॥ २ ॥
तमभ्याशगतं दृष्ट्वा सहदेवात्मजः प्रभो ।
क्षत्रधर्मे स्थितो वीरः समरायाजुहाव ह ॥ ३ ॥
ततः पुरात्स निष्क्रम्य रथी धन्वी शरी तली ।
मेघसन्धिः पदातिं तं धनंजयमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥
आसाद्य च महातेजा मेघसन्धिर्धनंजयम् ।
बालभावान्महाराज प्रोवाचेदं न कौशलात् ॥ ५ ॥
किमयं चार्यते वाजी स्त्रीमध्य इव भारत ।
हयमेनं हरिष्यामि प्रयतस्व विमोक्षणे ॥ ६ ॥

तुम्हारा मंगल होवे, अब मैं जाता हूं। भरतसत्तम इन्द्रपुत्र धनञ्जयने वहांपर पुत्रके द्वारा विधिपूर्वक पूजित तथा दोनों भार्याओंसे अनुज्ञात होकर घोडेका अनुगमन किया। (२९—३२)

आश्वमेधिकपर्वमें ८१ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्वमें ८२ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज! वह घोडा समुद्रसहित पृथ्वीपर भ्रमण करके हस्तिनापुरकी ओर लौटा। अर्जुन भी इच्छानुसार घोडेका अनुगमन करते हुए क्रमसे मगधदेशके राजभवनके समीप आये। हे प्रभु! क्षत्रधर्ममें स्थित महावीर सहदेवपुत्र मेघसन्धिने अर्जुनको समीप आया हुआ देखकर आह्वान किया। अनन्तर वह रथी धनुष, बाण और तलत्राणधारी मेघसन्धि निज नगरसे निकलकर पदाति अर्जुनके समीप उपस्थित हुआ; महातेजस्वी मेघसन्धि धनञ्जयको पाके बालस्वभावके वशमें होकर अकौशल-पूर्वक अर्जुनसे बोला, हे भारत! क्या आप स्त्रियोंके बीच विचरनेवाले पुरुषकी भांति इस घोडेको जगत्के बीच घुमावेंगे? मैं इस घोडेको हरता हूं, आप इसके छुडानेका यत्न करिये। यद्यपि आपने युद्धमें मेरे पिता-

अदत्त्वाऽनुनयो युद्धे यदि त्वं पितृभिर्मम ।
करिष्यामि तवातिथ्यं प्रहर प्रहरामि च ॥ ७ ॥
इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं प्रहसन्निव पाण्डवः ।
विघ्नकर्ता मया वार्य इति मे व्रतमाहितम् ॥ ८ ॥
भ्रात्रा ज्येष्ठेन नृपते तवाऽपि विदितं ध्रुवम् ।
प्रहरस्व यथाशक्ति न मन्युर्विद्यते मम ॥ ९ ॥
इत्युक्तः प्राहरत्पूर्वं पाण्डवं मगधेश्वरः ।
किरन् शरसहस्राणि वर्षाणीव सहस्रदृक् ॥ १० ॥
ततो गाण्डीवभृच्छूरो गाण्डीवप्रहितैः शरैः ।
चकार मोघांस्तान्बाणान्सयत्नान्भरतर्षभ ॥ ११ ॥
स मोघं तस्य बाणौघं कृत्वा वानरकेतनः ।
शरान्मुमोच ज्वलितान्दीप्तास्यानिव पन्नगान् ॥ १२ ॥
ध्वजे पताकादण्डेषु रथे यन्त्रे हयेषु च ।
अन्येषु च रथाङ्गेषु न शरीरे न सारथौ ॥ १३ ॥
संरक्षयमाणः पार्थेन शरीरे सव्यसाचिना ।

पितामहगणकी अनुनय नहीं की है, तोभी मैं तुम्हारा रथातिथ्य करूंगा; इसलिये आप मेरे ऊपर प्रहार करिये और मैंभी तुम्हारे ऊपर प्रहार करूं (१-७)

पाण्डुपुत्र अर्जुन मगधसन्धिका ऐसा वचन सुनके हंसकर उससे बोले, कि विघ्न करनेवालेको निवारण करना ही मेरा व्रत है। हे राजन्! जेठे भाईने मेरे ऊपर यह भार अर्पण किया है, उसे तुम विशेष रीतिसे जानते हो, तुम सामर्थ्यके अनुसार मुझपर प्रहार करो, उससे मैं क्रुद्ध न हूंगा। मगधेश्वर पाण्डवका ऐसा वचन सुनके वर्षा करनेवाले इन्द्रकी भांति अर्जुनके ऊपर सैकडों सहस्रों बाण बरसाने लगा। तब गाण्डीवधारी अर्जुनने गाण्डीवसे छूटे हुए बाणोंसे मगधराजके यत्नपूर्वक चलाये हुए बाणोंको निष्फल कर दिया। हे भरतश्रेष्ठ! कपिध्वज कुन्तीपुत्र अर्जुन मगधराजके बाणोंको व्यर्थ करके प्रदीप्त मुखवाले सर्पकी भांति प्रज्वलित बाण चलाने लगे, परन्तु अर्जुन मगधेश्वरके शरीर और सारथीके ऊपर बाण न चलाकर उनकी ध्वजा, पताका, दण्ड, रथ, यन्त्र, घोडों तथा अन्यान्य रथाङ्गोंके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे। (८-१३)

मगधेश्वरका शरीर सव्यसाचीके द्वारा रक्षित होनेसे उन्होंने निज वीर्य-

मन्यमानः स्ववीर्यं तन्मागधः प्राहिणोच्छरान् ॥१४॥
ततो गाण्डीवधन्वा तु मागधेन भृशाहतः ।
बभौ वसन्तसमये पलाशः पुष्पितो यथा ॥ १५ ॥
अवध्यमानः सोऽभ्यघ्नन्मागधः पाण्डवर्षभम् ।
तेन तस्थौ स कौरव्य लोकवीरस्य दर्शने ॥ १६ ॥
सव्यसाची तु संक्रुद्धो विकृष्य बलवद्धनुः ।
हयांश्चकार निर्जीवान्सारथेश्च शिरोऽहरत् ॥ १७ ॥
धनुश्चास्य महच्चित्रं क्षुरेण प्रचकर्त ह ।
हस्तावापं पताकां च ध्वजं चास्य न्यपातयत् ॥ १८ ॥
स राजा व्यथितो व्यश्वो विधनुर्हतसारथिः ।
गदामादाय कौन्तेयमभिदुद्राव वेगवान् ॥ १९ ॥
तस्यापतत एवाशु गदां हेमपरिष्कृताम् ।
शरैश्चकर्त बहुधा बहुभिर्गृध्रवाजितैः ॥ २० ॥
सा गदा शकलीभूता विशीर्णमणिबन्धना ।
व्याली विमुच्यमानेव पपात धरणीतले ॥ २१ ॥
विरथं विधनुष्कं च गदया परिवर्जितम् ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमब्रवीत्कपिकेतनः ॥ २२ ॥

बलसे शरीरको रक्षित हुआ समझकर पार्थके ऊपर बाण चलाया। तब गाण्डीवधारी अर्जुन मगधराजके द्वारा अत्यन्त घायल होकर वसन्तकालमें फूले हुए पलाशवृक्षकी भांति शोभित हुए। हे कुरुवंशावतंस! मगधराज अवध्यमान होकर अर्जुनको घायल करके लोकस्थित वीरोंको देखनेके लिये स्थित हुए। सव्यसाचीने बलपूर्वक धनुष खींचकर मगधराजके घोड़ोंको प्राणरहित करके उनके सारथीका सिर काट दिया और क्षुरास्त्रसे उनके विचित्र धनुष, हस्तावाप, पताका और ध्वजा काटके पृथ्वीपर गिरा दिया। मगधराज बाणोंसे पीडित और घोडे तथा सारथीसे रहित होकर गदा उठाकर वेगपूर्वक अर्जुनकी ओर दौडा; अर्जुनने गिद्धपङ्खयुक्त बाणोंसे उस समागत मगधराजके सुवर्णभूषित गदाको काटकर कई टुकडे कर दिया। वह गदा शकलीभूत तथा मणिबन्धनच्युत होकर छूटी हुई व्यालीकी भांति पृथ्वीमें गिरी। मगधराजके रथविहीन तथा धनुष और गदारहित होनेपर समराग्रणी बुद्धिमान् अर्जुनने उन्हें फिर

पर्याप्तः क्षत्रधर्मोऽयं दर्शितः पुत्र गम्यताम्।
बह्वेतत्समरे कर्म तव बालस्य पार्थिव ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरस्य संदेशो न हन्तव्या नृपा इति।
तेन जीवसि राजंस्त्वमपराद्धोऽपि मे रणे ॥ २४ ॥
इति मत्वा तदात्मानं प्रत्यादिष्टं स्म मागधः।
तथ्यमित्यभिगम्यैनं प्राञ्जलिः प्रत्यपूजयत् ॥ २५ ॥
पराजितोऽस्मि भद्रं ते नाहं योद्धुमिहोत्सहे।
यद्यत्कृत्यं मया तेऽद्य तद् ब्रूहि कृतमेव तु ॥ २६ ॥
तमर्जुनः समाश्वास्य पुनरेवेदमब्रवीत्।
आगन्तव्यं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ॥ २७ ॥
इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पूजयामास तं हयम्।
फाल्गुनं च युधिश्रेष्ठं विधिवत्सहदेवजः ॥ २८ ॥
ततो यथेष्टमगमत्पुनरेव स केसरी।
ततः समुद्रतीरेण वङ्गान्पुण्ड्रान्सकोसलान् ॥ २९ ॥

पीडित करनेकी इच्छा नहीं की, अनन्तर कपिध्वज अर्जुन उस विमनस्क क्षत्रधर्ममें स्थित मगधराजको धीरज देते हुए बोले। हे पुत्र ! बालक होके युद्धमें तुम्हारे ऐसा महत् कर्म करनेसे क्षत्रधर्म पर्याप्तरूपसे दीख पडा, अब लौट जाओ। हे राजन् ! राजाओंको मारनेके लिये धर्मराज युधिष्ठिरने निषेध किया है, इस ही निमित्त तुम युद्धमें अपराध करके भी जीवित हो। (१४—२४)

उस समय मगधराजने अपनेको यथार्थमें ही निराकृत समझके हाथ जोडके अर्जुनके निकट जाकर उनकी पूजा करके कहा। हे पार्थ ! मैं तुम्हारे निकट पराजित हुआ हूं, अब आपके सङ्ग युद्ध करनेकी इच्छा नहीं है, इसके अनन्तर जो करना होगा, उसके लिये आप मुझे आज्ञा करिये, मैं वही कार्य करूंगा। (२५–२६)

अर्जुन मगधराजको धीरज देके फिर उससे बोले, आगामी चैत्री पूर्णिमामें राजा युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ होगा, उस समय तुम वहांपर जाना। (२७)

हे महाराज ! सहदेवपुत्र मेघसन्धिने अर्जुनका ऐसा वचन सुनके उसे स्वीकार कर वीरश्रेष्ठ अर्जुन और घोडेकी विधिपूर्वक पूजा की। अनन्तर वीरकेसरी धनञ्जयने इच्छानुसार समुद्रके तटसे जाते हुए क्रमसे वङ्ग, पुण्ड्र और कौशल प्रभृति देशोंमें पुनर्वार घोडेके

तत्र तत्र च भूरीणि म्लेच्छसैन्यान्यनेकशः ।
विजिग्ये धनुषा राजन् गाण्डीवेन धनंजयः ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि मागधपराजये द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

वैशम्पायन उवाच- मागधेनार्चितो राजन्पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
दक्षिणां दिशमास्थाय चारयामास तं हयम् ॥ १ ॥
ततः स पुनरावर्त्य हयः कामचरो बली ।
आससाद पुरीं रम्यां चेदीनां शुक्तिसाह्वयाम् ॥ २ ॥
शरभेणार्चितस्तत्र शिशुपालसुतेन सः ।
युद्धपूर्वं तदा तेन पूजया च महाबलः ॥ ३ ॥
ततोऽर्चितो ययौ राजंस्तदा स तुरगोत्तमः ।
काशीनङ्गान्कोसलांश्च किरातानथ तङ्गणान् ॥ ४ ॥
पूजां तत्र यथान्यायं प्रतिगृह्य धनंजयः ।
पुनरावृत्त्य कौन्तेयो दशार्णानगमत्तदा ॥ ५ ॥
तत्र चित्राङ्गदो नाम बलवानरिमर्दनः ।
तेन युद्धमभूत्तस्य विजयस्यातिभैरवम् ॥ ६ ॥
तं चापि वशमानीय किरीटी पुरुषर्षभः ।
निषादराज्ञो विषयमेकलव्यस्य जग्मिवान् ॥ ७ ॥

पीछे गमन किया। हे महाराज! अर्जुनने गाण्डीव धनुषके सहारे इन सब देशोंमें राजाओंकी म्लेच्छ प्रभृति समस्त सेना जय की। (२८—३०)

आश्वमेधिकपर्वमें ८२ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ८३ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज! श्वेतवाहन अर्जुन मगधराजके द्वारा पूजित होकर दक्षिण देशमें जाकर घोडेके सङ्ग विचरने लगे। अनन्तर वह बलवान् घोडा लौटकर चेदीवालोंकी शुक्ति नामी रमणीय नगरीमें पहुंचा। वहांपर महाबलवान् अर्जुन शिशुपालपुत्र शरभके द्वारा युद्धमें पूजित हुए। फिर वह घोडा पूजित होकर काशी, अङ्ग, कोशल, किरात और तंगन देशमें गया; कुन्तीपुत्र अर्जुनने वहांपर यथाक्रमसे पूजा प्रतिग्रह करके दशार्ण देशमें गमन किया। वहां बलवान् अरिमर्दन चित्राङ्गदके सङ्ग अर्जुनका अत्यन्त भयङ्कर युद्ध हुआ। (१—६)

पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन चित्रांगदको वशमें

एकलव्यसुतश्चैनं युद्धेन जगृहे तदा ।
तत्र चक्रे निषादैः स संग्रामं लोमहर्षणम् ॥ ८ ॥
ततस्तमपि कौन्तेयः समरेष्वपराजितः ।
जिगाय युधि दुर्धर्षो यज्ञविघ्नार्थमागतम् ॥ ९ ॥
स तं जित्वा महाराज नैषादिं पाकशासनिः ।
अर्चितः प्रययौ भूयो दक्षिणं सलिलार्णवम् ॥ १० ॥
तत्रापि द्रविडैरान्ध्रै रौद्रैर्माहिषकैरपि ।
तथा कोल्लगिरेयैश्च युद्धमासीत्किरीटिनः ॥ ११ ॥
तांश्चापि विजयो जित्वा नातितीव्रेण कर्मणा ।
तुरङ्गमवशेनाथ सुराष्ट्रानभितो ययौ ॥ १२ ॥
गोकर्णमथ चासाद्य प्रभासमपि जग्मिवान् ।
ततो द्वारवतीं रम्यां वृष्णिवीराभिपालिताम् ॥ १३ ॥
आससाद हयः श्रीमान्कुरुराजस्य यज्ञियः ।
तमुन्मथ्य हयश्रेष्ठं यादवानां कुमारकाः ॥ १४ ॥
प्रययुस्तांस्तदा राजन्नुग्रसेनो न्यवारयत् ।
ततः पुराद्विनिष्क्रम्य वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा ॥ १५ ॥
सहितो वासुदेवेन मातुलेन किरीटिनः ।

करके निषादराज एकलव्यके राज्यमें गये । उस समय एकलव्यपुत्रने युद्ध करके घोडा ग्रहण किया, तब अर्जुनके संग निषादोंका रोएंको खडा करनेवाला संग्राम हुआ । अनन्तर युद्धमें दुर्धर्ष अपराजित कुन्तीपुत्रने यज्ञमें विघ्न करनेके लिये समागत एकलव्यपुत्रको जय किया । हे महाराज ! इन्द्रपुत्र अर्जुन निषादराजके पुत्रको जीतकर उसके द्वारा परमादरपूर्वक पूजित होके फिर दक्षिण समुद्रकी ओर गये । वहां द्राविड आन्ध्र, रौद्रकर्मा माहिषक और कोल्लगिरेय लोगोंके संग किरीटिका युद्ध हुआ था । उन लोगोंको जीतकर घोडेके वशवर्ती होकर अर्जुनने सुराष्ट्की ओर गमन किया, फिर घोडा गोकर्णमें पहुंचके प्रभासमें जाकर वहांसे वृष्णिवीरोंसे पालित रमणीय द्वारकापुरीमें पहुंचा । (७—१३)

कुरुराजके यज्ञीय घोडेको द्वारवतीपुरीमें आया हुआ देखकर यादवकुमारगण उसे उन्मथित करने लगे, परन्तु वृष्ण्यन्धकपति उग्रसेनने नगरसे बाहिर होकर कुमारोंको निवारण किया । फिर

तौ समेत्य कुरुश्रेष्ठं विधिवत्प्रीतिपूर्वकम् ॥ १६ ॥
परया भारतश्रेष्ठं पूजया समवस्थितौ ।
ततस्ताभ्यामनुज्ञातो ययौ येन हयो गतः ॥ १७ ॥
ततः स पश्चिमं देशं समुद्रस्य तदा हयः ।
क्रमेण व्यचरत्स्फीतं ततः पञ्चनदं ययौ ॥ १८ ॥
तस्मादपि स कौरव्य गन्धारविषयं हयः ।
विचचार यथाकामं कौन्तेयानुगतस्तदा ॥ १९ ॥
ततो गान्धारराजेन युद्धमासीत्किरीटिनः ।
घोरं शकुनिपुत्रेण पूर्ववैरानुसारिणा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

वैशम्पायन उवाच- शकुनेस्तनयो वीरो गान्धाराणां महारथः ।
प्रत्युद्ययौ गुडाकेशं सैन्येन महताऽऽवृतः ॥ १ ॥
हस्त्यश्वरथयुक्तेन पताकाध्वजमालिना ।
अमृष्यमाणास्ते योधा नृपस्य शकुनेर्वधम् ॥ २ ॥
अभ्ययुः सहिताः पार्थं प्रगृहीतशरासनाः ।
स तानुवाच धर्मात्मा बीभत्सुरपराजितः ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरस्य वचनं न च ते जगृहुर्हितम् ।

वह किरीटीके मामा वसुदेवके संग मिलकर कुरुश्रेष्ठ अर्जुनके निकट जाकर प्रीतिके सहित विधिपूर्वक परम आदरसे उनकी अभ्यर्थना करते हुए स्थित हुए; तब अर्जुन उन लोगोंसे अनुमति लेकर घोडेके पीछे गमन करने लगे। अनन्तर घोडा समुद्रके पश्चिम देशमें विचरते हुए स्फूर्ति होकर क्रमक्रमसे पञ्चनदमें गया। हे कौरव्य ! घोडा उस देशसे इच्छानुसार गान्धार देशमें गया; वहांपर पहिले वैरके अनुसार गान्धारराज शकुनिके पुत्रके संग सव्यसाचीका तुमुल संग्राम हुआ। (१४—२०)

आश्वमेधिकपर्वमें ८३ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ८४ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, गान्धारराज महारथ वीरश्रेष्ठ शकुनिपुत्र पताका, ध्वजा, माला, हाथी, घोडे और रथयुक्त महासेनाके बीच घिरकर युद्ध करनेके लिये अर्जुनके निकट गया। योद्धाओंने राजा शकुनिके मरनेसे अत्यन्त क्रुद्ध होकर धनुष ग्रहण करके रणभूमिमें

वार्यमाणाऽपि पार्थेन सान्त्वपूर्वममर्षिताः ॥ ४ ॥
परिवार्य हयं जग्मुस्ततश्चुक्रोध पाण्डवः ।
ततः शिरांसि दीप्ताग्रैस्तेषां चिच्छेद पाण्डवः ॥ ५ ॥
क्षुरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैर्नातियत्नादिवार्जुनः ।
ते वध्यमानाः पार्थेन हयमुत्सृज्य संभ्रमात् ॥ ६ ॥
न्यवर्तन्त महाराज शरवर्षार्दिता भृशम् ।
निरुध्यमानस्तैश्चापि गान्धारैः पाण्डुनन्दनः ॥ ७ ॥
आदिश्यादिश्य तेजस्वी शिरांस्येषां न्यपातयत् ।
वध्यमानेषु तेष्वाजौ गान्धारेषु समन्ततः ॥ ८ ॥
स राजा शकुनेः पुत्रः पाण्डवं प्रत्यवारयत् ।
तं युध्यमानं राजानं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥
पार्थोऽब्रवीन्न मे वध्या राजानो राजशासनात् ।
अलं युद्धेन ते वीर न तेऽस्त्वद्य पराजयः ॥ १० ॥
इत्युक्तस्तदनादृत्य वाक्यमज्ञानमोहितः ।

अर्जुनके सामने गमन किया । युद्धमें अपराजित धर्मात्मा बीभत्सु अर्जुनने उन लोगोंको युधिष्ठिरका हित वचन सुनाया, उन लोगोंने उस वचनको नहीं माना । जब पाण्डुपुत्र अर्जुनके सान्त्वन भावसे निवारण करनेपर भी उन लोगोंने उस वचनको न सुनके क्रोध- पूर्वक घोडा पकडनेके लिये गमन किया, तब अर्जुन क्रुद्ध होकर सहजहीसे गाण्डीवसे छूटे हुए दीप्ताग्र क्षुरके सहारे उनका शिर काटने लगे। हे महाराज ! योद्धा लोग अर्जुनके द्वारा घायल तथा बाणोंकी वर्षासे अत्यन्त पीडित होकर घोडेको छोडके सम्भ्रमके सहित निवृत्त हुए । अनन्तर पाण्डुपुत्र अर्जुनने फिर गान्धार योद्धाओंके द्वारा एकबारही रोके जानेपर भी बार बार बाण चलाकर उन लोगोंके सिर काटे । (१-८)

जब अर्जुन युद्धमें गान्धार सेनाको सब भांतिसे संहार करने लगे, तब राजा शकुनिके पुत्रने युद्ध करते हुए पार्थको निवारण किया । क्षत्रधर्ममें स्थित राजा शकुनिपुत्रके युद्ध करते रहनेपर अर्जुनने उससे कहा, कि राजा युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार राजा लोग मेरे वध्य नहीं हैं; इसलिये अब युद्धकी आवश्यकता नहीं है, और आज तुम्हारी भी पराजय न होवे । जब पार्थने शकुनिपुत्रसे ऐसा कहा, तब उसने अज्ञानसे मोहित

स शक्रसमकर्माणं समवाकिरदाशुगैः ॥ ११ ॥
तस्य पार्थः शिरस्त्राणमर्धचन्द्रेण पत्रिणा ।
अपाहरदमेयात्मा जयद्रथशिरो यथा ॥ १२ ॥
तं दृष्ट्वा विस्मयं जग्मुर्गान्धाराः सर्व एव ते ।
इच्छता तेन न हतो राजेत्यपि च तं विदुः ॥ १३ ॥
गान्धारराजपुत्रस्तु पलायनकृतक्षणः ।
ययौ तैरेव सहितस्त्रस्तैः क्षुद्रमृगैरिव ॥ १४ ॥
तेषां तु तरसा पार्थस्तत्रैव परिधावताम् ।
प्रजहारोत्तमांगानि भल्लैः सन्नतपर्वभिः ॥ १५ ॥
उच्छ्रितांस्तु भुजान्केचिन्नाबुध्यन्त शरैर्हृतान् ।
शरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैः पृथुभिः पार्थचोदितैः ॥ १६ ॥
संभ्रान्तनरनागाश्वमपतद्विद्रुतं बलम् ।
हतविध्वस्तभूयिष्ठमावर्तत मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥
नाभ्यदृश्यन्त वीरस्य केचिदग्रेऽग्र्यकर्मणः ।
रिपवः पात्यमाना वै ये सहेयुर्धनंजयम् ॥ १८ ॥
ततो गान्धारराजस्य मन्त्रिवृद्धपुरःसरा ।

होकर उस वचनका अनादर करते हुए शक्रसदृश कर्मकारी अर्जुनको बाणोंसे छिपा दिया। अमेयात्मा पृथापुत्र अर्जुनने जिस प्रकार जयद्रथका सिर काटा था, उसी भांति कङ्कपत्र विभूषित अर्धचन्द्र बाणसे शकुनिपुत्रका शिरस्त्राण हरण किया। गान्धार सेना अर्जुनके उस कार्यको देखकर परम विस्मित हुई; अर्जुनने इच्छा रहनेपर भी शकुनिपुत्रका वध नहीं किया; उससे सबने उन्हें राजा कहके बोध किया। (८-१३)

अनन्तर गान्धारराजका पुत्र पलायनपरायण होकर डरे हुए क्षुद्र मृगोंकी भांति उस डरी हुई सेनाके सहित भागा। योद्धाओंके भागनेपर पृथापुत्र अर्जुन सन्नतपर्वयुक्त भल्लास्त्रसे उनके सिर काटने लगे। अर्जुनके गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए पृथुल बाणोंसे ऊंची भुजाओंके कटनेसे किसीकिसीको मालूम ही न हुआ। मनुष्य, हाथी और घोडोंके बीच कोई दौडने, कोई गिरने तथा कोई विश्वस्त होकर बार बार लौटने लगा। जो सब शत्रु अर्जुनके संग युद्ध करनेमें समर्थ थे उनके मारे जानेपर उस प्रधानकर्मा वीरश्रेष्ठ पार्थके सामने कोई भी न दीख पडा। (१४-१८)

जननी निर्ययौ भीता पुरस्कृत्यार्घमुत्तमम् ॥ १९ ॥
सा न्यवारयदव्यग्रा तं पुत्रं युद्धदुर्मदम् ।
प्रसादयामास च तं जिष्णुमक्लिष्टकारिणम् ॥ २० ॥
तां पूजयित्वा बीभत्सुः प्रसादमकरोत्प्रभुः ।
शकुनेश्चापि तनयं सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥ २१ ॥
न मे प्रियं महाबाहो यत्ते बुद्धिरियं कृता ।
प्रतियोद्धुममित्रघ्न भ्रातैव त्वं ममानघ ॥ २२ ॥
गान्धारीं मातरं स्मृत्वा धृतराष्ट्रकृतेन च ।
तेन जीवसि राजंस्त्वं निहतास्त्वनुगास्तव ॥ २३ ॥
मैवं भूः शाम्यतां वैरं मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ।
गच्छेथास्त्वं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे शकुनिपुत्रपराजये चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

वैशम्पायन उवाच– इत्युक्त्वानुययौ पार्थो हयं कामविहारिणम् ।
न्यवर्तत ततो वाजी येन नागाह्वयं पुरम् ॥ १ ॥

अनन्तर गान्धारराजकी जननी भयभीत होकर वृद्ध मन्त्रियोंके सहित हाथमें उत्तम अर्घ्य लेकर अर्जुनके निकट गई। वह सावधानचित्तसे युद्धदुर्मद पुत्रको संग्रामसे निवारण करती हुई जिष्णु धनञ्जयको प्रसन्न करने लगी। प्रभु बीभत्सु पार्थ उसे सम्मानपूर्वक प्रसन्न करके शकुनिपुत्रको धीरज देते हुए बोले। (१९–२१)

हे महाबाहो ! तुमने इस समय जिस बुद्धिके वशवर्ती होकर मेरे विरुद्ध युद्ध करनेकी अभिलाष की थी, तुम्हारे संग मेरा भ्रातृसम्बन्ध रहनेसे मैं उससे सन्तुष्ट नहीं हुआ। हे पापरहित राजन्! धृतराष्ट्रके कार्य और गान्धारी माताका स्मरण होनेसे ही तुम्हें जीवन लाभ हुआ है, परन्तु तुम्हारे सब अनुचर मारे गये। जो हो, तुम्हारे सहित तथा तुम्हारे संग मेरे वैरकी शमता रही; परन्तु फिर कभी तुम्हारी ऐसी बुद्धि न होवे; तुम आगामी चैत्री पूर्णिमामें हमारे राजा युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञमें गमन करना। (२२–२४)

आश्वमेधिकपर्वमें ८४ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ८५ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अर्जुन गान्धारराजसे इतनी बात कहके कामविहारी घोडेको निवृत्त करके वहांसे

तं निवृत्तं तु शुश्राव चारेणैव युधिष्ठिरः ।
श्रुत्वार्जुनं कुशलिनं स च हृष्टमनाऽभवत् ॥ २ ॥
विजयस्य च तत्कर्म गान्धारविषये तदा ।
श्रुत्वा चान्येषु देशेषु स सुप्रीतोऽभवत्तदा ॥ ३ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु द्वादशीं माघमासिकीम् ।
इष्टं गृहीत्वा नक्षत्रं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥
समानीय महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन्महीपतिः ।
भीमं च नकुलं चैव सहदेवं च कौरव ॥ ५ ॥
प्रोवाचेदं वचः काले तदा धर्मभृतां वरः ।
आमन्त्र्य वदतां श्रेष्ठो भीमं प्रहरतां वरम् ॥ ६ ॥
आयाति भीमसेनासौ सहाश्वेन तवानुजः ।
यथा मे पुरुषाः प्राहुर्ये धनंजयसारिणः ॥ ७ ॥
उपस्थितश्च कालोऽयमभितो वर्तते हयः ।
माघी च पौर्णमासीयं मासः शेषो वृकोदर ॥ ८ ॥
तत्प्रस्थाप्यन्तु विद्वांसो ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
वाजिमेधार्थसिद्ध्यर्थं देशं पश्यन्तु यज्ञियम् ॥ ९ ॥
इत्युक्तः स तु तच्चक्रे भीमो नृपतिशासनम् ।

चले, घोडा भी लौटकर हस्तिनापुरकी ओर चला । (१)

राजा युधिष्ठिर दूतके मुखसे घोडेके सहित अर्जुनके कुशलपूर्वक लौटनेकी वार्ता सुनके अत्यन्त हर्षित हुए और गान्धारराज तथा अन्यान्य देशोंमें पराक्रमी अर्जुनकी जयका वैसा कर्म सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए । (२-३)

महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने इतने समयके बीच माघी द्वादशी और इष्ट पुष्यनक्षत्र पाके भीमसेन, नकुल और सहदेव प्रभृति भाईयोंको बुलाया । उस समय धार्मिकश्रेष्ठ पृथ्वीनाथ युधिष्ठिर महायोद्धा वाग्मिवर भीमसेनको सम्बोधन करके बोले, हे भीम ! तुम्हारे भाई धनञ्जय घोडेके सहित आ रहे हैं, यह संवाद मुझसे उनके सेवकोंने आकर कहा है । हे वृकोदर ! यही समय उपस्थित है, घोडा भी अभिमुखी हुआ है, यही माघी पौर्णमासी है, इसके बाद माघ बीतेगा; इसलिये अश्वमेधकी सिद्धि तथा यज्ञस्थान निरूपण करनेके लिये तुम विद्वान् वेदपारग ब्राह्मणोंको भेजो । (४—९)

हृष्टः श्रुत्वा गुडाकेशमायान्तं पुरुषर्षभम् ॥ १० ॥
ततो ययौ भीमसेनः प्राज्ञैः स्थपतिभिः सह ।
ब्राह्मणानग्रतः कृत्वा कुशलान् यज्ञकर्मणि ॥ ११ ॥
तं स शालचयं श्रीमत्सप्रतोलीसुघट्टितम् ।
मापयामास कौरव्यो यज्ञवाटं यथाविधि ॥ १२ ॥
प्रासादशतसंबाधं मणिप्रवरकुट्टिमम् ।
कारयामास विधिवद्धेमरत्नविभूषितम् ॥ १३ ॥
स्तम्भान्कनकचित्रांश्च तोरणानि बृहन्ति च ।
यज्ञायतनदेशेषु दत्त्वा शुद्धं च काञ्चनम् ॥ १४ ॥
अन्तः पुराणां राज्ञां च नानादेशसमीयुषाम् ।
कारयामास धर्मात्मा तत्र तत्र यथाविधि ॥ १५ ॥
ब्राह्मणानां च वेश्मानि नानादेशसमीयुषाम् ।
कारयामास कौन्तेयो विधिवत्तान्यनेकशः ॥ १६ ॥
तथा संप्रेषयामास दूतान्नृपतिशासनात् ।
भीमसेनो महाबाहो राज्ञामक्लिष्टकर्मणाम् ॥ १७ ॥
ते प्रियार्थं कुरुपतेराययुर्नृपसत्तम ।
रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियोऽश्वानायुधानि च ॥ १८ ॥

भीमसेनने ऐसा वचन सुनके राजा युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार कार्य किया और पुरुष-श्रेष्ठ गुडाकेशके आनेकी वार्ता सुनके अत्यन्त आनन्दित हुए। अनन्तर वृकोदरने यज्ञकर्ममें कुशल ब्राह्मणोंको आगे करके बुद्धिमान् स्थपतिगणके सहित गमन किया। उस कुरुवंशीय भीमसेनने स्थपतिगणोंके सहारे गृह-समूहसे परिपूरित परम शोभित प्रशस्त प्रतोलीयुक्त यज्ञवाटको विधिपूर्वक मापा। अनन्तर सैकडों प्रासादोंसे घिरा हुआ उत्तम मणियुक्त सुवर्ण तथा अनेक रत्नोंसे विभूषित कुट्टिम निर्माण कराया। उस गृहके स्तम्भों और वृहत् तोरणोंको सोनेसे चित्रित कराया तथा यज्ञस्थानमें शुद्ध काञ्चन प्रदान करके उस स्थानमें विधानपूर्वक अन्तःपुर और अनेक देशोंसे आये हुए राजाओं तथा ब्राह्म-णोंके निमित्त बहुतसे गृह बनाये। फिर उन्होंने राजा युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार अक्लिष्टकारी राजाओंके पास दूत भेजा; राजा लोग कुरुराज युधिष्ठिरकी प्रिय कामनासे बहुतसे रत्न, स्त्री, अश्व और अनेक प्रकारके शस्त्र लेकर आये।

तेषां निर्विशतां तेषु शिबिरेषु महात्मनाम् ।
नर्दतः सागरस्येव दिवस्पृगभवत्स्वनः ॥ १९ ॥
तेषामभ्यागतानां च स राजा कुरुवर्धनः ।
व्यादिदेशान्नपानानि शय्याश्चाप्यतिमानुषाः ॥ २० ॥
वाहनानां च विविधाः शालाः शालीक्षुगोरसैः ।
उपेता भरतश्रेष्ठो व्यादिदेश स धर्मराट् ॥ २१ ॥
तथा तस्मिन्महायज्ञे धर्मराजस्य धीमतः ।
समाजग्मुर्मुनिगणा बहवो ब्रह्मवादिनः ॥ २२ ॥
ये च द्विजातिप्रवरास्तत्रासन्पृथिवीपते ।
समाजग्मुः सशिष्यांस्तान्प्रतिजग्राह कौरवः ॥ २३ ॥
सर्वांश्च ताननुययौ यावदावसथान्प्रति ।
स्वयमेव महातेजा दम्भं त्यक्त्वा युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥
ततः कृत्वा स्थपतयः शिल्पिनोऽन्ये च ये तदा ।
कृत्स्नं यज्ञविधिं राज्ञे धर्मज्ञाय न्यवेदयन् ॥ २५ ॥
तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्तु कृतं सर्वमतन्द्रितः ।
हृष्टरूपोऽभवद्राजा सह भ्रातृभिराहतः ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच– तस्मिन् यज्ञे प्रवृत्ते तु वाग्मिनो हेतुवादिनः ।

महात्मा महीपालोंके शिबिरोंमें प्रवेश करनेके समय शब्दायमान समुद्रके शब्दके समान उन लोगोंके कोलाहलका शब्द आकाशमण्डलको स्पर्श करने लगा। (१०–१९)

कुरुनन्दन धर्मराज राजा युधिष्ठिरने समागत राजाओंको उत्तम अन्न जल और उत्कृष्ट शय्या प्रदान करनेके लिये सेवकोंको आज्ञा की और वाहनोंके लिये गृह, धान्य, ईख तथा दूध प्रदान करनेके लिये आज्ञा दी। बुद्धिमान् धर्मराजके उस महायज्ञमें बहुतसे ब्रह्मवादी ब्राह्मण मुनिगण आये। हे पृथ्वीपाल! जो सब द्विजवर शिष्योंके सहित आये, कुरुपतिने उन सबको आदरपूर्वक बैठाया। महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर दम्भ त्यागके स्वयं सबके गृहपर गये तथा ब्राह्मणों और राजाओंका अनुगमन करने लगे। (२०–२४)

अनन्तर स्थपति तथा अन्यान्य शिल्पीगणने यज्ञीय गृहादि तैयार करके धर्मराजके समीप सब वृत्तान्त कहा। धर्मराज युधिष्ठिर सब कार्योंको पूरा हुआ सुनके भाइयोंसे आदरयुक्त तथा

हेतुवादान्बहूनाहुः परस्परजिगीषवः ॥ २७ ॥
ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम् ।
देवेन्द्रस्येव विहितं भीमसेनेन भारत ॥ २८ ॥
ददृशुस्तोरणान्यत्र शातकुम्भमयानि ते ।
शय्यासनविहारांश्च सुबहून् रत्नसंचयान् ॥ २९ ॥
घटान्पात्रीः कटाहानि कलशान्वर्धमानकान् ।
न हि किंचिदसौवर्णमपश्यन्वसुधाधिपाः ॥ ३० ॥
यूपांश्च शास्त्रपठितान्दारवान्हेमभूषितान् ।
उपक्लृप्तान् यथाकालं विधिवद्भूरिवर्चसः ॥ ३१ ॥
स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन प्रभो ।
सर्वानेव समानीतानपश्यंस्तत्र ते नृपाः ॥ ३२ ॥
गाश्चैव महिषीश्चैव तथा वृद्धस्त्रियोऽपि च ।
औदकानि च सत्त्वानि श्वापदानि वयांसि च ॥ ३३ ॥
जरायुजाण्डजातानि स्वेदजान्युद्भिदानि च ।
पर्वतानूपजातानि भूतानि ददृशुश्च ते ॥ ३४ ॥
एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः ।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः ॥ ३५ ॥
ब्राह्मणानां विशां चैव बहु मृष्टान्नमृद्धिमत् ।

अतंद्रित होकर आनन्दित हुए । २५-२६

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उस यज्ञके आरम्भ होनेपर हेतुवादी वाग्मी ब्राह्मण-गण आपसमें जिगीषु होकर बहुतसे हेतुवाद कहने लगे । हे भारत ! राजा-लोग देवेन्द्रयज्ञकी भांति भीमसेनके द्वारा विहित उस उत्तम यज्ञकी विधि और इधर उधर सुवर्णमय तोरणोंको देखने लगे; वहांपर शय्या, आसन, विहार, बहुतेरे जलपात्र, घडे, पात्र, कलश और शराव प्रभृति जितनी वस्तुएं थीं, उन सबको स्वर्णमयके अतिरिक्त अन्य धातुओंको नहीं देखा । राजा लोग इच्छानुसार विधिपूर्वक बने हुए सुवर्ण-भूषित दारुमय मन्त्रसंस्कृत यूप तथा वहां आये हुए स्थलज और जलज पशुओंको देखने लगे । वे लोग वहांपर गऊ, महिष, महावृद्धा स्त्री, जलजन्तु, श्वापद, पक्षी, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज पर्वतीय और अनूप, जात प्राणि-योंको देखने लगे । इसही प्रकार राजा लोग पशु, गोधन और धान्यके द्वारा

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां तत्र भुञ्जताम् ॥ ३६ ॥
दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताड्यत ।
विननादासकृच्चापि दिवसे दिवसे गते ॥ ३७ ॥
एवं स ववृते यज्ञो धर्मराजस्य धीमतः ।
अन्नस्य सुबहून् राजन्नुत्सर्गान्पर्वतोपमान् ॥ ३८ ॥
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषश्च ह्रदान् जनाः ।
जम्बुद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः ॥ ३९ ॥
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्य महामखे ।
तत्र जातिसहस्राणि पुरुषाणां ततस्ततः ॥ ४० ॥
गृहीत्वा भाजनान् जग्मुर्बहूनि भरतर्षभ ।
स्रग्विणश्चापि ते सर्वे सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४१ ॥
पर्यवेषन् द्विजातींस्तान् शतशोऽथ सहस्रशः ।
विविधान्यन्नपानानि पुरुषा येऽनुयायिनः ।
ते वै नृपोपभोज्यानि ब्राह्मणानां ददुश्च ह ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे पंचाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

प्रमुदित होकर परम विस्मित हुए। उस यज्ञमें सैकडों सहस्रों ब्राह्मण तथा अन्यान्य मनुष्यगण उत्तम रीतिसे बनी हुई बहुमूल्य वस्तुओंको खाने लगे, दिन बीतनेपर बादलके शब्दसदृश शब्दायमान नगाडा बार बार बजने लगा; बुद्धिमान् धर्मराजका यज्ञ इसही भांति वर्धित होने लगा। (३७-३८)

हे महाराज! उस समय पर्वतके सदृश बहुतसे अन्नके ढेर तथा दही, दूध और घृतके तालावोंको देखकर सब कोई विस्मित हुए। हे राजन्! महाराजके महायज्ञमें समस्त जम्बूद्वीप अनेक जनपदोंसे परिपूरित होनेसे कोई एक स्थानमें रहके देखनेमें समर्थ न हुआ। वहांपर कई जातिके पुरुषोंने अनेक भांतिके पात्रोंको ग्रहण करके गमन किया। उत्तम रीतिसे परिष्कृत मणिमय कुण्डल और माला पहरे हुए सहस्रों पुरुष द्विजातियोंको भोज्य वस्तु परिवेषण करने लगे। जो सत्र सेवक आये थे, वे लोग राज-भोग्य विविध अन्न और जल ब्राह्मणोंको प्रदान करने लगे। (३८-४२)

आश्वमेधिकपर्वमें ८५ अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच– समागतान्वेदविदो राज्ञश्च पृथिवीश्वरान् ।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरो राजा भीमसेनमभाषत ॥ १ ॥
उपयाता नरव्याघ्रा य एते पृथिवीश्वराः ।
एतेषां क्रियतां पूजा पूजार्हा हि नराधिपाः ॥ २ ॥
इत्युक्तः स तथा चक्रे नरेन्द्रेण यशस्विना ।
भीमसेनो महातेजा यमाभ्यां सह पाण्डवः ॥ ३ ॥
अथाभ्यगच्छद्गोविन्दो वृष्णिभिः सह धर्मजम् ।
बलदेवं पुरस्कृत्य सर्वप्राणभृतां वरः ॥ ४ ॥
युयुधानेन सहितः प्रद्युम्नेन गदेन च ।
निशठेनाथ साम्बेन तथैव कृतवर्मणा ॥ ५ ॥
तेषामपि परां पूजां चक्रे भीमो महारथः ।
विविशुस्ते च वेश्मानि रत्नवन्ति च सर्वशः ॥ ६ ॥
युधिष्ठिरसमीपे तु कथान्ते मधुसूदनः ।
अर्जुनं कथयामास बहुसंग्रामकर्षितम् ॥ ७ ॥
स तं पप्रच्छ कौन्तेयः पुनः पुनररिंदमम् ।
धर्मजः शक्रजं जिष्णुं समाचष्ट जगत्पतिः ॥ ८ ॥

आश्वमेधिकपर्वमें ८६ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा युधिष्ठिरने वेद जाननेवाले ब्राह्मणों और राजाओंको आया हुआ देखकर भीमसेनसे कहा । हे पुरुषश्रेष्ठ ! जो ये सब राजा लोग आये हैं, सभी पूजनीय हैं; इसलिये इनकी पूजा करो । (१—२)

महातेजस्वी भीमसेन यशस्वी नरनाथ युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके यमज नकुल और सहदेवके सहित उन राजाओंकी पूजा करनेमें प्रवृत्त हुए । अनन्तर सर्वप्राणिश्रेष्ठ गोविन्द बलदेवको आगे करके सात्यकि, प्रद्युम्न, गद, निशठ, साम्ब और कृतवर्मा प्रभृति वृष्णिवंशियोंके सहित धर्मपुत्र युधिष्ठिरके निकट आये । महारथ भीमसेनने उन लोगोंकी भी पूजा की और वे लोग भीमसेनके द्वारा पूजित होकर अनेक रत्नोंसे परिपूर्ण गृहके बीच गये । (३—६)

अनन्तर मधुसूदनने युधिष्ठिरके सङ्ग वार्तालाप करके उनके समीप संग्रामकर्षित महाबाहु अर्जुनको उद्देश्य करके अनेक प्रकारके वचन कहे । कुन्तीपुत्र धर्मनन्दन जग-श्रेष्ठ युधिष्ठिरने अरिदमन देवकीनन्दनसे बार बार स्वागत प्रश्न किया, तब उन्होंने धर्मराजसे

आगमद् द्वारकावासी ममाप्तः पुरुषो नृप ।
योऽद्राक्षीत्पाण्डवश्रेष्ठं बहुसंग्रामकर्षितम् ॥ ९ ॥
समीपे च महाबाहुमाचष्ट च मम प्रभो ।
कुरु कार्याणि कौन्तेय हयमेधार्थसिद्धये ॥ १० ॥
इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
दिष्ट्या स कुशली जिष्णुरुपायाति च माधव ॥ ११ ॥
यदिदं संदिदेशास्मिन् पाण्डवानां बलाग्रणीः ।
तदाज्ञातुमिहेच्छामि भवता यदुनन्दन ॥ १२ ॥
इत्युक्तो धर्मराजेन वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा ।
प्रोवाचेदं वचो वाग्मी धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥
इदमाह महाराज पार्थवाक्यं स्मरन्नरः ।
वाच्यो युधिष्ठिरः कृष्ण काले वाक्यमिदं मम ॥ १४ ॥
आगमिष्यन्ति राजानः सर्वे वै कौरवर्षभ ।
प्राप्तानां महतां पूजा कार्या ह्येतत्क्षमं हि नः ॥ १५ ॥
इत्येतद्वचनाद्राजा विज्ञाप्यो मम मानद ।
यथा चात्ययिकं न स्याद्यदर्घाहरणेऽभवत ॥ १६ ॥

कहा, हे प्रभु ! जिसने संग्रामकर्षित उस पाण्डवश्रेष्ठ धनञ्जयको देखा था, वे द्वारकावासी आप्त पुरुष तुम्हारे समीप आये हैं; अब आप अश्वमेध सिद्धिके निमित्त सब कार्य करिये । (७—१०)

धर्मराज युधिष्ठिर कृष्णका ऐसा वचन सुनके उनसे बोले, हे माधव ! वह जिष्णु धनञ्जय मेरे भाग्यसे ही कुशली होकर आये हैं । उस पाण्डव-बलाग्रणी धनञ्जयने इस यज्ञमें जो व्यवस्था की है, उसे तुम्हारे समीप जंतानेकी इच्छा करता हूं । (११-१२)

अनन्तर वाग्मिवर वृष्णि और अन्धकपति कृष्ण धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके अर्जुनकी बात स्मरण करके बोले, हे महाराज ! अर्जुनने मुझसे यह बात कही है, कि तुम समयके अनुसार राजा युधिष्ठिरसे मेरा यह वचन कहना, कि 'हे कौरवर्षभ ! इस यज्ञमें जो सब महात्मा राजा लोग आवेंगे, हम लोगोंको विशेष करके उनकी पूजा करनी होगी । हे मानद ! इसके अतिरिक्त राजाको मेरा यह हित वचन सुनाना, कि जिसमें अर्घ्यप्रदान विषयमें अव्यवस्था न हो, वही आप

कर्तुमर्हति तद्राजा भवांश्चाप्यनुमन्यताम् ।
राजद्वेषान्न नश्येयुरिमा राजन्पुनः प्रजाः ॥ १७ ॥
इदमन्यच्च कौन्तेय वचः स पुरुषोऽब्रवीत् ।
धनंजयस्य नृपते तन्मे निगदतः शृणु ॥ १८ ॥
उपयास्यति यज्ञं नो मणिपूरपतिर्नृपः ।
पुत्रो मम महातेजा दयितो बभ्रुवाहनः ॥ १९ ॥
तं भवान्मदपेक्षार्थं विधिवत्प्रतिपूजयेत् ।
स तु भक्तोऽनुरक्तश्च मम नित्यमिति प्रभो ॥ २० ॥
इत्येतद्वचनं श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अभिनन्द्यास्य तद्वाक्यमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारंभे षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

युधिष्ठिर उवाच– श्रुतं प्रियमिदं कृष्ण यत्त्वमर्हसि भाषितुम् ।
तन्मेऽमृतरसं पुण्यं मनो ह्लादयति प्रभो ॥ १ ॥
बहूनि किल युद्धानि विजयस्य नराधिपैः ।
पुनरासन् हृषीकेश तत्र तत्र च मे श्रुतम् ॥ २ ॥
किं निमित्तं स नित्यं हि पार्थः सुखविवर्जितः ।

करिये तथा उस विषयमें अनुमति करियेगा। राजद्वेषके हेतु जिसमें यह प्रजासमूह विनष्ट न होवे"। (१६–१७)

हे कौन्तेय! उस पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जयने इतना कहके और एक बात जो मुझसे कही है, उसे सुनो; उन्होंने कहा है, मेरा परमप्रिय पुत्र मणिपूरका राजा महातेजस्वी बभ्रुवाहन इस यज्ञमें आवेगा, आप मेरे अनुरोधसे उसका विधिपूर्वक समादर करना। हे प्रभु! वह मेरा अत्यन्त भक्त और अनुरक्त है। (१८—२०)

धर्मराज युधिष्ठिर इतनी बात सुनके उनके उस वचनका अभिनन्दन करते हुए वचन कहने लगे। (२१)

आश्वमेधिकपर्वमें ८६ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ८७ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे कृष्ण! मैंने इस प्रिय वचनको सुना, हे प्रभु! तुम्हारे मुखसे निकली हुई अमृतरससदृश पवित्र वाणी मेरे चित्तको अत्यन्त आनन्दित करती है। हे हृषीकेश! मैंने सुना है, कि अर्जुन जिन स्थानोंमें गये थे, उन स्थानोंमें राजाओंके सङ्ग उनका फिर बहुत युद्ध हुआ था। बुद्धिमान्

अतीव विजयो धीमान्निति मे दूयते मनः ॥ ३ ॥
संचिन्तयामि कौन्तेयं रहो जिष्णुं जनार्दन ।
अतीव दुःखभागी स सततं पाण्डुनन्दनः ॥ ४ ॥
किं नु तस्य शरीरेऽस्ति सर्वलक्षणपूजिते ।
अनिष्टं लक्षणं कृष्ण येन दुःखान्युपाश्नुते ॥ ५ ॥
अतीवासुखभोगी स सततं कुन्तिनन्दनः ।
न हि पश्यामि बीभत्सोर्निन्द्यं गात्रेषु किंचन ।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद्वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥
इत्युक्तः स हृषीकेशो ध्यात्वा सुमहदुत्तरम् ।
राजानं भोजराजन्यवर्धनो विष्णुरब्रवीत् ॥ ७ ॥
न ह्यस्य नृपते किंचित्संश्लिष्टमुपलक्षये ।
ऋते पुरुषसिंहस्य पिण्डिकेऽस्याधिके यतः ॥ ८ ॥
स ताभ्यां पुरुषव्याघ्रो नित्यमध्वसु वर्तते ।
न चान्यदनुपश्यामि येनासौ दुःखभाजनम् ॥ ९ ॥
इत्युक्तः पुरुषश्रेष्ठस्तदा कृष्णेन धीमता ।

पृथापुत्र अर्जुन किस लिये सदा सुखरहित हुआ है, उसे मैं नहीं जानता; इससे मेरा चित्त बहुतही दुःखित होता है। हे जनार्दन! मैं निर्जनमें कुन्तीपुत्र धनञ्जयके विषयमें विचार करके देखता हूं, कि वह सदाही दुःख भोग किया करता है। हे कृष्ण! जिन लक्षणोंसे दुःख भोगना होता है, धनंजयके सब लक्षणोंसे पूजित शरीरमें क्या वे अनिष्ट सूचक लक्षण हैं? सदा अत्यन्त सुखभोगी कुन्तीपुत्र बीभत्सुके शरीरमें मैं तो कुछ भी अनिष्ट चिन्ह नहीं देखता। हे कृष्ण! यदि मेरे सुनने योग्य हो, तो मेरे समीप तुम्हें यह विषय कहना उचित है। (१—६)

भोजराजन्यवर्धन हृषीकेश युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके उत्तम महत् उत्तर सोचके राजासे बोले, हे राजन्! पुरुषसिंह धनञ्जयकी पिण्डिका अर्थात् दोनों जानुके नीचे पश्चाद्भागीय मांसल स्थलके अतिरिक्त दूसरा कोई अविविक्त लक्षण नहीं मालूम होता। दोनों पिण्डिकाके अधिक रहनेसे ही पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जय सदा मार्गमें भ्रमण किया करते हैं; इसके अतिरिक्त जिससे वह दुःखभागी हों, वैसा मैं कोई लक्षण नहीं देखता। तब पुरुषप्रवीर युधिष्ठिर बुद्धिमान् कृष्णका ऐसा वचन सुनके

प्रोवाच वृष्णिशार्दूलमेवमेतदिति प्रभो ॥ १० ॥
कृष्णा तु द्रौपदी कृष्णं तिर्यक् सासूयमैक्षत।
प्रतिजग्राह तस्यास्तं प्रणयं चापि केशिहा ॥ ११ ॥
सख्युः सखा हृषीकेशः साक्षादिव धनंजयः।
तत्र भीमादयस्ते तु कुरवो याजकाश्च ये ॥ १२ ॥
रेमुः श्रुत्वा विचित्रां तां धनंजयकथां शुभाम्।
तेषां कथयतामेव पुरुषोऽर्जुनसंकथाः ॥ १३ ॥
उपायाद्वचनाद्दूतो विजयस्य महात्मनः।
सोऽभिगम्य कुरुश्रेष्ठं नमस्कृत्य च बुद्धिमान् ॥ १४ ॥
उपायातं नरव्याघ्रं फाल्गुनं प्रत्यवेदयत्।
तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तस्य हर्षबाष्पाकुलेक्षणः ॥ १५ ॥
प्रियाख्याननिमित्तं वै ददौ बहु धनं तदा।
ततो द्वितीये दिवसे महान् शब्दो व्यवर्धत ॥ १६ ॥
आगच्छति नरव्याघ्रे कौरवाणां धुरंधरे।
ततो रेणुः समुद्भूतो विबभौ तस्य वाजिनः ॥ १७ ॥
अभितो वर्तमानस्य यथोच्चैःश्रवसस्तथा।

बोले, हे प्रभु! तुमने जो कहा वही सत्य है। (७—१०)

अनन्तर कृष्णा द्रौपदीने असूया-पूर्वक कृष्णका दर्शन किया, सखी द्रौपदीके सखा केशिहा हृषीकेशने साक्षात् धनञ्जयकी भांति उसके उस प्रणयको प्रतिग्रह किया। वहांपर जो सब भीम प्रभृति कौरव तथा याजक-वृन्द विद्यमान थे, वे लोग अर्जुनकी उस विचित्र शुभ कथाको सुनके आनन्दके सहित क्रीडा करने लगे। वे लोग आपसमें अर्जुनकी कथा कह रहे थे, उसी समय महात्मा विजयकी आज्ञासे एक दूत वहांपर उपस्थित हुआ; उस बुद्धिमान् दूतने निकटमें जाकर कुरुपति युधिष्ठिरको प्रणाम करके पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनके आनेकी वार्ता सुनाई। राजाने दूतके उस वचनको सुनके हर्षसे बाष्पाकुलनयन होकर प्रियाख्यानके निमित्त बहुतसा धन दान किया। (११—१६)

अनन्तर दूसरे दिन कुरुकुलधुरन्धर पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जयके आनेके समय महान् शब्द प्रकट होने लगा। अनन्तर उच्चैःश्रवाकी भांति चारों ओर वर्तमान घोडोंके पांवकी धूली उडी। वहां अर्जुन

तत्र हर्षकरीर्वाचो नराणां शुश्रुवेऽर्जुनः ॥ १८ ॥
दिष्ट्याऽसि पार्थ कुशली धन्यो राजा युधिष्ठिरः।
कोऽन्यो हि पृथिवीं कृत्स्नां जित्वा हि युधि पार्थिवान् ॥१९॥
चारयित्वा हयश्रेष्ठमुपागच्छेद्दतेऽर्जुनात्।
ये व्यतीता महात्मानो राजानः सगरादयः ॥ २० ॥
तेषामपीदृशं कर्म न कदाचन शुश्रुम।
नैतदन्ये करिष्यन्ति भविष्या वसुधाधिपाः ॥ २१ ॥
यत्त्वं कुरुकुलश्रेष्ठ दुष्करं कृतवानसि।
इत्येवं वदतां तेषां पुंसां कर्णसुखा गिरः ॥ २२ ॥
शृण्वन्विवेश धर्मात्मा फाल्गुनो यज्ञसंस्तरम्।
ततो राजा सहामात्यः कृष्णश्च यदुनन्दनः ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य तं प्रत्युद्ययतुस्तदा।
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ धर्मराजस्य धीमतः ॥ २४ ॥
भीमादींश्चापि संपूज्य पर्यष्वजत केशवम्।
तैः समेत्यार्चितस्तांश्च प्रत्यर्च्याथ यथाविधि ॥ २५ ॥
विशश्राम महाबाहुस्तीरं लब्ध्वेव पारगः।
एतस्मिन्नेव काले तु स राजा बभ्रुवाहनः ॥ २६ ॥

मनुष्योंका ऐसा हर्षयुक्त वचन सुनने लगे, कि हे पार्थ! तुम भाग्यसे ही कुशलपूर्वक लौटे हो; तुम्हें और युधिष्ठिरको धन्य है। अर्जुनके अतिरिक्त ऐसा कोई नहीं है, जो युद्धमें राजाओंको जीतकर समुद्रके सहित पृथ्वीभरमें घोडेके सङ्ग घूमके फिर लौट आवे। सगर प्रभृति जो सब राजा हो गये, उनका भी हम लोगोंने ऐसा अत्यन्त कठिन कर्म नहीं सुना था। हे कुरुकुलश्रेष्ठ! तुमने जो दुष्कर कर्म किया है, हम लोगोंको बोध होता है, वैसा कर्म भविष्यमें राजा लोग न कर सकेंगे। धर्मात्मा फाल्गुनने उन लोगोंका ऐसा कर्णसुखकर वचन सुनके यज्ञसंस्तरमें प्रवेश किया, तब मन्त्रियोंके सहित राजा युधिष्ठिर और यदुनन्दन कृष्ण धृतराष्ट्रको आगे करके उनके समीप गये। (१९—२४)

धनञ्जयने पिता धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् धर्मराजके दोनों चरण छूके भीम प्रभृतिकी पूजाकर केशवको आलिङ्गन किया। महाबाहु अर्जुन उन लोगोंके द्वारा पूजित होके उनकी पुनर्वार पूजा-

मातृभ्यां सहितो धीमान्कुरूनेव जगाम ह ।
तत्र वृद्धान्यथावत्स कुरूनन्यांश्च पार्थिवान् ॥ २७ ॥
अभिवाद्य महाबाहुस्तैश्चापि प्रतिनन्दितः ।
प्रविवेश पितामह्याः कुन्त्या भवनमुत्तमम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अर्जुनप्रत्यागमे अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

वैशम्पायन उवाच– स प्रविश्य महाबाहुः पाण्डवानां निवेशनम् ।
पितामहीमभ्यवन्दत्साम्ना परमवल्गुना ॥ १ ॥
ततश्चित्राङ्गदा देवी कौरव्यस्यात्मजाऽपि च ।
पृथां कृष्णां च सहिते विनयेनोपजग्मतुः ॥ २ ॥
सुभद्रां च यथान्यायं याश्चान्याः कुरुयोषितः ।
ददौ कुन्ती ततस्ताभ्यां रत्नानि विविधानि च ॥ ३ ॥
द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चाप्यन्या यदुस्त्रियः ।
ऊषतुस्तत्र ते देव्यौ महार्हशयनासने ॥ ४ ॥
सुपूजिते स्वयं कुन्त्या पार्थस्य हितकाम्यया ।
स च राजा महातेजाः पूजितो बभ्रुवाहनः ॥ ५ ॥

कर तट प्राप्त करनेवाले पारगामी पुरुषकी भांति विश्राम करने लगे। (२४–२६)

इस ही समय श्रीमान् राजा बभ्रुवाहन दोनों माताओंके सहित कुरुगणके निकट उपस्थित हुआ। वहांपर उसने बूढों तथा अन्यान्य राजाओंको प्रणाम कर उनसे प्रतिनान्दित होके पितामही कुन्तीके गृहमें प्रवेश किया। (२६–२८)

आश्वमेधिकपर्वमें ८७ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ८८ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाबाहु बभ्रुवाहनने पाण्डवोंके उत्तम शोभायमान गृहमें प्रवेश करके शान्तभावसे पितामहीको प्रणाम किया। अनन्तर चित्राङ्गदा देवी तथा कौरव्यनागपुत्री उलूपी दोनोंने एकत्रित होकर विनयपूर्वक पृथा और कृष्णा द्रौपदीको प्रणाम करती हुई सुभद्रा प्रभृति अन्यान्य कुरुस्त्रियोंको न्यायके अनुसार प्रणाम किया। (१—२)

अनन्तर कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा तथा अन्यान्य कुरुस्त्रियोंने उन्हें विविध रत्न दान किया; वे महामूल्यवान् शय्या तथा आसनपर बैठीं। पार्थकी हितकामनासे कुन्तीने स्वयं उनका उत्तम रीतिसे आदर किया। (३—५)

धृतराष्ट्रं महीपालमुपतस्थे यथाविधि ।
युधिष्ठिरं च राजानं भीमादींश्चापि पाण्डवान् ॥ ६ ॥
उपागम्य महातेजा विनयेनाभ्यवादयत् ।
स तैः प्रेम्णा परिष्वक्तः पूजितश्च यथाविधि ॥ ७ ॥
धनं चास्मै ददुर्भूरि प्रीयमाणा महारथाः ।
तथैव च महीपालः कृष्णं चक्रगदाधरम् ॥ ८ ॥
प्रद्युम्न इव गोविन्दं विनयेनोपतस्थिवान् ।
तस्मै कृष्णो ददौ राज्ञे महार्हमतिपूजितम् ॥ ९ ॥
रथं हेमपरिष्कारं दिव्याश्वयुजमुत्तमम् ।
धर्मराजश्च भीमश्च फाल्गुनश्च यमौ तथा ॥ १० ॥
पृथक् पृथक् च ते चैनं मानार्थाभ्यामयोजयन् ।
ततस्तृतीये दिवसे सत्यवत्यात्मजो मुनिः ॥ ११ ॥
युधिष्ठिरं समभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ।
अद्यप्रभृति कौन्तेय यजस्व समयो हि ते ॥
मुहूर्तो याज्ञियः प्राप्तश्चोदयन्तीह याजकाः ॥ १२ ॥
अहीनो नाम राजेन्द्र क्रतुस्तेऽयं च कल्पताम् ।
बहुत्वात्काञ्चनाख्यस्य ख्यातो बहुसुवर्णकः ॥ १३ ॥

इधर महातेजस्वी राजा बभ्रुवाहनने कुरुवृद्धजनोंसे सम्मानित होकर पृथ्वीपति धृतराष्ट्रकी विधिपूर्वक पूजा की; फिर राजा युधिष्ठिर और भीमादि पाण्डवोंके निकट जाके उन्हें विनयपूर्वक प्रणाम किया। वह पाण्डवोंसे प्रेमके सहित आलिङ्गित तथा सम्मानित हुआ और महारथ पाण्डवोंने परम प्रसन्न होके उसे धन दान किया। अनन्तर पृथ्वीपति बभ्रुवाहनने प्रद्युम्नकी भाँति चक्र तथा गदाधारी कृष्णकी विनयपूर्वक पूजा की। कृष्णने उस राजा बभ्रुवाहनको दिव्य घोडोंसे युक्त सुवर्णभूषित शोभायमान रथ प्रदान किया। धर्मराज भीमसेन, नकुल और सहदेव इन्होंने भी पृथक् रीतिसे उसे सम्मानित करते हुए बहुतसा धन दिया। (५-११)

तिसके अनन्तर तीसरे दिन महामुनि वाग्मी सत्यवतीपुत्र व्यास युधिष्ठिरके पास आके उनसे बोले, हे कौन्तेय! आजसे तुम यज्ञ करो, तुम्हारे यज्ञ करनेका मुहूर्त उपस्थित होनेसे यज्ञ करानेवाले पुरुष तुम्हें यज्ञ करनेके लिये आज्ञा कर रहे हैं। हे राजेन्द्र! बहुतसा

एवमत्र महाराज दक्षिणां त्रिगुणां कुरु।
त्रित्वं व्रजतु ते राजन्ब्राह्मणा ह्यत्र कारणम् ॥ १४ ॥
त्रीनश्वमेधानत्र त्वं संप्राप्य बहुदक्षिणान्।
ज्ञातिवध्याकृतं पापं प्रहास्यसि नराधिप ॥ १५ ॥
पवित्रं परमं चैतत्पावनं चैतदुत्तमम्।
यदश्वमेधावभृतं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ १६ ॥
इत्युक्तः स तु तेजस्वी व्यासेनामितबुद्धिना।
दीक्षां विवेश धर्मात्मा वाजिमेधाप्तये ततः ॥ १७ ॥
ततो यज्ञं महाबाहुर्वाजिमेधं महाक्रतुम्।
बह्वन्नदक्षिणं राजा सर्वकामगुणान्वितम् ॥ १८ ॥
तत्र वेदविदो राजंश्चक्रुः कर्माणि याजकाः।
परिक्रमन्तः सर्वज्ञा विधिवत्साधुशिक्षितम् ॥ १९ ॥
न तेषां स्खलितं किंचिदासीच्चाप्यकृतं तथा।
क्रमयुक्तं च युक्तं च चक्रुस्तत्र द्विजर्षभाः ॥ २० ॥
कृत्वा प्रवर्ग्यं धर्माख्यं यथावद् द्विजसत्तमाः।
चक्रुस्ते विधिवद्राजंस्तथैवाभिषवं द्विजाः ॥ २१ ॥

सुवर्ण सञ्चित होनेसे तुम्हारा यह यज्ञ बहु सुवर्णान्वित कहके विख्यात हुआ है; इसलिये यह यज्ञ पूरी रीतिसे सिद्ध होगा। हे महाराज! इस यज्ञमें तिगुनी दक्षिणा और यज्ञवाले तिगुने ब्राह्मणोंको नियुक्त करो; हे नरनाथ! ऐसा करनेसे तुम इस एकही यज्ञसे तीन अश्वमेध यज्ञका फल पाके स्वजन-वध-जनित पापसे मुक्त होगे। हे कुरुनन्दन! तुम जो अश्वमेधका अवभृत लाभ करोगे, वह परम पवित्र है। (११-१६)

अनन्तर तेजस्वी धर्मात्मा धर्मराज अमित बुद्धिमान् व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके अश्वमेधकी सिद्धिके निमित्त दीक्षा लेनेके लिये गये। फिर महाबाहु राजा युधिष्ठिरने अश्वमेध महायज्ञको अनेक दक्षिणा, सर्वकाम तथा सर्वगुणोंसे युक्त किया। हे राजन्! उस यज्ञमें सर्वज्ञ वेद जाननेवाले याजकवृन्द परिक्रमा करते हुए उत्तम शिक्षा तथा विधिके अनुसार सब कार्य करने लगे; उन लोगोंके कार्य किसी अंशमें स्खलित तथा अधुरे नहीं हुए; वरन वे लोग रीति तथा योग्यताके अनुसार सर्व कार्य करने लगे। (१७-२०)

हे राजन्! द्विजगणने प्रवर्ग्य अर्थात्

अभिषूय ततो राजन्सोमं सोमपसत्तमाः ।
सवनान्यानुपूर्व्येण चक्रुः शास्त्रानुसारिणः ॥ २२ ॥
न तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो बभूव ह ।
क्षुधितो दुःखितो वाऽपि प्राकृतो वाऽपि मानवः ॥२३॥
भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास शत्रुहा ।
भीमसेनो महातेजाः सततं राजशासनात् ॥ २४ ॥
संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकार्याणि याजकाः ।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रानुदर्शनात् ॥ २५ ॥
नाषडङ्गविदत्रासीत्सदस्यस्तस्य धीमतः ।
नाव्रतो नानुपाध्यायो न च वादाविचक्षणः ॥ २६ ॥
ततो यूपोच्छ्रये प्राप्ते षड् बैल्वान्भरतर्षभ ।
खादिरान् बिल्वसमितांस्तावतः सर्ववर्णिनः ॥ २७ ॥
देवदारुमयौ द्वौ तु यूपौ कुरुपतेर्मखे ।
श्लेष्मातकमयं चैकं याजकाः समकल्पयन् ॥ २८ ॥
शोभार्थं चापरान्यूपान्काञ्चनान्भरतर्षभ ।
स भीमः कारयामास धर्मराजस्य शासनात् ॥ २९ ॥
ते व्यराजन्त राजर्षेर्वासोभिरुपशोभिताः ।

अश्वमेधविहित धर्माख्य समस्त ऋक् एकत्रित करके विधिपूर्वक सोमवल्ली कूटी। सोम पीनेवाले ब्राह्मण लोग शास्त्रके अनुसार उस सोमलतासे रस बाहिर करते हुए आनुपूर्विक प्रातःसेवन करने लगे; उस यज्ञमें जितने मनुष्य विद्यमान थे, उनके बीच कोई कृपण, दरिद्र, भूखा, दुःखी वा प्राकृत नहीं था। शत्रुनाशन महातेजस्वी भीमसेन राजाकी आज्ञानुसार सदा भोजनार्थी पुरुषोंको भोज्य वस्तु प्रदान करने लगे। संस्तर अर्थात् इष्टका सञ्चलनाख्य स्थण्डिल-रचनामें निपुण याजकगण प्रतिदिन शास्त्रदृष्टिके अनुसार सब कार्य करने लगे; बुद्धिमान् धर्मराजके यज्ञमें षडङ्गानभिज्ञ और व्रतविहीन तथा वादाविचक्षण उपाध्याय न थे। (२१-२६)

हे भरतर्षभ! अनन्तर यूपके उच्छ्रय उपस्थित होनेपर याजकोंने कुरुराजके यज्ञमें छः बेल, छः खदिर, छः पलाश, दो देवदारू और एक श्लेष्मातक काष्ठसे यूप तैयार किये। फिर भीमसेनने धर्मराजकी आज्ञानुसार शोभाके लिये सुवर्णके द्वारा बहुतसे यूप निर्माण

महेन्द्रानुगता देवा यथा सप्तर्षिभिर्दिवि ॥ ३० ॥
इष्टकाः काञ्चनीश्चात्र चयनार्थं कृताऽभवन् ।
शुशुभे चयनं तच्च दक्षस्येव प्रजापतेः ॥ ३१ ॥
चतुश्चित्यश्च तस्यासीदष्टादशकरात्मकः ।
सरुक्मपक्षो निचितस्त्रिकोणो गरुडाकृतिः ॥ ३२ ॥
ततो नियुक्ताः पशवो यथाशास्त्रं मनीषिभिः ।
तं तं देवं समुद्दिश्य पक्षिणः पशवश्च ये ॥ ३३ ॥
ऋषभाः शास्त्रपठितास्तथा जलचराश्च ये ।
सर्वांस्तानभ्ययुञ्जंस्ते तत्राग्निचयकर्मणि ॥ ३४ ॥
यूपेषु नियता चासीत्पशूनां त्रिशती तथा ।
अश्वरत्नोत्तरा यज्ञे कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥
स यज्ञः शुशुभे तस्य साक्षाद्देवर्षिसंकुलः ।
गन्धर्वगणसंगीतः प्रनृत्तोऽप्सरसां गणैः ॥ ३६ ॥
स किंपुरुषसंकीर्णः किन्नरैश्चोपशोभितः ।
सिद्धविप्रनिवासैश्च समन्तादभिसंवृतः ॥ ३७ ॥
तस्मिन्सदसि नित्यास्तु व्यासशिष्या द्विजर्षभाः ।

कराये । हे राजर्षि ! सुरलोकमें सप्तर्षियोंसे घिरे हुए महेन्द्रके अनुगत देवताओंकी भांति वे सुवर्णमय यूप विचित्र वस्त्रोंसे चित्रित होकर अत्यन्त शोभित हुए । उस यज्ञमें अग्नि रखनेके लिये सुवर्णमय इष्टिका बनी थीं, इससे दक्ष-प्रजापतिके अग्निचयनकी भांति वह अग्निचयन सुशोभित हुआ । चार स्थण्डिलोंसे युक्त उस यज्ञकी वेदी अठारह हाथ परिमित रुक्मपक्षयुक्त त्रिकोण तथा गरुडाकारसे बनाई गई । (२७–३२)

अनन्तर मनीषियोंके द्वारा शास्त्रके अनुसार देवताओंके उद्देश्यसे जो सब पशु, पक्षी, ऋषभ तथा जलचर नियुक्त हुए थे, ऋत्विकोंने उस अग्निचयन कर्ममें उन पशुओंका अभियोग किया । महात्मा कुन्तीपुत्रके यज्ञमें अश्व प्रभृति तीन सौ पशु यूपमें निबद्ध हुए; युधिष्ठिरका यज्ञस्थान देवताओं तथा ऋषियोंके समागम, गन्धर्वोंके सङ्गीत और अप्सराओंका नृत्य होनेसे अत्यन्त शोभित होने लगा । किंपुरुषोंसे समाकीर्ण, किन्नरोंसे उपशोभित, सिद्ध और ब्राह्मणोंसे परिवेष्टित हुआ । (३३–३७)

उस सभामण्डपके बीच सर्वशास्त्र-प्रणेता यज्ञसंस्कारमें निपुण द्विजश्रेष्ठ

सर्वशास्त्रप्रणेतारः कुशला यज्ञसंस्तरे ॥ ३८ ॥
नारदश्च बभूवात्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः ।
विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथाऽन्ये गीतकोविदाः ॥ ३९ ॥
गन्धर्वा गीतकुशला नृत्येषु च विशारदाः ।
रमयन्ति स्म तान्विप्रान् यज्ञकर्मान्तरेषु वै ॥ ४० ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि
अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

वैशम्पायन उवाच– श्रपयित्वा पशूनन्यान्विधिवद् द्विजसत्तमाः ।
तं तुरगं यथाशास्त्रमालभन्त द्विजातयः ॥ १ ॥
ततः संश्रप्य तुरगं विधिवद्याजकास्तदा ।
उपसंवेशयन् राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम् ॥ २ ॥
कलाभिस्तिसृभी राजन् यथाविधि मनस्विनीम् ।
उद्धृत्य तु वपां तस्य यथाशास्त्रं द्विजातयः ॥ ३ ॥
श्रपयामासुरव्यग्रा विधिवद्भरतर्षभ ।
तं वपाधूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः ॥ ४ ॥
उपाजिघ्रद्यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा ।
शिष्टान्यङ्गानि यान्यासंस्तस्याश्वस्य नराधिप ॥ ५ ॥
तान्यग्नौ जुहुवुर्धीराः समस्ताः षोडशर्त्विजः ।

व्यासशिष्योंके बैठनेपर महातेजस्वी गीतकोविद नारद, तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्रसेन तथा नृत्यगीत जाननेवाले गन्धर्वगण उन ब्राह्मणोंको आनन्दित करने लगे। (३८–४०)

आश्वमेधिकपर्वमें ८८ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ८९ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, याजक द्विजातियोंने अन्यान्य रमणीय पशुओं-का विधानपूर्वक श्रपण अर्थात् संस्कार करके शास्त्रके अनुसार उस घोडेका वध किया। अनन्तर याजकगणने यथारीति घोडेको मारके मन्त्र, द्रव्य और श्रद्धायुक्त विधिपूर्वक मनस्विनी द्रुपदपुत्रीको बैठाया। हे भरतश्रेष्ठ! तिसके अनन्तर द्विजातियोंने शास्त्रके अनुसार उस घोडेके वक्षस्थलसे वपा उठाकर सावधानचित्तसे उसे अग्निमें संस्कार किया। उस समय धर्मराजने भाइयोंके सहित सर्वपापनाशक उस वपाके धूमयुक्त गन्धको शास्त्रके अनु-सार सूंघा; हे नरनाथ! वे धीरवर

संस्थाप्यैवं तस्य राजंस्तं यज्ञं शक्रतेजसः ॥ ६ ॥
व्यासः सशिष्यो भगवान्वर्धयामास तं नृपम् ।
ततो युधिष्ठिरः प्रादाद्ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ७ ॥
कोटीः सहस्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुन्धराम् ।
प्रतिगृह्य धरां राजन् व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ ८ ॥
अब्रवीद्भरतश्रेष्ठं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
वसुधा भवतस्त्वेषा संन्यस्ता राजसत्तम ॥ ९ ॥
निष्क्रयो दीयतां मह्यं ब्राह्मणा हि धनार्थिनः ।
युधिष्ठिरस्तु तान्विप्रान्प्रत्युवाच महामनाः ॥ १० ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान मध्ये राज्ञां महात्मनाम् ।
अश्वमेधे महायज्ञे पृथिवी दक्षिणा स्मृता ॥ ११ ॥
अर्जुनेन जिता चेयमृत्विग्भ्यः प्रापिता मया ।
वनं प्रवेक्ष्ये विप्राग्र्या विभजध्वं महीमिमाम् ॥१२॥
चतुर्धा पृथिवीं कृत्वा चातुर्होत्रप्रमाणतः ।
नाहमादातुमिच्छामि ब्रह्मस्वं द्विजसत्तमाः ॥ १३ ॥
इदं नित्यं मनो विप्रा भ्रातृणां चैव मे सदा ।

सोलह ऋत्विक् उस घोडेके अवशिष्ट अङ्गोंको अग्निमें होम करने लगे; भगवान् व्यासदेव शिष्योंके सहित इन्द्रसदृश तेजस्वी धर्मराजके उस यज्ञको इसही भांति पूरा करके वचनसे राजा युधिष्ठिरको वर्धित करने लगे। अनन्तर राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक एक एक सहस्र निष्क (स्वर्णमुद्रा) दान करके वेदव्यास मुनिको वसुन्धरा प्रदान की । हे महाराज ! सत्यवतीपुत्र व्यासदेव पृथ्वी प्रतिग्रह करके भरतश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरसे बोले, हे राजसत्तम ! यह पृथ्वी तुम्हें ही अर्पित हुई, ब्राह्मण लोग धन पानेसेही परम सन्तुष्ट होते हैं, इसलिये मुझे तथा उन लोगोंको इसका मूल्य दो । (१—१०)

महामना युधिष्ठिर भाइयोंके सामने उन ब्राह्मणोंसे बोले, कि अश्वमेध यज्ञमें पृथ्वीदक्षिणा ही विहित है; इस ही लिये मैंने अर्जुनके द्वारा अर्जित यह वसुन्धरा ऋत्विजोंको प्रदान की है। हे विप्रगण ! आप लोग इस पृथ्वीको विभाग करके ग्रहण करिये, मैं वनको जाऊंगा। चातुर्होत्रके प्रमाणके अनुसार, इस पृथ्वीको मेरे चार भागोंमें विभक्त करनेसे यह ब्रह्मस्व हुई, मैं फिर इसे लेनेकी इच्छा

इत्युक्तवति तस्मिंस्तु भ्रातरो द्रौपदी च सा ॥ १४ ॥
एवमेतदिति प्राहुस्तदभूल्लोमहर्षणम् ।
ततोऽन्तरिक्षे वागासीत्साधु साध्विति भारत ॥ १५ ॥
तथैव द्विजसंघानां शंसतां विबभौ स्वनः ।
द्वैपायनस्तथा कृष्णः पुनरेव युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥
प्रोवाच मध्ये विप्राणामिदं संपूजयन्मुनिः ।
दत्तैषा भवता मह्यं तां ते प्रतिददाम्यहम् ॥ १७ ॥
हिरण्यं दीयतामेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धराऽस्तु ते ।
ततोऽब्रवीद्वासुदेवो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ १८ ॥
यथाऽऽह भगवान्व्यासस्तथा त्वं कर्तुमर्हसि ।
इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठः प्रीतात्मा भ्रातृभिः सह ॥ १९ ॥
कोटिकोटिकृतां प्रादाद्दक्षिणां त्रिगुणां क्रतोः ।
न करिष्यति तल्लोके कश्चिदन्यो नराधिपः ॥ २० ॥

नहीं करता। हे विप्रगण! मैंने जो कहा मेरे भाइयोंका भी ऐसा ही अभिप्राय है। (१०–१४)

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर उनके भाइयों और द्रौपदीने कहा, कि महाराजने जो कह दिया, हमारा भी वही अभिप्राय है। उस समय उन लोगोंका ऐसा वचन सुनकर सबके शरीरके रोएं खडे हो गये। (१४–१५)

हे भारत! तिसके अनन्तर आकाशसे साधुवाद और सभाके बीच द्विजगणका प्रशंसावाद प्रकट हुआ। मुनिश्रेष्ठ वेदव्यास और कृष्ण ब्राह्मणोंके बीच युधिष्ठिरकी पूरी रीतिसे पूजा करते हुए फिर बोले, कि तुमने मुझे पृथ्वी दान किया था, मैंने इसे तुम्हें फिर दे दी; तुम ब्राह्मणोंको पृथ्वीके बदलेमें सुवर्ण दान करो; यह वसुन्धरा तुम्हारी ही रहे। (१५—१८)

अनन्तर कृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा, कि भगवान् वेदव्यासने जैसा कहा, आपको वैसा ही करना उचित है। (१८–१९)

कुरुराज युधिष्ठिरने व्यासदेव और श्रीकृष्णचन्द्रका ऐसा वचन सुनके प्रसन्नचित्तसे भाइयोंके सहित यज्ञके त्रिगुण कोटि कोटि सुवर्णदक्षिणा ब्राह्मणोंको दान की। हे भरतसत्तम! मरुत्त यज्ञके अनुकारी कुरुराजने जो किया, इस लोकमें उनके अतिरिक्त कोई राजा भी वैसा कार्य करनेमें समर्थ न होगा। (१९—२०)

यत्कृतं कुरुराजेन मरुत्तस्यानुकुर्वता ।
प्रतिगृह्य तु तद्रत्नं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥ २१ ॥
ऋत्विग्भ्यः प्रददौ विद्वांश्चतुर्धा व्यभजंश्च ते ।
धरण्या निष्क्रयं दत्त्वा तद्धिरण्यं युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
धूतपापो जितस्वर्गो मुमुदे भ्रातृभिः सह ।
ऋत्विजस्तमपर्यन्तं सुवर्णनिचयं तथा ॥ २३ ॥
व्यभजन्त द्विजातिभ्यो यथोत्साहं यथासुखम् ।
यज्ञवाटे च यत्किंचिद्धिरण्यं सविभूषणम् ॥ २४ ॥
तोरणानि च यूपांश्च घटान्पात्रीस्तथेष्टकाः ।
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञाताः सर्वं तद्व्यभजन् द्विजाः ॥ २५ ॥
अनन्तरं द्विजातिभ्यः क्षत्रिया जहिरे वसु ।
तथा विट्शूद्रसंघाश्च तथाऽन्ये म्लेच्छजातयः ॥ २६ ॥
ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे मुदिता जग्मुरालयान् ।
तर्पिता वसुना तेन धर्मराजेन धीमता ॥ २७ ॥
स्वमंशं भगवान्व्यासः कुन्त्यै साक्षाद्धि मानतः ।
प्रददौ तस्य महतो हिरण्यस्य महाद्युतिः ॥ २८ ॥
श्वशुरात्प्रीतिदायं तं प्राप्य सा प्रीतमानसा ।

मुनिसत्तम विद्वान् व्यासदेवने युधिष्ठिरके दिये हुए रत्नोंको प्रतिग्रह करके ऋत्विजोंको प्रदान किया, उन लोगोंने चार भागकर लिया। युधिष्ठिर पृथ्वीके मूल्यस्वरूप उस सुवर्णको दान कर भाइयोंके सहित निष्पाप होकर स्वर्ग जय करते हुए अत्यन्त आनन्दित हुए। (२१–२३)

उस समय ऋत्विजोंने अपरिसीम आनन्द और उत्साहके सहित द्विजातियोंके समीप वह अनंत सुवर्ण आपसमें बांटके ले लिया। यज्ञवाटमें जो सब सुवर्णमय विभूषण, तोरण, यूप, घट, इष्टिका और पात्री विद्यमान थीं, ब्राह्मणोंने धर्मराजकी आज्ञानुसार उन द्रव्योंको भी विभाग करके ले लिया। अनन्तर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंने उन ब्राह्मणोंकी वसु हर लिया; फिर बुद्धिमान् धर्मराजने वसुके द्वारा ब्राह्मणोंको परितृप्त किया, तब वे लोग अधिक सन्तुष्ट होके अपने अपने गृहपर गये। (२३–२७)

इधर महातेजस्वी भगवान् व्यासदेवने महामूल्य हिरण्यके परिमाण

चकार पुण्यकं तेन सुमहत्संघशः पृथा ॥ २९ ॥
गत्वा त्ववभृतं राजा विपाप्मा भ्रातृभिः सह ।
स भाज्यमानः शुशुभे महेन्द्रस्त्रिदशैरिव ॥ ३० ॥
पाण्डवाश्च महीपालैः समेतैरभिसंवृताः ।
अशोभन्त महाराज ग्रहास्तारागणैरिव ॥ ३१ ॥
राजभ्योऽपि ततः प्रादाद्रत्नानि विविधानि च ।
गजानश्वानलङ्कारान् स्त्रियो वासांसि काञ्चनम् ॥३२॥
तद्धनौघमपर्यन्तं पार्थः पार्थिवमण्डले ।
विसृजन् शुशुभे राजन् यथा वैश्रवणस्तथा ॥ ३३ ॥
आनीय च तथा वीरं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
प्रदाय विपुलं वित्तं गृहान्प्रास्थापयत्तदा ॥ ३४ ॥
दुःशलायाश्च तं पौत्रं बालकं भरतर्षभ ।
स्वराज्येऽथ पितुर्धीमान्स्वसुः प्रीत्या न्यवेशयत् ॥३५॥
नृपतींश्चैव तान्सर्वान्सुविभक्तान्सुपूजितान् ।
प्रस्थापयामास वशी कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३६ ॥
गोविन्दं च महात्मानं बलदेवं महाबलम् ।

अनुसार अपना हिस्सा कुन्तीको दे दिया। पृथा श्वशुर व्यासदेवके पाससे प्रीतिपूर्वक दान पाके प्रसन्नचित्तसे उस वसुके सहारे उत्तम महत् पुण्यकर्म करने लगी। राजा युधिष्ठिर भाइयोंके सहित अवभृतस्नानमें जाकर पापरहित होके देवताओंसे परिषेवित महेन्द्रकी भांति शोभित हुए। हे महाराज! पाण्डवगण राजाओंसे घिरके तारासमूहसे घिरे हुए ग्रहोंकी भांति शोभित होने लगे। अनन्तर युधिष्ठिरने राजाओंको विविध रत्न, हाथी, घोडे, आभूषण, स्त्री, वस्त्र तथा सुवर्ण प्रदान किया। हे राजन्! उस राजमण्डलोंके बीच अपरिमित धन देनेके समय पार्थ कुबेरकी भांति शोभित हुए। (२८—३३)

उसही समय वीरश्रेष्ठ राजा बभ्रुवाहनको समीप बुलाके बहुतसा धन देके गृहमें भेजा और भगिनी दुःशलाके पौत्र उस बालकको प्रीतिपूर्वक उसके राज्यपर अधिष्ठित किया। अनन्तर कुरुराज युधिष्ठिरने भाइयोंके सहित सावधानचित्तसे उन समागत सुविभक्त भली भांतिसे पूजित राजाओंको उनके निज निज स्थानपर भेजकर महात्मा गोविन्द, महाबली बलदेव और प्रद्युम्न

तथाऽन्यान्वृष्णिवीरांश्च प्रद्युम्नाद्यान्सहस्रशः ॥ ३७ ॥
पूजयित्वा महाराज यथाविधि महाद्युतिः ।
भ्रातृभिः सहितो राजा प्रास्थापयदरिंदमः ॥ ३८ ॥
एवं बभूव यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
बह्वन्नधनरत्नौघः सुरामैरेयसागरः ॥ ३९ ॥
सर्पिःपङ्का ह्रदा यत्र बभूवुश्चान्नपर्वताः ।
रसालाकर्दमा नद्यो बभूवुर्भरतर्षभ ॥ ४० ॥
भक्ष्यखाण्डवरागाणां क्रियतां भुज्यतां तथा ।
पशूनां वध्यतां चैव नान्तं ददृशिरे जनाः ॥ ४१ ॥
मत्तप्रमत्तमुदितं सुगीतयुवतीजनम् ।
मृदङ्गशङ्खनादैश्च मनोरममभूत्तदा ॥ ४२ ॥
दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवा रात्रमवारितम् ।
तं महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ॥ ४३ ॥
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः ।
वर्षित्वा धनधाराभिः कामै रत्नै रसैस्तथा ।
विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत्पुरम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहा० श० सं० वै० आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधसमाप्तौ ऊननवतितमोऽध्यायः ॥८९॥

आदि वृष्णिवंशियोंको विधिपूर्वक सम्मानित करते हुए प्रस्थापित किया। हे भरतर्षभ! बुद्धिमान् धर्मराजके बहुतसे अन्न, धन, रत्न, मैरेय-सुराके सागर, घृतके पङ्किल तालाव, अन्नके पर्वत और रसकी कर्दमयुक्त वह महायज्ञ इस ही भांति पूर्ण हुआ। कहांतक कहे, उस यज्ञमें इतने खाण्डवराज खाद्य अर्थात् पिप्पली शुंठी और शर्करायुक्त मुद्गकी खाद्य सामग्री बनी थीं तथा भोजनकी वस्तु वा पशुवध हुए थे, कि कोई उसकी सीमा करनेमें समर्थ न हुआ। उस समय यज्ञस्थल मत्त, प्रमत्त, मुदित युवतियोंसे और मृदङ्ग तथा शङ्खके शब्दसे परिपूरित होनेसे अत्यन्त मनोरम हुआ; अनेक देशवासी पुरुषोंके सदा 'दीयतां भुज्यतां' इसही प्रकार कोलाहल करते रहने तथा हृष्टपुष्ट जनोंसे परिपूर्ण होनेसे वह महान् उत्सव हो गया। इधर भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरने धनधारा तथा अभिलषित रत्नरूपी रसको बरसाते हुए कृतार्थ होकर नगरमें प्रवेश किया। (३४-४४)

आश्वमेधिकपर्वमें ८९ अध्याय समाप्त।

जनमेजय उवाच- पितामहस्य मे यज्ञे धर्मराजस्य धीमतः।
यदाश्चर्यमभूत्किंचित्तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच- श्रूयतां राजशार्दूल महदाश्चर्यमुत्तमम्।
अश्वमेधे महायज्ञे निवृत्ते यदभूत्प्रभो ॥ २ ॥
तर्पितेषु द्विजाग्र्येषु ज्ञातिसंबन्धिबन्धुषु।
दीनान्धकृपणे वाऽपि तदा भरतसत्तम ॥ ३ ॥
घुष्यमाणे महादाने दिक्षु सर्वासु भारत।
पतत्सु पुष्पवर्षेषु धर्मराजस्य मूर्धनि ॥ ४ ॥
नीलाक्षस्तत्र नकुलो रुक्मपार्श्वस्तदानघ।
वज्राशनिसमं नादममुञ्चद्वसुधाधिप ॥ ५ ॥
सकृदुत्सृज्य तन्नादं त्रासयानो मृगद्विजान्।
मानुषं वचनं प्राह धृष्टो बिलशयो महान् ॥ ६ ॥
सक्तुप्रस्थेन वो नाऽयं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ ७ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा नकुलस्य विशांपते।
विस्मयं परमं जग्मुः सर्वे ते ब्राह्मणर्षभाः ॥ ८ ॥

आश्वमेधिकपर्वमें ९० अध्याय।

राजा जनमेजय बोले, मेरे पितामह बुद्धिमान् धर्मराजके यज्ञमें कौनसा अद्भुत कार्य हुआ था, उसे आप वर्णन करिये। (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजेन्द्र अश्वमेध महायज्ञके निवृत्त होनेपर जो उत्तम आश्चर्यव्यापार हुआ था, उसे आप सुनिये। हे प्रभु! द्विजवर ब्राह्मणों, स्वजनों, बन्धुसम्बन्धी, दीन, अन्ध और दयापात्र लोगोंके तृप्त, महादानके सर्वत्र प्रचारित और धर्मराजके सिरपर पुष्पवृष्टि होनेपर वहां रुक्मपार्श्व अत्यन्त प्रगल्भ बिलमें बसनेवाला बृहदाकार नीललोचनयुक्त एक नकुलने वज्रसदृश शब्द किया। वह नेवल एक बार वैसा शब्द कर मृग तथा पक्षियोंको भयभीत करता हुआ मनुष्य वाणीसे बोला, "हे नराधिपगण! आपने जो यज्ञ किया है, वह कुरुक्षेत्रनिवासी ज्ञानी उञ्छवृत्ति ब्राह्मणके सक्तूप्रस्थ प्रदानके सदृश नहीं हुआ। (२—७)

हे नरनाथ! ब्राह्मण लोग उस नेवलका ऐसा वचन सुनके सब कोई अत्यन्त विस्मित हुए। अनन्तर उन

ततः समेत्य नकुलं पर्यपृच्छन्त ते द्विजाः ।
कुतस्त्वं समनुप्राप्तो यज्ञं साधुसमागमम् ॥ ९ ॥
किं बलं परमं तुभ्यं किं श्रुतं किं परायणम् ।
कथं भवन्तं विद्याम यो नो यज्ञं विगर्हसे ॥ १० ॥
अविलुप्यागमं कृत्स्नं विविधैर्यज्ञियैः कृतम् ।
यथाऽऽगमं यथान्यायं कर्तव्यं च तथा कृतम् ॥ ११ ॥
पूजार्हाः पूजिताश्चात्र विधिवच्छास्त्रदर्शनात् ।
मन्त्राहुतिहुतश्चाग्निर्दत्तं देयममत्सरम् ॥ १२ ॥
तुष्टा द्विजातयश्चात्र दानैर्बहुविधैरपि ।
क्षत्रियाश्च सुयुद्धेन श्राद्धैश्चापि पितामहाः ॥ १३ ॥
पालनेन विशस्तुष्टाः कामैस्तुष्टा वरस्त्रियः ।
अनुक्रोशैस्तथा शूद्रा दानशेषैः पृथक् जनाः ॥ १४ ॥
ज्ञातिसंबन्धिनस्तुष्टाः शौचेन च नृपस्य नः ।
देवा हविर्भिः पुण्यैश्च रक्षणैः शरणागताः ॥ १५ ॥
यदत्र तथ्यं तद् ब्रूहि सत्यं सत्यं द्विजातिषु ।
यथा श्रुतं यथा दृष्टं पृष्टो ब्राह्मणकाम्यया ॥ १६ ॥
श्रद्धेयवाक्यः प्राज्ञस्त्वं दिव्यं रूपं बिभर्षि च ।

सबने मिलके उस नेवलसे पूछा, कि 'तुम कहांसे इस साधुसमागमयुक्त यज्ञमें आये ? तुम्हारा बल, बुद्धि और अवलम्ब कैसा है ? हम लोग किस प्रकारसे तुम्हें जान सकेंगे ? हमने आगमको उलङ्घन न करके शास्त्र तथा न्यायके अनुसार विविध यज्ञीय सामग्रीके द्वारा उत्तम रीतिसे इस यज्ञको सम्पन्न किया है । यह यज्ञ पूजनीय पुरुषोंके शास्त्रदृष्टिके अनुसार विधिपूर्वक पूजित, मन्त्र और आहुतिके द्वारा अग्निहुत तथा विना मत्सरके इसमें सब वस्तु दान की गई हैं, अनेक प्रकारके दानसे द्विजातिगण, उत्तम युद्धसे क्षत्रियगण, श्राद्धसे पितामहगण, पालन करनेसे वैश्य, कामसे वरस्त्री, अनुक्रोशके सहारे शूद्र और दानशेषके द्वारा पृथक् जनगण परितुष्ट हुए हैं । हमारे राजाकी पवित्रतासे स्वजन और सम्बन्धीगण, पुण्य हविसे देववृन्द और रक्षा करनेसे शरणागत लोग सन्तुष्ट हुए हैं । ब्राह्मण लोग इच्छापूर्वक तुमसे यह पूंछते हैं, कि इस यज्ञमें तुमने द्विजातियोंका जो यथार्थ कार्य देखा

समागतश्च विप्रैस्त्वं तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १७ ॥
इति पृष्टो द्विजैस्तैः स प्रहसन्नकुलोऽब्रवीत् ।
नैषा मृषा मया वाणी प्रोक्ता दर्पेण वा द्विजाः ॥ १८ ॥
यन्मयोक्तमिदं वाक्यं युष्माभिश्चाप्युपश्रुतम् ।
सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो द्विजर्षभाः ॥ १९ ॥
इत्यवश्यं मयैतद्वो वक्तव्यं द्विजसत्तमाः ।
शृणुताव्यग्रमनसः शंसतो मे यथातथम् ॥ २० ॥
अनुभूतं च दृष्टं च यन्मयाऽद्भुतमुत्तमम् ।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ २१ ॥
स्वर्गं येन द्विजाः प्राप्तः सभार्यः ससुतस्नुषः ।
यथा चार्धं शरीरस्य ममेदं काञ्चनीकृतम् ॥ २२ ॥
नकुल उवाच— हन्त वो वर्तयिष्यामि दानस्य फलमुत्तमम् ।
न्यायलब्धस्य सूक्ष्मस्य विप्रदत्तस्य यद् द्विजाः ॥ २३ ॥
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे धर्मज्ञैर्बहुभिर्वृते ।
उञ्छवृत्तिर्द्विजः कश्चित्कापोतिरभवत्तदा ॥ २४ ॥

वा सुना है, उसे सत्य कहो। तुम प्राज्ञ हो, दिव्यरूप धारण करके ब्राह्मणोंके सङ्ग तुम्हारा समागम हुआ है; इसलिये तुम जो कहोगे, उस विषयमें हम लोगोंकी श्रद्धा होगी'। (८–१७)

नकुल द्विजगणके ऐसा पूछनेपर हंसके बोला। हे द्विजगण! मैं कभी मिथ्या वा अभिमानयुक्त वचन नहीं कहता। हे द्विजसत्तमगण! मैंने जो कहा, कि "तुम्हारा यज्ञ सत्तूप्रस्थके तुल्य नहीं हुआ" उसे तुम लोगोंने भी सुना। परन्तु मैंने ज़िस प्रकार उस कुरुक्षेत्र-निवासी उञ्छवृत्ति ज्ञानी ब्राह्मणका अद्भुत अनुत्तम सत्तूप्रस्थ देखा तथा अनुभव किया है, जिसके सहारे वह ब्राह्मण पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके सहित स्वर्गमें गया है और जिससे मेरा आधा शरीर सुवर्णमय हुआ है, वह मुझे अवश्य कहना योग्य है, इसलिये तुम लोगोंके समीप विस्तारपूर्वक यथार्थ रीतिसे वह सब वृत्तान्त कहता हूं, तुम लोग एकाग्रचित्त होकर सुनो। (१८-२२)

नेवल बोला, हे विप्रगण! न्यायसे प्राप्त ब्राह्मणके दिये हुए उस सूक्ष्म सत्तूप्रस्थका जो उत्तम फल मैं तुम लोगोंसे कहता हूं, उसे तुम सब कोई सावधान होके सुनो। अनेक धार्मिकोंसे परिवृत उस धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें कोई

सभार्यः सह पुत्रेण सस्नुषस्तपसि स्थितः ।
बभूव शुक्लवृत्तः स धर्मात्मा नियतेन्द्रियः ॥ २५ ॥
षष्ठे काले सदा विप्रो भुङ्क्ते तैः सह सुव्रतः ।
षष्ठे काले कदाचित्तु तस्याहारो न विद्यते ॥ २६ ॥
भुङ्क्तेऽन्यस्मिन्कदाचित्स षष्ठे काले द्विजोत्तमः ।
कदाचिद्धर्मिणस्तस्य दुर्भिक्षे सति दारुणे ॥ २७ ॥
नाविद्यत तदा विप्राः संचयस्तन्निबोधत ।
क्षीणौषधिसमावेशो द्रव्यहीनोऽभवत्तदा ॥ २८ ॥
काले कालेऽस्य संप्राप्ते नैव विद्येत भोजनम् ।
क्षुधापरिगताः सर्वे प्रातिष्ठन्त तदा तु ते ॥ २९ ॥
उञ्छं तदा शुक्लपक्षे मध्यं तपति भास्करे ।
उष्णार्तश्च क्षुधार्तश्च विप्रस्तपसि संस्थितः ॥ ३० ॥
उञ्छमप्राप्तवानेव ब्राह्मणः क्षुच्छ्रमान्वितः ।
स तथैव क्षुधाविष्टः सार्धं परिजनेन ह ॥ ३१ ॥
क्षपयामास तं कालं कृच्छ्रप्राणो द्विजोत्तमः ।
अथ षष्ठे गते काले यवप्रस्थमुपार्जयन् ॥ ३२ ॥
यवप्रस्थं तु तं सक्तूनकुर्वन्त तपस्विनः ।

उञ्छवृत्ति ब्राह्मण कापोतिक वृत्ति अवलम्बन करके निवास करता था। वह धर्मात्मा जितेन्द्रिय सदाचारयुक्त द्विजवर भार्या, पुत्र और पुत्रवधूके सहित सदा तपस्या करता और दिनके छठें भागमें उनके सङ्ग भोजन करता था। किसी समय दारुण दुर्भिक्ष उपस्थित होनेपर दिनके छठें भागमें उसके भोजनकी वस्तु सञ्चित न होनेसे वह अन्य समयमें भोजन करने लगा। (२२–२८)

हे विप्रगण! उस समय शस्य संचय शेष न होनेसे उसके पास कुछ भी सञ्चय न रहा, इसलिये वह द्रव्यहीन हुआ। किसी समय उसके पास भोजनकी वस्तु न रहनेसे वह परिवारके सहित अत्यन्त क्षुधित हुआ। तब वह तपस्वी विप्र शुक्लपक्षमें प्रचण्ड सूर्यकी धूपसे युक्त मध्याह्न समयमें उञ्छवृत्तिके सहारे शस्यका दाना इकट्ठा करता हुआ तृष्णार्त तथा क्षुधार्त हुआ। वह उञ्छ अर्थात् शस्यका दाना न पानेसे परिजनोंके सहित भूखे ही रहा। उसने समयको अत्यन्त कष्टसे बिताकर तिसके अनन्तर यवप्रस्थ उपार्जन किया।

कृतजप्याह्निकास्ते तु हुत्वा चाग्निं यथाविधि ॥ ३३ ॥
कुडवं कुडवं सर्वे व्यभजन्त तपस्विनः ।
अथागच्छद् द्विजः कश्चिदतिथिर्भुञ्जतां तदा ॥ ३४ ॥
ते तं दृष्ट्वाऽतिथिं प्राप्तं प्रहृष्टमनसोऽभवन् ।
तेऽभिवाद्य सुखप्रश्नं पृष्ट्वा तमतिथिं तदा ॥ ३५ ॥
विशुद्धमनसो दान्ताः श्रद्धादमसमन्विताः ।
अनसूयवो विक्रोधाः साधवो वीतमत्सराः ॥ ३६ ॥
त्यक्तमानमदक्रोधा धर्मज्ञा द्विजसत्तमाः ।
सब्रह्मचर्यं गोत्रं ते तस्य ख्यात्वा परस्परम् ॥ ३७ ॥
कुटीं प्रवेशयामासुः क्षुधार्तमतिथिं तदा ।
इदमर्घ्यं च पाद्यं च बृसी चेयं तवाऽनघ ॥ ३८ ॥
शुचयः सक्तवश्चेमे नियमोपार्जिताः प्रभो ।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते मया दत्ता द्विजर्षभ ॥ ३९ ॥
इत्युक्तः प्रतिगृह्याथ सक्तूनां कुडवं द्विजः ।
भक्षयामास राजेन्द्र न च तुष्टिं जगाम सः ॥ ४० ॥

अनन्तर उस ब्राह्मणने यवप्रस्थसे सत्तू बनाकर जप, सन्ध्या तथा होम आदिक अनेक सत्कर्मोंको विधिपूर्वक पूरा किया। (२८—३३)

अनन्तर उन हरएक तपस्वियोंके कुडव परिमाणसे सत्तू विभाग करके लेनेपर कोई ब्राह्मण अतिथि होकर वहां आके बोला, कि 'मुझे भोजन कराओ'। (३४)

हे द्विजसत्तमगण! पवित्र चित्तवाले दान्त, श्रद्धा, दम और शम गुणसे युक्त, असूया, क्रोध, मत्सर, मान और अहङ्काररहित उन साधु तपस्वियोंने उस आये हुए अतिथिको देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट चित्तसे उसे प्रणाम करते हुए स्वागत तथा ब्रह्मचर्यके सहित गोत्रादि पूछा। वे लोग परस्परमें गोत्रादि मालूम करके उस क्षुधार्त अतिथिको कुटीके बीच ले जाके बोले, 'हे अनघ! तुम्हारे लिये मेरा दिया हुआ यह पाद्य, अर्घ्य, आसन और नियमसे उपार्जित पवित्र सत्तू तैयार है; हे प्रभु! आप कृपा करके यह सब प्रतिग्रह करिये'। (३५—३९)

हे राजेन्द्र! वह द्विजवर तपस्वी ब्राह्मणका ऐसा वचनसुनके कुडवपरिमित सत्तू प्रतिग्रहपूर्वक भोजन करके तुष्ट न हुआ। (४०)

स उञ्छवृत्तिस्तं प्रेक्ष्य क्षुधापरिगतं द्विजम् ।
आहारं चिन्तयामास कथं तुष्टो भवेदिति ॥ ४१ ॥
तस्य भार्याऽब्रवीद्वाक्यं मद्भागो दीयतामिति ।
गच्छत्वेष यथाकामं परितुष्टो द्विजोत्तमः ॥ ४२ ॥
इति ब्रुवन्तीं तां साध्वीं भार्यां स द्विजसत्तमः ।
क्षुधापरिगतां ज्ञात्वा तान्सक्तून्नाभ्यनन्दत ॥ ४३ ॥
आत्मानुमानतो विद्वान् स तु विप्रर्षभस्तदा ।
जानन् वृद्धां क्षुधार्तां च श्रान्तां ग्लानां तपस्विनीम् ॥४४॥
त्वगस्थिभूतां वेपन्तीं ततो भार्यामुवाच ह ।
अपि कीटपतङ्गानां मृगाणां चैव शोभने ॥ ४५ ॥
स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च न त्वेवं वक्तुमर्हसि ।
अनुकम्प्यो नरः पत्न्या पुष्टो रक्षित एव च ॥ ४६ ॥
प्रपतेद्यशसो दीप्तात्स च लोकान्न चाप्नुयात् ।
धर्मकामार्थकार्याणि शुश्रूषा कुलसन्ततिः ॥ ४७ ॥
दारेष्वधीनो धर्मश्च पितृणामात्मनस्तथा ।
न वेत्ति कर्मतो भार्यारक्षणे योऽक्षमः पुमान् ॥ ४८ ॥

वह उञ्छवृत्ति ब्राह्मण अतिथिको क्षुधार्त देखकर उसकी तुष्टिके निमित्त फिर भोजन खोजने लगा । जब ब्राह्मण अतिथिके भोजनके निमित्त सोचने लगा, तब उसकी भार्या उससे बोली, कि 'आप मेरा हिस्सा अतिथिको दीजिये, तो यह द्विजवर परितुष्ट होके अभिलषित स्थानमें जायगा'। उस द्विजसत्तमने साध्वी भार्याकी इतनी बात सुनके उसे भूखी जानकर उसका सत्तू लेना नहीं चाहा । (४०–४३)

उस समय उस विद्वान् विप्रवरने निज अनुमानके अनुसार उस बूढी तपस्विनी परिश्रान्ता, चर्म और अस्थि-भूता कांपती हुई भार्याको भूखी जानके उससे कहा । 'हे शोभने ! कीट, पतङ्ग और मृग जाति भी अपनी अपनी स्त्रियोंकी रक्षा तथा पोषण किया करते हैं; इसलिये तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं है । देखो, पुरुष पत्नीके द्वारा अनुकम्पनीय, पुष्ट तथा रक्षित हुआ करता है । धर्म, अर्थ, काम, सब सांसारिक कार्य, सेवा, कुल, सन्तति और अपने तथा पितरोंके धर्म, ये सब पत्नीके ही अधीन हैं । जो पुरुष कार्यमें अनभिज्ञ तथा भार्याकी रक्षा करनेमें असमर्थ है,

अयशो महदाप्नोति नरकांश्चैव गच्छति ।
इत्युक्ता सा ततः प्राह धर्मार्थौ नौ समौ द्विज ॥४९॥
सक्तुप्रस्थचतुर्भागं गृहाणेमं प्रसीद मे ।
सत्यं रतिश्च धर्मश्च स्वर्गश्च गुणनिर्जितः ॥ ५० ॥
स्त्रीणां पतिसमाधीनं कांक्षितं च द्विजर्षभ ।
ऋतुर्मातुः पितुर्बीजं दैवतं परमं पतिः ॥ ५१ ॥
भर्तुः प्रसादान्नारीणां रतिपुत्रफलं तथा ।
पालनाद्धि पतिस्त्वं मे भर्ताऽसि भरणाच्च मे ॥ ५२ ॥
पुत्रप्रदानाद्वरदस्तस्मात्सक्तून्प्रयच्छ मे ।
जरापरिगतो वृद्धः क्षुधार्तो दुर्बलो भृशम् ॥ ५३ ॥
उपवासपरिश्रान्तो यदा त्वमपि कर्शितः ।
इत्युक्तः स तया सक्तून्प्रगृह्येदं वचोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥
द्विज सक्तूनिमान्भूयः प्रतिगृह्णीष्व सत्तम ।
स तान्प्रगृह्य भुक्त्वा च न तुष्टिमगमद् द्विजः ।
तमुञ्छवृत्तिरालक्ष्य ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ ५५ ॥

उस मनुष्यको महत् अयश तथा नरक प्राप्त हुआ करता है और प्रदीप्त यशसे भ्रष्ट होनेसे उसे सब लोक नहीं प्राप्त होते'। (४४-४९)

वह तपस्विनी ब्राह्मणी पतिका ऐसा वचन सुनके उससे बोली, 'हे द्विज ! हम दोनोंका धर्म और अर्थ समान ही है, इसलिये आप मुझपर प्रसन्न होके यह चौथा भाग शक्तूप्रस्थ प्रतिग्रह करिये । हे द्विजसत्तम ! सत्य, रति, धर्म और स्वर्ग ये सब गुणके सहारे निर्जित होते हैं, स्त्रियोंको पति-साधन ही सदा अभिलषित है; माताका रज, पिताका वीर्य और पति परम देवता है । पतिके प्रसन्न रहनेसे स्त्रियोंको रति तथा पुत्ररूपी फल उत्पन्न होता है । आप पालन करनेसे पति और भरण करनेसे भर्ता है । पुत्र प्रदान करनेसे वरद हुए हैं; इसलिये आप मेरा शक्तु-दान करिये । आप जरायुक्त, क्षुधार्त, अत्यन्त दुर्बल, वृद्ध और उपवाससे परि-श्रान्त होकर अत्यन्त कृश हुए हैं ।' तपस्वी ब्राह्मण भार्याका ऐसा वचन सुनके उसका शक्तू प्रतिग्रह करके अति-थिसे बोला, 'हे द्विज ! आप फिर इस शक्तूको प्रतिग्रह करिये' । (४९-५५)

अतिथि ब्राह्मण फिर शक्तू लेकर उसे खाके तृप्त न हुआ । तब उञ्छ-

पुत्र उवाच— सक्तूनिमान्प्रगृह्य त्वं देहि विप्राय सत्तम ।
इत्येव सुकृतं मन्ये तस्मादेतत्करोम्यहम् ॥ ५६ ॥
भवान्हि परिपाल्यो मे सर्वदैव प्रयत्नतः ।
साधूनां कांक्षितं यस्मात्पितुर्वृद्धस्य पालनम् ॥ ५७ ॥
पुत्रार्थो विहितो ह्येष वार्धके परिपालनम् ।
श्रुतिरेषा हि विप्रर्षे त्रिषु लोकेषु शाश्वती ॥ ५८ ॥
प्राणधारणमात्रेण शक्यं कर्तुं तपस्त्वया ।
प्राणो हि परमो धर्मः स्थितो देहेषु देहिनाम् ॥ ५९ ॥
पितोवाच— अपि वर्षसहस्री त्वं बाल एव मतो मम ।
उत्पाद्य पुत्रं हि पिता कृतकृत्यो भवेत्सुतात् ॥ ६० ॥
बालानां क्षुद्बलवती जानाम्येतदहं प्रभो ।
वृद्धोऽहं धारयिष्यामि त्वं बली भव पुत्रक ॥ ६१ ॥
जीर्णेन वयसा पुत्र न मां क्षुद्बाधतेऽपि च ।
दीर्घकालं तपस्तप्तं न मे मरणतो भयम् ॥ ६२ ॥
पुत्र उवाच- अपत्यमस्मि ते पुंसस्त्राणात्पुत्र इति स्मृतः ।

वृत्ति उसे देखके बहुत ही सोचने लगा । (५५)

अनन्तर पुत्र बोला, हे सत्तम ! आप मेरे इस शक्तूको लेकर ब्राह्मणको दीजिये, यह मैंने सुकृत समझके दान किया । विशेष करके सर्वदा यत्नपूर्वक आपको प्रतिपालन करना ही मेरा अवश्य कर्तव्य कार्य है, क्यों कि वृद्ध पिताका प्रतिपालन करना ही साधुओंको अभिलषित है । हे विप्रर्षि ! तीनों लोकके बीच यह जनश्रुति सदा विद्यमान है, कि बूढे पिताको प्रतिपालन करना ही पुत्रका परम प्रयोजन है, आप केवल प्राण धारण करके तपस्या कर सकते हैं, देहधारियोंके शरीरमें प्राण ही परम धर्मरूपसे निवास किया करता है । (५६—५९)

पिता बोला, हे पुत्र ! तुम सहस्र वर्षके हो जाओ, तोभी मैं तुम्हें बालकही समझूंगा । पिता पुत्र उत्पन्न करके उस पुत्रसे कृतकृत्य हुआ करता है । हे पुत्र ! इसे मैं जानता हूं, कि बालकोंकी भूख अत्यन्त बलवती होती है, मैं बूढा हूं, इसलिये भूख सहूंगा । हे पुत्र ! तुम इस शक्तूको भोजन करके बलवान् बनो । हे पुत्र ! मेरी अवस्था जीर्ण होनेसे भूख मुझे बाधा न दे सकेगी, मैंने बहुत समयतक तपस्या की है, इसलिये मैं

आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात् त्राह्यात्मानमिहात्मना ॥ ६३ ॥

पितोवाच— रूपेण सदृशस्त्वं मे शीलेन च दमेन च ।
परीक्षितश्च बहुधा सक्तूनादद्मि ते सुत ॥ ६४ ॥
इत्युक्त्वाऽऽदाय तान्सक्तून्प्रीतात्मा द्विजसत्तमः ।
प्रहसन्निव विप्राय स तस्मै प्रददौ तदा ॥ ६५ ॥
भुक्त्वा तानपि सक्तून्स नैव तुष्टो बभूव ह ।
उञ्छवृत्तिस्तु धर्मात्मा व्रीडामनुजगाम ह ॥ ६६ ॥
तं वै वधूः स्थिता साध्वी ब्राह्मणप्रियकाम्यया ।
सक्तूनादाय संहृष्टा श्वशुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६७ ॥
संतानात्तव संतानं मम विप्र भविष्यति ।
सक्तूनिमानतिथये गृहीत्वा संप्रयच्छ मे ॥ ६८ ॥
तव प्रसादान्निर्वृत्ता मम लोकाः किलाक्षयाः ।
पुत्रेण तानवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥ ६९ ॥
धर्माद्या हि यथा त्रेता वह्नित्रेता तथैव च ।
तथैव पुत्रपौत्राणां स्वर्गस्त्रेता किलाक्षयः ॥ ७० ॥

मरनेसे नहीं डरता। (६०-६२)

पुत्र बोला, ऐसी जनश्रुति है, कि पुत्र पिताको पुन्नाम नरकसे परित्राण करता है, इसलिये मैं भी आपका पुत्र हूं; जब कि आत्मा पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, तब आपही इस लोकमें अपना परित्राण करिये। (६३)

पिता बोला, हे पुत्र! तुम रूप, शील और दमगुणसे मेरे समान हुए, मैंने अनेक भांतिसे तुम्हारी परीक्षा की है। इसलिये तुम्हारा शत्तू ग्रहण किया। द्विजसत्तमने इतना कहके हंसकर शत्तू लेकर अतिथिको दिया, परन्तु अतिथि उस शत्तूको भोजन करनेपर भी तृप्त नहीं, हुआ तब वह धर्मात्मा उञ्छवृत्ति अत्यन्त लज्जित हुआ। (६४-६६)

साध्वी पुत्रवधू ब्राह्मणकी प्रियकामनासे अपना शत्तू लेकर प्रसन्नचित्तसे श्वशुरसे बोली, हे विप्र! आपके सन्तानसे मेरे सन्तान होगा, इसलिये आप मेरा यह शत्तू लेकर अतिथिको दीजिये। आपकी कृपासे मेरा सुकृत अक्षय हो। मनुष्यगण जिन स्थानोंमें जाके शोकसे छूटते हैं, वे सब स्थान पौत्रके द्वारा प्राप्त हुआ करते हैं। जैसे धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग तथा दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय, ये तीनों अग्नि अक्षय स्वर्गजनक हैं, पुत्र

पितॄन् ऋणात्तारयति पुत्र इत्यनुशुश्रुम ।
पुत्रपौत्रैश्च नियतं साधुलोकानुपाश्नुते ॥ ७१ ॥
श्वशुर उवाच– वातातपविशीर्णाङ्गीं त्वां विवर्णां निरीक्ष्य वै ।
कर्शितां सुव्रताचारे क्षुधाविह्वलचेतसम् ॥ ७२ ॥
कथं सक्तून् ग्रहीष्यामि भूत्वा धर्मोपघातकः ।
कल्याणवृत्ते कल्याणि नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ७३ ॥
षष्ठे काले व्रतवतीं शौचशीलतपोन्विताम् ।
कृच्छ्रवृत्तिं निराहारां द्रक्ष्यामि त्वां कथं शुभे ॥७४॥
बाला क्षुधार्ता नारी च रक्ष्या त्वं सततं मया ।
उपवासपरिश्रान्ता त्वं हि बान्धवनन्दिनी ॥ ७५ ॥
स्नुषोवाच— गुरोर्मम गुरुस्त्वं वै यतो दैवतदैवतम् ।
देवातिदेवस्तस्मात्त्वं सक्तूनादत्स्व मे प्रभो ॥ ७६ ॥
देहः प्राणश्च धर्मश्च शुश्रूषार्थमिदं गुरोः ।
तव विप्र प्रसादेन लोकान्प्राप्स्यामहे शुभान् ॥ ७७ ॥
अवेक्ष्या इति कृत्वाऽहं दृढभक्तेति वा द्विज ।
चिन्त्या ममेयमिति वा सक्तूनादातुमर्हसि ॥ ७८ ॥
श्वशुर उवाच– अनेन नित्यं साध्वी त्वं शीलवृत्तेन शोभसे ।

पौत्र और प्रपौत्र ये तीनों भी वैसे ही हैं । मैंने ऐसा सुना है, कि पुत्र पुरुषको पितृऋणसे मुक्त करता है, पुरुष सदा पुत्र और पौत्रके सहारे उत्तम लोकोंको भोग किया करता है । ६७–७१

श्वशुर बोला, हे सुव्रतचारिणी ! मैं तुम्हारे अङ्गोंको वातातपसे विशीर्ण तथा विवर्ण और तुम्हें भूखी तथा हतचेतन देखकर धर्मका उपघातक होकर किस प्रकार तुम्हारा सत्तू ग्रहण करूं ? हे कल्याणचरितयुक्त कल्याणी ! तुम मुझसे ऐसा मत कहो । हे सुभगे ! तुम व्रतवती, शौच, शील, तपस्या, तथा कृच्छ्रवृत्तिशालिनी हो; इसलिये इस दिनके छठें भागमें मैं तुम्हें किस प्रकार भूखी देखूंगा ? (७२–७५)

पुत्रवधू बोली, हे प्रभु ! आप मेरे गुरुके भी गुरु होनेसे परम देवतास्वरूप हैं, इसलिये आप मेरा सत्तू ग्रहण करिये । हे विप्र ! मेरी देह, प्राण तथा धर्म गुरुसेवाके ही लिये प्रस्तुत है, इसलिये मैं आपकी कृपासे शुभप्रद लोक प्राप्त करूंगी । आप मुझे भी दृढ भक्त जानके मेरा सत्तू ले सकते हैं । (७६-७८)

या त्वं धर्मव्रतोपेता गुरुवृत्तिमवेक्षसे ॥ ७९ ॥
तस्मात्सक्तून् ग्रहीष्यामि वधु नार्हसि वञ्चनाम् ।
गणयित्वा महाभागे त्वां हि धर्मभृतां वरे ॥ ८० ॥
इत्युक्त्वा तानुपादाय सक्तून्प्रादाद् द्विजातये ।
ततस्तुष्टोऽभवद्विप्रस्तस्य साधोर्महात्मनः ॥ ८१ ॥
प्रीतात्मा स तु तं वाक्यमिदमाह द्विजर्षभम् ।
वाग्मी तदा द्विजश्रेष्ठो धर्मः पुरुषविग्रहः ॥ ८२ ॥
शुद्धेन तव दानेन न्यायोपात्तेन धर्मतः ।
यथाशक्ति विसृष्टेन प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ।
अहो दानं घुष्यते ते स्वर्गे स्वर्गनिवासिभिः ॥ ८३ ॥
गगनात्पुष्पवर्षं च पश्येदं पतितं भुवि ।
सुरर्षिदेवगन्धर्वा ये च देवपुरःसराः ॥ ८४ ॥
स्तुवन्तो देवदूताश्च स्थिता दानेन विस्मिताः ।
ब्रह्मर्षयो विमानस्था ब्रह्मलोकचराश्च ये ॥ ८५ ॥
काङ्क्षन्ते दर्शनं तुभ्यं दिवं व्रज द्विजर्षभ ।
पितृलोकगताः सर्वे तारिताः पितरस्त्वया ॥ ८६ ॥

श्वशुर बोला, हे साध्वि ! तुम धर्म तथा व्रतयुक्त होकर गुरुवृत्ति अवेक्षण करनेसे इस शीलवृत्तिके द्वारा अत्यन्तही शोभा पाती हो; इसलिये तुम वञ्चनाकी पात्री नहीं हो, तुम्हारा शत्तू ग्रहण करूंगा, परन्तु आज मैंने तुम्हें धर्मशीला स्त्रियोंके बीच मुख्य गिना। उन्होंने ऐसा कहके उसका शत्तू लेकर अतिथिको दिया। (७९—८१)

तिसके अनन्तर अतिथि उस विप्रवर साधु महात्मा ब्राह्मणके विषयमें सन्तुष्ट हुआ। वह प्रसन्नचित्त होकर उस द्विजवरसे कहने लगा। उस समय पुरुष-विग्रह धर्मस्वरूप उस वाग्मी द्विजवर अतिथिने ब्राह्मणसे कहा, हे द्विजसत्तम ! मैं आपके न्यायसे उपार्जित यथाशक्तिके अनुसार शुद्ध दानसे परम परितुष्ट हुआ, सुरलोकमें स्वर्गवासी लोग तुम्हारे इस दानको ' आश्चर्य--दान ' कहके घोषणा कर रहे हैं। यह देखिये, आकाशसे पृथ्वीपर पुष्पकी वर्षा हो रही है; सुरर्षि, देवर्षि, गन्धर्व तथा देवदूतगण देवताओंको आगे करके स्तुति करते हुए आपके दानसे विस्मित होकर निवास करते हैं। हे द्विज ! आप शीघ्र सुरपुरमें जाइये; ब्रह्मलोकगामी विमानपर ब्रह्मर्षि-

अनागताश्च बहवः सुबहूनि युगान्युत ।
ब्रह्मचर्येण दानेन यज्ञेन तपसा तथा ॥ ८७ ॥
असंकरेण धर्मेण तस्माद्गच्छ दिवं द्विज ।
श्रद्धया परया यस्त्वं तपश्चरसि सुव्रत ॥ ८८ ॥
तस्माद्देवाश्च दानेन प्रीता ब्राह्मणसत्तम ।
सर्वमेतद्धि यस्मात्ते दत्तं शुद्धेन चेतसा ॥ ८९ ॥
कृच्छ्रकाले ततः स्वर्गो विजितः कर्मणा त्वया ।
क्षुधा निर्णुदति प्रज्ञां धर्मबुद्धिं व्यपोहति ॥ ९० ॥
क्षुधापरिगतज्ञानो धृतिं त्यजति चैव ह ।
बुभुक्षां जयते यस्तु स स्वर्गं जयते ध्रुवम् ॥ ९१ ॥
यदा दानरुचिः स्याद्वै तदा धर्मो न सीदति ।
अनवेक्ष्य सुतस्नेहं कलत्रस्नेहमेव च ॥ ९२ ॥
धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा तृष्णा न गणिता त्वया ।
द्रव्यागमो नृणां सूक्ष्मः पात्रे दानं ततः परम् ॥९३॥
कालः परतरो दानाच्छ्रद्धा चैव ततः परा ।

गण तुम्हारे दर्शनकी आकांक्षा करते हैं। पितृलोकवासी पितरवृन्द तुम्हारे द्वारा तर गये हैं । बहुतेरे लोग कई युगतक ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ तथा तपस्या करके भी सुरपुरमें जानेमें समर्थ नहीं होते । (८१—८७)

हे द्विज ! आप परम श्रद्धापूर्वक असङ्कर धर्माचरण करते हुए जो तपस्या करते हैं, उस पुण्यसे स्वर्गमें जाइये । हे ब्राह्मणसत्तम ! जब आपने शुद्धचित्तसे यह सब दान किया है, तब उस दानसे ही देवगण परितुष्ट हुए हैं । क्षुधा, और प्रज्ञा धर्मबुद्धिको नष्ट करती है, जब ज्ञान क्षुधासे मोहित होता है, तब धीरज दूर हो जाता है; तथापि आपने ऐसे कष्टकर समयमें निज कर्मके सहारे स्वर्ग जय किया; इसलिये मुझे बोध होता है, कि जो लोग भूखको जीत सकते हैं, वे निश्चयही स्वर्ग जय करनेमें समर्थ होते हैं । जब पुरुष दान करनेका अभिलाषी होता है, तब उसका धर्म किसी प्रकार अवसन्न नहीं होता । आपने ऐसाही विचार करके पुत्र और कलत्रका स्नेह त्यागके धर्मको बडा जानके तृष्णाको तुच्छ समझा है। मनुष्योंका द्रव्यागम अत्यन्त सूक्ष्म है, सत्पात्रको दान करना उससे भी सूक्ष्म है; सत्पात्रको दान देनेकी अपेक्षा काल,

स्वर्गद्वारं सुसूक्ष्मं हि नरैर्मोहान्न दृश्यते ॥ ९४ ॥
स्वर्गार्गलं लोभबीजं रागगुप्तं दुरासदम् ।
तं तु पश्यन्ति पुरुषा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ॥ ९५ ॥
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता यथाशक्ति प्रदायिनः ।
सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च ॥ ९६ ॥
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः ।
रन्तिदेवो हि नृपतिरपः प्रादादकिंचनः ॥ ९७ ॥
शुद्धेन मनसा विप्र नाकपृष्ठं ततो गतः ।
न धर्मः प्रीयते तात दानैर्दत्तैर्महाफलैः ॥ ९८ ॥
न्यायलब्धैर्यथा सूक्ष्मैः श्रद्धापूतैः स तुष्यति ।
गोप्रदानसहस्राणि द्विजेभ्योऽदान्नृगो नृपः ॥ ९९ ॥
एकां दत्त्वा स पारक्यां नरकं समपद्यत ।
आत्ममांसप्रदानेन शिबिरौशीनरो नृपः ॥ १०० ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्मोदते दिवि सुव्रतः ।
विभवो न नृणां पुण्यं स्वशक्त्या स्वर्जितं सताम् ॥१०१॥

उसकी अपेक्षा श्रद्धा और श्रद्धासे भी स्वर्गद्वार परम सूक्ष्म रूपसे निर्णीत है, इस ही लिये मनुष्यगण मोहवशसे उसका दर्शन करनेमें समर्थ नहीं होते। परन्तु क्रोध जीतनेवाले जितेन्द्रिय पुरुषगण स्वर्गके अर्गलयुक्त रागयुक्त दुरासद लोभबीज दर्शन किया करते हैं। (८८—९५)

जो सब तपोनिष्ठ ब्राह्मण शक्तिके अनुसार दान करते हैं, सहस्र दान करनेमें समर्थ पुरुष एक सौ दान करते हैं, एक सौ दान करनेमें समर्थ पुरुष दस दान करते हैं और जो लोग शक्तिके अनुसार जल दान करते हैं, वे सबके तुल्य फलभागी हुआ करते हैं। हे विप्र! अकिञ्चन राजा रन्तिदेव शुद्ध चित्तसे जल दान करके स्वर्गलोकमें गये। हे तात! धर्म न्यायसे प्राप्त हुए श्रद्धायुक्त अर्थात् अल्प मात्र दानसे जिस प्रकार परितुष्ट होता है, उस भांति महाफल-जनक अधिक दानसे परितुष्ट नहीं होता। राजा नृगने द्विजेन्द्रगणको सहस्र गऊ प्रदान की, उसके बीच विना जाने एक दूसरेकी गऊ दी गई थी, इसीसे वह नरकभागी हुए थे। हे सुव्रत! उशीनर-पुत्र राजा शिबिने अपने शरीरका मांस दान करके पुण्यकृत लोकोंको पाके सुरलोकमें विविध सुखभोग किया

नयज्ञैर्विविधैर्विप्र यथान्यायेन संचितैः।
क्रोधाद्दानफलं हन्ति लोभात्स्वर्गं न गच्छति ॥ १०२ ॥
न्यायवृत्तिर्हि तपसा दानवित्स्वर्गमश्नुते।
न राजसूयैर्बहुभिरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ॥ १०३ ॥
न चाश्वमेधैर्बहुभिः फलं सममिदं तव।
सक्तुप्रस्थेन विजितो ब्रह्मलोकस्त्वयाऽक्षयः ॥ १०४॥
विरजो ब्रह्मसदनं गच्छ विप्र यथासुखम्।
सर्वेषां वो द्विजश्रेष्ठ दिव्यं यानमुपस्थितम् ॥ १०५ ॥
आरोहत यथाकामं धर्मोऽस्मि द्विज पश्य माम्।
तारितो हि त्वया देहो लोके कीर्तिः स्थिरा च ते ॥१०६॥
सभार्यः सहपुत्रश्च सस्नुषश्च दिवं व्रज।
इत्युक्तवाक्ये धर्मे तु यानमारुह्य स द्विजः ॥ १०७ ॥
सदारःससुतश्चैव सस्नुषश्च दिवं गतः।
तस्मिन्विप्रे गते स्वर्गं ससुते सस्नुषे तदा ॥ १०८ ॥

था। (९६-१०१)

हे विप्र ! यथारीति सञ्चित विविध यज्ञ और निज शक्तिसे उपार्जित पुण्यही साधु पुरुषोंका वैभव है। क्रोधसे पुरुषके दानका फल निष्फल होता है और लोभसे स्वर्गगति रोध हुआ करती है। न्यायवृत्त दानवित् मनुष्य केवल तपस्यासे ही स्वर्ग भोग करते हैं, परन्तु दूसरे लोग अनेकदक्षिणायुक्त राजसूय प्रभृति विविध यज्ञ करके भी स्वर्ग भोगनेमें समर्थ नहीं होते। हे विप्र ! आपने जो शक्तूप्रस्थके सहारे अक्षय ब्रह्मलोक जय किया, कई सौ अश्वमेध यज्ञसे भी आपको ऐसा फल न मिलता। हे द्विजवर ! आप निष्पाप हुए हैं, इसलिये आजसे सबके बीच मुख्य हुए। यह दिव्य विमान उपस्थित हुआ है, आप इसपर चढके स्वच्छन्दतासे ब्रह्मलोकमें जाइये। हे द्विजवर ! तुम सुखसे चढो, मैं धर्म हूं, मेरा दर्शन करो; तुमने जिस प्रकार अपने शरीरको पवित्र किया; इससे लोकके बीच तुम्हारी कीर्ति स्थिर रहेगी। इस समय तुम भार्या, पुत्र और पुत्रवधूके सहित सुरपुरमें चले जाओ। (१०१—१०७)

धर्मके ऐसा कहनेपर वह द्विजवर भार्या, पुत्र और पुत्रवधूके सहित दिव्य यानपर चढके सुरलोकमें गया। जब वह धर्मज्ञ विप्रवर भार्या, पुत्र और पुत्रवधूके सहित सुरलोकमें गया, तब

भार्याचतुर्थे धर्मज्ञे ततोऽहं निःसृतो बिलात् ।
ततस्तु सक्तुगन्धेन क्लेदेन सलिलस्य च ॥ १०९ ॥
दिव्यपुष्पविमर्दाच्च साधोर्दानलवैश्च तैः ।
विप्रस्य तपसा तस्य शिरो मे काञ्चनीकृतम् ॥ ११० ॥
तस्य सत्याभिसंधस्य सक्तुदानेन चैव ह ।
शरीरार्धं च मे विप्राः शातकुम्भमयं कृतम् ॥ १११ ॥
पश्यतेमं सुविपुलं तपसा तस्य धीमतः ।
कथमेवंविधं स्याद्वै पार्श्वमन्यदिति द्विजाः ॥ ११२ ॥
तपोवनानि यज्ञांश्च दृष्टोऽभ्येमि पुनः पुनः ।
यज्ञं त्वहमिमं श्रुत्वा कुरुराजस्य धीमतः ॥ ११३ ॥
आशया परया प्राप्तो न चाहं काञ्चनीकृतः ।
ततो मयोक्तं तद्वाक्यं प्रहस्य ब्राह्मणर्षभाः ॥ ११४ ॥
सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं संमितो नेति सर्वथा ।
सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि तदाऽहं काञ्चनीकृतः ॥ ११५ ॥
न हि यज्ञो महानेष सदृशस्तैर्मतो मम ।
इत्युक्त्वा नकुलः सर्वान्यज्ञे द्विजवरांस्तदा ॥ ११६ ॥
जगामादर्शनं तेषां विप्रास्ते च ययुर्गृहान् ॥ ११७ ॥

मैं बिलसे बाहिर हुआ। तिसके अनन्तर शत्तूकी सुगन्धि, जलके क्लेद, दिव्य फूलोंके अवमर्दन, उस साधु विप्रके दान, जप और तपस्याके बलसे मेरा मस्तक सुवर्णमय हुआ। हे विप्रगण! तुम लोग देखो, सत्याभिसन्ध बुद्धिमान् ब्राह्मणके शत्तू दान और तपोबलसे मेरे इस उत्तम विपुल शरीरका अर्धभाग स्वर्णमय हुआ है। हे द्विजगण! मेरा दूसरा पार्श्व किस भांति ऐसा होगा, इस विषयको सोचकर मैं प्रसन्नचित्तसे तपोवन और यज्ञस्थलमें बार बार भ्रमण करता हूं। बुद्धिमान् कुरुराजका यज्ञ सुनके आश्वासित होकर यहां आया, परन्तु मैं सुवर्णमय न हुआ। हे ब्राह्मण श्रेष्ठगण! इस ही लिये मैंने हंसके कहा, कि तुम्हारा यज्ञ सब भांतिसे शत्तूप्रस्थके सदृश नहीं हुआ। उस समय मैं शत्तूप्रस्थके लेश मात्रसे सुवर्णमय हुआ हूं, इसीसे ऐसा समझता हूं, कि यह महायज्ञ उसके सदृश नहीं हुआ'। नेवलने यज्ञस्थलमें उन द्विजोंसे ऐसा कहके उनके दर्शनपथको अतिक्रम किया। तब ब्राह्मण लोग भी निज निज

वैशम्पायन उवाच– एतत्ते सर्वमाख्यातं मया परपुरंजय ।
यदाश्चर्यमभूत्तत्र वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ११८ ॥
न विस्मयस्ते नृपते यज्ञे कार्यः कथंचन ।
ऋषिकोटिसहस्राणि तपोभिर्ये दिवं गताः ॥ ११९ ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु संतोषः शीलमार्जवम् ।
तपो दमश्च सत्यं च प्रदानं चेति संमितम् ॥ १२० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि नकुलाख्याने नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

जनमेजय उवाच– यज्ञे सक्ता नृपतयस्तपःसक्ता महर्षयः ।
शान्तिव्यवस्थिता विप्राः शमे दम इति प्रभो ॥ १ ॥
तस्माद्यज्ञफलैस्तुल्यं न किंचिदिह दृश्यते ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तथा चैतदसंशयम् ॥ २ ॥
यज्ञैरिष्ट्वा तु बहवो राजानो द्विजसत्तमाः ।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्नुयुः ॥ ३ ॥
देवराजः सहस्राक्षः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
देवराज्यं महातेजाः प्राप्तवानखिलं विभुः ॥ ४ ॥
यदा युधिष्ठिरो राजा भीमार्जुनपुरःसरः ।

स्थानपर गये । (१०७—११७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे परपुरञ्जय! उस महाक्रतु वाजिमेधमें जो आश्चर्यव्यापार हुआ था, मैंने वह सब वृत्तान्त आपके समीप कहा! हे नरनाथ! आप उस यज्ञमें किसी भांति विस्मय बोध न करिये, क्यों कि सहस्र कोटि ऋषियोंने उस तपोबलसे सुरलोकमें गमन किया है। सर्व भूतोंमें अद्रोह, सन्तोष, शील, आर्जव, तपस्या, दम, सत्य और दान, ये सब साधुसम्मत हैं। (११८—१२०)

आश्वमेधिकपर्वमें ९० अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ९१ अध्याय।

राजा जनमेजय बोले, हे प्रभु! जब राजा लोग यज्ञ, महर्षिगण तपस्या और ब्राह्मण लोग शम, दम तथा शान्ति करनेमें समर्थ हैं, तब मेरी समझमें ऐसा निश्चय होता है, कि इस लोकमें यज्ञफलके सदृश कुछ भी नहीं दीखता। हे द्विजसत्तम! बहुतेरे राजा बहुतसे यज्ञ करते हुए इस लोकमें परम यश पाके परलोक तथा सुरपुरमें गये हैं। महातेजस्वी सहस्रनयन सुरराजने

सदृशो देवराजेन समृद्ध्या विक्रमेण च ॥ ५ ॥
अथ कस्मात्स नकुलो गर्हयामास तं क्रतुम् ।
अश्वमेधं महायज्ञं राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच– यज्ञस्य विधिमग्र्यं वै फलं चापि नराधिप ।
गदतः शृणु मे राजन्यथावदिह भारत ॥ ७ ॥
पुरा शक्रस्य यजतः सर्व ऊचुर्महर्षयः ।
ऋत्विक्षु कर्मव्यग्रेषु वितते यज्ञकर्मणि ॥ ८ ॥
हूयमाने तथा वह्नौ होत्रे गुणसमन्विते ।
देवेष्वाहूयमानेषु स्थितेषु परमर्षिषु ॥ ९ ॥
सुप्रतीतैस्तथा विप्रैः स्वागमैः सुस्वरैर्नृप ।
अश्रान्तैश्चापि लघुभिरध्वर्युवृषभैस्तथा ॥ १० ॥
आलम्भसमये तस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ ।
महर्षयो महाराज बभूवुः कृपयान्विताः ॥ ११ ॥
ततो दीनान्पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः ।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः ॥ १२ ॥
अपरिज्ञानमेतत्ते महान्तं धर्ममिच्छतः ।
न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरंदर ॥ १३ ॥

अनेक दक्षिणायुक्त बहुतसे यज्ञ करके अखिल सुरराज्य प्राप्त किया है। हे द्विजवर! समृद्धि और विक्रममें सुरराज-सदृश भीमार्जुनके सहित महात्मा युधिष्ठिरने जो अश्वमेध महायज्ञ किया था, नेवलने उस यज्ञकी किस निमित्त निन्दा की? (१–६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे नरनाथ! यज्ञकी प्रधान विधि और फल मैं आपके समीप यथार्थ रीतिसे कहता हूं, सुनिये। पहले यज्ञ करनेवाले देवराजके विस्तृत यज्ञमें ऋत्विजोंके कार्यमें व्यग्र रहनेपर उस गुणशाली यज्ञमें अग्नि तथा देवगण आहूत और परमर्षिवृन्द उपस्थित हुए। अनन्तर सुप्रतीत उत्तम स्वरयुक्त अश्रान्त स्वागम अध्वर्यु वृषभोंके द्वारा पशुगण गृहीत हुए; आलम्भन समयमें ऋषियोंने पशुओंको दीनभावयुक्त देखकर कृपापूर्वक इन्द्रके समीप जाकर उनसे कहा, कि यह यज्ञकी विधि शुभ नहीं हुई है। हे पुरन्दर! आप महान् धर्म करनेके अभिलाषी हुए हैं, परन्तु आप इसे विशेषरूपसे नहीं जानते; क्यों कि पशुओंसे यज्ञ

धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो ।
नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते ॥ १४ ॥
आगमेनैव ते यज्ञं कुर्वन्तु यदि चेच्छसि ॥ १५ ॥
विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान्भवेत् ।
यज बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितैः ॥ १६ ॥
एष धर्मो महान् शक्र महागुणफलोदयः ।
शतक्रतुस्तु तद्वाक्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १७ ॥
उक्तं न प्रतिजग्राह मानान्मोहवशं गतः ।
तेषां विवादः सुमहान् शक्रयज्ञे तपस्विनाम् ॥ १८ ॥
जङ्गमैः स्थावरैर्वाऽपि यष्टव्यमिति भारत ।
ते तु खिन्ना विवादेन ऋषयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १९ ॥
तदा संधाय शक्रेण पप्रच्छुर्नृपतिं वसुम् ।
धर्मसंशयमापन्नान्सत्यं ब्रूहि महामते ॥ २० ॥
महाभाग कथं यज्ञेष्वागमो नृपसत्तम ।
यष्टव्यं पशुभिर्मुख्यैरथो बीजै रसैरिति ॥ २१ ॥

करना विधिविहित नहीं है । हे प्रभु ! जब कि हिंसा धर्म कहके वर्णित नहीं हुआ है, तब यह यज्ञ धर्मयुक्त नहीं होता है, इसलिये आपका यह समारम्भ धर्मोपघातक होता है । हे सुरराज ! यदि आप धर्मकी अभिलाष करते हैं तो ऋत्विजगण वेदके अनुसार आपका यज्ञ करें, उस विधिदृष्ट यज्ञके सहारे ही आपको उत्तम महान् धर्म होगा । हे सहस्राक्ष ! आप हिंसा परित्याग करके त्रिवर्षोषित बीजके सहारे यज्ञ करिये । हे शक्र ! यह धर्म ही महागुण तथा महाफलजनक कहके विहित है । शतक्रतुने मान और मोहके वशमें होकर उन तत्त्वदर्शी ऋषियोंके वचनको प्रतिग्रह नहीं किया । हे भारत ! इन्द्रके यज्ञमें उन तपस्वियोंके बीच अत्यन्त ही विवाद होने लगा । किसीने कहा, जङ्गम और कोई बोला स्थावरके द्वारा यज्ञ करना उचित है, ऐसा कहके वे लोग विवाद करते हुए खिन्न हुए । अनन्तर ऋषियोंने इन्द्रके सङ्ग मिलके राजा वसुसे प्रश्न किया, कि हे महाभाग ! यज्ञमें वेदविधि कैसी है ? और मुख्य पशु, किंवा बीज वा रसके द्वारा यज्ञ करना उचित है ? (७-२१)

पृथ्वीपति वसु उन लोगोंके वचनको सुनकर बलाबलको विना विचारे ही

तच्छ्रुत्वा तु वसुस्तेषामविचार्य बलाबलम् ।
यथोपनीतैर्यष्टव्यमिति प्रोवाच पार्थिवः ॥ २२ ॥
एवमुक्त्वा स नृपतिः प्रविवेश रसातलम् ।
उक्त्वाथ वितथं प्रश्नं चेदीनामीश्वरः प्रभुः ॥ २३ ॥
तस्मान्न वाच्यं ह्येकेन बहुज्ञेनापि संशये ।
प्रजापतिमपाहाय स्वयंभुवमृते प्रभुम् ॥ २४ ॥
तेन दत्तानि दानानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ।
तानि सर्वाण्यनादृत्य नश्यन्ति विपुलान्यपि ॥ २५ ॥
तस्याधर्मप्रवृत्तस्य हिंसकस्य दुरात्मनः ।
दानेन कीर्तिर्भवति न प्रेत्येह च दुर्मतेः ॥ २६ ॥
अन्यायोपगतं द्रव्यमभीक्ष्णं यो ह्यपण्डितः ।
धर्माभिशङ्की जयते न स धर्मफलं लभेत् ॥ २७ ॥
धर्मवैतंसिको यस्तु पापात्मा पुरुषाधमः ।
ददाति दानं विप्रेभ्यो लोकविश्वासकारणम् ॥ २८ ॥
पापेन कर्मणा विप्रो धनं प्राप्य निरङ्कुशः ।
रागमोहान्वितः सोऽन्ते कलुषां गतिमश्नुते ॥ २९ ॥
अपि संचयबुद्धिर्हि लोभमोहवशं गतः ।

यह वचन बोले कि यथोपनीय वस्तु-ओंके द्वारा यज्ञ करना उचित है। चेदीराज प्रभु राजा वसुने ऐसाही बोलने तथा प्रश्न विषयमें मिथ्या कहनेसे रसा-तलमें प्रवेश किया। इस ही निमित्त संशयके स्थलमें स्वयम्भू प्रजापति ब्रह्माके अतिरिक्त बहुज्ञ पुरुषने भी कुछ न कहा और अल्पज्ञोंकी तो कुछ बात ही नहीं है; पापात्मा अशुद्धबुद्धि मनुष्य यदि दान करे, तो उसका सब दान विनष्ट होता है। उस अधर्ममें प्रवृत्त दुरात्मा हिंसक पुरुषकी इस लोक तथा परलोकमें दानसे कीर्ति नहीं होती। जो मूर्ख धर्माभिशङ्की पुरुष निरन्तर अन्यायोपगत वस्तुओंके सहारे यज्ञ करता है, वह उस धर्मफलको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता। जो धर्मवैतं-सिक पापात्मा अधम पुरुष सब लोगोंके विश्वासके निमित्त ब्राह्मणोंको दान करता है और जो निरंकुश विप्र राग तथा मोहके वशवर्ती होकर पापकर्मसे धन उपार्जन करता है, उसे सदा कलुष गति प्राप्त होती है। सञ्चयबुद्धि पुरुष भी पाप तथा अशुद्धताके कारण लोभ और

उद्वेजयति भूतानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ॥ ३० ॥
एवं लब्ध्वा धनं मोहाद्यो हि दद्याद्यजेत वा ।
न तस्य स फलं प्रेत्य भुङ्क्ते पापधनागमात् ॥ ३१ ॥
उञ्छं मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः ।
दानं विभवतो दत्त्वा नराः स्वर्यान्ति धार्मिकाः ॥ ३२ ॥
एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ॥ ३३ ॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम् ।
श्रूयन्ते हि पुरा वृत्ता विश्वामित्रादयो नृपाः ॥ ३४ ॥
विश्वामित्रोऽसितश्चैव जनकश्च महीपतिः ।
कक्षसेनार्ष्टिषेणौ च सिन्धुद्वीपश्च पार्थिवः ॥ ३५ ॥
एते चान्ये च बहवः सिद्धिं परमिकां गताः ।
नृपाः सत्यैश्च दानैश्च न्यायलब्धैस्तपोधनाः ॥ ३६ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चाश्रितास्तपः ।
दानधर्माग्निना शुद्धास्ते स्वर्गं यान्ति भारत ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहा० श० सं० वै० आश्व० पर्वणि हिंसामिश्रधर्मनिन्दायामेकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

मोहके वशमें होकर प्राणियोंको उद्वेगयुक्त किया करता है । जो मनुष्य मोहके वशमें होकर इस प्रकार धन प्राप्त करके दान वा यज्ञ करता है, पापसे प्राप्त हुए धनसे उसको परलोकमें उस दान तथा यज्ञका फल नहीं मिलता । (२२–३१)

तपोधन धार्मिक पुरुषगण विभवके अनुसार उञ्छ, मूल, फल, शाक और जलपात्र दान करके स्वर्गमें गमन किया करते हैं, यही महायोग धर्म कहके वर्णित हुआ है । परन्तु दान, सब प्राणियोंके विषयमें दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश, धृति और क्षमा, ये सब सनातन धर्मके सनातन मूल हैं; इतिहासके सहारे विश्वामित्र प्रभृति राजाओंका विषय इस ही प्रकार सुना जाता है । तपस्वी विश्वामित्र, असित, जनक, कक्षसेन, अर्ष्टिसेन, महाराज सिन्धुद्वीप ये सब कोई तथा अन्यान्य तपस्वी राजा लोग सत्य और न्यायसे प्राप्त हुए धनसे परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं । हे भारत ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्यान्य तपमें निष्ठा करनेवाले पुरुषगण दानधर्मादिके सहारे पवित्र होकर सुरपुरमें गमन किया करते

जनमेजय उवाच– धर्मागतेन त्यागेन भगवन्स्वर्गमस्ति चेत्।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व कुशलो ह्यसि भाषितुम् ॥ १ ॥
तस्योञ्छवृत्तेर्यद् वृत्तं सक्तुदाने फलं महत्।
कथितं तु मम ब्रह्मंस्तथ्यमेतदसंशयम् ॥ २ ॥
कथं हि सर्वयज्ञेषु निश्चयः परमोऽभवत्।
एतदर्हसि मे वक्तुं निखिलेन द्विजर्षभ ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच– अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अगस्त्यस्य महायज्ञे पुरावृत्तमरिंदम ॥ ४ ॥
पुराऽगस्त्यो महातेजा दीक्षां द्वादशवार्षिकीम्।
प्रविवेश महाराज सर्वभूतहिते रतः ॥ ५ ॥
तत्राग्निकल्पा होतार आसन्सत्रे महात्मनः।
मूलाहाराः फलाहाराः साश्मकुट्टा मरीचिपाः ॥ ६ ॥
परिपृष्टिका वैघसिकाः प्रसंख्यानास्तथैव च।
यतयो भिक्षवश्चात्र बभूवुः पर्यवस्थिताः ॥ ७ ॥
सर्वे प्रत्यक्षधर्माणो जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।

हैं। (३२-३७)

आश्वमेधिकपर्वमें ९१ अध्याय समाप्त।

आश्वमेधिकपर्वमें ९२ अध्याय।

जनमेजय बोले, हे भगवन् यदि धर्मयुक्त दानसे स्वर्ग मिलता है, तो आप उस विषयको विशेष रीतिसे मेरे समीप वर्णन करिये। हे द्विजवर! आपही इस विषयको कहनेमें समर्थ हैं। हे ब्रह्मन्! उस उञ्छवृत्तिने शक्तू दान करके जो महत् फल प्राप्त किया, वह विषय सत्यरूपसे मेरे समीप कहा गया है, उसमें सन्देह नहीं है, परन्तु सब यज्ञोंमें किस प्रकार इसका निश्चय होगा उसे पूरी रीतिसे आपको वर्णन करना उचित है। (१—३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे अरिदमन! पहले अगस्त्यके महायज्ञमें जो घटना हुई थी, ऐसे स्थलमें पण्डित लोग उदाहरणरूपसे उसही इतिहासको वर्णन किया करते हैं। हे महाराज! पहले सर्वभूतहितकारी महातेजस्वी अगस्त्य मुनि द्वादश वार्षिकी दीक्षामें दीक्षित हुए थे; उस यज्ञमें मूलाहारी, फलाहारी, अश्मकुट्टा और मरीचिपायी अग्नितुल्य ऋषिगण होतृकार्यमें नियुक्त थे। वहां परिपृष्टिक, वैघसिक, प्रसंख्यान प्रभृति यति तथा भिक्षुगण उपस्थित थे। वे लोग सब कोई प्रत्यक्षधर्मा, जितक्रोध,

दमे स्थिताश्च सर्वे ते हिंसादम्भविवर्जिताः ॥ ८ ॥
वृत्ते शुद्धे स्थिता नित्यमिन्द्रियैश्चाप्यबाधिताः ।
उपातिष्ठन्त तं यज्ञं यजन्तस्ते महर्षयः ॥ ९ ॥
यथाशक्त्या भगवता तदन्नं समुपार्जितम् ।
तस्मिन्सत्रे तु यद् वृत्तं यद्योग्यं च तदाऽभवत् ॥१०॥
तथा ह्यनेकैर्मुनिभिर्महान्तः क्रतवः कृताः ।
एवंविधे त्वगस्त्यस्य वर्तमाने तथाऽध्वरे ।
न ववर्ष सहस्राक्षस्तदा भरतसत्तम ॥ ११ ॥
ततः कर्मान्तरे राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः ।
कथेयमभिनिर्वृत्ता मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥
अगस्त्यो यजमानोऽसौ ददात्यन्नं विमत्सरः ।
न च वर्षति पर्जन्यः कथमन्नं भविष्यति ॥ १३ ॥
सत्रं चेदं महद्विप्रा मुनेर्द्वादशवार्षिकम् ।
न वर्षिष्यति देवश्च वर्षाण्येतानि द्वादश ॥ १४ ॥
एतद्भवन्तः संचिन्त्य महर्षेरस्य धीमतः ।
अगस्त्यस्यापि तपसः कर्तुमर्हन्त्यनुग्रहम् ॥ १५ ॥
इत्येवमुक्ते वचने ततोऽगस्त्यः प्रतापवान् ॥ १६ ॥

जितेन्द्रिय, दान्त, हिंसा और दम्भ-वर्जित, पवित्र वृत्तिमें स्थित इन्द्रियोंके द्वारा अपराजित थे, उन्होंने ही यज्ञमें उपस्थित होके यज्ञ किया। उस यज्ञमें अगस्त्य भगवान्‌ने सामर्थ्यके अनुसार अन्न इकट्ठा किया था। हे भरतसत्तम! उस यज्ञमें जो कृत तथा योग्य कहके निर्दिष्ट हुआ था, उसके अनुसार ही बहुतेरे मुनियोंने महायज्ञ किये थे। परन्तु इस प्रकार अगस्त्य मुनिका यज्ञ होते रहनेपर इन्द्रने जलकी वर्षा नहीं की। (४—११)

हे महाराज! उस ही निमित्त महात्मा अगस्त्य मुनिके उस यज्ञके समय भावितात्मा मुनिगण यह वार्ता करने लगे, कि यह यजमान अगस्त्य मुनि मत्सररहित होकर अन्न दान कर रहे हैं, परन्तु बादल जलकी वर्षा नहीं करते हैं, तब किस प्रकार अन्न उत्पन्न होगा? हे विप्रगण! अगस्त्य मुनिका यह यज्ञ बारह वर्षमें पूरा होगा, इस बारह वर्षके बीच इन्द्र जलकी वर्षा न करेगा; इसलिये आप लोग विचार करके बुद्धिमान् महर्षि परम तपस्वी अगस्त्यके विषयमें

प्रोवाच वाक्यं स तदा प्रसाद्य शिरसा मुनीन् ।
यदि द्वादश वर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ॥ १७ ॥
चिन्तायज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः ।
यदि द्वादश वर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ॥ १८ ॥
स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः ।
यदि द्वादश वर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ॥ १९ ॥
ध्येयात्मना हरिष्यामि यज्ञानेतान्यतव्रतः ।
बीजयज्ञो मयाऽयं वै बहुवर्षसमाचितः ॥ २० ॥
बीजैर्हितं करिष्यामि नात्र विघ्नो भविष्यति ।
नेदं शक्यं वृथा कर्तुं मम सत्रं कथंचन ॥ २१ ॥
वर्षिष्यतीह वा देवो न वा वर्षं भविष्यति ।
अथवाऽभ्यर्थनामिन्द्रो न करिष्यति कामतः ॥ २२ ॥
स्वयमिन्द्रो भविष्यामि जीवयिष्यामि च प्रजाः ।
यो यदाहारजातश्च स तथैव भविष्यति ॥ २३ ॥
विशेषं चैव कर्तास्मि पुनः पुनरतीव हि ।

अनुग्रह करिये। जब महर्षिगण ऐसा कहने लगे, तब परम प्रतापवान् अगस्त्य मुनिने सिर झुकाकर मुनियोंको प्रसन्न करके कहा, कि यदि इन्द्र बारह वर्षतक जलकी वर्षा न करे, तो मैं चिन्ता अर्थात् मानस–यज्ञ करूंगा, यही सनातन विधि है। हे ऋषिगण! यदि इन्द्र बारह वर्षतक जलकी वर्षा न करे, तो मैं स्पर्शयज्ञ करते हुए उपाहृत द्रव्योंको विना व्यय किये ही देवताओंको सन्तुष्ट करूंगा, यही सनातन विधि है। यदि इन्द्र बारह वर्षके बीच जलकी वर्षा न करे, तो मैं व्रती होकर ध्यानसे द्रव्य आहरण करके व्रतातिरिक्त अन्य यज्ञ सम्पन्न करूंगा। मैंने जो कई वर्षसे यह बीजयज्ञ आरम्भ किया है, इसे बीजसे ही सम्पन्न करूंगा, इसमें कुछ भी विघ्न न होगा, मेरे इस यज्ञको व्यर्थ करनेका सामर्थ्य किसीको भी नहीं है; यदि इन्द्र वर्षा न करे, तो वह देवताओंके बीच परिगणित न होगा। (१२–२२)

इसके अतिरिक्त यदि वह इच्छानुसार मेरी इस अभ्यर्थनाको पूरा न करे, तो मैं स्वयं इन्द्र होकर प्रजासमूहको जीवित रखूंगा और जिस समय उन लोगोंको जिस भोजनीय वस्तुओंका प्रयोजन होगा, उस समय उन्हें वही आहार

अथेह स्वर्णमभ्येतु यच्चान्यद्वसु किंचन ॥ २४ ॥
त्रिषु लोकेषु यच्चास्ति तदिहागच्छतां स्वयम् ।
दिव्याश्चाप्सरसां संघा गन्धर्वाश्च सकिन्नराः ॥ २५ ॥
विश्वावसुश्च ये चान्ये तेऽप्युपासन्तु मे मखम् ।
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च यत्किंचिद्वसु विद्यते ॥ २६ ॥
सर्वं तदिह यज्ञेषु स्वयमेवोपतिष्ठतु ।
स्वर्गः स्वर्गसदश्चैव धर्मश्च स्वयमेव तु ॥ २७ ॥
इत्युक्ते सर्वमेवैतद्भवत्तापसा मुनेः ।
तस्य दीप्ताग्निमहसस्त्वगस्त्यस्यातितेजसः ॥ २८ ॥
ततस्ते मुनयो दृष्ट्वा ददृशुस्तपसो बलम् ।
विस्मिता वचनं प्राहुरिदं सर्वे महार्थवत् ॥ २९ ॥
ऋषय ऊचुः — प्रीताः स्म तव वाक्येन न त्विच्छामस्तपोव्ययम् ।
तैरेव यज्ञैस्तुष्टाः स्म न्यायेनेच्छामहे वयम् ॥ ३० ॥
यज्ञं दीक्षां तथा होमान्यच्चान्यन्मृगयामहे ।
न्यायेनोपार्जिताहाराः स्वकर्माभिरता वयम् ॥ ३१ ॥

प्राप्त होगा। मैं बार बार ऐसी ही विशेषता करूंगा और आज पृथ्वीमें जितनी वस्तु तथा स्वर्ण है, वे सब मेरे समीप उपस्थित होवें, तीनों लोकोंके बीच जो सब वस्तु हैं, वे सब स्वयं ही मेरे समीप आगमन करें। दिव्य अप्सरा, गन्धर्व, किन्नर और विश्वावसु प्रभृति सब प्राणि मेरे यज्ञमें आवें। उत्तर कुरुदेशमें जो सब वसु विद्यमान हैं, वे सब वसु मेरे यज्ञमें स्वयं आके उपस्थित होवें और स्वर्ग, स्वर्गवासी प्राणी तथा धर्म स्वयं आगमन करें। जब अगस्त्य मुनिने ऐसा वचन कहा, उस समय उस प्रदीप्त अग्निसदृश चित्तसम्पन्न तेजस्वी मुनिके तपोबलसे वह सब उसही प्रकार हुआ। तिसके अनन्तर वे सब मुनिगण अगस्त्य मुनिके तपोबलको देखकर प्रसन्नचित्त तथा विस्मित होकर महान् अर्थयुक्त यह वचन कहने लगे। (२१–२९)

ऋषिवृन्द बोले, हे मुनि! तुम्हारे वचनसे हम लोग परम प्रसन्न हुए, परन्तु तपस्याके फलको व्यर्थ करना हम लोगोंको अभिलषित नहीं है। हम लोग न्यायके अनुसार उस तपोबलसे ही यज्ञ करके तुष्ट होनेकी इच्छा करते हैं। हम लोग यज्ञ, दीक्षा, होम तथा दूसरे जिस कार्यको करनेकी चेष्टा करते

वेदांश्च ब्रह्मचर्येण न्यायतः प्रार्थयामहे ।
न्यायेनोत्तरकालं च गृहेभ्यो निःसृता वयम् ॥ ३२ ॥
धर्मदृष्टैर्विधिद्वारैस्तपस्तप्स्यामहे वयम् ।
भवतः सम्यगिष्टा तु बुद्धिर्हिंसाविवर्जिता ॥ ३३ ॥
एतामहिंसां यज्ञेषु ब्रूयास्त्वं सततं प्रभो ।
प्रीतास्ततो भविष्यामो वयं तु द्विजसत्तम ॥ ३४ ॥
विसर्जिताः समाप्तौ च सत्रादस्माद्व्रजामहे ।
तथा कथयतां तेषां देवराजः पुरंदरः ॥ ३५ ॥
ववर्ष सुमहातेजा दृष्ट्वा तस्य तपोबलम् ।
आसमाप्तेश्च यज्ञस्य तस्यामितपराक्रमः ॥ ३६ ॥
निकामवर्षी पर्जन्यो बभूव जनमेजय ।
प्रसादयामास च तमगस्त्यं त्रिदशेश्वरः ।
स्वयमभ्येत्य राजर्षे पुरस्कृत्य बृहस्पतिम् ॥ ३७ ॥
ततो यज्ञसमाप्तौ तान्विससर्ज महामुनीन् ।
अगस्त्यः परमप्रीतः पूजयित्वा यथाविधि ॥ ३८ ॥

जनमेजय उवाच– कोऽसौ नकुलरूपेण शिरसा काञ्चनेन वै ।

हैं, न्यायसे उपार्जित वस्तुओंको भोजन करके उस ही कार्यमें अभिरत होंगे। हम लोग न्यायके अनुसार ब्रह्मचर्यसे देवताओंकी प्रार्थना करते हैं, इसके अनन्तर न्यायके अनुसार ही गृहसे बाहिर होंगे और धर्मदृष्ट विधिके सहारे तपस्या करेंगे। हे प्रभु ! आप जो यज्ञमें सदा अहिंसाका विषय कहा करते हैं, उसही निमित्त आपकी बुद्धि पूरी रीतिसे हिंसाविहीन हुई है। हे द्विज-सत्तम ! इस ही लिये हम अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं; यज्ञकी समाप्ति होनेपर हम लोग यहांसे गमन करेंगे। उन लोगोंके इसही प्रकार वार्तालाप करते रहनेपर देवराज पुरन्दर उनके तपोबलको देखके जलकी वर्षा करने लगे। हे जनमेजय ! अगस्त्यमुनिके यज्ञकी समाप्तिपर्यन्त अमित पराक्रमी पर्जन्य निःशेषरूपसे वर्षा करने लगा। हे राजर्षि ! त्रिदशनाथ इन्द्रने बृहस्पतिको आगे करके स्वयं अगस्त्य मुनिके निकट आके उन्हें प्रसन्न किया। अनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर अगस्त्य मुनिने परम प्रसन्न होकर उन महामुनियोंकी विधिपूर्वक पूजा करके उन्हें बिदा किया। (३०— ३८)

प्राह मानुषवद्वाचमेतत्पृष्टो वदस्व मे ॥ ३९ ॥
वैशम्पायन उवाच- एतत्पूर्वं न पृष्टोऽहं न चास्माभिः प्रभाषितम्।
श्रूयतां नकुलो योऽसौ यथा वाक्तस्य मानुषी ॥ ४० ॥
श्राद्धं संकल्पयामास जमदग्निः पुरा किल।
होमधेनुस्तमागाच्च स्वयमेव दुदोह ताम् ॥ ४१ ॥
तत्पयः स्थापयामास नवे भाण्डे दृढे शुचौ।
तच्च क्रोधस्वरूपेण पिठरं धर्म आविशत् ॥ ४२ ॥
जिज्ञासुस्तमृषिश्रेष्ठं किं कुर्याद्विप्रिये कृते।
इति संचिन्त्य धर्मः स धर्षयामास तत्पयः ॥ ४३ ॥
तमाज्ञाय मुनिः क्रोधं नैवास्य स चुकोप ह।
स तु क्रोधस्ततो राजन् ब्राह्मणीं मूर्तिमास्थितः।
जिते तस्मिन् भृगुश्रेष्ठमभ्यभाषदमर्षणः ॥ ४४ ॥
जितोऽस्मीति भृगुश्रेष्ठ भृगवो ह्यतिरोषणाः।
लोके मिथ्याप्रवादोऽयं यत्त्वयाऽस्मि विनिर्जितः ॥४५॥

जनमेजय बोले, हे सत्तम! जिस काञ्चनाशिरा नकुलरूपी प्राणीने मनुष्यकी भांति वचन कहा, वह कौन था? मैं उसे जाननेकी इच्छा करता हूं, आप मेरे समीप यह विषय विस्तारपूर्वक कहिये। (३९)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, आपने पहले मुझसे यह विषय नहीं पूछा था, इसीलिये मैंने इसका वर्णन नहीं किया; परन्तु अब वह नकुल कौन था और किस प्रकार उसका मनुष्यकी भांति वचन हुआ, वह सब कहता हूं, सुनो। पहले जमदग्नि ऋषिके श्राद्धका सङ्कल्प करनेपर होमधेनु उनके निकट आई, उन्होंने स्वयं उसका दूध दूहा। उन्होंने उस दूधको पवित्र स्थानमें दृढ नवीन बर्तनमें रखा, तब धर्मने क्रोधरूपसे उस बर्तनमें प्रवेश किया। अनन्तर "ऋषिवर जमदग्निको विप्रिय करना योग्य है," ऐसी बात जाननेके निमित्त उस दूधको धर्षित किया। हे महाराज! मुनिने उस समय धर्मस्वरूप क्रोधको जानके उसके ऊपर क्रोध नहीं किया। क्रोधरूपी धर्म भृगुश्रेष्ठ जमदग्निके निकट इस ही प्रकार पराजित होके ब्राह्मणका रूप धरके उनसे बोले, हे भृगूद्वह! मैं तुमसे पराजित हुआ। हे ऋषिश्रेष्ठ! तुमसे मेरे निर्जित होनेसे भृगुवंश अत्यन्त रोषान्वित है, यह लोकप्रवाद मिथ्या हुआ। तुम महात्मा

वशे स्थितोऽहं त्वयद्य क्षमावति महात्मनि ।
बिभेमि तपसः साधो प्रसादं कुरु मे प्रभो ॥ ४६ ॥
जमदग्निरुवाच– साक्षाद् दृष्टोऽसि मे क्रोध गच्छ त्वं विगतज्वरः ।
न त्वयाऽपकृतं मेऽद्य न च मे मन्युरस्ति वै ॥ ४७ ॥
यान्समुद्दिश्य संकल्पः पयसोऽस्य कृतो मया ।
पितरस्ते महाभागास्तेभ्यो बुद्ध्यस्व गम्यताम् ॥४८॥
इत्युक्तो जातसंत्रासस्तत्रैवान्तरधीयत ।
पितृणामभिषङ्गाच्च नकुलत्वमुपागतः ॥ ४९ ॥
स तान्प्रसादयामास शापस्यान्तो भवेदिति ।
तैश्चाप्युक्तः क्षिपन्धर्मं शापस्यान्तमवाप्स्यसि ॥ ५० ॥
तैश्चोक्तो यज्ञियान्देशान्धर्मारण्यं तथैव च ।
जुगुप्समानो धावन्स तं यज्ञं समुपासदत् ॥ ५१ ॥
धर्मपुत्रमथाक्षिप्य सक्तुप्रस्थेन तेन सः ।
मुक्तः शापात्ततः क्रोधो धर्मो ह्यासीद्युधिष्ठिरः ॥५२॥
एवमेतत्तदा वृत्तो यज्ञं तस्य महात्मनः ।

और क्षमावान् हो, इसलिये आजसे मैं तुम्हारे वशवर्ती हुआ। हे साधु! मैं तुम्हारी तपस्यासे डरता हूं, इसलिये तुम मुझपर प्रसन्न होओ। (४०-४६)

जमदग्नि बोले, हे क्रोध! आप साक्षात् दीख पडे, आपने मेरा कुछ अपराध नहीं किया, इसलिये मुझे क्रोध नहीं है, आप शोकरहित होकर जाइये। मैंने जो पितरोंके उद्देश्यसे दूधके निमित्त सङ्कल्प किया था, आप उन महाभाग पितरोंके निकटही जान सकेंगे; इस समय जाइये। क्रोधरूपी धर्म जमदग्निका ऐसा वचन सुनके त्रास-पूर्वक अन्तर्हित हुए और पितरोंके अभिशापवशसे नकुलत्वको प्राप्त हुए। उन्होंने शापान्तके निमित्त उन लोगोंको प्रसन्न किया, तब उन्होंने कहा, कि आप धर्मकी निन्दा करके पापसे मुक्त होंगे। धर्म उन लोगोंका ऐसा वचन सुनके नेवलरूपसे यज्ञीय स्थान तथा धर्मारण्यमें विचरते हुए यज्ञमें उपस्थित हुआ और वहां युधिष्ठिरको "तुम्हारा यज्ञ उस सक्तूप्रस्थके सदृश नहीं है" इसही प्रकार निन्दा करते हुए उस शापसे मुक्त हुआ और युधिष्ठिरसे बोला हे युधिष्ठिर! तुमही साक्षात् धर्म हो। उस समय उस महात्मा युधिष्ठिरके यज्ञमें ऐसी घटना होनेपर हम लोगोंके

पश्यतां चापि नस्तत्र नकुलोऽन्तर्हितस्तदा ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि नकुलोपाख्याने द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

॥ समाप्तमनुगीतापर्वाश्वमेधिकं च ॥

अतः परमाश्रमवासिकं पर्व भविष्यति । तस्यायमाद्यः श्लोकः ॥

प्राप्य राज्यं नरव्याघ्राः पाण्डवा मे पितामहाः ।
कथमासन्महाभागा धृतराष्ट्रे महात्मनि ॥ १ ॥

॥ अश्विमेधपर्वण्यभिवृत्तांताः । व्यासवाक्यं । संवर्तमरुत्तीयं । अनुगीता । वासुदेवागमनं । ब्राह्मणगीता । गुरुशिष्यसंवादः । उत्तंकोपाख्यानं । द्वारकाप्रवेशः । पाण्डवप्रयाणं । निधिलाभः । परिक्षिज्जन्म । स्त्रीविलापः । बालसंजीवनं । सुवर्णानयनं । अश्वपरीक्षा । हयरक्षणं । बभ्रुवाहनविजयः । अश्वमेधयज्ञः । नकुलोपाख्यानं ।

सामने ही वह नेवल अन्तर्धान हुआ । (४७-५३)

आश्वमेधिकपर्वमें ९२ अध्याय समाप्त ।

आश्वमेधिकपर्व समाप्त ।

श्लोक-संख्या ।

१-१३	अनुशासनके अन्ततक	७९५७२
१४	आश्वमेधिकपर्व	२८४८
		८२४२०

आश्वमेधिकपर्वकी

विषयसूची।

ॐ

श्री–महर्षि--व्यास--प्रणीत

महाभारत।

(१५)आश्रमवासिकपर्व।

(भाषाभाष्यसमेत ।)

संपादक और प्रकाशक ।
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

संवत् १९८९,
शक १८५४,
सन १९३२.

धृतराष्ट्रमुपातिष्ठद्विदुरः सञ्जयस्तथा ।
वैश्यापुत्रश्च मेधावी युयुत्सुः कुरुसत्तम ॥ ५ ॥
पाण्डवाः सर्वकार्याणि संपृच्छन्ति स्म तं नृपम् ।
चक्रुस्तेनाभ्यनुज्ञाता वर्षाणि दश पञ्च च ॥ ६ ॥
सदा हि गत्वा ते वीराः पर्युपासन्त तं नृपम् ।
पादाभिवादनं कृत्वा धर्मराजमते स्थिताः ॥ ७ ॥
ते मूर्ध्नि समुपाघ्राताः सर्व कार्याणि चक्रिरे ।
कुन्तिभोजसुता चैव गान्धारीमन्ववर्तत ॥ ८ ॥
द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चान्याः पाण्डवस्त्रियः ।
समां वृत्तिमवर्तन्त तयोः श्वश्र्वोर्यथाविधि ॥ ९ ॥
शयनानि महार्हाणि वासांस्याभरणानि च ।
राजार्हाणि च सर्वाणि भक्ष्यभोज्यान्यनेकशः ॥१०॥
युधिष्ठिरो महाराज धृतराष्ट्रेऽभ्युपाहरत् ।
तथैव कुन्ती गान्धार्यां गुरुवृत्तिमवर्तत ॥ ११ ॥
विदुरः सञ्जयश्चैव युयुत्सुश्चैव कौरव ।
उपासते स्म तं वृद्धं हतपुत्रं जनाधिपम् ॥ १२ ॥
श्यालो द्रोणस्य यश्चासीद्दयितो ब्राह्मणो महान् ।
स च तस्मिन्महेष्वासः कृपः समभवत्तदा ॥ १३ ॥

करके राज्य पालन करने लगे। विदुर, सञ्जय और वैश्यापुत्र मेधावी युयुत्सु, ये सब कोई धृतराष्ट्रकी आराधना करने लगे। पाण्डव लोग उस राजा धृतराष्ट्रसे पूंछ पूंछकर पन्दरह वर्षतक उनकी आज्ञानुसार सब कार्य करते रहे; धर्मराजके मतके अनुसार वीरश्रेष्ठ पाण्डवगण सर्वदा उनके निकट जाके पादाभिवन्दन करते हुए उनकी सेवा करने लगे, राजा धृतराष्ट्रने उनका मस्तक सूंघा और वे लोग सब कार्य करने लगे। कुन्तिभोज-पुत्री कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा तथा अन्यान्य पाण्डवोंकी स्त्रियें समभावसे विधिपूर्वक श्वशुर और सासकी सेवा करने लगीं। (४-९)

हे महाराज ! युधिष्ठिरने राजा धृतराष्ट्रको राजयोग्य शय्या, महामूल्यवान् वस्त्र, आभूषण तथा अनेक भांतिके भक्ष्यभोज्य प्रदान किये और कुन्ती गान्धारीका गुरुकी भांति सम्मान करने लगी। विदुर, सञ्जय और युयुत्सु उस हतपुत्र बूढे धृतराष्ट्रकी उपासना करने

व्यासश्च भगवान्नित्यमासांचक्रे नृपेण ह ।
कथाः कुर्वन्पुराणर्षिर्देवर्षिपितृरक्षसाम् ॥ १४ ॥
धर्मयुक्तानि कार्याणि व्यवहारान्वितानि च ।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो विदुरस्तान्यकारयत् ॥ १५ ॥
सामन्तेभ्यः प्रियाण्यस्य कार्याणि सुबहून्यपि ।
प्राप्यन्तेऽर्थैः सुलघुभिः सुनयाद्विदुरस्य वै ॥ १६ ॥
अकरोद्बन्धमोक्षं च बध्यानां मोक्षणं तथा ।
न च धर्मसुतो राजा कदाचित्किंचिदब्रवीत् ॥ १७ ॥
विहारयात्रासु पुनः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
सर्वान्कामान्महातेजाः प्रददावाम्बिकासुते ॥ १८ ॥
आरालिकाः सूपकारा रागखाण्डविकास्तथा ।
उपातिष्ठन्त राजानं धृतराष्ट्रं यथा पुरा ॥ १९ ॥
वासांसि च महार्हाणि माल्यानि विविधानि च ।
उपाजहुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः ॥ २० ॥
मैरेयमत्स्यमांसानि पानकानि मधूनि च ।
चित्रान्भक्ष्यविकारांश्च चक्रुस्तस्य यथा पुरा ॥ २१ ॥

लगे; द्रोणके प्रिय साले महाधनुर्धारी ब्राह्मणश्रेष्ठ कृपाचार्य धृतराष्ट्रके निकट रहे। पुराण ऋषि श्रीवेदव्यास मुनिने सदा देव, ऋषि, पितर और राक्षसोंकी कथा कहते हुए उनके निकट निवास किया, विदुर धृतराष्ट्रकी आज्ञानुसार धर्म और व्यवहारयुक्त कार्योंको करने लगे। विदुरकी सुन्दर नीतिके अनुसार सुलघु अर्थके सहारे सामन्तगणके निकट धृतराष्ट्रका बहुतसा प्रिय कार्य सम्पादित होने लगा। (१०-१६)

जब वह किसी पुरुषको कैद करते वा कैद हुए को छोडते थे, तब उस विषयमें राजा युधिष्ठिर कदापि कोई वार्ता उल्लेख नहीं करते थे। विहार तथा यात्राके समयके निमित्त महा तेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिरने अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रको समस्त काम्य विषय प्रदान किये; आरालिक अर्थात् शाकपाचक और पिप्पली, शुण्ठी तथा शर्करोपेत मुद्गपाचकगण पहलेकी भांति राजा धृतराष्ट्रकी सेवा करने लगे और वे पांडु-पुत्र धृतराष्ट्रको महामूल्यवान् विविध वस्त्र, माला, मैरेय, मत्स्य, मांस, पीनेकी वस्तु, मधु और विचित्र विविध भक्ष्य वस्तु प्रदान करने लगे। (१७-२१)

ये चापि पृथिवीपालाः समाजग्मुस्ततस्ततः ।
उपातिष्ठन्त ते सर्वे कौरवेन्द्रं यथा पुरा ॥ २२ ॥
कुन्ती च द्रौपदी चैव सात्वती च यशस्विनी ।
उलूपी नागकन्या च देवी चित्राङ्गदा तथा ॥ २३ ॥
धृष्टकेतोश्च भगिनी जरासन्धसुता तथा ।
एताश्चान्याश्च बह्व्यो वै योषितः पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥
किंकराः पर्युपातिष्ठन्सर्वाः सुबलजां तथा ।
यथा पुत्रवियुक्तोऽयं न किंचिद्दुःखमाप्नुयात् ॥ २५ ॥
इति तानन्वशाद्भ्रातॄन्नित्यमेव युधिष्ठिरः ।
एवं ते धर्मराजस्य श्रुत्वा वचनमर्थवत् ॥ २६ ॥
सविशेषमवर्तन्त भीममेकं तदा विना ।
न हि तत्तस्य वीरस्य हृदयादपसर्पति ।
धृतराष्ट्रस्य दुर्बुद्ध्या यद्वृत्तं द्यूतकारितम् ॥ २७ ॥

इति श्रीम० शत० संहि० वैया० आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच- एवं संपूजितो राजा पाण्डवैरम्बिकासुतः ।
विजहार यथापूर्वमृषिभिः पर्युपासितः ॥ १ ॥
ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च प्रददौ स कुरूद्वहः ।

जो सब राजा अनेक देशोंसे वहांपर आये थे, वे सब पहलेकी भांति उनकी सेवा करने लगे। इधर कुन्ती, द्रौपदी, यशस्विनी सुभद्रा नागराजपुत्री उलूपी, चित्राङ्गदा देवी, धृष्टकेतुकी बहिन और जरासन्धकी पुत्री, ये सब कोई तथा अन्यान्य स्त्रियें वा वधूगण किङ्करी होकर सुबलपुत्री गान्धारीकी सेवा करने लगीं। उस कुरुराज धृतराष्ट्रको पुत्रवियोगसे कोई कुछ दुःख उपस्थित न हो, ऐसा वर्ताव करो, ऐसी युधिष्ठिरने अपने भाइयोंको आज्ञा दी; परन्तु धृतराष्ट्रकी दुर्बुद्धिसे जो जुआ हुआ था, वह उस समयतक भीमके हृदयसे दूर न होनेसे भीमसेनके अतिरिक्त सब भ्राता धर्मराजके अर्थयुक्त वचनानुसार यत्नपूर्वक उस कार्यमें प्रवृत्त हुए। (२२-२७)

आश्रमवासिकपर्वमें १ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें २ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अम्बिका-पुत्र राजा धृतराष्ट्र पाण्डवोंके द्वारा इस प्रकार पूजित और ऋषियोंसे समुपासित होकर पहलेकी भांति विहार करने लगे। कुरुकुलतिलक राजा धृतराष्ट्रने ब्राह्मणों-

तच्च कुन्तीसुतो राजा सर्वमेवान्वपद्यत ॥ २ ॥
आनृशंस्यपरो राजा प्रीयमाणो युधिष्ठिरः ।
उवाच स तदा भ्रातृनमात्यांश्च महीपतिः ॥ ३ ॥
मया चैव भवद्भिश्च मान्य एष नराधिपः ।
निदेशे धृतराष्ट्रस्य यस्तिष्ठति स मे सुहृत् ॥ ४ ॥
विपरीतश्च मे शत्रुर्नियम्यश्च भवेन्नरः ।
पितृवृत्तेषु चाहःसु पुत्राणां श्राद्धकर्मणि ॥ ५ ॥
सुहृदां चैव सर्वेषां यावदस्य चिकीर्षितम् ।
ततः स राजा कौरव्यो धृतराष्ट्रो महामनाः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणेभ्यो यथार्हेभ्यो ददौ वित्तान्यनेकशः ।
धर्मराजश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि ॥ ७ ॥
तत्सर्वमन्ववर्तन्त तस्य प्रियचिकीर्षया ।
कथं नु राजा वृद्धः स पुत्रपौत्रवधार्दितः ॥ ८ ॥
शोकमस्मत्कृतं प्राप्य न म्रियेतेति चिन्त्य ते ।
यावद्धि कुरुवीरस्य जीवत्पुत्रस्य वै सुखम् ॥ ९ ॥
बभूव तदवाप्नोति भोगांश्चेति व्यवस्थिताः ।

को देनेयोग्य जिन सब उत्कृष्ट हारोंको प्रदान करनेकी अभिलाष की, कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने वह सब उन्हें प्रदान किये । अनन्तर सरलस्वभाववाले राजा युधिष्ठिरने परम प्रसन्न होकर मन्त्रियों और भाइयोंसे कहा, कि ये नरनाथ राजा धृतराष्ट्र हमारे तथा तुम लोगोंके माननीय हैं; इसलिये जो लोग इनके अनुकूल रहेंगे, वेही हमारे सुहृद कहके परिगणित होंगे और जो लोग इनके विपरीत आचरण करेंगे, वे शत्रुरूपसे समझे जावेंगे; पितृदिन, तथा पुत्र वा सुहृदोंके श्राद्धकालमें इनकी जो कुछ करनेकी इच्छा होगी, ये वही करेंगे। (१–६)

तिसके अनन्तर कुरुकुलतिलक महामना राजा धृतराष्ट्र युधिष्ठिरकी सम्मतिके अनुसार ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दान करने लगे। धर्मराज, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव इन सबने उनकी प्रियकामनासे उस विषयका अनुमोदन किया और उन लोगोंने मनही मन ऐसा विचारा, कि जब ये बूढे राजा पुत्र तथा पौत्रवधसे पीडित और हम लोगोंके द्वारा शोकित होके भी नहीं मरे, तब ये कुरुपति धृतराष्ट्र पुत्रके रहनेपर

ततस्ते सहिताः पञ्च भ्रातरः पाण्डुनन्दनाः ॥ १० ॥
यथाशीलाः समातस्थुर्धृतराष्ट्रस्य शासने ।
धृतराष्ट्रश्च तान् सर्वान्विनीतान्नियमे स्थितान् ॥ ११ ॥
शिष्यवृत्तिं समापन्नान्गुरुवत्प्रत्यपद्यत ।
गान्धारी चैव पुत्राणां विविधैः श्राद्धकर्मभिः ॥ १२ ॥
आनृण्यमगमत्कामान्विप्रेभ्यः प्रतिपाद्य सा ।
एवं धर्मभृतां श्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान् पूजयामास तं नृपम् ।
वैशम्पायन उवाच- स राजा सुमहातेजा वृद्धः कुरुकुलोद्वहः ॥ १४ ॥
न ददर्श तदा किंचिदप्रियं पाण्डुनन्दने ।
वर्तमानेषु सद्वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १५ ॥
प्रीतिमानभवद्राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
सौबलेयी च गान्धारी पुत्रशोकमपास्य तम् ॥ १६ ॥
सदैव प्रीतिमत्यासीत्तनयेषु निजेष्विव ।
प्रियाण्येव तु कौरव्यो नाप्रियाणि कुरूद्वहः ॥ १७ ॥
वैचित्रवीर्ये नृपतौ समाचरत वीर्यवान् ।

जिस प्रकार सुखभोग करते थे, इस समय भी उन सब सुखोंको भोग करें। (६-१०)

तिसके अनन्तर वे पाण्डुपुत्र वैसे स्वभावसे युक्त पांचों भाई एकत्रित होकर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे निवास करने लगे। धृतराष्ट्र भी शिष्यवृत्तियुक्त नियममें स्थित विनीत उन पाण्डुपुत्रोंके विषयमें गुरुकी भांति आचरण करने लगे। इधर गान्धारीने पुत्रोंके विविध श्राद्ध-कार्यके उपलक्षमें ब्राह्मणोंको सब काम्य वस्तु दान करके अनृण्य लाभ किया। धार्मिकश्रेष्ठ धीमान् धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंसे घिरके इस ही प्रकार उस नरनाथ धृतराष्ट्रकी सेवा करते रहे। (१०—१४)

वैशम्पायन बोले, जब उस कुरुकुलोद्वह महातेजस्वी वृद्ध राजाने पाण्डुपुत्रोंका कुछ भी अप्रिय कार्य न देखा, तब उस समय वह सद्वृत्तिसम्पन्न महात्मा पाण्डवोंके ऊपर प्रसन्न हुए। सुबलपुत्री गान्धारी भी पाण्डवोंकी वृत्ति देखकर पुत्रशोक परित्याग करके निजपुत्रकी भांति उन लोगोंके विषयमें सन्तुष्ट हुई।

यद्यद् ब्रूते च किञ्चित्स धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥ १८ ॥
गुरु वा लघु वा कार्यं गान्धारी च तपस्विनी ।
तं स राजा महाराज पाण्डवानां धुरन्धरः ॥ १९ ॥
पूजयित्वा वचस्तत्तदकार्षीत्परवीरहा ।
तेन तस्याभवत्प्रीतो वृत्तेन स नराधिपः ॥ २० ॥
अन्वतप्यत संस्मृत्य पुत्रं तं मन्दचेतसम् ।
सदा च प्रातरुत्थाय कृतजप्यः शुचिर्नृपः ॥ २१ ॥
आशास्ते पाण्डुपुत्राणां समरेष्वपराजयम् ।
ब्राह्मणान्स्वस्तिवाच्याथ हुत्वा चैव हुताशनम् ॥२२॥
आयूंषि पाण्डुपुत्राणामाशंसत नराधिपः ।
न तां प्रीतिं परामाप पुत्रेभ्यः स कुरूद्वहः ॥ २३ ॥
यां प्रीतिं पाण्डुपुत्रेभ्यः सदावाप नराधिपः ।
ब्राह्मणानां यथावृत्तः क्षत्रियाणां यथाविधः ॥ २४ ॥
तथा विट्शूद्रसंघानामभवत्स प्रियस्तदा ।
यच्च किञ्चित्तदा पापं धृतराष्ट्रसुतैः कृतम् ॥ २५ ॥

कुरुप्रवीर वीर्यवान् युधिष्ठिर विचित्रपुत्र राजा धृतराष्ट्रके विषयमें अप्रिय आचरण न करके केवल प्रिय कार्य ही करने लगे; प्रजानाथ धृतराष्ट्र और तपस्विनी गान्धारीने गुरु वा लघु जो कुछ कहा पाण्डवभारवाही परवीरघाती महाराज युधिष्ठिरने उनकी पूजा करके उस वचन-को प्रतिपालन किया । (१४-२०)

नरनाथ धृतराष्ट्र युधिष्ठिरके व्यव-हारसे प्रसन्न होकर उस मन्दबुद्धि निजपुत्रको स्मरण करके अनुताप करने लगे । अनन्तर राजा धृतराष्ट्र प्रतिदिन भोरके समय उठके सन्ध्या और जप आदि दैवकार्योंको सम्पन्न करते हुए पवित्र चित्तसे पाण्डुपुत्रोंके लिये युद्धमें अपराजयकी आकांक्षा करने लगे । ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराके अग्निमें आहुति देते हुए पाण्डुपुत्रोंके लिये अपरिमित आयुकी अभिलाष करते रहे । वह कुरुपति पाण्डुपुत्रोंके निकट जिस प्रकार सदा प्रसन्न हुए, उन्हें निज पुत्रोंके निकट वैसी प्रसन्नता प्राप्त न हुई । (२०—२४)

उस समय वे यथोक्तवृत्त तथा यथोक्तविधानवित् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके समादरणीय हुए । धृतराष्ट्रके पुत्रोंने उनके विषयमें जो अनिष्टाचरण किया था, उस समय वे

अकृत्वा हृदि तत्पापं तं नृपं सोऽन्ववर्तत ।
यश्च कश्चिन्नरः किञ्चिदप्रियं चाऽम्बिकासुते ॥ २६ ॥
कुरुते द्वेष्यतामेति स कौन्तेयस्य धीमतः ।
न राज्ञो धृतराष्ट्रस्य न च दुर्योधनस्य वै ॥ २७ ॥
उवाच दुष्कृतं कश्चिद्युधिष्ठिरभयान्नरः ।
धृत्या तुष्टो नरेन्द्रः स गान्धारी विदुरस्तथा ॥ २८ ॥
शौचेन चाजातशत्रोर्न तु भीमस्य शत्रुहन् ।
अन्ववर्तत भीमोऽपि निश्चितो धर्मजं नृपम् ॥ २९ ॥
धृतराष्ट्रं च संप्रेक्ष्य सदा भवति दुर्मनाः ।
राजानमनुवर्तन्तं धर्मपुत्रममित्रहा ॥
अन्ववर्तत कौरव्यो हृदयेन पराङ्मुखः ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच-युधिष्ठिरस्य नृपतेर्दुर्योधनपितुस्तदा ।
नान्तरं ददृशू राज्ये पुरुषाः प्रणयं प्रति ॥ १ ॥
यदा तु कौरवो राजा पुत्रं सस्मार दुर्मतिम् ।

लोग उस विषयको हृदयसे निकालके नरनाथ धृतराष्ट्रके अत्यन्त अनुवर्ती हुए; उस समय जिस किसी पुरुषने अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रका तनिक भी अप्रिय कार्य किया, उसे ही कुन्तीपुत्र बुद्धिमान् धर्मराजने अपना शत्रु समझा। युधिष्ठिरके भयसे कोई मनुष्य ही राजा धृतराष्ट्र वा दुर्योधनके विषयमें दोषारोप करनेमें समर्थ न हुआ। हे शत्रुनाशन! गान्धारी और विदुर अजातशत्रु नरनाथ युधिष्ठिरके धीरज और शौचाचारसे जिस प्रकार सन्तुष्ट हुए, भीमके विषयमें वैसे सन्तुष्ट नहीं हुए। भीम भी धर्मपुत्र युधिष्ठिर राजाके अनुवर्ती होकर सदा धृतराष्ट्रका दर्शन करते हुए शोकितचित्त हुए। शत्रुघाती कुरुवंशावतंस-भीम धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रके अनुवर्ती देखकर मन ही मन पराजित होकर उनके अनुवर्ती हुए। (२४-३०)

आश्रमवासिकपर्वमें २ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ३ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जनपदवासी सब पुरुष राज्यके बीच राजा युधिष्ठिर और दुर्योधनके पिता नरनाथ धृतराष्ट्रकी प्रीतिके विषयमें कुछ भी

तदा भीमं हृदा राजन्नपध्याति स पार्थिवः ॥ ३ ॥
तथैव भीमसेनोऽपि धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
नामर्षयत राजेन्द्र सदैव दुष्टवद्धृदा ॥ ३ ॥
अप्रकाशान्यप्रियाणि चकारास्य वृकोदरः ।
आज्ञां प्रत्याहरच्चापि कृतकैः पुरुषैः सदा ॥ ४ ॥
स्मरन्दुर्मन्त्रितं तस्य वृत्तान्यप्यस्य कानिचित ।
अथ भीमः सुहृन्मध्ये बाहुशब्दं तथाऽकरोत ॥ ५ ॥
संश्रवे धृतराष्ट्रस्य गान्धार्याश्चाप्यमर्षणः ।
स्मृत्वा दुर्योधनं शत्रुं कर्णदुःशासनावपि ॥ ६ ॥
प्रोवाचेदं सुसंरब्धो भीमः स्वपरुषं वचः ।
अन्धस्य नृपतेः पुत्रा मया परिघबाहुना ॥ ७ ॥
नीता लोकममुं सर्वे नानाशस्त्रास्त्रयोधिनः ।
इमौ तौ परिघप्रख्यौ भुजौ मम दुरासदौ ॥ ८ ॥
ययोरन्तरमासाद्य धार्तराष्ट्राः क्षयं गताः ।
ताविमौ चन्दनेनाक्तौ चन्दनार्हौ च मे भुजौ ॥ ९ ॥
याभ्यां दुर्योधनो नीतः क्षयं ससुतबान्धवः ।

अन्तर न मालूम कर सके ! (१)

हे महाराज ! जब राजा धृतराष्ट्र दुर्मति पुत्रको स्मरण करते थे, तब वह भीमको अपराधी नहीं समझते थे । इस ही लिये भीम भी सदा दुष्टकी भांति नरनाथ धृतराष्ट्रके विषयमें कोप नहीं करते थे, उसके अनन्तर वृकोदर धृतराष्ट्रके परोक्षमें अप्रिय कार्य करते हुए सदा कृतक पुरुषोंके द्वारा उनकी आज्ञा पालन करते थे । भीमसेन धृतराष्ट्रके किसी कार्य तथा दुर्योधनके बुरे विचारको स्मरण करके सुहृदोंके बीच ताल ठोंकते थे । (२—५)

एक बार भीमसेन धृतराष्ट्र और गान्धारीके समीप शत्रु दुर्योधन, कर्ण और दुःशासनकी प्रशंसा सुनके अत्यन्त कुपित होकर अभिमानपूर्वक इस प्रकार कठोर वाक्य कहने लगे, कि अनेक शस्त्र और अस्त्रधारी महायोद्धा अन्धे राजा धृतराष्ट्रके पुत्रगण मेरी परिघसदृश दोनों भुजाके सहारे इस लोकमें मारे गये; धार्तराष्ट्रगण जिन भुजाओंके बीचमें पडके नष्ट हुए, मेरी ये वेही परिघसदृश दुरासद दोनों भुजा विद्यमान हैं, जिन भुजाओंके द्वारा सुयोधन पुत्र और सुहृदोंके सहित नष्ट हुआ, मेरी ये

एताश्चान्याश्च विविधाः शल्यभूता नराधिपः ॥ १० ॥
वृकोदरस्य ता वाचः श्रुत्वा निर्वेदमागमत् ।
सा च बुद्धिमती देवी कालपर्यायवेदिनी ॥ ११ ॥
गान्धारी सर्वधर्मज्ञा तान्यलीकानि शुश्रुवे ।
ततः पञ्चदशे वर्षे समतीते नराधिपः ॥ १२ ॥
राजा निर्वेदमापेदे भीमवाग्बाणपीडितः ।
नान्वबुध्यत तद्राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
श्वेताश्वो वाऽथ कुन्ती वा द्रौपदी वा यशस्विनी ।
माद्रीपुत्रौ च धर्मज्ञौ चित्तं तस्यान्ववर्तताम् ॥ १४ ॥
राज्ञस्तु चित्तं रक्षन्तो नोचतुः किञ्चिदप्रियम् ।
ततः समानयामास धृतराष्ट्रः सुहृज्जनम् ॥ १५ ॥
बाष्पसंदिग्धमत्यर्थमिदमाह च तान्भृशम् ।
धृतराष्ट्र उवाच– विदितं भवतामेतद्यथा वृत्तः कुरुक्षयः ॥ १६ ॥
ममापराधात्तत्सर्वमनुज्ञातं च कौरवैः ।
योऽहं दुष्टमतिं मन्दो ज्ञातीनां भयवर्धनम् ॥ १७ ॥
दुर्योधनं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम् ।

चन्दनार्ह दोनों भुजा सुगन्ध चन्दनसे चर्चित होकर शोभित होती हैं। (६–१०)

नरनाथ धृतराष्ट्रने भीमके शल्य-सदृश ऐसे तथा अन्य प्रकारके वचन सुनकर परम दुःख पाया; परन्तु वह बुद्धिमती समयकी गति जाननेवाली सर्वधर्मज्ञा गान्धारीने भीमसेनके उस वचनको अलीक समझा। तिसके अनन्तर पन्द्रह वर्ष बीतनेपर राजा धृतराष्ट्र भीमके वाग्बाणसे पीडित होकर परम दुःखको प्राप्त हुए। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर, श्वेताश्व अर्जुन, धर्मज्ञ माद्रीपुत्र नकुल, सहदेव, कुन्ती और यशस्विनी द्रौपदी,–ये लोग उस विषयको न जाननेके हेतु उनके चित्तके अनुवर्ती हुए; परन्तु उन लोगोंने राजाके चित्तकी रक्षा करते हुए कुछ अप्रिय वचन न कहा। अनन्तर धृतराष्ट्र आंखोंमें आंसू भरके सुहृदोंको सम्मानित करते हुए उन लोगोंसे कहने लगे। (१०–१६)

धृतराष्ट्र बोले, जिस प्रकार कुरुकुल का नाश हुआ है, उसे तुम लोग विशेष रीतिसे जानते हो, मेरे ही अपराधसे कौरवोंके द्वारा वह सब किया गया है। मैंने जो दुर्बुद्धिवश स्वजनोंके भयवर्धक दुर्योधनको कौरवोंके राज्यपर अभिषिक्त

यच्चाहं वासुदेवस्य नाश्रौषं वाक्यमर्थवत् ॥ १८ ॥
वध्यतां साध्वयं पापः सामात्य इति दुर्मतिः ।
पुत्रस्नेहाभिभूतस्तु हितमुक्तो मनीषिभिः ॥ १९ ॥
विदुरेणाथ भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च ।
पदे पदे भगवता व्यासेन च महात्मना ॥ २० ॥
सञ्जयेनाथ गान्धार्या तदिदं तप्यते च माम् ।
यच्चाहं पाण्डुपुत्रेषु गुणवत्सु महात्मसु ॥ २१ ॥
न दत्तवान् श्रियं दीप्तां पितृपैतामहीमिमाम् ।
विनाशं पश्यमानो हि सर्वराज्ञां गदाग्रजः ॥ २२ ॥
एतच्छ्रेयस्तु परमममन्यत जनार्दनः ।
सोऽहमेतान्यलीकानि निवृत्तान्यात्मनस्तदा ॥ २३ ॥
हृदये शल्यभूतानि धारयामि सहस्रशः ।
विशेषतस्तु पश्यामि वर्षे पञ्चदशेऽद्य वै ॥ २४ ॥
अस्य पापस्य शुद्ध्यर्थं नियतोऽस्मि सुदुर्मतिः ।
चतुर्थे नियते काले कदाचिदपि चाष्टमे ॥ २५ ॥
तृष्णाविनयनं भुञ्जे गान्धारी वेद तन्मम ।
करोत्याहारमिति मां सर्वः परिजनः सदा ॥ २६ ॥

किया था, उस दुर्मति दुर्योधनको मन्त्रियोंके सहित वध करनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र, मनीषी विदुर, भीष्म, द्रोण, कृप, महात्मा भगवान् व्यासदेव, सञ्जय और गान्धारीने जो सार्थक वचन कहे थे, उस हितकर वचनको मैंने जो पुत्रस्नेहसे युक्त होकर नहीं सुना और गुणवान् महात्मा पाण्डुपुत्रोंको यह पितृपैतामहसे प्राप्त प्रदीप्त श्री प्रदान नहीं की उसहीसे मैं इस समय दुःखित होरहा हूं। (१६–२२)

गदाग्रज जनार्दनने राजाओंके विनाशको अवलोकन करके ही इसे परम मङ्गल समझा था। निज दोषसे उत्पन्न हुए अपरिमित वचनरूपी शल्योंको मैं हृदयमें धारण करता हूं; पन्दरह वर्ष व्यतीत हुआ, आज यह विशेष दीखता है, कि मैं दुर्मति होनेसे उस पापकी शान्तिके लिये इस प्रकार निबद्ध हुआ हूं। मैं जो समयके चौथे भाग, कभी आठवें भागमें केवल तृष्णानिवारणके योग्य भोजन किया करता हूं, उसे गान्धारी ही जानती है। मेरे भूखा रहनेसे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर अत्यन्त दुःखी होंगे

युधिष्ठिरभयादेति भृशं तप्यति पाण्डवः ।
भूमौ शये जप्यपरो दर्भेष्वजिनसंवृतः ॥ २७ ॥
नियमव्यपदेशेन गान्धारी च यशस्विनी ।
हतं शतं तु पुत्राणां ययोर्युद्धेऽपलायिनाम् ॥ २८ ॥
नानुतप्यामि तच्चाहं क्षत्रधर्मं हि ते विदुः ।
इत्युक्त्वा धर्मराजानमभ्यभाषत कौरवः ॥ २९ ॥
भद्रं ते यादवीमातर्वचश्चेदं निबोध मे ।
सुखमस्म्युषितः पुत्र त्वया सुपरिपालितः ॥ ३० ॥
महादानानि दत्तानि श्राद्धानि च पुनः पुनः ।
प्रकृष्टं च मया पुत्र पुण्यं चीर्णं यथाबलम् ॥ ३१ ॥
गान्धारी हतपुत्रेयं धैर्येणोदीक्षते च माम् ।
द्रौपद्या ह्यपकर्तारस्तव चैश्वर्यहारिणः ॥ ३२ ॥
समतीता नृशंसास्ते स्वधर्मेण हता युधि ।
न तेषु प्रति कर्तव्यं पश्यामि कुरुनन्दन ॥ ३३ ॥
सर्वे शस्त्रभृतां लोकान् गतास्तेऽभिमुखं हताः ।
आत्मनस्तु हितं पुण्यं प्रतिकर्तव्यमद्य वै ॥ ३४ ॥

इसही भयसे मैं इस प्रकार भोजन करता हूं, कि जिसमें सारी प्रजा मुझे भूखा न समझे। यशस्विनी गान्धारी और मैं नियमच्छलसे अजिन पहरके ध्यानपरायण होकर पृथ्वीमें दर्भशय्यापर शयन किया करता हूं; युद्धमें जो मेरे न भागनेवाले एक सौ पुत्र मारे गये हैं, क्षत्रधर्म समझके मैं उस विषयमें शोक नहीं करता। (२२-२९)

कुरुनन्दन धृतराष्ट्र धर्मराज युधिष्ठिरसे ऐसा वचन कहके फिर उनसे कहने लगे। हे यादवीपुत्र! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम मेरा यह वचन सुनो। हे पुत्र! मैं तुमसे उत्तम रीतिसे रक्षित होकर सुखसे निवास करते हुए बार बार श्राद्ध और महादान करता हूं। हे पुत्र! मैं बलके अनुसार यथार्थ रीतिसे पुण्यसञ्चय करता हूं, इसीसे यह हतपुत्रा गान्धारी धीरज अवलम्बन करके उर्ध्व दृष्टिसे मेरा दर्शन करती है। हे कुरुनन्दन! जिन्होंने द्रौपदीकी बुराई की थी, वे नृशंस कौरवगण युद्धमें स्वधर्मके अनुसार मरके शस्त्रधरोंके लोकोंमें गये हैं, इसलिये उन लोगोंके विषयमें कुछ भी कर्तव्य नहीं देखता हूं। (२९-३४)

परन्तु इस समय भी मुझे तथा

गान्धार्याश्चैव राजेन्द्र तदनुज्ञातुमर्हसि ।
त्वं तु शस्त्रभृतां श्रेष्ठः सततं धर्मवत्सलः ॥ ३५ ॥
राजा गुरुः प्राणभृतां तस्मादेतद्ब्रवीम्यहम् ।
अनुज्ञातस्त्वया वीर संश्रयेयं वनान्यहम् ॥ ३६ ॥
चीरवल्कलभृद्राजन् गान्धार्या सहितोऽनया ।
तवाशिषः प्रयुञ्जानो भविष्यामि वनेचरः ॥ ३७ ॥
उचितं नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ ।
पुत्रेष्वैश्वर्यमाधाय वयसोऽन्ते वनं नृप ॥ ३८ ॥
तत्राहं वायुभक्षो वा निराहारोऽपि वा वसन् ।
पत्न्या सहानया वीर चरिष्यामि तपः परम् ॥ ३९ ॥
त्वं चापि फलभाक्तात तपसः पार्थिवो ह्यसि ।
फलभाजो हि राजानः कल्याणस्येतरस्य वा ॥ ४० ॥
युधिष्ठिर उवाच- न मां प्रीणयते राज्यं त्वय्येवं दुःखिते नृप ।
धिङ् ममास्तु सुदुर्बुद्धिं राज्यसक्तं प्रमादिनम् ॥४१॥
योऽहं भवन्तं दुःखार्तमुपवासकृशं भृशम् ।
जिताहारं क्षितिशयं न विन्दे भ्रातृभिः सह ॥ ४२ ॥

गान्धारीको निज हितके लिये पुण्यकर्म करना चाहिये, उस विषयमें तुम्हें अनुमति करनी उचित है। हे राजेन्द्र! तुम सब प्राणियोंके बीच श्रेष्ठ हो, सबके राजा, गुरु और सदा धर्मवत्सल हो; इसही लिये मैंने तुमसे ऐसा कहा है। हे राजन्! तुम्हारी अनुमति होनेसे मैं चीरवल्कल पहरके गान्धारीके सहित वनको अवलम्बन करूं। हे पुत्र! मैं वनवासी होके तुम्हें आशीर्वाद करते हुए निज कुलोचित कार्य करनेकी अभिलाष करता हूं। हे तात! मेरी अवस्था शेष हुई है, इस समय मैं पुत्रोंको ऐश्वर्य सौंपकर इस पत्नीके सहित वनमें जाकर वहां वायुभक्षी तथा निराहार होकर परम तपस्या करूंगा, तो तुम भी पृथ्वीपति होनेसे तपस्याके फलभागी होंगे; क्यों कि राजा लोग सत् तथा असत् कार्यके फलभागी हुआ करते हैं। (३४-४०)

युधिष्ठिर बोले, हे नरनाथ! आपके इस प्रकार दुःखित होनेसे यह राज्य मुझे प्रीतिकर न होगा। मैं अत्यन्त दुर्बुद्धि, राज्यासक्त और प्रमादी हूं, इसलिये मुझे धिक्कार है, क्यों कि भाइ-योंके सहित आपको दुःखार्त, उपवाससे

अहोऽस्मि वञ्चितो मूढो भवता गूढबुद्धिना।
विश्वासयित्वा पूर्वं मां यदिदं दुःखमश्नुथाः ॥ ४३ ॥
किं मे राज्येन भोगैर्वा किं यज्ञैः किं सुखेन वा।
यस्य मे त्वं महीपाल दुःखान्येतान्यवाप्तवान् ॥ ४४ ॥
पीडितं चापि जानामि राज्यमात्मानमेव च।
अनेन वचसा तुभ्यं दुःखितस्य जनेश्वर ॥ ४५ ॥
भवान्पिता भवान्माता भवान्नः परमो गुरुः।
भवता विप्रहीणा वै क नु तिष्ठामहे वयम् ॥ ४६ ॥
औरसो भवतः पुत्रो युयुत्सुर्नृपसत्तम।
अस्तु राजा महाराज यमन्यं मन्यते भवान् ॥ ४७ ॥
अहं वनं गमिष्यामि भवान् राज्यं प्रशास्तु।
न मामयशसा दग्धं भूयस्त्वं दग्धुमर्हसि ॥ ४८ ॥
नाहं राजा भवान् राजा भवतः परवानहम्।
कथं गुरुं त्वां धर्मज्ञमनुज्ञातुमिहोत्सहे ॥ ४९ ॥
न मन्युर्हृदि नः कश्चित्सुयोधनकृतेऽनघ।
भवितव्यं तथा तद्धि वयं चान्ये च मोहिताः ॥ ५० ॥

अत्यन्त कृश, जिताहारी और भूतलशायी न जान सका। तुम्हारे गूढबुद्धिके द्वारा मैं मूढबुद्धि वञ्चित हुआ हूं; क्यों कि आप पहले मेरा विश्वास करके इस प्रकार दुःख भोग करते हैं। हे महीपाल! मेरे जीवित रहते जब आपको ऐसा दुःख मिला है, तब राज्यभोग, यज्ञ और सुखसे मुझे क्या प्रयोजन है? हे जननाथ! आपके इस दुःखसूचक वचनके सहारे राज्य तथा आपको पीडित करता हूं। आप हमारे पिता, माता और परम गुरु हैं; इसलिये हम लोग आपसे रहित होके कहां निवास करेंगे? हे नृपसत्तम! आपके औरस पुत्र युयुत्सु अथवा आप जिसके लिये इच्छा करें, वह पुरुषही इस राज्यपर अभिषिक्त होवे; मैं वनमें जाऊंगा, आप इस राज्यका शासन करिये। आप अब अयशके सहारे मुझे न जलाइये। मैं राजा नहीं हूं, आपही राजा, धर्मज्ञ और हमारे गुरु हैं; इसलिये मैं आपके अधीन होकर किस प्रकार आपके विषयमें आज्ञा करनेमें उत्साहित हूंगा? (४१—४९)

हे अनघ! दुर्योधनके निमित्त हमारे अन्तःकरणमें तनिक भी क्रोध नहीं है, उस उसय भवितव्यताके अनुसारही

वयं पुत्रा हि भवतो यथा दुर्योधनादयः ।
गान्धारी चैव कुन्ती च निर्विशेषे मते मम ॥ ५१ ॥
स मां त्वं यदि राजेन्द्र परित्यज्य गमिष्यसि ।
पृष्ठतस्त्वनुयास्यामि सत्यमात्मानमालभे ॥ ५२ ॥
इयं हि वसुसंपूर्णा मही सागरमेखला ।
भवता विप्रहीणस्य न मे प्रीतिकरी भवेत् ॥ ५३ ॥
भवदीयमिदं सर्वं शिरसा त्वां प्रसादये ।
त्वदधीनाः स्म राजेन्द्र व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥५४॥
भवितव्यमनुप्राप्तो मन्ये त्वं वसुधाधिप ।
दिष्ट्या शुश्रूषमाणस्त्वां मोक्षिष्ये मनसो ज्वरम् ॥५५॥
धृतराष्ट्र उवाच– तापस्ये मे मनस्तात वर्तते कुरुनन्दन ।
उचितं च कुलेऽस्माकमरण्यगमनं प्रभो ॥ ५६ ॥
चिरमस्म्युषितः पुत्र चिरं शुश्रूषितस्त्वया ।
वृद्धं मामभ्यनुज्ञातुमर्हसि त्वं नराधिप ॥ ५७ ॥
वैशम्पायन उवाच– इत्युक्त्वा धर्मराजानं वेपमानं कृताञ्जलिम् ।

हम लोगोंके अन्यान्य राजा मोहित हुए थे । दुर्योधनादिकी भांति हम लोग भी आपके पुत्र हैं, और गांधारी और कुंती इन दोनोंको मैं समानही मानता हूं । हे राजन् ! इसलिये यदि आप मुझे परित्याग करके जायंगे, तो मैं भी आपका अनुगामी होकर सत्यस्वरूप परमात्माको प्राप्त करूंगा । आपसे रहित होनेपर यह धनयुक्त तथा सागरमेखला सारी पृथ्वी मुझे प्रिय न होगी । हे राजेन्द्र ! हम लोग आपकेही अधीन हैं, इस लिये मैं सिर झुकाकर आपको प्रसन्न करता हूं, आप अपना यह सब ग्रहण करके मनका दुःख दूर करिये । हे पृथ्वीपति ! मुझे बोध होता है, कि आप भवितव्यके अनुवर्ती होकरही इस प्रकार मनका दुःख भोग करते हैं, इसलिये मैं भाग्यसे ही आपकी सेवा करके आपके मनका दुःख दूर करूंगा । (५०-५५)

धृतराष्ट्र बोले, हे पुत्र ! वनमें जाना हमारा कुलोचित कर्म है, इसलिये मेरा मन तपस्यामें प्रवृत्त हुआ है । हे पुत्र ! मैं बहुत समय तक तुम्हारे समीप रहके तुमसे उपासित हुआ हूं, अब मैं वृद्ध हुआ, इसलिये मुझे वनमें जानेके लिये तुम्हें आज्ञा करनी उचित है । (५६-५७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अंबिकापुत्र राजा धृतराष्ट्र धर्मराजसे इतनी

उवाच वचनं राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ५८ ॥
सञ्जयं च महात्मानं कृपं चापि महारथम् ।
अनुनेतुमिहेच्छामि भवद्भिर्वसुधाधिप ॥ ५९ ॥
ग्लायते मे मनो हीदं मुखं च परिशुष्यति ।
वयसा च प्रकृष्टेन वाग्व्यायामेन चैव ह ॥ ६० ॥
इत्युक्त्वा स तु धर्मात्मा वृद्धो राजा कुरूद्वहः ।
गान्धारीं शिश्रिये धीमान् सहसैव गतासुवत् ॥ ६१ ॥
तं तु दृष्ट्वा समासीनं विसंज्ञमिव कौरवम् ।
आर्तिं राजाऽगमत्तीव्रां कौन्तेयः परवीरहा ॥ ६२ ॥
युधिष्ठिर उवाच– यस्य नागसहस्रेण शतसंख्येन वै बलम् ।
सोऽयं नारीं व्यपाश्रित्य शेते राजा गतासुवत् ॥ ६३ ॥
आयसी प्रतिमा येन भीमसेनस्य सा पुरा ।
चूर्णीकृता बलवता सोऽबलामाश्रितः स्त्रियम् ॥ ६४ ॥
धिगस्तु मामधर्मज्ञं धिग्बुद्धिं धिक् च मे श्रुतम् ।
यत्कृते पृथिवीपालः शेतेऽयमतथोचितः ॥ ६५ ॥
अहमप्युपवत्स्यामि यथैवाऽयं गुरुर्मम ।

बात कहके कांपते हुए शरीरसे हाथ जोडके फिर बोले, हे वसुधाधिप ! मैं तुम लोगोंके सहित इस स्थानमें महात्मा सञ्जय और महारथ कृपसे विनय करनेकी इच्छा करता हूं। हे पुत्र ! वृद्धावस्थाके धर्म वा वचन बोलनेसे मेरा मन मलिन तथा मुख परिशुष्क होता है। श्रीमान् धर्मात्मा वृद्ध राजा धृतराष्ट्रने इतनी बात कहके सहसा चेतरहितकी भांति गान्धारीके शरीरका सहारा ग्रहण किया। (५८--६१)

परवीरघाती कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर कुरुनन्दन धृतराष्ट्रको चेतरहितकी भांति बैठे हुए देखकर मनमें तीव्र व्यथाको प्राप्त हुए और बोले, हाय ! जो सौ हजार हाथोका बल धारण करते हैं, उन्होंने इस समय स्त्रीका सहारा करके चेतरहितकी भांति शयन किया है ! जिन्होंने पहले भीमसेनकी लोहमयी प्रतिमा चूर कर दिया था, उन्होंने इस समय अबला स्त्रीका आश्रय ग्रहण किया ! जब कि इस पृथ्वीपति राजा धृतराष्ट्रने मेरे निमित्त अनुचितरूपसे शयन किया, तो मैं अधर्मज्ञ हूं, इसलिये मेरी बुद्धि, शास्त्रज्ञान तथा मुझे धिक्कार है ! यदि यह राजा धृतराष्ट्र और यश-

यदि राजा न भुङ्क्तेऽयं गान्धारी च यशस्विनी ॥६६॥

वैशम्पायन उवाच- ततोऽस्य पाणिना राजन् जलशीतेन पाण्डवः ।
उरो मुखं च शनकैः पर्यमार्जत धर्मवित् ॥ ६७ ॥
तेन रत्नौषधिमता पुण्येन च सुगन्धिना ।
पाणिस्पर्शेन राज्ञः स राजा संज्ञामवाप ह ॥ ६८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच- स्पृश मां पाणिना भूयः परिष्वज च पाण्डव ।
जीवामीवातिसंस्पर्शात्तव राजीवलोचन ॥ ६९ ॥
मूर्धानं च तवाघ्रातुमिच्छामि मनुजाधिप ।
पाणिभ्यां हि परिस्प्रष्टुं प्रीणनं हि महन्मम ॥ ७० ॥
अष्टमो ह्यद्य कालोऽयमाहारस्य कृतस्य मे ।
येनाऽहं कुरुशार्दूल शक्नोमि न विचेष्टितुम् ॥ ७१ ॥
व्यायामश्चायमत्यर्थं कृतस्त्वामभियाचता ।
ततो ग्लानमनास्तात नष्टसंज्ञ इवाभवम् ॥ ७२ ॥
तवामृतरसप्रख्यं हस्तस्पर्शमिमं प्रभो ।
लब्ध्वा संजीवितोऽस्मीति मन्ये कुरुकुलोद्वह ॥ ७३ ॥

स्विनी गान्धारी भोजन न करेंगे, तो मैं भी अपने गुरु राजा धृतराष्ट्रकी भांति उपवास करूंगा । (६२-६६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज! तिसके अनन्तर धार्मिकश्रेष्ठ पाण्डुपुत्र जलकी भांति उत्तम शीतल करकमलके सहारे धृतराष्ट्रका वक्षस्थल और मुखमण्डल धोने लगे । तब राजा धृतराष्ट्र महीपति युधिष्ठिरके रत्नौषधिसम्पन्न पवित्र गन्धयुक्त हाथके स्पर्शसे चैतन्य होकर बोले, हे राजीवलोचन पाण्डुपुत्र! तुम अपने उत्तम शीतल करकमलोंमें मुझे बार बार स्पर्श तथा आलिङ्गन करो। हे पुत्र! तुम्हारे स्पर्शसे मानो मैं फिर जीवित हुआ । हे नरनाथ! इस समय मैं तुम्हें मस्तकाघ्राण और दोनों भुजाओंसे स्पर्श करनेकी इच्छा करता हूं, ऐसा करनेसे मैं परम परितुष्ट हूंगा । हे कुरुशार्दूल! मैं दिनके आठवें भागमें आहार करता हूं, इसीसे आज हाथ पांव आदि अङ्गोंको चलानेमें असमर्थ होरहा हूं, विशेष करके यह सब वृत्तान्त तुम्हें विदित करनेमें मुझे अत्यन्त परिश्रम हुआ, इसीसे मन दुःखित तथा संज्ञा विलुप्त हुई है । हे कुरुकुलोद्वह! फिर ऐसा समझता हूं,कि तुम्हारे इस अमृतरसयुक्त हाथके स्पर्शसे मैं जीवित हुआ । (६७—७३)

वैशम्पायन उवाच-- एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पित्रा ज्येष्ठेन भारत ।
पस्पर्श सर्वगात्रेषु सौहार्दात्तं शनैस्तदा ॥ ७४ ॥
उपलभ्य ततः प्राणान् धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
बाहुभ्यां संपरिष्वज्य मूर्ध्न्याऽजिघ्रत पाण्डवम् ॥७५॥
विदुराद्यश्च ते सर्वे रुरुदुर्दुःखिता भृशम् ।
अतिदुःखात्तु राजानं नोचुः किंचन पाण्डवम् ॥७६ ॥
गान्धारी त्वेव धर्मज्ञा मनसोद्वहती भृशम् ।
दुःखान्यधारयद्राजन्मैवमित्येव चाब्रवीत् ॥ ७७ ॥
इतरास्तु स्त्रियः सर्वाः कुन्त्या सह सुदुःखिताः ।
नेत्रैरागतविक्लेदैः परिवार्य स्थिताऽभवन् ॥ ७८ ॥
अथाब्रवीत्पुनर्वाक्यं धृतराष्ट्रो युधिष्ठिरम् ।
अनुजानीहि मां राजंस्तापस्ये भरतर्षभ ॥ ७९ ॥
ग्लायते मे मनस्तात भूयो भूयः प्रजल्पतः ।
न मामतःपरं पुत्र परिक्लेष्टुमिहार्हसि ॥ ८० ॥
तस्मिंस्तु कौरवेन्द्रे तं तथा ब्रुवति पाण्डवम् ।

श्रीवैशंपायन मुनि बोले, हे भारत ! उस समय कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर पितासे जेठे राजा धृतराष्ट्रका ऐसा वचन सुनके सुहृदतापूर्वक धीरे धीरे उनके सारे शरीरको स्पर्श करने लगे। अनन्तर पृथ्वीपति धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरके कर-स्पर्शसे प्राणलाभ करके अपनी दोनों भुजाओंसे पाण्डुपुत्रको आलिङ्गन करते हुए उनका मस्तक सूंघा। विदुर प्रभृति सब कोई अत्यन्त दुःखित होकर रोदन करने लगे। परन्तु अत्यन्त दुःखके कारण वे लोग राजा युधिष्ठिरसे कुछ कह न सके। हे महाराज ! धर्म जाननेवाली गान्धारीभी व्याकुलचित्तसे मनके बीच दुःखको धारण करती हुई यह वचन बोली की, 'आप लोग ऐसा न करिये'। कुन्तीके सहित अन्य स्त्रियें आंखोंसे आंसू बहाती हुई उनके चारों ओर बैठीं। (७४—७८)

तिसके अनन्तर राजा धृतराष्ट्र युधिष्ठिरसे फिर बोले, हे महाराज ! तुम मुझे तप करनेके लिये आज्ञा करो। हे तात! इस विषयमें बार बार आलोचना करते हुए मेरा मन मलिन होता है, इसलिये इसके अनन्तर मुझे क्लेश देना तुम्हें उचित नहीं है। वह कौरवेन्द्र धृतराष्ट्र जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसा कह रहे थे, उस समय योद्धाओंके बीच महान्

सर्वेषामेव योधानामार्तनादो महानभूत् ॥ ८१ ॥
दृष्ट्वा कृशं विवर्णं च राजानमतथोचितम् ।
उपवासपरिश्रान्तं त्वगस्थिपरिवारणम् ॥ ८२ ॥
धर्मपुत्रः स्वपितरं परिष्वज्य महाप्रभुम् ।
शोकजं बाष्पमुत्सृज्य पुनर्वचनमब्रवीत् ॥ ८३ ॥
न कामये नरश्रेष्ठ जीवितं पृथिवीं तथा ।
यथा तव प्रियं राजंश्चिकीर्षामि परन्तप ॥ ८४ ॥
यदि चाहमनुग्राह्यो भवतो दयितोऽपि वा ।
क्रियतां तावदाहारस्ततो वेत्स्याम्यहं परम् ॥ ८५ ॥
ततोऽब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रो युधिष्ठिरम् ।
अनुज्ञातस्त्वया पुत्र भुञ्जीयामिति कामये ॥ ८६ ॥
इति ब्रुवति राजेन्द्रे धृतराष्ट्रे युधिष्ठिरम् ।
ऋषिः सत्यवतीपुत्रो व्यासोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥८७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रनिर्वेदे तृतीयोऽध्याय ॥ ३ ॥

व्यास उवाच– युधिष्ठिर महाबाहो यथाऽऽह कुरुनन्दनः ।

आर्तनाद होने लगा। धर्मपुत्र युधिष्ठिर जेठे पिता महाप्रभु राजा धृतराष्ट्रको विवर्ण, उपवाससे परिश्रान्त, कृशत्वक् और अस्थि मात्र अवशिष्ट देखकर आलिङ्गन करके शोकयुक्त होकर आंसू बहाते हुए फिर उनसे कहने लगे (७९—८३)

युधिष्ठिर बोले, हे नरनाथ ! आपके प्रियकार्यको करना जैसा मुझे अभिलषित है, पृथ्वी वा जीवन मुझे वैसा अभिलषित नहीं है। हे महाराज ! यदि आप मेरे कहनेसे भोजन करें, तो मैं जानूं; कि मैं आपको प्रिय हूं, तथा मुझपर आपकी कृपा है। (८४-८५)

तिसके अनन्तर महातेजस्वी धृतराष्ट्र युधिष्ठिरसे बोले, हे पुत्र ! जब तुम भोजनके लिये मुझसे अनुरोध करते हो, तो इस समय मुझे आपकी इच्छानुसार भोजन करना होगा। (८६)

राजेन्द्र धृतराष्ट्रके ऐसा ही कहते रहनेपर सत्यवतीपुत्र ऋषिश्रेष्ठ वेदव्यास मुनि वहां आके कहने लगे। (८७)

आश्रमवासिकपर्वमें ३ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ४ अध्याय।

श्रीवेदव्यास मुनि बोले, हे महाबाहो युधिष्ठिर ! महातेजस्वी कुरुनन्दन धृत-

धृतराष्ट्रो महातेजास्तत्कुरुष्वाविचारयन् ॥ १ ॥
अयं हि वृद्धो नृपतिर्हतपुत्रो विशेषतः ।
नेदं कृच्छ्रं चिरतरं सहेदिति मतिर्मम ॥ २ ॥
गान्धारी च महाभागा प्राज्ञा करुणवेदिनी ।
पुत्रशोकं महाराज धैर्येणोद्वहते भृशम् ॥ ३ ॥
अहमप्येतदेव त्वां ब्रवीमि कुरु मे वचः ।
अनुज्ञां लभतां राजा मा वृथेह मरिष्यति ॥ ४ ॥
राजर्षीणां पुराणानामनुयातु गतिं नृपः ।
राजर्षीणां हि सर्वेषामन्ते वनमुपाश्रयः ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच- इत्युक्तः स तदा राजा व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
प्रत्युवाच महातेजा धर्मराजो महामुनिम् ॥ ६ ॥
भगवानेव नो मान्यो भगवानेव नो गुरुः ।
भगवानस्य राज्यस्य कुलस्य च परायणम् ॥ ७ ॥
अहं ते पुत्रो भगवन् पिता राजा गुरुश्च मे ।
निदेशवर्ती च पितुः पुत्रो भवति धर्मतः ॥ ८ ॥

राष्ट्र जो कहते हैं, तुम उस विषयमें कुछ विचार न करके उस कार्यको पूरा करो। यह राजा वृद्ध और विशेष करके पुत्ररहित हैं, इसलिये मुझे बोध होता है, कि ये इस समय इस प्रकार कष्ट सहनेमें समर्थ न होंगे। हे महाराज! करुणवेदिनी बुद्धिमती महाभागा यह गान्धारी भी धैर्यके सहारे हृदयमें पुत्रशोक धारण करती है; इस लिये मैं भी तुम्हें यही कहता हूं, कि जिसमें राजा इस स्थानमें न मरें, इस ही निमित्त इन्हें वनमें जानेके लिये आज्ञा करके मेरा वचन प्रतिपालन करो। जब कि अन्तकालमें राजर्षियोंको वनका अवलम्बन करना ही कल्याणकारी है, तब ये भी पुराने राजर्षियोंके गन्तव्य पथमें गमन करें। (१—५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उस समय महातेजस्वी धर्मराज राजा युधिष्ठिर, अद्भुतकर्मा महामुनि व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके उनसे बोले, हे भगवन्! आप हमारे महामान्य गुरु और इस राज्य तथा कुलके परम अवलम्ब हैं। हे भगवन्! राजा और आप मेरे पिता तथा गुरु हैं; जब कि पुत्र धर्मपूर्वक पिताका आज्ञाकारी हुआ करता है, तब आप लोग मुझे जो कुछ आज्ञा करेंगे, मैं उस ही समय उसे करूंगा (५—८)

वैशम्पायन उवाच- इत्युक्तः स तु तं प्राह व्यासो वेदविदां वरः ।
युधिष्ठिरं महातेजाः पुनरेव महाकविः ॥ ९ ॥
एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
राजाऽयं वृद्धतां प्राप्तः प्रमाणे परमे स्थितः ॥ १० ॥
सोऽयं मयाऽभ्यनुज्ञातस्त्वया च पृथिवीपतिः ।
करोतु स्वमभिप्रायं माऽस्य विघ्नकरो भव ॥ ११ ॥
एष एव परो धर्मो राजर्षीणां युधिष्ठिर ।
समरे वा भवेन्मृत्युर्वने वा विधिपूर्वकम् ॥ १२ ॥
पित्रा तु तव राजेन्द्र पाण्डुना पृथिवीक्षिता ।
शिष्यवृत्तेन राजाऽयं गुरुवत्पर्युपासितः ॥ १३ ॥
क्रतुभिर्दक्षिणावद्भी रत्नपर्वतशोभितैः ।
महद्भिरिष्टं गौर्भुक्ता प्रजाश्च परिपालिताः ॥ १४ ॥
पुत्रसंस्थं च विपुलं राज्यं विप्रोषिते त्वयि ।
त्रयोदशसमा भुक्तं दत्तं च विविधं वसु ॥ १५ ॥
त्वया चाऽयं नरव्याघ्र गुरुशुश्रूषयाऽनघ ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महातेजस्वी वेद जाननेवालोंमें श्रेष्ठ महाकवि व्यासदेवसे जब युधिष्ठिरने ऐसा वचन कहा, तब वह फिर उनसे कहने लगे। (९)

हे महाबाहो भारत! तुमने जो कहा वह सत्य है; परन्तु इस राजा धृतराष्ट्रने वृद्धत्वको प्राप्त होके परम ज्ञानपद अवलम्बन किया है। इस समय ये तुम्हारे द्वारा तथा मुझसे अनुज्ञात होकर निज अभिप्राय साधन करें; तुम उसमें विघ्नकारी मत बनो। हे युधिष्ठिर! तुम राजर्षियोंको युद्धमें वा विधिपूर्वक वनमें प्राणत्याग करना ही परम धर्म जानो। हे राजेन्द्र! तुम्हारे पिता पृथ्वीपति पाण्डु शिष्यवृत्ति अवलम्बन करके गुरुकी भांति इस राजाकी उपासना करते थे, इससे इन्होंने पहले पर्वत-परिमित रत्नोंसे सुशोभित बहुतसी दक्षिणायुक्त महायज्ञ करते हुए समस्त पृथ्वी भाग तथा प्रजापालन किया था। इसके अतिरिक्त तुम्हारे तेरह वर्ष प्रवासमें रहनेसे राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रोंके निकट विपुल राज्य भाग तथा विविध वसु दान किया है। हे निष्पाप पुरुषश्रेष्ठ! तुम भी सेवककी भांति इस राजा धृतराष्ट्र तथा यशस्विनी गान्धारीकी गुरुसदृश सेवा करते हो। हे युधि-

आराधितः स भृत्येन गान्धारी च यशस्विनी॥ १६ ॥
अनुजानीहि पितरं समयोऽस्य तपोविधौ।
न मन्युर्विद्यते चाऽस्य सुसूक्ष्मोऽपि युधिष्ठिर॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच– एतावदुक्त्वा वचनमनुमान्य च पार्थिवम्।
तथाऽस्त्विति च तेनोक्तः कौन्तेयेन ययौ वनम् ॥१८॥
गते भगवति व्यासे राजा पाण्डुसुतस्तदा।
प्रोवाच पितरं वृद्धं मन्दं मन्दमिवानतः ॥ १९ ॥
यदाह भगवान्व्यासो यच्चापि भवतो मतम्।
यथाऽऽह च महेष्वासः कृपो विदुर एव च ॥ २० ॥
युयुत्सुः सञ्जयश्चैव तत्कर्ताऽस्म्यहमञ्जसा।
सर्वे एव हि मान्या मे कुलस्य हि हितैषिणः ॥ २१ ॥
इदं तु याचे नृपते त्वामहं शिरसा नतः।
क्रियतां तावदाहारस्ततो गच्छाश्रमं प्रति ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि व्यासानुज्ञायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततो राज्ञाऽभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रः प्रतापवान्।

ष्ठिर! परन्तु इस समय इनके तपोनुष्ठानका समय हुआ है, इसलिये तुम इन्हें वनमें जानेके लिये आज्ञा करो, तुम्हारे ऊपर इनका अणुमात्रभी क्रोध नहीं है। (१०–१७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जब व्यास देवने इतनी बात कहके इस प्रकार आज्ञा की और कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने उसे स्वीकार किया, तब वह वनको चले गये। भगवान् वेदव्यास मुनिके वनमें चले जाने पर पांण्डुपुत्र युधिष्ठिर सिर झुकाके वृद्ध पिता धृतराष्ट्रसे बोले, हे तात! आपको जो अभिलषित है, भगवान् व्यासदेवने वही कहा है। महेष्वास कृप, विदुर, युयुत्सु और सञ्जय, ये लोग मुझसे जो कहेंगे, मैं उस ही समय उसे करूंगा, क्यों कि ये लोग सब ही मेरे माननीय तथा इस कुलके हितैषी हैं। हे नरनाथ! परन्तु मैं सिर झुकाके आपके समीप यह प्रार्थना करता हूं, कि आप पहले भोजन करिये, पीछे आश्रममें गमन करिये। (१८–२२)

आश्रमवासिकपर्वमें ४ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ५ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर प्रतापवान् धृतराष्ट्र राजा

ययौ स्वभवनं राजा गान्धार्याऽनुगतस्तदा ॥ १ ॥
मन्दप्राणगतिर्धीमान् कृच्छ्रादिव समुद्वहन् ।
पदातिः स महीपालो जीर्णो गजपतिर्यथा ॥ २ ॥
तमन्वगच्छद्विदुरो विद्वान् सूतश्च सञ्जयः ।
स चापि परमेष्वासः कृपः शारद्वतस्तथा ॥ ३ ॥
स प्रविश्य गृहं राजन्कृतपूर्वाह्णिकक्रियः ।
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठानाहारमकरोत्तदा ॥ ४ ॥
गान्धारी चैव धर्मज्ञा कुन्त्या सह मनस्विनी ।
वधूभिरुपचारेण पूजिताऽभुङ्क्त भारत ॥ ५ ॥
कृताहारं कृताहाराः सर्वे ते विदुरादयः ।
पाण्डवाश्च कुरुश्रेष्ठमुपातिष्ठन्त तं नृपम् ॥ ६ ॥
ततोऽब्रवीन्महाराज कुन्तीपुत्रमुपह्वरे ।
निषण्णं पाणिना पृष्ठे संस्पृशन्नम्बिकासुतः ॥ ७ ॥
अप्रमादस्त्वया कार्यः सर्वथा कुरुनन्दन ।
अष्टाङ्गे राजशार्दूल राज्ये धर्मपुरस्कृते ॥ ८ ॥
तत्तु शक्यं महाराज रक्षितुं पाण्डुनन्दन ।
राज्यं धर्मेण कौन्तेय विद्वानसि निबोध तत ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरसे अनुज्ञात होकर गान्धारीके सहित निज गृहमें गये । उस समय मन्दप्राण और मन्दगति बुद्धिमान् महीपति धृतराष्ट्र जीर्ण गजपतिकी भांति अत्यन्त कष्टसे पृथ्वीपर पांव रखने लगे। विद्वान् विदुर, सूत सञ्जय और परम धनुर्धारी शारद्वत कृपाचार्य उनके पीछे पीछे चलने लगे। हे महाराज ! उन्होंने निज भवनमें प्रवेश कर प्रातःकर्म प्रभृति सब कार्य करके तथा द्विजातियोंको तृप्त करते हुए भोजन किया। हे भारत ! धर्म जाननेवाली मनस्विनी गान्धारीने कुन्तीके सहित वधूगणसे उपचारके द्वारा पूजित होकर भोजन किया। पाण्डुपुत्र और विदुर प्रभृति भोजन करके कृताहार कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रकी उपासना करने लगे। (१-६)

हे महाराज ! तिसके अनन्तर अम्बिकापुत्र निकटमें बैठे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी पीठपर हाथ फेरके उनसे बोले, हे राजेन्द्र ! तुम इस धर्मपुरस्कृत अष्टाङ्ग राज्यमें किसी प्रकार असावधान न होना। हे तात कुन्तीपुत्र ! तुम विद्वान् हो, इसलिये जिस प्रकार धर्म-

विद्यावृद्धान् सदैव त्वमुपासीथा युधिष्ठिर ।
शृणुयास्ते च यद् ब्रूयुः कुर्याश्चैवाविचारयन् ॥ १० ॥
प्रातरुत्थाय तान् राजन् पूजयित्वा यथाविधि ।
कृत्यकाले समुत्पन्ने पृच्छेथाः कार्यमात्मनः ॥ ११ ॥
ते तु संमानिता राजंस्त्वया लोकहितार्थिना ।
प्रवक्ष्यन्ति हितं तात सर्वथा तव भारत ॥ १२ ॥
इन्द्रियाणि च सर्वाणि वाजिवत्परिपालय ।
हितायैव भविष्यन्ति रक्षितं द्रविणं यथा ॥ १३ ॥
अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहान् शुचीन् ।
दान्तान् कर्मसु पुण्यांश्च पुण्यान् सर्वेषु योजयेः॥१४॥
चारयेथाश्च सततं चारैरविदितः परैः ।
परीक्षितैर्बहुविधैः स्वराष्ट्रप्रतिवासिभिः ॥ १५ ॥
पुरं च ते सुगुप्तं स्याद् दृढप्राकारतोरणम् ।
अट्टाट्टालकसंबाधं षट्पदं सर्वतो दिशम् ॥ १६ ॥
तस्य द्वाराणि सर्वाणि पर्याप्तानि बृहन्ति च ।
सर्वतः सुविभक्तानि यन्त्रैरारक्षितानि च ॥ १७ ॥

पूर्वक राज्यकी रक्षा कर सकोगे, वह विषय मेरे समीप सुनो । हे युधिष्ठिर ! तुम सदा विद्यावृद्ध पुरुषोंकी उपासना करना, वे लोग जो कहें, उसे सुनना और कुछ विचार न करके ही उनकी आज्ञा पालन करना । हे महाराज ! भोरके समय उठके विधिपूर्वक उनकी पूजा करते हुए कार्यके समय उनसे ही जिन कर्तव्य पूछना । हे पुत्र ! तुम प्रजाहितके अभिलाषी होकर उनका सम्मान करनेसे वे लोग सदा तुमसे हितवचन कहेंगे । (७-१२)

हे महाराज ! तुम इन्द्रियोंको तुरङ्गकी भांति पालन करनेसे वे रक्षित द्रविणकी भांति तुम्हारी हितकारी होंगी । कपट-रहित, पवित्रचित्त, क्षान्त, विशुद्धवंशो-त्पन्न, सत्कर्मशाली पितृपैतामह क्रमके अनुसार पुरुषोंको मन्त्रीपदपर नियुक्त करना । स्वराष्ट्रवासी, परीक्षायुक्त, दूसरोंसे अविदित अनेक प्रकारके दूतोंके द्वारा सदा प्रचारण करना; निज पुरकी उत्तम रीतिसे रक्षा करना, दीवार और तोरण अत्यन्त दृढ करना और किलेके ऊपर सञ्चारस्थानके चारों ओर छः समाज निर्माण करना । उनके सब द्वार यथेष्ट बृहत् तथा सब ओर उत्तम रीतिसे

पुरुषैरलमर्थस्ते विदितैः कुलशीलतः ।
आत्मा च रक्ष्यः सततं भोजनादिषु भारत ॥ १८ ॥
विहाराहारकालेषु माल्यशय्यासनेषु च ।
स्त्रियश्च ते सुगुप्ताः स्युर्वृद्धैराप्तैरधिष्ठिताः ॥ १९ ॥
शीलवद्भिः कुलीनैश्च विद्वद्भिश्च युधिष्ठिर ।
मन्त्रिणश्चैव कुर्वीथा द्विजान्विद्याविशारदान् ॥ २० ॥
विनीतांश्च कुलीनांश्च धर्मार्थकुशलानृजून् ।
तैः सार्धं मन्त्रयेथास्त्वं नात्यर्थं बहुभिः सह ॥ २१ ॥
समस्तैरपि च व्यस्तैर्व्यपदेशेन केनचित् ।
सुसंवृतं मन्त्रगृहं स्थलं चारुह्य मन्त्रये ॥ २२ ॥
अरण्ये निःशलाके वा न च रात्रौ कथंचन ।
वानराः पक्षिणश्चैव ये मनुष्यानुसारिणः ॥ २३ ॥
सर्वे मन्त्रगृहे वर्ज्या ये चापि जडपङ्गवः ।
मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीक्षिताम् ॥२४॥
न ते शक्याः समाधातुं कथंचिदिति मे मतिः ।
दोषांश्च मन्त्रभेदस्य ब्रूयास्त्वं मन्त्रिमण्डले ॥ २५ ॥

विभक्त होवें और वे यत्नवान् पुरुषोंके द्वारा रक्षित रहे । (१३—१७)

हे भारत ! जिनका कुल और शील विदित है, वैसे पुरुषोंके द्वारा तुम्हारा अर्थ भली भांति रक्षित होवे और तुम स्वयं सदा भोजनादिके समय रक्षित रहना । हे युधिष्ठिर ! शीलवान् कुलीन विद्वान् आत्मीय वृद्धगण तुम्हारी स्त्रियोंकी रक्षा करें; स्त्रियें आहार और विहार के समय तथा मालायुक्त शय्या और आसनोंपर बैठनेके समय गुप्तरीतिसे रहें । हे महाराज ! तुम विद्याविशारद कुलीन विनीत धर्मार्थमें निपुण और सरल द्विजगणको मंत्री करके उनहीके सङ्ग विचार करना, कदाचित् दूसरे बहुतसे लोगोंके सङ्ग सलाह न करनी। तृणरहित जङ्गल तथा सुरक्षित मंत्रगृहमें विचार करना, रात्रिके समय कदापि सलाह न करना; मनुष्यानुसारी वानर, पक्षी और जड पंगुओंको विचारगृहमें न रहने देना । राजाओंके मन्त्रभेदसे जो सब दोष उत्पन्न होते हैं, मुझे बोध होता है, उनका किसी प्रकार से ही समाधान नहीं किया जा सकता । (१८–२५)

हे अरिदमन ! इसलिये तुम मन्त्रि-

अभेदे च गुणा राजन् पुनः पुनररिन्दम ।
पौरजानपदानां च शौचाशौचे युधिष्ठिर ॥ २६ ॥
यथा स्याद्विदितं राजंस्तथा कार्यं कुरूद्वह ।
व्यवहारश्च ते राजन्नित्यमाप्तैरधिष्ठितः ॥ २७ ॥
योज्यस्तुष्टैर्हितै राजन्नित्यं चारैरनुष्ठितः ।
परिमाणं विदित्वा च दण्डं दण्ड्येषु भारत ॥ २८ ॥
प्रणयेयुर्यथान्यायं पुरुषास्ते युधिष्ठिर ।
आदानरुचयश्चैव परदाराभिमर्शिनः ॥ २९ ॥
उग्रदण्डप्रधानाश्च मिथ्याव्याहारिणस्तथा ।
आक्रोष्टारश्च लुब्धाश्च हर्तारः साहसप्रियाः ॥ ३० ॥
सभाविहारभेत्तारो वर्णानां च प्रदूषकाः ।
हिरण्यदण्ड्या वध्याश्च कर्तव्या देशकालतः ॥ ३१ ॥
प्रातरेव हि पश्येथा ये कुर्युर्व्ययकर्म ते ।
अलङ्कारमथो भोज्यमत ऊर्ध्वं समाचरेः ॥ ३२ ॥
पश्येथाश्च ततो योधान् सदा त्वं प्रतिहर्षयन् ।
दूतानां च चराणां च प्रदोषस्ते सदा भवेत् ॥ ३३ ॥
सदा चापररात्रान्ते भवेत्कार्यार्थनिर्णयः ।

मंडलीके बीच बैठकर मन्त्रणाभेदके दोष और मन्त्रगुप्तिके गुणोंको बार बार वर्णन करना । हे महाराज ! तुम सदा आप्तजनोंके बीच अधिष्ठित होकर-व्यवहारके सहारे पौर और जनपद वासियोंका शौच जिस प्रकार मालूम हो सके, वैसा करना । हे भारत ! तुम सन्तुष्टचित्तसे हितकारी दूतोंसे घिरके दण्डनीय धन तथा अपराधके परिमाण-को विचारकर दण्डार्ह पुरुषोंको दण्ड-प्रदान करना । हे युधिष्ठर ! तुम घूस-खानेवाले, परस्त्रीगामी, उग्रदण्डप्रधान, मिथ्यावादी, आक्रोशकारी, लोभी, हर्ता, साहसप्रिय, सभाविहारभेत्ता और वर्ण-दूषक पुरुषोंको देश, काल, तथा न्याय-के अनुसार हिरण्यदण्ड अथवा प्राणवध करना । (२५–३१)

तुम प्रातःकालमें ही अपने व्यय-कर्मकारी पुरुषोंके कार्योंको देखकर उसके अनन्तर सुसज्जित होकर भोजना-दि समाधान करना । तिसके अनन्तर सर्वदा योद्धाओंको हर्षित करते हुए उनके विषयमें दृष्टि रखना । अनन्तर प्रदोष समयमें दूत तथा चारोंके निकट

मध्यरात्रे विहारस्ते मध्याह्ने च सदा भवेत् ॥ ३४ ॥
सर्वे त्वौपयिकाः कालाः कार्याणां भरतर्षभ ।
तथैवालङ्कृतः काले तिष्ठेथा भूरिदक्षिण ॥ ३५ ॥
चक्रवत्तात कार्याणां पर्यायो दृश्यते सदा ।
कोशस्य निचये यत्नं कुर्वीथा न्यायतः सदा ॥ ३६ ॥
विविधस्य महाराज विपरीतं विवर्जयेः ।
चारैर्विदित्वा शत्रूंश्च ये राज्ञामन्तरैषिणः ॥ ३७ ॥
तानाप्तैः पुरुषैर्दूराद्धातयेथा नराधिप ।
कर्म दृष्ट्वाऽथ भृत्यांस्त्वं वरयेथाः कुरूद्वह ॥ ३८ ॥
कारयेथाश्च कर्माणि युक्तायुक्तैरधिष्ठितैः ।
सेनाप्रणेता च भवेत्तव तात दृढव्रतः ॥ ३९ ॥
शूरः क्लेशसहश्चैव हितो भक्तश्च पूरुषः ।
सर्वे जनपदाश्चैव तव कर्माणि पाण्डव ॥ ४० ॥
गोवद्रासभवच्चैव कुर्युर्ये व्यवहारिणः ।
स्वरन्ध्रं पररन्ध्रं च स्वेषु चैव परेषु च ॥ ४१ ॥

संवाद सुनके अपर रात्रिमें कार्य और अर्थका निर्णय करना; प्रतिदिन मध्यरात्रि तथा मध्यान्ह समयमें विहार करना । हे भूरिदक्षिण भरतर्षभ ! जिन कार्योंको जिस प्रकार उपयुक्त समय निर्दिष्ट है, तुम उस ही समयमें उन कार्योंको पूरा करते हुए नियमित समयमें अलंकृत होकर विश्राम करना; क्यों कि कार्यका पर्याय सदा चक्रकी भांति प्रवर्तित होता हुआ देखा जाता है । हे तात ! तुम न्यायके अनुसार अनेक प्रकारके कोष सञ्चय करनेका यत्न करना और विपरीत कार्योंको परित्याग करना । हे नरनाथ ! राजाओंके अन्तरैषी शत्रुओंको दूतोंके द्वारा मालूम करके आप्त पुरुषोंके सहारे दूरहीसे उनका वध करना । (३२-३८)

हे कुरूद्वह ! सेवकोंके कार्यको देखकर उन्हें यथायोग्य पारितोषिक देना और अधिष्ठित, युक्त तथा अयुक्त पुरुषोंके सङ्ग कार्य करना । हे तात ! तुम दृढव्रती, शूर, क्लेश सहनेवाले हितकारी भक्त पुरुषको सेनाका नायक करना । हे पाण्डुनन्दन ! जो लोग सदा तुम्हारे शिल्पादि कार्योंको करते हैं, वे सब जनपदवासी गऊ तथा गर्दभकी भांति तुम्हारे कार्यको करें । हे युधिष्ठिर ! तुम सदा अपने और दूसरोंके

उपलक्षयितव्यं ते नित्यमेव युधिष्ठिर ।
देशजाश्चैव पुरुषा विक्रान्ताः स्वेषु कर्मसु ॥ ४२ ॥
यात्राभिरनुरूपाभिरनुग्राह्या हितास्त्वया ।
गुणार्थिनां गुणः कार्यो विदुषा वै जनाधिप ॥
अविचार्याश्च ते ते स्युरचला इव नित्यशः ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रोपदेशे पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच– मण्डलानि च बुध्येथाः परेषामात्मनस्तथा ।
उदासीनगणानां च मध्यस्थानां च भारत ॥ १ ॥
चतुर्णां शत्रुजातानां सर्वेषामाततायिनाम् ।
मित्रं चामित्रमित्रं च बोद्धव्यं तेऽरिकर्शन ॥ २ ॥
तथाऽऽमात्या जनपदा दुर्गाणि विविधानि च ।
बलानि च कुरुश्रेष्ठ भवत्येषां यथेच्छकम् ॥ ३ ॥
ते च द्वादश कौन्तेय राज्ञां वै विषयात्मकाः ।
मन्त्रिप्रधानाश्च गुणाः षष्टिर्द्वादश च प्रभो ॥ ४ ॥

छिद्रोंको अन्वेषण करना; निज कार्यमें विक्रान्त अनुगामी हितकारी देशज पुरुषोंपर अनुरूप यात्राके द्वारा अनुग्रह करना । हे जननाथ ! जो लोग गुणार्थी और विद्वान् हों, उनके गुणको ग्रहण करना योग्य है; क्यों कि वे लोग सदा अचलकी भांति अविचलित रूपसे निवास किया करते हैं । (३८–४३)

आश्रमवासिकपर्वमें ५ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ६ अध्याय ।

धृतराष्ट्र बोले, हे भारत ! तुम आत्मीय; परकीय,उदासीन और मध्यस्थोंके शत्रुमित्रादिरूपी मण्डलको विशेष रीतिसे मालूम करना । हे अरिकर्षण ! चार प्रकारके शत्रुओं और आततायियोंके बीच कौन मित्र तथा कौन शत्रुमित्र है, उसे तुम्हें विशेष रीतिसे जानना उचित है । हे कुरुश्रेष्ठ ! शत्रुगण मन्त्रियों, जनपदों, विविध किलों तथा समस्त बलमें इच्छानुसार भेद किया करते हैं; इसलिये जिस प्रकार उनमें फूट न हो उसही भांति सावधान होकर निवास करना । हे कुन्तीपुत्र ! राजाओंके मन्त्रिप्रधान विषय सम्बन्धीय चार प्रकारके शत्रु, अग्निद प्रभृति छः आततायी, मित्र और अमित्र मित्र ये बारह प्रकारके नृपति, कृष्यादि आठ प्रकारके सन्धानकार्य निवातादि बीस,

एतन्मण्डलमित्याहुराचार्या नीतिकोविदाः ।
अत्र षाड्गुण्यमायत्तं युधिष्ठिर निबोध तत ॥ ५ ॥
वृद्धिक्षयौ च विज्ञेयौ स्थानं च कुरुसत्तम ।
द्विसप्तत्यां महाबाहो ततः षाड्गुण्यजा गुणाः ॥ ६ ॥
यदा स्वपक्षो बलवान् परपक्षस्तथाऽबलः ।
विगृह्य शत्रून्कौन्तेय जेयः क्षितिपतिस्तदा ॥ ७ ॥
यदा परे च बलिनः स्वपक्षश्चैव दुर्बलः ।
सार्धं विद्वांस्तदा क्षीणः परैः संधिं समाश्रयेत् ॥ ८ ॥
द्रव्याणां संचयश्चैव कर्तव्यः सुमहांस्तथा ।
यदा समर्थो यानाय नचिरेणैव भारत ॥ ९ ॥
तदा सर्वं विधेयं स्यात्स्थाने न स विचारयेत ।
भूमिरल्पफला देया विपरीतस्य भारत ॥ १० ॥
हिरण्यरूप्यभूयिष्ठं मित्रं क्षीणमथो बलम् ।
विपरीतान्निगृह्णीयात्स्वयं संधिविशारदः ॥ ११ ॥
संध्यर्थं राजपुत्रं वा लिप्सेथा भरतर्षभ ।

नास्तिक्यादि चौदह दोष और मंत्रादि अठारह तीर्थ येही षष्टिगण हैं; नीतिज्ञ आचार्यगण इन्हें ही मण्डल कहा करते हैं। हे युधिष्ठिर! उसमें जो सन्धि निग्रह प्रभृति षाड्गुण्य वशमें करना होता है, उसे सुनो। (१–५)

हे कुरुसत्तम! राजाओंको वृद्धि, क्षय और स्थानको विशेष रीतिसे जानना उचित है। हे महाबाहो! षष्टि गण और द्वादश नृपति, इनसे ही षाड्-गुण्यज गुण बहत्तर प्रकारके हुआ करते हैं। हे कुन्तीनन्दन! जब अपना पक्ष बलिष्ठ और शत्रुका पक्ष दुर्बल हो, तब राजा शत्रुओंको पराजित करके जय लाभ करे और जब परपक्ष सबल और अपना पक्ष दुर्बल हो, तब विद्वान् राजा क्षीण होकर शत्रुओंके सङ्ग संधि करते हुए बहुतसा धन सञ्चय करे। हे भारत! जब राजा शीघ्र युद्धमें जानेके लिये समर्थ होवे, तब वह विचारपूर्वक स्थानके सहित सब वस्तुओंको विधिके अनुसार ठीक करे। हे भारत! मित्र और बल क्षीण होनेपर सन्धिविशारद राजा जिससे शत्रुको अल्प फल प्राप्त हो वैसी भूमि, सोना और चांदि आदि बहुतसा धन दान करे और स्वयं विपरीत वस्तु ग्रहण करे। (६–११)

विपरीतं न तच्छ्रेयः पुत्र कस्यांचिदापदि ॥ १२ ॥
तस्याः प्रमोक्षे यत्नं च कुर्याः सोपायमन्त्रवित्।
प्रकृतीनां च राजेन्द्र राजा दीनान्विभावयेत ॥ १३ ॥
क्रमेण युगपत्सर्वं व्यवसायं महाबलः।
पीडनं स्तम्भनं चैव कोशभङ्गस्तथैव च ॥ १४ ॥
कार्यं यत्नेन शत्रूणां स्वराज्यं रक्षता स्वयम्।
न च हिंस्योऽभ्युपगतः सामन्तो वृद्धिमिच्छता ॥१५॥
कौन्तेय तं न हिंसेत्स यो महीं विजिगीषते।
गणानां भेदने योगमीप्सेथाः सह मन्त्रिभिः ॥ १६ ॥
साधुसंग्रहणाच्चैव पापनिग्रहणात्तथा।
दुर्बलाश्चैव सततं नान्वेष्टव्या बलीयसा ॥ १७ ॥
तिष्ठेथा राजशार्दूल वैतसीं वृत्तिमास्थितः।
यद्येनमभियायाच्च बलवान् दुर्बलं नृपः ॥ १८ ॥
सामादिभिरुपायैस्तं क्रमेण विनिवर्तयेः।
अशक्नुवंश्च युद्धाय निष्पतेत्सह मन्त्रिभिः ॥ १९ ॥

हे भरतर्षभ ! सन्धि करनेके समय जो सन्धि करे, उसके पुत्रको विश्वासके लिये निकट रखे। जब कोई आपत्काल उपस्थित हो, तब विपरीत पुरुषोंको निकटमें रखना कल्याणकारी नहीं है; इसलिये तुम उपाय और मन्त्रको जान के उन्हें परित्याग करनेके लिये यत्न करना। हे राजेन्द्र ! निज राज्यरक्षक महाबली नरपति राजा तथा प्रजासमूह-की पूजा करना और क्रमसे तथा एकही समयमें शत्रुओंके सब व्यवसाय-को रुद्ध करके यत्नपूर्वक उन्हें पीडन, स्तम्भन तथा उनका कोष भङ्ग करना। हे कौन्तेय ! ऊंचे पदके अभिलाषी राजाने, समीप आये हुए सामन्त और पृथिवीविजयकी इच्छा करनेवाले राजाकी हिंसा न करना, बल्कि तुम गणभेदके निमित्त मन्त्रियोंके सहित योगलाभकी आकांक्षा करना। बल-वान् राजा साधुओंको संग्रह और पापियोंको निग्रह करे, परन्तु निर्बल पुरुषोंको कदापि उच्छिन्न न करे (११—१७)

हे राजशार्दूल ! यदि बलवान् पुरुष तुम्हें निर्बल समझकर आक्रमण करे, तो तुम वैतसी वृत्ति अवलम्बन करके निवास करना; क्रमसे साम आदि उपायके सहारे उसे निवृत्त करनेकी

कोशेन पौरैर्दण्डेन ये चास्य प्रियकारिणः ।
असंभवे तु सर्वस्य यथा मुख्येन निष्पतेत् ।
क्रमेणानेन मुक्तिः स्याच्छरीरमिति केवलम् ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रोपदेशे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच– संधिविग्रहमप्यत्र पश्येथा राजसत्तम ।
द्वियोनिं विविधोपायं बहुकल्पं युधिष्ठिर ॥ १ ॥
कौरव्य पर्युपासीथाः स्थित्वा द्वैविध्यमात्मनः ।
तुष्टपुष्टबलः शत्रुरात्मवानिति च स्मरेत् ॥ २ ॥
पर्युपासनकाले तु विपरीतं विधीयते ।
आमर्दकाले राजेन्द्र व्यपसर्पेत्ततः परम् ॥ ३ ॥
व्यसनं भेदनं चैव शत्रूणां कारयेत्ततः ।
कर्षणं भीषणं चैव युद्धे चैव बलक्षयम् ॥ ४ ॥
प्रयास्यमानो नृपतिस्त्रिविधां परिचिन्तयेत् ।

चेष्टा करना, उससे असमर्थ होनेसे मन्त्रियोंके सहित युद्धके निमित्त बाहिर होना। जो लोग उसके प्रियकारी हों, उनके कोष तथा पौरको दण्डके द्वारा दण्डित करना, परन्तु सभी असम्भव होनेपर मुख्य उपाय शरीरके सहारे युद्धके निमित्त बाहिर होना, इस क्रमके अनुसारही केवल शूर पुरुषोंका शरीर मुक्त हुआ करता है।

आश्रमवासिकपर्वमें ६ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ७ अध्याय।

धृतराष्ट्र बोले, हे राजसत्तम युधिष्ठिर! ऐसे स्थलमें प्रबल और निर्बल शत्रुके निमित्त इस द्वियोनि सम्भूत दो प्रकारकी उपाययुक्त बहुकल्प सन्धि तथा विग्रहकी पर्यालोचन करना। हे कौरव! शत्रुके तुष्ट, पुष्ट, बलयुक्त तथा बुद्धिमान् होनेपर अपने बलाबलको जानके स्थिरभावसे जयका उपाय सोचते हुए जबतक जय प्राप्त न हो, तबतक उसकी उपासना करना। हे राजेंद्र! उपासनाके समय शत्रु का बल अतुष्ट और अपुष्ट होनेपर युद्धयात्राके लिये उद्योग करना और बलपूर्वक निष्पीडनका समय उपस्थित होनेपर उसके बाद युद्धके निमित्त यात्रा करना। तिसके अनन्तर युद्धमें शत्रुओंके व्यसन, भेदन, कर्षण, भीषण और बलक्षय करना। शास्त्रविशारद राजा प्रयाणके पहिले अपनी और शत्रुओंकी तीन

आत्मनश्चैव शत्रोश्च शक्तिं शास्त्रविशारदः ॥ ५ ॥
उत्साहप्रभुशक्तिभ्यां मन्त्रशक्त्या च भारत ।
उपपन्नो नृपो यायाद्विपरीतं च वर्जयेत् ॥ ६ ॥
आददीत बलं राजा मौलं मित्रबलं तथा ।
अटवीबलं भृतं चैव तथा श्रेणीबलं प्रभो ॥ ७ ॥
तत्र मित्रबलं राजन्मौलं चैव विशिष्यते ।
श्रेणीबलं भृतं चैव तुल्ये एवेति मे मतिः ॥ ८ ॥
तथा चारबलं चैव परस्परसमं नृप ।
विज्ञेयं बहुकालेषु राज्ञा काल उपस्थिते ॥ ९ ॥
आपदश्चापि बोद्धव्या बहुरूपा नराधिप ।
भवन्ति राज्ञा कौरव्य यास्ताः पृथगतः शृणु ॥ १० ॥
विकल्पा बहुधा राजन्नापदां पाण्डुनन्दन ।
सामादिभिरुपन्यस्य गणयेत्तान्नृपः सदा ॥ ११ ॥
यात्रां गच्छेद्बलैर्युक्तो राजा सद्भिः परन्तप ।
युक्तश्च देशकालाभ्यां बलैरात्मगुणैस्तथा ॥ १२ ॥
हृष्टपुष्टबलो गच्छेद्राजा वृद्ध्युदये रतः ।

प्रकारकी शक्ति अर्थात् उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति और मन्त्रशक्तिका विचार करे । (१—५)

हे भारत ! राजा उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति और मन्त्रशक्तिसे युक्त होकर युद्धके निमित्त यात्रा करे और विपरीत कार्योंको परित्याग करे । हे प्रभु ! महीपति धनबल, मित्रबल, अटवीबल, प्राणिबल और श्रेणीबल ग्रहण करे । हे राजन् ! मेरा यही मत है, कि सब लोकोंके बीच मित्रबल और धनबल मुख्य है और श्रेणीबल तथा भृत्य ये सब तुल्य हैं । हे नरनाथ ! दूतबल परस्परतुल्य है, समय उपस्थित होनेपर राजा उसे बहुत समयमें जान सकता है । (६–९)

हे नराधिप ! आपद अनेक प्रकारकी मालूम करना; हे कौरव्य ! राजाओंको जो सब आपद उपस्थित होती हैं, उसे पृथक् करके कहता हूं, सुनो । हे राजन् पाण्डुपुत्र ! सब आपदोंके बीच विकल्प अर्थात् इति प्रभृति अनेक प्रकारकी आपद उपस्थित होनेपर राजा सामादि उपायके सहारे उस ही इति प्रभृतिको प्रकाश्य रूपसे आपद कहके गिने । हे परन्तप ! राजा देश, काल, आत्मगुण-

अकृशश्चाप्यथो यायादनृतावपि पाण्डव ॥ १३ ॥
तृणाश्मानं वाजिरथप्रवाहां ध्वजद्रुमैः संवृतकूलरोधसम् ।
पदातिनागैर्बहुकर्दमां नदीं सपत्ननाशे नृपतिः प्रयोजयेत् ॥ १४ ॥
अथोपपत्त्या शकटं पद्मवज्रं च भारत ।
उशना वेद यच्छास्त्रं तत्रैतद्विहितं विभो ॥ १५ ॥
चारयित्वा परबलं कृत्वा स्वबलदर्शनम् ।
स्वभूमौ योजयेद्युद्धं परभूमौ तथैव च ॥ १६ ॥
बलं प्रसादयेद्राजा निक्षिपेद्बलिनो नरान् ।
ज्ञात्वा स्वविषयं तत्र सामादिभिरुपक्रमेत् ॥ १७ ॥
सर्वथैव महाराज शरीरं धारयेदिह ।
प्रेत्य चेह च कर्तव्यमात्मनिःश्रेयसं परम् ॥ १८ ॥
एवमेतन्महाराज राजा सम्यक् समाचरन् ।
प्रेत्य स्वर्गमवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ १९ ॥
एवं त्वया कुरुश्रेष्ठ वर्तितव्यं प्रजाहितम् ।
उभयोर्लोकयोस्तात प्राप्तये नित्यमेव हि ॥ २० ॥

सदृश बल तथा सद्बलसम्पन्न होकर युद्ध करनेके लिये गमन करे । हे पाण्डव ! वृद्धि और उदयनिरत बलवान् राजा हृष्टपुष्ट बलसे युक्त होकर अकालमें भी युद्ध करनेके निमित्त गमन करे । तृण जिसमें पत्थर, घोडे और रथप्रवाह, जिसका करार तथा तट ध्वजारूपी वृक्षोंसे संवृत्त और बहुतसे पैदल तथा हाथियोंके द्वारा जो कर्दममय हो, राजा युक्तिके सहित शत्रुनाशके समय ऐसी नदीसे शकटव्यूह प्रयोग करे । (१०-१५)

हे विभु ! शुक्राचार्य जो शास्त्र जानते हैं, उसमें ही यह सब विहित है । राजा निज बलकी ओर दृष्टि रखके परबलको प्रचारण करते हुए निज भूमि अथवा पर भूमिमें युद्ध करे; महीपति निजबलको प्रसन्न करके बलवान् परबलको निराकृत करे और निज विषयको जानके सामादि उपायके सहारे पर विषय में गमन करनेकी इच्छा करे । (१५-१७)

हे महाराज ! इस लोकमें सब प्रकारसे यत्नपूर्वक शरीरकी रक्षा करना, शरीर रक्षित होनेसे ही इस लोक और परलोकमें परम मङ्गल लाभ हुआ करता है । हे राजन् ! राजा लोग इन सब विषयोंका पूरी रीतिसे आचरण करते हुए धर्मपूर्वक प्रजापालन करनेसे परलोकमें स्वर्ग प्राप्त करते हैं । हे तात !

भीष्मेण सर्वमुक्तोऽसि कृष्णेन विदुरेण च।
मयाऽप्यवश्यं वक्तव्यं प्रीत्या ते नृपसत्तम ॥ २१ ॥
एतत्सर्वं यथान्यायं कुर्वीथा भूरिदक्षिण।
प्रियस्तथा प्रजानां त्वं स्वर्गे सुखमवाप्स्यसि ॥ २२ ॥
अश्वमेधसहस्रेण यो यजेत्पृथिवीपतिः।
पालयेद्वापि धर्मेण प्रजास्तुल्यं फलं लभेत् ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिकपर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रोपसंवादे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच- एवमेतत्करिष्यामि यथाऽऽत्थ पृथिवीपते।
भूयश्चैवानुशास्योऽहं भवता पार्थिवर्षभ ॥ १ ॥
भीष्मे स्वर्गमनुप्राप्ते गते च मधुसूदने।
विदुरे सञ्जये चैव कोऽन्यो मां वक्तुमर्हति ॥ २ ॥
यत्तु मामनुशास्तीह भवानद्य हिते स्थितः।
कर्ताऽस्मि तन्महीपाल निर्वृतो भव पार्थिव ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तुम भी दोनों लोक प्राप्त करनेके लिये सदा ऐसा ही आचरण करते हुए प्रजाके हितमें रत रहो। हे नृपसत्तम ! यद्यपि भीष्म, कृष्ण और विदुरने तुमसे सब कहे हैं, तथापि तुम्हारे ऊपर मेरी अत्यन्त प्रीति रहनेसे अवश्य ही मुझे कहना पडा। हे भूरि-दक्षिण ! तुम न्यायके अनुसार यह सब आचरण करनेसे प्रजासमूहके प्रिय पात्र होकर सुरपुरमें सुख भोगनेमें समर्थ होंगे। हे जननाथ ! जो महीपति सहस्र अश्वमेध करता है और जो धर्मपूर्वक प्रजापालन करता है, उन दोनोंको तुल्य फल प्राप्त होता है। (१८-२३)

आश्रमवासिकपर्वमें ७ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पृथ्वीपति ! आपने जो कहा, मैं उन सब कार्योंको करूंगा, अनन्तर जो जो करना होगा, उसके लिये आप मुझे आज्ञा करिये। हे पार्थिवश्रेष्ठ ! भीष्मके सुरलोकमें जाने तथा मधुसूदन कृष्ण, विदुर और सञ्जयके न रहनेपर अब दूसरा कौन मुझसे ऐसा कहेगा ? हे महीपाल ! आज आपने मेरे हितैषी होकर जो कुछ मुझे आज्ञा की, मैं वही करूंगा; इसके अनन्तर आप वनमें जानेसे निवृत्त होईये। (१—३)

वैशम्पायन उवाच– एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराजेन धीमता ।
कौन्तेयं समनुज्ञातुमियेष भरतर्षभ ॥ ४ ॥
पुत्र संशाम्यतां तावन्ममापि बलवान् श्रमः ।
इत्युक्त्वा प्राविशद्राजा गान्धार्या भवनं तदा ॥ ५ ॥
तमासनगतं देवी गान्धारी धर्मचारिणी ।
उवाच काले कालज्ञा प्रजापतिसमं पतिम् ॥ ६ ॥
अनुज्ञातः स्वयं तेन व्यासेन त्वं महर्षिणा ।
युधिष्ठिरस्यानुमते कदाऽरण्यं गमिष्यसि ॥ ७ ॥
धृतराष्ट्र उवाच– गान्धार्यहमनुज्ञातः स्वयं पित्रा महात्मना ।
युधिष्ठिरस्यानुमते गन्ताऽस्मि न चिराद्वनम् ॥ ८ ॥
अहं हि तावत्सर्वेषां तेषां दुर्द्यूतदेविनाम् ।
पुत्राणां दातुमिच्छामि प्रेतभावानुगं वसु ॥ ९ ॥
सर्वप्रकृतिसान्निध्यं कारयित्वा स्ववेश्मनि ।
वैशम्पायन उवाच– इत्युक्त्वा धर्मराजाय प्रेषयामास वै तदा ॥१०॥
स च तद्वचनात्सर्वं समानिन्ये महीपतिः ।
ततः प्रतीतमनसो ब्राह्मणाः कुरुजाङ्गलाः ॥ ११ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे भरतर्षभ ! उस राजर्षि धृतराष्ट्रने बुद्धिमान् धर्मराजका ऐसा वचन सुनके कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको आज्ञा करनेकी इच्छा की। (४)

धृतराष्ट्र बोले, मुझे अत्यन्त श्रम हुआ है, इसलिये तुम कुछ समय तक शान्त रहो, इतनी बात कहके उन्होंने गान्धारीके गृहमें प्रवेश किया। समयको जाननेवाली धर्मचारिणी गान्धारी उस समय आसनपर बैठे हुए प्रजापतिसदृश पति धृतराष्ट्रसे बोलीं, हे स्वामी! आप तो महर्षि व्यासदेवसे अनुज्ञात तथा युधिष्ठिरसे आदिष्ट हुए हैं, इसलिये कब वनमें चलियेगा ? धृतराष्ट्र बोले, मैं जब पिताकी और युधिष्ठिरकी आज्ञा पा चुका, तब शीघ्र ही वनमें गमन करूंगा, परन्तु मैं निज गृहमें सबको प्रकृतिस्थ कराके उन निन्दित द्यूतक्रीडा करनेवाले पुत्रोंके लिये प्रेतभावके अनुगत वसु दान करनेकी इच्छा करता हूं। (५—१०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उस समय महीपति धृतराष्ट्रने धर्मराजसे इतनी कथा कहके उन्हें प्रजासमूहको बुलानेके लिये भेजा, उन्होंने उनके कहनेके अनु-

क्षत्रियाश्चैव वैश्याश्च शूद्राश्चैव समाययुः ।
ततो निष्क्रम्य नृपतिस्तस्मादन्तःपुरात्तदा ॥ १२ ॥
ददृशे तं जनं सर्वं सर्वांश्च प्रकृतीस्तथा ।
समवेतांश्च तान्सर्वान्पौरान् जानपदांस्तथा ॥ १३ ॥
तानागतानभिप्रेक्ष्य समस्तं च सुहृज्जनम् ।
ब्राह्मणांश्च महीपाल नानादेशसमागतान् ॥ १४ ॥
उवाच मतिमान् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
भवन्तः कुरवश्चैव चिरकालं सहोषिताः ॥ १५ ॥
परस्परस्य सुहृदः परस्परहिते रताः ।
यदिदानीमहं ब्रूयामस्मिन्काल उपस्थिते ॥ १६ ॥
तथा भवद्भिः कर्तव्यमविचार्य वचो मम ।
अरण्यगमने बुद्धिर्गान्धारीसहितस्य मे ॥ १७ ॥
व्यासस्यानुमते राज्ञस्तथा कुन्तीसुतस्य मे ।
भवन्तोऽप्यनुजानन्तु मा च वोऽभूद्विचारणा ॥ १८ ॥
अस्माकं भवतां चैव येयं प्रीतिर्हि शाश्वती ।
न च साऽन्येषु देशेषु राज्ञामिति मतिर्मम ॥ १९ ॥

सार नगरकी सारी प्रजाको बुलाया। अनन्तर ब्राह्मण, कुरुजाङ्गलवासी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रगण प्रहृष्ट चित्तसे वहां-पर आये। (१०-१२)

तिसके अनन्तर राजा धृतराष्ट्रने अन्तःपुरसे बाहिर होकर समस्त प्रजा तथा आये हुए पुरुषोंको देखा। हे पृथ्वीनाथ! बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र उन समागत पुरवासी, जनपदवासी, सुहृद और अनेक देशोंसे आये हुए ब्राह्मणोंको वहांपर इकट्ठे हुए देख कर बोले। आप लोग बहुत समयसे कुरुकुलके सहित एकत्र वास करते हुए परस्परमें परस्परके हितैषी हुए हैं, परंतु उपस्थित समयमें मैं आप लोगोंमें जो कहता हूं, आप लोग विचार न करके मेरे वचनकी रक्षा करिये। व्यासदेव और कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरकी आज्ञाके अनुसार मैं वनमें जानेकी अभिलाष करता हूं, आप लोग भी इस विषयमें विचार न करके मुझे आज्ञा करें और मेरी यह प्रार्थना है, कि आप लोगोंके सङ्ग मेरी यह प्रीति जिसमें सदा अविचलितभावसे निवास करे, मुझे ऐसा मालूम है, कि वह प्रीति अन्यदेशीय राजाओंके सहित स्थिर रहनेकी नहीं है।

श्रान्तोऽस्मि वयसाऽनेन तथा पुत्रविनाकृतः ।
उपवासकृशश्चास्मि गान्धारीसहितोऽनघाः ॥ २० ॥
युधिष्ठिरगते राज्ये प्राप्तश्चास्मि सुखं महत् ।
मन्ये दुर्योधनैश्वर्याद्विशिष्टमिति सत्तमाः ॥ २१ ॥
मम चान्धस्य वृद्धस्य हतपुत्रस्य का गतिः ।
ऋते वनं महाभागास्तन्माऽनुज्ञातुमर्हथ ॥ २२ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सर्वे ते कुरुजाङ्गलाः ।
बाष्पसन्दिग्धया वाचा रुरुदुर्भरतर्षभ ॥ २३ ॥
तानविब्रुवतः किंचित्सर्वान् शोकपरायणान् ।
पुनरेव महातेजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रकृतवनगमनप्रार्थने अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच– शान्तनुः पालयामास यथावद्वसुधामिमाम् ।
तथा विचित्रवीर्यश्च भीष्मेण परिपालितः ॥ १ ॥
पालयामास नस्तातो विदितार्थो न संशयः ।

हे अनघगण ! मैं गान्धारीके सहित पुत्रविरह और अवस्थाक्रमके अनुसार अत्यन्त श्रान्त तथा उपवाससे कृश हुआ हूं । युधिष्ठिरको राज्य मिलनेसे मैं उत्तम रीतिसे सुखभोग करता हूं । हे सत्तमगण ! दुर्योधनके ऐश्वर्यसे युधिष्ठिरके ऐश्वर्यको मैं श्रेष्ठ बोध करता हूं । हे महाभागगण ! इस समय मुझे हतपुत्र वृद्ध अन्ध धृतराष्ट्रको वनमें जानेके अतिरिक्त और गति कहां हैं ? इसलिये तुम लोग मुझे वनमें जानेके लिये आज्ञा करो । (१२–२२)

हे भरतर्षभ ! वे सब कुरुजाङ्गलवासी प्रजा धृतराष्ट्रके वचनको सुनके गद्गद स्वरसे विलाप करती हुई रोदन करने लगीं । महातेजस्वी धृतराष्ट्र उन विलाप करनेवाले शोकपरायण कुरुजाङ्गलवासियोंसे फिर ऐसा वचन कहने लगे । (२३–२४)

आश्रमवासिकपर्वमें ८ अध्याय समाप्त ।

आश्रमवासिकपर्वमें ९ अध्याय ।

धृतराष्ट्र बोले, हे तातगण ! जिस प्रकार शान्तनुने इस वसुन्धराको पालन किया था, उस ही भांति विचित्रवीर्यने भीष्मके द्वारा रक्षित होकर तुम लोगोंको पालन किया था, यह तुम लोगोंको विदित है, इसलिये उसमें सन्देह नहीं है । तुम लोगोंको यह

यथा च पाण्डुर्भ्राता मे दयितो भवतामभूत् ॥ २ ॥
स चापि पालयामास यथावत्तच्च वेत्थ ह ।
मया च भवतां सम्यक् शुश्रूषा या कृताऽनघाः ॥३॥
असम्यग्वा महाभागास्तत्क्षन्तव्यमतन्द्रितैः ।
यदा दुर्योधनेनेदं भुक्तं राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥
अपि तत्र न वो मन्दो दुर्बुद्धिरपराद्धवान् ।
तस्यापराधाद् दुर्बुद्धेरभिमानान्महीक्षिताम् ॥ ५ ॥
विमर्दः सुमहानासीदनयात्स्वकृतादथ ।
तन्मया साधु वाऽपीदं यदि वाऽसाधु वै कृतम् ॥ ६ ॥
तद्वो हृदि न कर्तव्यं मया बद्धोऽयमञ्जलिः
वृद्धोऽयं हतपुत्रोऽयं दुःखितोऽयं नराधिपः ॥ ७ ॥
पूर्वराज्ञां च पुत्रोऽयमिति कृत्वाऽनुजानथ ।
इयं च कृपणा वृद्धा हतपुत्रा तपस्विनी ॥ ८ ॥
गान्धारी पुत्रशोकार्ता युष्मान्याचति वै मया ।
हतपुत्राविमौ वृद्धौ विदित्वा दुःखितौ तथा ॥ ९ ॥
अनुजानीत भद्रं वो व्रजाव शरणं च वः ।

भी विदित है, कि मेरे भाई पाण्डु भी तुम लोगोंको पूरी रीतिसे पालन करके प्रियपात्र हुए थे । हे अनघगण! मैंने भी सम्यक् रीतिसे तुम लोगोंकी जो सेवा की थी, वह यदि असम्यक् हुई हो, तो उसे तुम लोग अतन्द्रित होकर क्षमा करना। यद्यपि उस मन्दमति दुर्बुद्धि दुर्योधनने इस अकण्टक राज्यको पाके भोग किया था, तथापि उसने उस समय तुम लोगोंका कुछ अपराध नहीं किया। केवल उस दुर्बुद्धिके अभिमान तथा निजकृत दुर्णयसे ही राजाओंके बीच यह महत् विमर्द हुआ; मैं हाथ जोडके तुम लोगोंके निकट यह प्रार्थना करता हूं, कि मैंने भला किया हो वा बुरा किया हो, उसे तुम लोगोंको मनमें न लाना चाहिये । तुम लोग मुझ वृद्ध हतपुत्र दुःखित नरपतिको पूर्व-राजाओंका पुत्र कहके जानना । (१-८)

इसके अतिरिक्त यह हतपुत्रा, कृशित, कृपणा, पुत्रशोकार्ता, तपस्विनी गान्धारी मेरे सहित तुम लोगोंके निकट यह प्रार्थना करती है, कि हम लोग तुम्हारे शरणागत हुए, इस समय तुम लोग हमें हतपुत्र और वृद्ध जानके वनमें जानेके लिये आज्ञा करो, तुम लोगोंका

अयं च कौरवो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥
सर्वैर्भवद्भिर्द्रष्टव्यः समेषु विषमेषु च ।
न जातु विषमं चैव गमिष्यति कदाचन ॥ ११ ॥
चत्वारः सचिवा यस्य भ्रातरो विपुलौजसः ।
लोकपालसमा ह्येते सर्वधर्मार्थदर्शिनः ॥ १२ ॥
ब्रह्मेव भगवानेष सर्वभूतजगत्पतिः ।
युधिष्ठिरो महातेजा भवतः पालयिष्यति ॥ १३ ॥
अवश्यमेव वक्तव्यमिति कृत्वा ब्रवीमि वः ।
एष न्यासो मया दत्तः सर्वेषां वो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥
भवन्तोऽस्य च वीरस्य न्यासभूताः कृता मया ।
यद्येव तैः कृतं किंचिद्व्यलीकं वः सुतैर्मम ॥ १५ ॥
यद्न्येन मदीयेन तदनुज्ञातुमर्हथ ।
भवद्भिर्न हि मे मन्युः कृतपूर्वः कथचन ॥ १६ ॥
अत्यन्तगुरुभक्तानामेषोऽञ्जलिरिदं नमः ।
तेषामस्थिरबुद्धीनां लुब्धानां कामचारिणाम् ॥ १७ ॥
कृते याचेऽद्य वः सर्वान् गान्धारीसहितोऽनघाः ।

मङ्गल हो । इस कुन्तीपुत्र कुरुराज युधिष्ठिरको तुम लोग सम तथा विषम पथसे रक्षा करना और देखना ये कदापि विषम पथमें गमन न करें; इनके चारों भाई अत्यन्त बलशाली लोकपाल-सदृश और सर्वधर्मार्थदर्शी हैं; वेही इनके मन्त्री हैं । सब प्राणियों तथा समस्त जगतके प्रभु छः ऐश्वर्योंसे युक्त ब्रह्मासदृश ये महातेजस्वी युधिष्ठिर तुम लोगोंको पालन करेंगे। मेरा अवश्य वक्तव्य होनेसे मैंने तुम लोगोंसे ऐसा कहा है । तुम्हारे इस स्थाप्यस्वरूप युधिष्ठिरको तुम लोगोंको प्रदान किया और तुम लोग भी मेरे द्वारा वीरश्रेष्ठ युधिष्ठिरके निकट थातीरूपसे अर्पित हुए । यदि मेरे पुत्रों अथवा मेरे अन्य किसी पुरुषके द्वारा तुम लोगोंको कुछ दुःख उपस्थित हो, तो तुम इनके निकट आवेदन करना । पहले तुम लोगोंने मेरे ऊपर किसी प्रकार क्रोध नहीं किया, तथा तुम लोगोंके अत्यन्त गुरुभक्त होनेसे मैं हाथ जोडके तुम लोगोंको नमस्कार करता हूं । हे अनघगण ! मैं गान्धारीके सहित उन अस्थिरबुद्धि, लोभी और कामचारियोंके निमित्त तुम लोगोंसे क्षमा मांगता हूं । वे सब पुर-

इत्युक्तास्तेन ते सर्वे पौरजानपदा जनाः ॥
नोचुर्बाष्पकलाः किंचिद्वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ १८ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रप्रार्थने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच– एवमुक्तास्तु ते तेन पौरजानपदा जनाः ।
वृद्धेन राज्ञा कौरव्य नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ १ ॥
तूष्णींभूतांस्ततस्तांस्तु बाष्पकण्ठान्महीपतिः ।
धृतराष्ट्रो महीपालः पुनरेवाभ्यभाषत ॥ २ ॥
वृद्धं च हतपुत्रं च धर्मपत्न्या सहानया ।
विलपन्तं बहुविधं कृपणं चैव सत्तमाः ॥ ३ ॥
पित्रा स्वयमनुज्ञातं कृष्णद्वैपायनेन वै ।
वनवासाय धर्मज्ञा धर्मज्ञेन नृपेण ह ॥ ४ ॥
सोऽहं पुनः पुनश्चैव शिरसाऽवनतोऽनघाः ।
गान्धार्या सहितं तन्मां समनुज्ञातुमर्हथ ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच– तच्छ्रुत्वा कुरुराजस्य वाक्यानि करुणानि ते ।
रुरुदुः सर्वशो राजन्समेताः कुरुजाङ्गलाः ॥ ६ ॥

वासी और जनपदवासी लोग धृतराष्ट्रका ऐसा वचन सुनके आंसू भरे नेत्रसे परस्परको देखते हुए कुछभी कहनेमें समर्थ न हुए (८—१८)

आश्रमवासिकपर्वमें ९ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें १० अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे कौरवनाथ ! वे सब पुरवासी लोग बूढे राजा धृतराष्ट्रका ऐसा वचन सुनके संज्ञाविहीन हुए। महीपति राजा धृतराष्ट्र उन लोगोंको मौनावलम्बी तथा विमूरते देखकर फिर कहने लगे। (१–२)

धृतराष्ट्र बोले, हे सत्तमगण ! पिता कृष्णद्वैपायन और धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिरने धर्मपत्नी गान्धारीके सहित मुझ वृद्ध हतपुत्र बहुविध विलापकारी दीन धृतराष्ट्रको वनवासके निमित्त आज्ञा की है। हे अनघगण ! हम दोनों सिर झुकाके बार बार तुम लोगोंके निकट प्रार्थना करते हैं, इसलिये गान्धारीके सहित मुझे वनमें जानेके लिये तुम लोगोंको आज्ञा करनी उचित है। (३–५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! वे कुरुजाङ्गलवासी प्रजासमूह धृतराष्ट्रके ऐसे करुणायुक्त वचनको सुनके सब कोई इकट्ठे होकर रोदन करने लगे; उन

उत्तरीयैः करैश्चापि संछाद्य वदनानि ते।
रुरुदुः शोकसंतप्ता मुहूर्तं पितृमातृवत् ॥ ७ ॥
हृदयैः शून्यभूतैस्ते धृतराष्ट्रप्रवासजम्।
दुःखं संधारयन्तो हि नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ ८ ॥
ते विनीय तमायासं धृतराष्ट्रवियोगजम्।
शनैः शनैस्तदाऽन्योन्यमब्रुवन्संमतान्युत ॥ ९ ॥
ततः संधाय ते सर्वे वाक्यान्यथ समासतः।
एकस्मिन्ब्राह्मणे राजन्निवेश्योचुर्नराधिपम् ॥ १० ॥
ततः स्वाचरणो विप्रः संमतोऽर्थविशारदः।
साम्बाख्यो बह्वृचो राजन्वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ११ ॥
अनुमान्य महाराजं तत्सदः संप्रसाद्य च।
विप्रः प्रगल्भो मेधावी स राजानमुवाच ह ॥ १२ ॥
राजन्वाक्यं जनस्यास्य मयि सर्वं समर्पितम्।
वक्ष्यामि तदहं वीर तज्जुषस्व नराधिप ॥ १३ ॥
यथा वदसि राजेन्द्र सर्वमेतत्तथा विभो।
नात्र मिथ्या वचः किंचित्सुहृत्त्वं नः परस्परम् ॥१४॥

लोगोंने पितामाताकी भांति शोकसे सन्तापित होकर दुपटेके सहित दोनों हाथोंसे मुंह मूंदके मुहूर्तभर रोदन किया, अनन्तर उन्होंने शून्यप्राय हृदयमें धृतराष्ट्रके प्रवासजनित दुःखको धारण करते हुए चेतरहितकी भांति निवास किया। कुछ समयके अनन्तर उन लोगोंने धृतराष्ट्रके वियोगजनित दुःखको त्यागके धीरे धीरे आपसमें अपना अपना मत प्रकाश किया। हे राजन्! अनन्तर उन सब लोगोंने एकत्रित होकर सन्धान करते हुए एक ब्राह्मणके समीप अपना अपना वचन सुनाके वह सब धृतराष्ट्रसे कहनेके लिये उन्हें अनुरोध किया। हे महाराज! अनन्तर सर्वसम्मत अर्थविशारद पवित्राचारी वह ऋग्वेत्ता साम्ब नाम ब्राह्मण राजासे वह सब वचन कहने लगा। (६–११)

हे महाराज! उस मेधावी, अत्यन्त प्रगल्भ विप्रने सभाको प्रसन्न तथा सम्मानित करके राजा धृतराष्ट्रसे कहा, हे महाराज! इन लोगोंका सब वचन मुझमें अर्पित है। हे वीर नरनाथ! वह सब मैं आपसे कहता हूं, आप सुनके स्वीकार करिये। आप हम लोगोंको अपना और अपनेको हम लोगोंका

न जात्वस्य च वंशस्य राज्ञां कश्चित्कदाचन ।
राजाऽऽसीद्यः प्रजापालः प्रजानामप्रियोऽभवत् ॥१५॥
पितृवद्भ्रातृवच्चैव भवन्तः पालयन्ति नः ।
न च दुर्योधनः किंचिदयुक्तं कृतवान्नृपः ॥ १६ ॥
यथा ब्रवीति धर्मात्मा मुनिः सत्यवतीसुतः ।
तथा कुरु महाराज स हि नः परमो गुरुः ॥ १७ ॥
त्यक्ता वयं तु भवता दुःखशोकपरायणाः ।
भविष्यामश्चिरं राजन् भवद्गुणशतैर्युताः ॥ १८ ॥
यथा शान्तनुना गुप्ता राज्ञा चित्राङ्गदेन च ।
भीष्मवीर्योपगूढेन पित्रा तव च पार्थिव ॥ १९ ॥
भवद्बुद्धीक्षणाच्चैव पाण्डुना पृथिवीक्षिता ।
तथा दुर्योधनेनापि राज्ञा सुपरिपालिताः ॥ २० ॥
न स्वल्पमपि पुत्रस्ते व्यलीकं कृतवान्नृप ।
पितरीव सुविश्वस्तास्तस्मिन्नपि नराधिपे ॥ २१ ॥
वयसा स यथा सम्यग्भवतो विदितं तथा ।

सुहृद कहते हैं, सो वह सब सत्य है, इस विषयमें कुछ भी मिथ्या वचन नहीं हुआ। इस वंशके राजाओंके बीच जो जिस समय राजा हुए हैं, उस समय वे प्रजापालक प्रजाके प्रिय होनेके अतिरिक्त अप्रियभाजन नहीं हुए; वरन पिता और भ्राताकी भाँति हम लोगोंको प्रतिपालन किया है; राजा दुर्योधनने भी हम लोगोंके विषयमें कुछ अत्याचार नहीं किया। (१२–१६)

हे महाराज! सत्यवतीपुत्र महात्मा महामुनि व्यासने आपको जैसा कहा है, आप इस समय वही करिये; वेही हम लोगोंके परम गुरु हैं। हे राजन्! हम लोग आपके द्वारा परित्यक्त होकर अत्यन्त शोकार्त तथा दुःखित हुए; परन्तु हम लोग सदाके लिये आपके गुणसमूहसे बद्ध होकर निवास करेंगे। हे पार्थिव! राजा शान्तनु, चित्राङ्गद और भीष्मके बलसे रक्षित आपके पिता विचित्रवीर्य तथा आपके कृपादृष्टिबलसे पृथ्वीपति पाण्डुने जिस प्रकार हम लोगोंका पालन किया था, राजा दुर्योधनने भी उस ही प्रकार हम लोगोंको पालन किया है। (१७––२०)

हे नृपवर! आपके पुत्रने हम लोगोंका कुछ भी अप्रिय कार्य नहीं किया, इस लिये हम लोग उस राजाका पिताकी

तथा वर्षसहस्राणि कुन्तीपुत्रेण धीमता ॥ २२ ॥
पाल्यमाना धृतिमता सुखं विन्दामहे नृप ।
राजर्षीणां पुराणानां भवतां पुण्यकर्मणाम् ॥ २३ ॥
कुरुसंवरणादीनां भरतस्य च धीमतः ।
वृत्तं समनुयात्येष धर्मात्मा भूरिदक्षिणः ॥ २४ ॥
नात्र वाच्यं महाराज सुसूक्ष्ममपि विद्यते ।
उषिताः स्म सुखं नित्यं भवता परिपालिताः॥ २५ ॥
सुसूक्ष्मं च व्यलीकं ते सपुत्रस्य न विद्यते ।
यत्तु ज्ञातिविमर्देऽस्मिन्नात्थ दुर्योधनं प्रति ॥ २६ ॥
भवन्तमनुनेष्यामि तत्रापि कुरुनन्दन ।
न तद्दुर्योधनकृतं न च तद्भवता कृतम् ॥ २७ ॥
न कर्णसौबलाभ्यां च कुरवो यत्क्षयं गताः ।
दैवं तत्तु विजानीमो यन्न शक्यं प्रबाधितुम् ॥ २८ ॥
दैवं पुरुषकारेण न शक्यमपि बाधितुम् ।
अक्षौहिण्यो महाराज दशाष्टौ च समागताः ॥ २९ ॥
अष्टादशाहेन हताः कुरुभिर्योधपुङ्गवैः ।

भांति विश्वास करते थे, हम लोग जिस प्रकार सुखसे रहते थे, आपको वह सब विदित है। उस ही भांति बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके द्वारा सहस्र वर्षतक प्रतिपालित होकर परम सुखभोग करेंगे। हे नरनाथ! ये धर्मात्मा भूरिदाक्षिण युधिष्ठिर, कुरु, संवरण और धीमान् भरत प्रभृति राजर्षियोंके व्यवहारके अनुवर्ती हुए हैं। हे महाराज! इसलिये इन युधिष्ठिरके विषयमें कुछ भी वक्तव्य नहीं है। हम लोगोंने आपके द्वारा प्रतिपालित होकर सुखसे वास किया है, उस समय पुत्रके सहित आपका अणुमात्र भी अप्रिय कार्य नहीं था। हे कुरुनन्दन! परन्तु आप इस ज्ञातिविनाशके विषयमें दुर्योधनके ऊपर दोषारोप करते हैं, उसके निमित्त हम आपसे विनय करते हैं, कि आप वैसा न कहिये। (२१—२७)

हे महाराज! जो कुरुकुल नष्ट हुआ है, वह दुर्योधन, आप, कर्ण तथा शकुनिके द्वारा नहीं हुआ। जिसे निवारण नहीं किया जा सकता, उसे ही दैव जानो; दैव पुरुषार्थके द्वारा कदापि बाधित नहीं होता। हे महाराज! योद्धाओंमें श्रेष्ठ कौरवोंके हाथसे अठारह अक्षौहिणी

भीष्मद्रोणकृपाद्यैश्च कर्णेन च महात्मना ॥ ३० ॥
युयुधानेन वीरेण धृष्टद्युम्नेन चैव ह ।
चतुर्भिः पाण्डुपुत्रैश्च भीमार्जुनयमैस्तथा ॥ ३१ ॥
न च क्षयोऽयं नृपते ऋते दैवबलादभूत् ।
अवश्यमेव संग्रामे क्षत्रियेण विशेषतः ॥ ३२ ॥
कर्तव्यं निधनं काले मर्तव्यं क्षत्रबन्धुना ।
तैरियं पुरुषव्याघ्रैर्विद्याबाहुबलान्वितैः ॥ ३३ ॥
पृथिवी निहता सर्वा सहया सरथद्विपा ।
न स राज्ञां वधे सूनुः कारणं ते महात्मनाम् ॥ ३४ ॥
न भवान्न च ते भृत्या न कर्णो न च सौबलः ।
यद्विशस्ताः कुरुश्रेष्ठ राजानश्च सहस्रशः ॥ ३५ ॥
सर्वं दैवकृतं विद्धि कोऽत्र किं वक्तुमर्हति ।
गुरुर्मतो भवानस्य कृत्स्नस्य जगतः प्रभुः ॥ ३६ ॥
धर्मात्मानमतस्तुभ्यमनुजानीमहे सुतम् ।
लभतां वीरलोकं स ससहायो नराधिपः ॥ ३७ ॥
द्विजाग्र्यैः समनुज्ञातस्त्रिदिवे मोदतां सुखम् ।

सेना अठारह दिनमें मारी गई । हे नरनाथ ! दैवबलके अतिरिक्त भीष्म, द्रोण, महात्मा कर्ण, महावीर युयुधान, धृष्टद्युम्न और भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, इन चार पाण्डुपुत्रोंके द्वारा इस समस्त सेनाका नाश नहीं हुआ। युद्धमें क्षत्रिय तथा क्षत्रबन्धुगण अवश्य ही मरते हैं और समय पहुंचनेपर सभी मृत्युके मुखमें पतित हुआ करते हैं।(२७-३३)

हे कुरुश्रेष्ठ ! उन बाहुबलशाली क्षत्रियोंके हाथसे घोडे हाथी और रथसे युक्त इस पृथ्वीके सब वीर मारे गये हैं । हे महीपाल ! आपके वे पुत्र तथा आप अथवा कर्ण, शकुनि वा आपके सेवक, कोई भी महात्मा राजाओंके विनाशके विषयमें कारण नहीं हैं । हे कुरुश्रेष्ठ ! सहस्रों राजा लोग जो विनष्ट हुए हैं, उसे देव-कर्म जानो, इस विषयमें कोई भी कुछ कहनेमें समर्थ नहीं होता; आप हम लोगोंके गुरु और समस्त जगत्के प्रभु हैं । हे धर्मात्मन् ! इसलिये हम लोग आपको वनमें तथा आपके पुत्रोंके स्वर्ग में जानेके लिये आज्ञा करते हैं । वह राजा दुर्योधन सहायकोंके सहित वीरलोक पावें और द्विजोंकी आज्ञानुसार सुर-

प्राप्स्यते च भवान्पुण्यं धर्मे च परमां स्थितिम् ॥ ३८ ॥
वेद धर्मं च कृत्स्नेन सम्यक् त्वं भव सुव्रतः ।
दृष्टिप्रदानमपि ते पाण्डवान्प्रति नो वृथा ॥ ३९ ॥
समर्थास्त्रिदिवस्यापि पालने किं पुनः क्षितेः ।
अनुवर्त्स्यन्ति वा धीमन्समेषु विषमेषु च ॥ ४० ॥
प्रजाः कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवान् शीलभूषणान् ।
ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च पारिबर्हांश्च पार्थिवः ॥ ४१ ॥
पूर्वराजाभिपन्नांश्च पालयत्येव पाण्डवः ।
दीर्घदर्शी मृदुर्दान्तः सदा वैश्रवणो यथा ॥ ४२ ॥
अक्षुद्रसचिवश्चायं कुन्तीपुत्रो महामनाः ।
अप्यमित्रे दयावांश्च शुचिश्च भरतर्षभः ॥ ४३ ॥
ऋजु पश्यति मेधावी पुत्रवत्पाति नः सदा ।
विप्रियं च जनस्यास्य संसर्गाद्धर्मजस्य वै ॥ ४४ ॥
न करिष्यन्ति राजर्षे तथा भीमार्जुनादयः ।
मन्दा मृदुषु कौरव्य तीक्ष्णेष्वाशीविषोपमाः ॥ ४५ ॥
वीर्यवन्तो महात्मानः पौराणां च हिते रताः ।

लोकमें सुखभोग करें । (३३—३८)

हे सुव्रत ! आपको भी पुण्यधर्ममें परम स्थिति तथा समस्त वेदधर्म प्राप्त हों; पाण्डवोंके ऊपर जो आपकी दृष्टि पड़ी है, वह वृथा नहीं हैं, उस दृष्टि-बलसे वे लोग पृथ्वीकी तो बात दूर रहे, स्वर्गको भी पालन करनेमें समर्थ होंगे । हे धीमान् कुरुकुलप्रवर ! प्रजा सम वा विषम पथमें शीलभूषणसम्पन्न पाण्डवों की अनुवर्ती होगी; पृथिवीपति पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर पुराने राजाओंके द्वारा अपराद्ध पुरुषों तथा ब्राह्मणोंको प्रदान किये हुए अनुचम हार तथा परिच्छद प्रभृतिकी रक्षा करेंगे । (३८—४२)

भरतकुलश्रेष्ठ अक्षुद्र-सचिव मेधावी महामना कुन्तीपुत्र दीर्घदर्शी मृदु दान्त धनाध्यक्षकी भांति शत्रुओंके विषयमें भी दयायुक्त होकर सरलचित्तसे सदा पुत्रकी भांति हम लोगोंका पालन करते हैं । हे राजर्षि ! इस धर्मपुत्र युधिष्ठिरके संसर्गसे भीम तथा अर्जुन प्रभृति भी अप्रिय आचरण न करेंगे । हे कौरव्य ! ये वीर्यवान् महात्मा पुरवासियोंके हितैषी भीम प्रभृति पाण्डवगण मृदु पुरुषोंको मृदुता और उग्र पुरुषोंको उग्रता दिखाते हैं । (४२—४६)

न कुन्ती न च पाञ्चाली न चोलूपी न सात्वती ॥४६॥
अस्मिन् जने करिष्यन्ति प्रतिकूलानि कर्हिचित् ।
भवत्कृतमिमं स्नेहं युधिष्ठिरविवर्धितम् ॥ ४७ ॥
न पृष्ठतः करिष्यन्ति पौरा जानपदा जनाः ।
अधर्मिष्ठानपि सतः कुन्तीपुत्रा महारथाः ॥ ४८ ॥
मानवान्पालयिष्यन्ति भूत्वा धर्मपरायणाः ।
स राजन्मानसं दुःखमपनीय युधिष्ठिरात् ॥ ४९ ॥
कुरु कार्याणि धर्म्याणि नमस्ते पुरुषर्षभ ।
वैशम्पायन उवाच– तस्य तद्वचनं धर्म्यमनुमान्य गुणोत्तरम् ॥ ५० ॥
साधु साध्विति सर्वः स जनः प्रतिगृहीतवान् ।
धृतराष्ट्रश्च तद्वाक्यमभिपूज्य पुनः पुनः ॥ ५१ ॥
विसर्जयामास तदा प्रकृतीस्तु शनैः शनैः ।
स तैः संपूजितो राजा शिवेनावेक्षितस्तथा ॥ ५२ ॥
प्राञ्जलिः पूजयामास तं जनं भरतर्षभ ।
ततो विवेश भवनं गान्धार्या सहितो निजम् ।
व्युष्टायां चैव शर्वर्यां यच्चकार निबोध तत् ॥ ५३ ॥

इति श्रीम०शत०आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि प्रकृतिसांत्वने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

हे महाराज ! कुन्ती, द्रौपदी, उलूपी और सात्वत कुलमें उत्पन्न हुई सुभद्रा, ये लोग इस समयमें कदापि आपके प्रतिकूल आचरण न करेंगी; पुरवासी और जनपदवासी प्रजासमूह युधिष्ठिरके द्वारा विवर्धित होकर आपके इस स्नेहको कदापि न भूलेंगे। महारथ कुन्तीपुत्र-गण धर्मपरायण होके अधार्मिक मनुष्यों को भी पालन करेंगे। हे पुरुषश्रेष्ठ महाराज ! आपको हम लोग प्रणाम करते हैं, आप युधिष्ठिरसे मानसिक दुःख दूर करके धर्मकार्य करिये। (४६—५०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, सब लोगोंने उस ब्राह्मणके उत्तम गुणयुक्त धर्म-समन्वित वैसे वचनका सम्मान करते हुए 'धन्य धन्य' कहके ग्रहण किया। उस समय धृतराष्ट्रने भी उस वाक्यको उत्तम कहते हुए धीरे धीरे प्रजासमूहको विसर्जन किया। हे भरतकुलतिलक ! राजा धृतराष्ट्रने उस प्रजासमूहसे पूजित तथा शुभदृष्टिसे अवलोकित होकर हाथ जोडके उस ब्राह्मणकी पूजा की। तिसके अनन्तर उन्होंने गान्धारीके सहित गृहमें प्रवेश करके रात्रि बीतनेपर जो किया था,

वैशम्पायन उवाच– ततो रजन्यां व्युष्टायां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
विदुरं प्रेषयामास युधिष्ठिरनिवेशनम् ॥ १ ॥
स गत्वा राजवचनादुवाचाच्युतमीश्वरम् ।
युधिष्ठिरं महातेजाः सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ २ ॥
धृतराष्ट्रो महाराजो वनवासाय दीक्षितः ।
गमिष्यति वनं राजन्नागतां कार्तिकीमिमाम् ॥ ३ ॥
स त्वां कुरुकुलश्रेष्ठ किंचिदर्थमभीप्सति ।
श्राद्धमिच्छति दातुं स गाङ्गेयस्य महात्मनः ॥ ४ ॥
द्रोणस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।
पुत्राणां चैव सर्वेषां ये चान्ये सुहृदो हताः ॥ ५ ॥
यदि चाप्यनुजानीषे सैन्धवापसदस्य च ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
हृष्टः संपूजयामास गुडाकेशश्च पाण्डवः ।
न च भीमो दृढक्रोधस्तद्वचो जगृहे तदा ॥ ७ ॥
विदुरस्य महातेजा दुर्योधनकृतं स्मरन् ।
अभिप्रायं विदित्वा तु भीमसेनस्य फाल्गुनः ॥ ८ ॥

उसे सुनो । (५०-५३)

आश्रमवासिकपर्वमें १० अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ११ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर रात बीतनेपर सबेरे अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रने विदुरको युधिष्ठिरके भवनमें भेजा। बुद्धिमान् पुरुषोंमें अग्रगण्य महातेजस्वी विदुर राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञानुसार अच्युत ईश्वर युधिष्ठिरके निकट जाके उनसे बोले, हे राजन्! महाराज धृतराष्ट्र वनवासके निमित्त दीक्षित हुए हैं, वह आगामी कार्तिकी पूर्णिमाके दिन वनमें जायंगे । हे कुरुकुलप्रवर! वह महात्मा गङ्गातनय भीष्मके श्राद्धदानके अभिलाषी होकर आपके समीप किञ्चित् धनकी आकांक्षा करते हैं और यदि आपकी अनुमति हो तो द्रोण, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक, पुत्रगण, सैन्धवापसद जयद्रथ तथा जो सब सुहृद युद्धमें मरे हैं, उन सबका भी श्राद्ध करें। पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर और गुडाकेश अर्जुनने विदुरका वैसा वचन सुनके प्रसन्न होकर सम्मानपूर्वक उसे स्वीकार किया। परन्तु उस समय महातेजस्वी दृढक्रोधी भीमने दुर्योधनके कार्योंको स्मरण करते हुए विदुरके उस वचनको स्वीकार न किया।

किरीटी किंचिदानम्य तमुवाच नरर्षभम् ।
भीम राजा पिता वृद्धो वनवासाय दीक्षितः ॥ ९ ॥
दातुमिच्छति सर्वेषां सुहृदामौर्ध्वदेहिकम् ।
भवता निर्जितं वित्तं दातुमिच्छति कौरवः ॥ १० ॥
भीष्मादीनां महाबाहो तदनुज्ञातुमर्हसि ।
दिष्ट्या त्वद्य महाबाहो धृतराष्ट्रः प्रयाचते ॥ ११ ॥
याचितो यः पुराऽस्माभिः पश्य कालस्य पर्ययम् ।
योऽसौ पृथिव्याः कृत्स्नाया भर्ता भूत्वा नराधिपः॥१२॥
परैर्विनिहतामात्यो वनं गन्तुमभीप्सति ।
मा तेऽन्यत्पुरुषव्याघ्र दानाद्भवतु दर्शनम् ॥ १३ ॥
अयशस्यमतोऽन्यत्स्यादधर्मश्च महाभुज ।
राजानमुपशिक्षस्व ज्येष्ठं भ्रातरमीश्वरम् ॥ १४ ॥
अर्हस्त्वमपि दातुं वै नादातुं भरतर्षभ ।
एवं ब्रुवाणं बीभत्सुं धर्मराजोऽभ्यपूजयत् ॥ १५ ॥
भीमसेनस्तु सक्रोधः प्रोवाचेदं वचस्तदा ।

किरीटी फाल्गुन भीमसेनका अभिप्राय जानके किञ्चित् विनयपूर्वक पुरुषश्रेष्ठ भीमसे बोले, हे भीम ! बूढे राजा पिता धृतराष्ट्र वनवासके निमित्त दीक्षित होकर सुहृदोंके और्ध्वदेहिक श्राद्ध करनेके अभिलाषी हुए हैं। हे महाबाहो कौरव! जब वह भीष्मादिके और्ध्वदेहिक कार्यके लिये तुम्हारे द्वारा निर्जित धन दान करनेकी इच्छा करते हैं, तब उस विषयमें आपको अनुमति करनी ही उचित है। हे महाबाहो ! देखिये समय का कैसा उलट फेर है, कि पहले ये हम लोगोंके द्वारा याचित हुए थे, आज वेही धृतराष्ट्र भाग्यवशसे हम लोगोंके निकट प्रार्थना करते हैं; ये धृतराष्ट्र सारी पृथ्वीके अधिपति होकर शत्रुके द्वारा मन्त्रियोंके मारे जानेसे वनमें जानेके लिये अभिलाषी हुए हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! दानके अतिरिक्त अन्यकार्यमें आपकी प्रवृत्ति न हो, क्यों कि दानके अतिरिक्त अन्य कार्यमें प्रवृत्ति होनेसे अयश और अधर्म हुआ करता है। हे भरतर्षभ! आप सबके प्रभु ज्येष्ठ भ्राता राजा युधिष्ठिरके निकट शिक्षित होइये, राजाके विद्यमान रहते आप लेने देनेमें समर्थ नहीं हैं। (१—१५)

बीभत्सु अर्जुनके ऐसा कहनेपर धर्मराजने भी उन्हें सम्मानित किया,

वयं भीष्मस्य दास्यामः प्रेतकार्यं तु फाल्गुन ॥ १६ ॥
सोमदत्तस्य नृपतेर्भूरिश्रवस एव च ।
बाह्लीकस्य च राजर्षेर्द्रोणस्य च महात्मनः ॥ १७ ॥
अन्येषां चैव सर्वेषां कुन्ती कर्णाय दास्यति ।
श्राद्धानि पुरुषव्याघ्र मा प्रादात्कौरवो नृपः ॥ १८ ॥
इति मे वर्तते बुद्धिर्मा नो निन्दन्तु शत्रवः ।
कष्टात्कष्टतरं यान्तु सर्वे दुर्योधनादयः ॥ १९ ॥
यैरियं पृथिवी कृत्स्ना घातिता कुलपांसनैः ।
कुतस्त्वमसि विस्मृत्य वैरं द्वादशवार्षिकम् ॥ २० ॥
अज्ञातवासं गहनं द्रौपदीशोकवर्धनम् ।
क तदा धृतराष्ट्रस्य स्नेहोऽस्मद्गोचरो गतः ॥ २१ ॥
कृष्णाजिनोपसंवीतो हृताभरणभूषणः ।
सार्द्धं पाञ्चालपुत्र्या त्वं राजानमुपजग्मिवान् ॥ २२ ॥
क तदा द्रोणभीष्मौ तौ सोमदत्तोऽपि वाऽभवत् ।
यत्र त्रयोदश समा वने वन्येन जीवथ ॥ २३ ॥
न तदा त्वां पिता ज्येष्ठः पितृत्वेनाभिवीक्षते ।

परन्तु उस समय भीमसेन क्रोधपूर्वक उनसे बोले, हे फाल्गुन! मुझे ऐसी विवेचना होती है, कि हम लोग भीष्म, राजा सोमदत्त, भूरिश्रवा, राजर्षि बाह्लीक, महात्मा द्रोणाचार्य तथा अन्यान्य सुहृदोंका श्राद्धादि करेंगे और कुन्ती कर्णका श्राद्ध दान करेगी। हे कुरुनाथ! धृतराष्ट्र दान न करने पावेंगे, ऐसा होनेसे जिन कुलपांसनोंके द्वारा यह पृथ्वी विनाशित हुई है, वे हमारे परम शत्रु दुर्योधनादि अत्यन्त कष्टसे परलोकमें गमन करेंगे। हे अर्जुन! बारह वर्षका वैर, गहन वनमें अज्ञातवास और द्रौपदीके शोकवर्धन आदि सब विषयोंको क्या तुम भूल गये? जब तुमने पाञ्चालपुत्री द्रौपदीके सहित आभरण तथा भूषणरहित होकर कृष्णाजिन पहरके राजा धृतराष्ट्रके समीप गमन किया था उस समय हम लोगोंके विषयमें उनका कैसा स्नेह था? जब तेरह वर्षतक वनके बीच वन्यवृत्ति अवलम्बन करके जीविका निर्वाह करते थे, उस समय द्रोण, भीष्म और सोमदत्त, ये लोग कहां थे? उस समय तुम्हारे इन ज्येष्ठ पितानें पिताकी भांति तुम्हारे विषयमें क्यों नहीं दृष्टि की?

किं ते तद्विस्मृतं पार्थ यदेष कुलपांसनः ॥ २४ ॥
दुर्बुद्धिर्विदुरं प्राह द्यूते किं जितमित्युत ।
तमेवंवादिनं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच वचनं धीमान् जोषमास्वेति भर्त्सयन् ॥ २५ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥
अर्जुन उवाच- भीम ज्येष्ठो गुरुर्मे त्वं नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे ।
धृतराष्ट्रस्तु राजर्षिः सर्वथा मानमर्हति ॥ १ ॥
न स्मरन्त्यपराद्धानि स्मरन्ति सुकृतान्यपि ।
असंभिन्नार्यमर्यादाः साधवः पुरुषोत्तमाः ॥ २ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा फाल्गुनस्य महात्मनः ।
विदुरं प्राह धर्मात्मा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥
इदं मद्वचनात्क्षत्तः कौरवं ब्रूहि पार्थिवम् ।
यावदिच्छति पुत्राणां श्राद्धं तावद्ददाम्यहम् ॥ ४ ॥
भीष्मादीनां च सर्वेषां सुहृदामुपकारिणाम् ।
मम कोशादिति विभो मा भूद्भीमः सुदुर्मनाः ॥ ५ ॥

हे पार्थ ! इस कुलपांसन दुर्बुद्धिने ही उस समय विदुरसे यह बात पूछी थी, कि "क्या जूएमें जीत हुई ?" उसे तुम एकबारही भूल गये हो ! (१६-२५)

भीमसेनके ऐसा कहते रहनेपर कुन्ती-पुत्र बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर उनकी निन्दा करते हुए यह वचन बोले, कि शान्त होजाओ। (२५)

आश्रमवासिकपर्वमें ११ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें १२ अध्याय।

अर्जुन बोले, हे भीम ! आप हमारे ज्येष्ठ भाई तथा गुरु हैं, इसही निमित्त आपसे अतिरिक्त कहनेका मुझे उत्साह नहीं होता है; और क्या कहूं, राजर्षि धृतराष्ट्र सब प्रकारसे हम लोगोंके सम्मानार्ह हैं। देखिये अभिन्न मर्यादा-वाले साधुचित्त उत्तम पुरुष अपकारको स्मरण न करके उपकारहीको स्मरण किया करते हैं। अनन्तर धर्मात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर महात्मा अर्जुनका वचन सुनके विदुरसे बोले, हे क्षत्त ! आप मेरे वचनके अनुसार कुरुकुलश्रेष्ठ पृथ्वीपति धृतराष्ट्रसे कहना, कि वह पुत्रों तथा भीष्म प्रभृति आप्तकारी सुहृदोंके श्राद्धमें जो दान करनेकी इच्छा करेंगे, मैं अपने खजानेसे वह सब

वैशम्पायन उवाच- इत्युक्त्वा धर्मराजस्तमर्जुनं प्रत्यपूजयत् ।
भीमसेनः कटाक्षेण वीक्षांचक्रे धनञ्जयम् ॥ ६ ॥
ततः स विदुरं धीमान् वाक्यमाह युधिष्ठिरः ।
भीमसेने न कोपं स नृपतिः कर्तुमर्हति ॥ ७ ॥
परिक्लिष्टो हि भीमोऽपि हिमवृष्ट्या तपादिभिः ।
दुःखैर्बहुविधैर्धीमानरण्ये विदितं तव ॥ ८ ॥
किंतु मद्वचनाद् ब्रूहि राजानं भरतर्षभ ।
यद्यदिच्छसि यावच्च गृह्यतां मद्गृहादिति ॥ ९ ॥
यन्मात्सर्यमयं भीमः करोति भृशदुःखितः ।
न तन्मनसि कर्तव्यमिति वाच्यः स पार्थिवः ॥ १० ॥
यन्ममास्ति धनं किंचिदर्जुनस्य च वेश्मनि ।
तस्य स्वामी महाराज इति वाच्यः स पार्थिवः ॥ ११ ॥
ददातु राजा विप्रेभ्यो यथेष्टं क्रियतां व्ययः ।
पुत्राणां सुहृदां चैव गच्छत्वानृण्यमद्य सः ॥ १२ ॥
इदं चापि शरीरं मे तवायत्तं जनाधिप ।
धनानि चेति विद्धि त्वं न मे तत्रास्ति संशयः ॥ १३ ॥

इति श्रीम० आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि युधिष्ठिरानुमोदने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

धन दूंगा; इसमें महाबाहु भीम दुःखित न होंगे । (१-५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मराजने इतनी बात कहके अर्जुनको सम्मानित किया, भीमसेनने भी धनञ्जयकी ओर निज दृष्टिसे देखा । अनन्तर बुद्धिमान् युधिष्ठिर विदुरसे बोले, हे नरश्रेष्ठ ! राजा धृतराष्ट्र भीमसेनके ऊपर कोप न करें, ये धीमान् भीमसेन जो वृष्टि, धूप तथा अनेक प्रकारके दुःखोंसे मनमें क्लेशित हुए हैं, वह आपको विदित है। हे भरतर्षभ ! परन्तु आप मेरे वचनके अनुसार राजासे कहना, कि उनकी जो इच्छा हो, मेरे गृहसे वह उन सब वस्तुओंको ग्रहण करें और यह भी कहना, कि यह भीमसेन अत्यन्त दुःखित होकर जो मत्सरता करता है, वह उन्हें अन्तःकरणमें रखना उचित नहीं है । और उस नरनाथसे यह वचन कहना, कि मेरे तथा अर्जुनके गृहमें जो सब धन है, आप उस समस्त धनके स्वामी हैं; इसलिये आज राजा पुत्रों तथा सुहृदोंके निमित्त इच्छानुसार दान करके अऋण्य लाभ करें । हे जननाथ ! आप

वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तस्तु राज्ञा स विदुरो बुद्धिसत्तमः ।
धृतराष्ट्रमुपेत्यैवं वाक्यमाह महार्थवत् ॥ १ ॥
उक्तो युधिष्ठिरो राजा भवद्वचनमादितः ।
स च संश्रुत्य वाक्यं ते प्रशशंस स महाद्युतिः ॥ २॥
बीभत्सुश्च महातेजा निवेदयति ते गृहान् ।
वसु तस्य गृहे यच्च प्राणानपि च केवलान् ॥ ३ ॥
धर्मराजश्च पुत्रस्ते राज्यं प्राणान् धनानि च ।
अनुजानाति राजर्षे यच्चान्यदपि किंचन ॥ ४ ॥
भीमश्च सर्वदुःखानि संस्मृत्य बहुलान्युत ।
कृच्छ्रादिव महाबाहुरनुजज्ञे विनिःश्वसन् ॥ ५ ॥
स राजन् धर्मशीलेन राज्ञा बीभत्सुना तथा ।
अनुनीतो महाबाहुः सौहृदे स्थापितोऽपि च ॥ ६ ॥
न च मन्युस्त्वया कार्य इति त्वां प्राह धर्मराट् ।
संस्मृत्य भीमस्तद्वैरं यदन्यायवदाचरत् ॥ ७ ॥

यह निश्चय जानिये, कि मेरा यह शरीर तथा जो कुछ धन है, वह आपके अधीन है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। (६—१३)

आश्रमवासिकपर्वमें १२ अध्याय समाप्त ।

आश्रमवासिकपर्वमें १३ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, बुद्धिसत्तम विदुर राजा युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके धृतराष्ट्रके निकट जाकर युधिष्ठिरके कहे हुए महान् अर्थयुक्त समस्त वचन कहने लगे। (१)

विदुर बोले, हे महाराज ! मैंने महातेजस्वी युधिष्ठिरके समीप आपका वचन विस्तारपूर्वक कहा, उन्होंने आपका वचन सुनके अत्यन्त प्रशंसा की; महातेजस्वी अर्जुनने भी आपका वचन सुनके निज गृहमें स्थित समस्त धन, गृह तथा प्राणपर्यन्त आपको निवेदन किया। हे राजर्षि ! आपके पुत्र धर्मराजने धन, प्राण तथा गृहमें जो कुछ वस्तु है, वह सब आपको ग्रहण करनेके लिये आज्ञा की; परन्तु महाबाहु भीमसेनने सब दुःखोंको स्मरण करके सांस छोडते हुए बहुत कष्टसे स्वीकार किया। उसे देखकर धर्मशील युधिष्ठिर तथा अर्जुनने महाबाहु भीमसे बहुत विनती करके सुहृदता स्थापन की; उसके लिये धर्मराजने आपको कहा है, कि " भीमने पहले वैरको स्मरण करके जो अन्याय्य आचरण किया है, उससे आप भीमके

एवंप्रायो हि धर्मोऽयं क्षत्रियाणां नराधिप।
युद्धे क्षत्रियधर्मे च निरतोऽयं वृकोदरः ॥ ८ ॥
वृकोदरकृते चाहमर्जुनश्च पुनः पुनः।
प्रसीद याचे नृपते भवान्प्रभुरिहास्ति यत् ॥ ९ ॥
तद्ददातु भवान्वित्तं यावदिच्छसि पार्थिव।
त्वमीश्वरोऽस्य राज्यस्य प्राणानामपि भारत ॥ १० ॥
ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च पुत्राणामौर्ध्वदेहिकम्।
इतो रत्नानि गाश्चैव दासीदासमजाविकम् ॥ ११ ॥
आनयित्वा कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छतु।
दीनान्धकृपणेभ्यश्च तत्र तत्र नृपाज्ञया ॥ १२ ॥
बह्वन्नरसपानाढ्याः सभा विदुर कारय।
गवां निपानान्यन्यच्च विविधं पुण्यकं कुरु ॥ १३ ॥
इति मामब्रवीद्राजा पार्थश्चैव धनञ्जयः।
यदत्रानन्तरं कार्यं तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १४ ॥
इत्युक्ते विदुरेणाथ धृतराष्ट्रोऽभिनन्द्य तान्।

विषयमें क्रोध न करें। हे नराधिप! जब कि क्षत्रियोंका धर्म ही ऐसा है, तब इस वृकोदरने युद्ध तथा क्षत्रधर्ममें रत रहनेसे ऐसा आचरण किया है। (२-८)

हे नरनाथ! इसलिये मैं और अर्जुन भीमके निमित्त आपसे क्षमा मांगता हूं; आप प्रसन्न होइये; हम लागोंकों जो कुछ है आप उन समस्त वस्तुओंके प्रभु हैं। हे पृथ्वीपति! जब कि आप इस राज्य तथा हमारे प्राणके भी प्रभु हैं, तब आपको जितने धनकी इच्छा हो, उतना दान करिये; पुत्रोंके और्ध्वदेहिक कार्यके लिये आप हमारे पाससे उत्तम हार, रत्न, गऊ, दास, दासी तथा बकरे प्रभृति समस्त धन लेकर ब्राह्मण, दीन, अन्ध और कृपणोंको दान करिये। (९—१२)

हे महाराज! पार्थ तथा धनञ्जयने आपको ऐसा ही कहके मुझे बहुतसा अन्न, पान, रस प्रभृतिकी सभा, गौवों-को जल पीनेके निमित्त तालाव और अन्यान्य विविध पुण्यजनक कार्य करनेके लिये आज्ञा किया; इसलिये अब इसके बाद जो कुछ करना हो, आप उसे करिये। (१३-१४)

हे जनमेजय! जब विदुरने ऐसा कहा, तब धृतराष्ट्रने पाण्डवोंके विषयमें अत्यन्त सन्तुष्ट होके अभिनन्दित करते

मनश्चक्रे महादाने कार्तिक्यां जनमेजय ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि विदुरवाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच- विदुरेणैवमुक्तस्तु धृतराष्ट्रो जनाधिपः ।
प्रीतिमानभवद्राजन् राज्ञो जिष्णोश्च कर्मणि ॥ १ ॥
ततोऽभिरूपान् भीष्माय ब्राह्मणानृषिसत्तमान् ।
पुत्रार्थे सुहृदश्चैव स समीक्ष्य सहस्रशः ॥ २ ॥
कारयित्वाऽन्नपानानि यानान्याच्छादनानि च ।
सुवर्णमणिरत्नानि दासीदासमजाविकम् ॥ ३ ॥
कम्बलानि च रत्नानि ग्रामान् क्षेत्रं तथा धनम् ।
सालङ्कारान् गजानश्वान् कन्याश्चैव वरस्त्रियः ॥ ४ ॥
उद्दिश्योद्दिश्य सर्वेभ्यो ददौ स नृपसत्तमः ।
द्रोणं संकीर्त्य भीष्मं च सोमदत्तं च बाह्लिकम् ॥ ५ ॥
दुर्योधनं च राजानं पुत्रांश्चैव पृथक् पृथक् ।
जयद्रथपुरोगांश्च सुहृदश्चापि सर्वशः ॥ ६ ॥
स श्राद्धयज्ञो ववृते बहुशो धनदक्षिणः ।
अनेकधनरत्नौघो युधिष्ठिरमते तदा ॥ ७ ॥
अनिशं यत्र पुरुषा गणका लेखकास्तदा ।

हुए कार्तिकी पौर्णमासीमें महादान करनेकी इच्छा की। (१५)

आश्रमवासिकपर्वमें १३ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें १४ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जननाथ धृतराष्ट्र विदुरका ऐसा वचन सुनके राजा युधिष्ठिर तथा जिष्णु अर्जुनके कार्यसे बहुत ही प्रसन्न हुए। अनन्तर उन्होंने भीष्म, पुत्रों और सुहृदोंके निमित्त निर्वाचनपूर्वक सहस्र ऋषिसत्तम ब्राह्मणोंको अन्न-पानादि भोजन कराके द्रोण, भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक, राजा दुर्योधन, अन्यान्य पुत्रगण और जयद्रथ प्रभृति सुहृदोंके नाम लेकर उनके उद्देश्यसे उन ब्राह्मणोंको सवारी, वस्त्र, सुवर्ण, मणि, रत्न, दास, दासी, अजाविक और कम्बल, विविध रत्न, ग्राम, क्षेत्र, सुसज्जित घोडे, हाथी और आभूषणोंसे युक्त उत्तम कन्या प्रदान किया। (१-७)

उस समय युधिष्ठिरकी आज्ञाके अनुसार बहुतसे धन, रत्न और अनेक दक्षिणायुक्त वह श्राद्धयज्ञ इस प्रकार

युधिष्ठिरस्य वचनादपृच्छन्त स्म तं नृपम् ॥ ८ ॥
आज्ञापय किमेतेभ्यः प्रदायं दीयतामिति ।
तदुपस्थितमेवात्र वचनान्ते ददुस्तदा ॥ ९ ॥
शतदेये दशशतं सहस्रे चायुतं तथा ।
दीयते वचनाद्राज्ञः कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ॥ १० ॥
एवं स वसुधाराभिर्वर्षमाणो नृपाम्बुदः ।
तर्पयामास विप्रांस्तान्वर्षन् सस्यमिवाम्बुदः ॥ ११ ॥
ततोऽनन्तरमेवात्र सर्ववर्णान्महामते ।
अन्नपानरसौघेण प्लावयामास पार्थिवः ॥ १२ ॥
सवस्त्रधनरत्नौघो मृदङ्गनिनदो महान् ।
गवाश्वमकरावर्तो नानारत्नमहाकरः ॥ १३ ॥
ग्रामाग्रहारद्वीपाढ्यो मणिहेमजलार्णवः ।
जगत्संप्लावयामास धृतराष्ट्रोडुपोद्धतः ॥ १४ ॥
एवं स पुत्रपौत्राणां पितृणामात्मनस्तथा ।
गान्धार्याश्च महाराज प्रददावौर्ध्वदेहिकम् ॥ १५ ॥

वर्धित हुआ, कि वहां गणक तथा लेखक पुरुष युधिष्ठिरके वचनानुसार राजा धृतराष्ट्रसे बार बार पूछने लगे, कि इन लोगोंको क्या दान करना होगा, उसके लिये आप आज्ञा करिये; आप जो आज्ञा करेंगे, वही इस स्थानमें उपस्थित है। उस समय वे लोग धृतराष्ट्रके वचनको सुनके बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके वचनानुसार जो लोग एक सौ दानके पात्र थे, उन्हें सहस्र और सहस्र दानवाले पात्रको दस सहस्र परिमाणसे धन दान करने लगे, जैसे बादल जलकी वर्षा करके शस्योंको पुष्ट करता है, वैसे ही उस नरनाथने वसुकी वर्षा करते हुए ब्राह्मणोंको परितृप्त किया। (८–११)

हे महाप्राज्ञ! तिसके अनन्तर राजा युधिष्ठिरने उस श्राद्धयज्ञमें अन्न पान तथा रसके सहारे सब वर्णोंको ही प्लावित किया। हे महाराज! वस्त्र, धन और समस्त रत्न जिसका वेग, मृदङ्ग-समूह महा ध्वनि, गऊ और अश्वसमूह मकर तथा आवर्त, अनेक प्रकारके रत्न ही महान् आकर, ग्राम और उत्तम हारसमूह दीप, मणि तथा सुवर्ण प्रभृति जल और धृतराष्ट्र उडुपरूपी हुए; ऐसे दानरूपी समुद्रने समस्त जगत्को प्लावित किया। हे महाराज! उस नरनाथ

परिश्रान्तो यदाऽऽसीत्स ददद्दानान्यनेकशः ।
निवर्तयामास तदा दानयज्ञं नराधिपः ॥ १६ ॥
एवं स राजा कौरव्यश्चक्रे दानमहाक्रतुम् ।
नटनर्तकलास्याढ्यं बह्वन्नरसदक्षिणम् ॥ १७ ॥
दशाहमेवं दानानि दत्त्वा राजाऽम्बिकासुतः ।
बभूव पुत्रपौत्राणामनृणो भरतर्षभ ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि दानयज्ञे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततः प्रभाते राजा स धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
आहूय पाण्डवान्वीरान् वनवासे कृतक्षणः ॥ १ ॥
गान्धारीसहितो धीमानभ्यनन्दद्यथाविधि ।
कार्तिक्यां कारयित्वेष्टिं ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २ ॥
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिनसंवृतः ।
वधूजनवृतो राजा निर्ययौ भवनात्ततः ॥ ३ ॥
ततः स्त्रियः कौरवपाण्डवानां याश्चापराः कौरवराजवंश्याः ।

धृतराष्ट्रने इस ही प्रकार पुत्र, पौत्र, पितरगण और अपना तथा गान्धारीका और्ध्वदेहिक कार्य पूरा किया। अनन्तर जब वह बहुत दान करके थक गये, तब नरनाथ युधिष्ठिरने उस दानयज्ञको निवर्तित किया। कुरुपति राजा धृतराष्ट्रने नट, नर्तक और नृत्य गीतादि समन्वित बहुतसा अन्न, रस और दक्षिणायुक्त दानरूपी महायज्ञको इस ही प्रकार समाधान किया। (१२–१७)

हे भरतश्रेष्ठ! अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्र इस ही प्रकार दस दिनतक अनेक भांतिसे धनदान करके पुत्रों और पौत्रोंके निकट अऋणी हुए। (१८)

आश्रमवासिकपर्वमें १४ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें १५ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धीमान् अम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्रने गान्धारीके सहित वनवासका समय निश्चय करते हुए वीरश्रेष्ठ पाण्डुपुत्रोंको बुलाके विधिपूर्वक उन्हें अभिनन्दित किया। अनन्तर वह कार्तिकी पौर्णमासीमें वेदपारग ब्राह्मणोंके द्वारा उदवसनीय नाम यज्ञ पूरा करके वल्कल तथा अजिन पहरके अग्निहोत्रको आगेकर वधूगणोंसे घिरके निज गृहसे बाहिर हुए। अनन्तर विचित्रवीर्यपुत्र राजा धृतराष्ट्रके गृहसे बाहिर होनेपर उस समय कुरुश्रेष्ठ

तासां नादः प्रादुरासीत्तदानीं वैचित्रवीर्ये नृपतौ प्रयाते ॥ ४ ॥
ततो लाजैः सुमनोभिश्च राजा विचित्राभिस्तद्गृहं पूजयित्वा।
संपूज्यार्थैर्भृत्यवर्गं च सर्वं ततः समुत्सृज्य ययौ नरेन्द्रः ॥ ५ ॥
ततो राजा प्राञ्जलिर्वेपमानो युधिष्ठिरः सस्वरं बाष्पकण्ठः।
विमुच्योच्चैर्महानादं हि साधो क यास्यसीत्यपतत्तात भूमौ ॥ ६ ॥
तथाऽर्जुनस्तीव्रदुःखाभितप्तो मुहुर्मुहुर्निःश्वसन् भारताग्र्यः।
युधिष्ठिरं मैवमित्येवमुक्त्वा निगृह्याथो दीनवत्सीदमानः ॥ ७ ॥
वृकोदरः फाल्गुनश्चैव वीरौ माद्रीपुत्रौ विदुरः सञ्जयश्च।
वैश्यापुत्रः सहितो गौतमेन धौम्यो विप्राश्चान्वयुर्बाष्पकण्ठाः ॥ ८ ॥
कुन्ती गान्धारीं बद्धनेत्रां व्रजन्तीं स्कन्धासक्तं हस्तमथोद्वहन्ती।
राजा गान्धार्याः स्कन्धदेशेऽवसज्य पाणिं ययौ धृतराष्ट्रः प्रतीतः ॥ ९ ॥
तथा कृष्णा द्रौपदी सात्वती च बालापत्या चोत्तरा कौरवी च।
चित्राङ्गदा याश्च काश्चित्स्त्रियोन्याः सार्धं राज्ञा प्रस्थितास्ता वधूभिः॥१०॥
तासां नादो रुदतीनां तदाऽऽसीद्राजन् दुःखात्कुररीणामिवोच्चैः।

पाण्डव तथा कुरुवंशीय अन्यान्य स्त्रियों-के रोदनकी ध्वनि प्रकट हुई। उसके अनन्तर राजा धृतराष्ट्रने लाज तथा विचित्र पुष्पोंसे उस गृहकी पूजा तथा धनसे सेवकोंकी तुष्टि करते हुए विषयादि परित्याग करके गमन किया। (१-५)

अनन्तर राजा युधिष्ठिर हाथ जोडके कम्पित शरीर तथा सबाष्पकण्ठसे युक्त ऊंचे स्वरसे महानाद करते हुए 'हे साधो तात! आप कहां जायंगे?' ऐसा वचन कहके पृथ्वीपर गिर पडे। उस समय भारतप्रधान अर्जुनने तीव्र दुःखसे अत्यन्त सन्तापित होकर बार बार लम्बी सांस छोडते हुए दीन जनों की भांति अवसन्न होकर युधिष्ठिरको "आप ऐसा न होइये" इस प्रकार कहके उन्हें धारण किया। अनन्तर वृकोदर, महावीर फाल्गुन, माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव, विदुर, सञ्जय, वैश्यापुत्र युयुत्सु और गौतमके सहित धौम्य प्रभृति विप्रगण बाष्परुद्ध कण्ठसे उनका अनुगमन करने लगे। (६—८)

कुन्ती नेत्र बांधके चलनेवाली गांधा-रीके निज कन्धे पर स्थित हांथको धरके चलने लगी। राजा धृतराष्ट्र भी गान्धारीके कन्धे पर हाथ रखके विश्वा-सी होकर चलने लगे। सात्वतकुलमें उत्पन्न हुई सुभद्रा, कृष्णवर्णवाली द्रौपदी, बालापत्या उत्तरा, कुरुराजपुत्री उलूपी, चित्राङ्गदा और अन्यान्य स्त्रियें वधूगणके

ततो निष्पेतुर्ब्राह्मणक्षत्रियाणां विट्शूद्राणां चैव भार्याः समन्तात् ॥ ११ ॥
तन्निर्याणे दुःखितः पौरवर्गो गजाह्वये चैव बभूव राजन् ।
यथा पूर्वं गच्छतां पाण्डवानां द्यूते राजन्कौरवाणां सभायाः ॥ १२ ॥
या नापश्यंश्चन्द्रमसं न सूर्यं रामाः कदाचिदपि तस्मिन्नरेन्द्रे ।
महावनं गच्छति कौरवेन्द्रे शोकेनार्ता राजमार्गं प्रपेदुः ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रनिर्याणे पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततः प्रासादहर्म्येषु वसुधायां च पार्थिव ।
नारीणां च नराणां च निःस्वनः सुमहानभूत् ॥ १ ॥
स राजा राजमार्गेण नृनारीसंकुलेन च ।
कथंचिन्निर्ययौ धीमान् वेपमानः कृताञ्जलिः ॥ २ ॥
स वर्धमानद्वारेण निर्ययौ गजसाह्वयात् ।
विसर्जयामास च तं जनौघं स मुहुर्मुहुः ॥ ३ ॥
वनं गन्तुं च विदुरो राज्ञा सह कृतक्षणः ।
सञ्जयश्च महामात्रः सूतो गावल्गणिस्तथा ॥ ४ ॥

बीच घिरके राजाके सङ्ग चलीं। दुःखसे कुररीकी भांति रोदन करनेवाली उन स्त्रियोंका ऊंचा ध्वनि उस समय प्रकट हुआ। उसके अनन्तर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी स्त्रियें उस ध्वनिको सुनकर चारों ओरसे वहां आके निपतित हुईं। हे महाराज! पहले पाण्डवोंके जुएकी खेलमें हारके कौरवसभासे गमन करनेपर हस्तिनापुरवासी जिस प्रकार दुःखित हुए थे, धृतराष्ट्रके निकलनेके समयमें भी वे लोग उस ही प्रकार दुःखित हुए। ऐसा ही नहीं, वरन जो सब स्त्रियें कभी चन्द्र तथा सूर्यको भी नहीं देखने पाती थीं, वे भी उस कुरुपति नरेन्द्र धृतराष्ट्रके महावनमें जानेके समय अत्यन्त शोकार्त होकर राजमार्गमें बाहिर हुईं। (९–१३)

आश्रमवासिकपर्वमें १५ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें १६ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे पृथ्वीपाल! उसके अनन्तर समस्त प्रासाद, अट्टालिका तथा भूमण्डलके बीच नरनारियोंका महान् शब्द प्रकट हुआ। बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र हाथ जोडके तथा कांपते हुए शरीरसे अत्यन्त कष्टके सहित नरनारियोंसे परिपूरित राजमार्गसे बाहिर हुए। अनन्तर उन्होंने बडे दरवाजेसे हस्तिनापुरके बाहिर होकर उस

कृपं निवर्तयामास युयुत्सुं च महारथम् ।
धृतराष्ट्रो महीपालः परिदाप्य युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥
निवृत्ते पौरवर्गे च राजा सान्तःपुरस्तदा ।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो निवर्तितुमियेष ह ॥ ६ ॥
सोऽब्रवीन्मातरं कुन्तीं वनं तमनुजग्मुषीम् ।
अहं राजानमन्विष्ये भवती विनिवर्तताम् ॥ ७ ॥
वधूपरिवृता राज्ञि नगरं गन्तुमर्हसि ।
राजा यात्वेष धर्मात्मा तापस्ये कृतनिश्चयः ॥ ८ ॥
इत्युक्ता धर्मराजेन बाष्पव्याकुललोचना ।
जगामैव तदा कुन्ती गान्धारीं परिगृह्य ह ॥ ९ ॥
कुन्त्युवाच– सहदेवे महाराज माऽप्रसादं कृथाः क्वचित् ।
एष मामनुरक्तो हि राजंस्त्वां चैव सर्वदा ॥ १० ॥
कर्णं स्मरेथाः सततं संग्रामेष्वपलायिनम् ।
अवकीर्णो हि समरे वीरो दुष्प्रज्ञया तदा ॥ ११ ॥
आयसं हृदयं नूनं मन्दाया मम पुत्रक ।

स्थानमें समागत लोगोंको क्रमसे विदा किया । महामन्त्री सूत गवल्गणपुत्र सञ्जय और विदुरने राजा धृतराष्ट्रके सङ्ग वनमें जानेके लिये स्थिर सङ्कल्प किया । तब पृथ्वीनाथ धृतराष्ट्रने कृपाचार्य और महारथ युयुत्सुको युधिष्ठिरके समीप सौंपकर उन लोगोंको निवृत्त किया । उस समय पुरवासियोंके लौटने पर राजा युधिष्ठिर अन्तःपुरवासी स्त्रियोंके सहित धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाके वहांसे निवृत्त हुए । वह धृतराष्ट्रकी अनुगमनाभिलाषिणी वनमें जानेकी इच्छा करनेवाली निज माता कुन्तीसे बोले; हे माता ! मैं राजाके सङ्ग जाऊंगा, तुम लौट जाओ । हे रानी ! तपस्याके लिये निश्चय किये हुए ये राजा धृतराष्ट्र वनमें जावें, परन्तु आपको वधूगणोंके बीच घिरके नगरमें चलना उचित है । (१—८)

उस समय कुन्ती धर्मराजका ऐसा वचन सुनके आंखोंमें आंसू भरकर गान्धारीको दृढताके सहित धरके गमन करनेमें उद्यत हुई । (९)

कुन्ती बोली, हे महाराज ! यह सहदेव सदा तुम्हारा और मेरा अनुरक्त है, इसलिये तुम इसके विषयमें कभी विरक्त न होना । युद्धमें सदा अपराङ्मुख-कर्णको स्मरण करना, वह वीर उस

यत्सूर्यजमपश्यन्त्याः शतधा न विदीर्यते ॥ १२ ॥
एवं गते तु किं शक्यं मया कर्तुमरिन्दम ।
मम दोषोऽयमत्यर्थं ख्यापितो यन्न सूर्यजः ॥ १३ ॥
तन्निमित्तं महाबाहो दानं दद्यास्त्वमुत्तमम् ।
सदैव भ्रातृभिः सार्धं सूर्यजस्यारिमर्दन ॥ १४ ॥
द्रौपद्याश्च प्रिये नित्यं स्थातव्यमरिकर्शन ।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव नकुलश्च कुरूद्वह ॥ १५ ॥
समाधेयास्त्वया राजंस्त्वय्यद्य कुलधूर्गता ।
श्वश्रूश्वशुरयोः पादान् शुश्रूषन्ती वने त्वहम् ।
गान्धारीसहिता वत्स्ये तापसी मलपङ्किनी ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तः स धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितो वशी ।
विषादमगमद्धीमान्न च किंचिदुवाच ह ॥ १७ ॥
मुहूर्तमिव तु ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच मातरं दीनश्चिन्ताशोकपरायणः ॥ १८ ॥

समय दुर्बुद्धिसे ही संग्राममें मारे गये । हे पुत्र ! मैं मन्दभागिनी हूं, मेरा हृदय निश्चयसे ही लोहमय है, क्यों कि सूर्य-पुत्रको न देखकर अबतक भी सौ टुकडे होकर न फट गया ! हे अरिदमन ! जब कि सूर्यनन्दन इस प्रकार चले गये, तब उस विषयमें मैं और क्या कहूंगी ? तब मेरा उसमें एक महान् दोष हुआ है, कि पहले मैंने कर्णको सूर्यसे उत्पन्न हुआ कहके प्रकाश नहीं किया । हे अरिमर्दन महाबाहो ! तुम भाइयोंके सहित उस सूर्यपुत्रके उद्देश्यसे उत्तम रीतिसे दान करना । हे शत्रुकर्षण कुरूद्वह ! भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव सदा द्रौपदीके प्रियकार्यमें रत रहें । हे महाराज ! आज तुमपर ही समस्त कुलका भार अर्पित हुआ है, इसलिये तुम इन सब कार्योंको पूरा करना । मैं वनके बीच सास श्वशुर तथा गान्धारी और धृतराष्ट्रका अनुगमन करके इनकी चरणसेवा करती हुई मल-पङ्किनी तपस्विनी गान्धारीके सङ्ग वास करूंगी । (१०—१६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, चित्तको वशमें किये हुए बुद्धिमान् धर्मात्मा युधिष्ठिर कुन्तीका ऐसा वचन सुनके भाइयोंके सहित अत्यन्त दुःखित होकर कुछ भी उत्तर देनेमें समर्थ न हुए । (१७)

चिन्ताशोकपरायण धर्मराज युधिष्ठिर

किमिदं ते व्यवसितं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ।
न त्वामभ्यनुजानामि प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥
पुरोद्यतान्पुरा ह्यस्मानुत्साह्य प्रियदर्शने ।
विदुलाया वचोभिस्त्वं नास्मान्संत्यक्तुमर्हसि ॥ २० ॥
निहत्य पृथिवीपालान् राज्यं प्राप्तमिदं मया ।
तव प्रज्ञामुपश्रुत्य वासुदेवान्नरर्षभात् ॥ २१ ॥
क सा बुद्धिरियं चाद्य भवत्या यच्छ्रुतं मया ।
क्षत्रधर्मे स्थितिं चोक्त्वा तस्याश्च्यवितुमिच्छसि ॥ २२ ॥
अस्मानुत्सृज्य राज्यं च स्नुषाहीना यशस्विनि ।
कथं वत्स्यसि दुर्गेषु वनेष्वद्य प्रसीद मे ॥ २३ ॥
इति बाष्पकला वाचः कुन्ती पुत्रस्य शृण्वती ।
सा जगामाश्रुपूर्णाक्षी भीमस्तामिदमब्रवीत् ॥ २४ ॥
यदा राज्यमिदं कुन्ति भोक्तव्यं पुत्रनिर्जितम् ।
प्राप्तव्या राजधर्माश्च तदेयं ते कुतो मतिः ॥ २५ ॥

मुहूर्तभर चिन्ता करके दीनभावसे निज जननी कुन्तीसे बोले, हे माता! तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है? आपको ऐसा करना उचित नहीं है; मैं तुम्हें वनमें जानेके निमित्त आज्ञा न करूंगा, आप हम लोगोंके ऊपर प्रसन्न होवें। हे प्रियदर्शने! पहले हम लोगोंके नगरसे बाहिर जानेमें उद्यत होनेपर तुमने हम लोगोंको विदुलाके वचनसे उत्साहित किया था, इस समय क्या हम लोगोंका परित्याग करना तुम्हें उचित होता है? मैंने पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णके समीप तुम्हारे बुद्धिबलको सुनके उसहीके अनुसार राजाओंको मारके यह राज्य पाया है। हे माता! मैंने तुम्हारी जो बुद्धिवृत्ति सुनी थी, आज तुम्हारी वह बुद्धि कहां है? पहले तुम मुझे क्षत्रधर्ममें निवास करना अवश्य कर्तव्य कहके इस समय उससे च्युत होनेकी इच्छा करती हो? हे यशस्विनी! तुम इस राज्य, पुत्रवधुओं तथा हम लोगोंको परित्याग करके किस प्रकार दुर्गम वनमें वास करोगी? हे माता! मुझपर प्रसन्न होके वनमें जानेसे निवृत्त होजाओ। (१८-२३)

कुन्ती पुत्रका ऐसा बाष्पाकुल करुण-युक्त वचन सुनके आंखोंमें आंसू भरके गमन करने लगी, तब भीमसेन उससे बोले, हे माता! जब तुमने पुत्रनिर्जित इस राज्यभोग और राजधर्म प्राप्त करनेके लिये विचारा था, तब तुम्हारी यह

किं वयं कारिताः पूर्वं भवत्या पृथिवीक्षयम् ।
कस्य हेतोः परित्यज्य वनं गन्तुमभीप्ससि ॥ २६ ॥
वनाच्चापि किमानीता भवत्या बालका वयम् ।
दुःखशोकसमाविष्टौ माद्रीपुत्राविमौ तथा ॥ २७ ॥
प्रसीद मातर्मा गास्त्वं वनमद्य यशस्विनि ।
श्रियं यौधिष्ठिरीं मातर्भुङ्क्ष्व तावद्बलार्जिताम् ॥२८॥
इति सा निश्चितैवाशु वनवासाय भाविनी ।
लालप्यतां बहुविधं पुत्राणां नाकरोद्वचः ॥ २९ ॥
द्रौपदी चान्वयाच्छ्वश्रूं विषण्णवदना तदा ।
वनवासाय गच्छन्तीं रुदती भद्रया सह ॥ ३० ॥
सा पुत्रान् रुदतः सर्वान् मुहुर्मुहुरवेक्षती ।
जगामैव महाप्राज्ञा वनाय कृतनिश्चया ॥ ३१ ॥
अन्वयुः पाण्डवास्तां तु सभृत्यान्तःपुरास्तथा ।
ततः प्रमृज्य साऽश्रूणि पुत्रान्वचनमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि कुन्तीवनप्रस्थाने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

बुद्धि कहां थी ? तुम किस कारण हम लोगोंको छोडके वनमें जानेकी इच्छा करती हो ? यदि तुम्हारा ऐसा ही अभिप्राय था, तो पहले क्यों हम लोगोंके द्वारा पृथ्वीका नाश कराया ? और हम लोग बाल्यावस्थामें ही वनको गये थे, तब हम लोगोंको तथा दुःखशोकयुक्त माद्रीपुत्र नकुलसहदेवको क्यों वनसे बुलवाया ? हे यशस्विनी माता! तुम प्रसन्न होओ, आज वनमें न जाकर धर्मराजके बाहुबलसे उपार्जित इस ऐश्वर्यको भोग करो। भाविनी कुन्तीने शीघ्र वनवासके निमित्त निश्चय करके पुत्रोंके अनेक प्रकारसे विलापयुक्त वचनको न सुना और न ग्रहण किया। तब द्रौपदी विषण्णवदन होकर रोदन करती हुई सुभद्राके सहित वनमें जानेके लिये उद्यत निज सास कुन्तीकी अनुगामिनी हुई। वनवासका निश्चय किये हुई महाबुद्धिमती कुन्ती रोते हुए पुत्रोंको बार बार देखती हुई गमन करने लगी। पाण्डवगण भी सेवकों तथा अन्तःपुरवासियोंके सङ्ग उसका अनुगमन करने लगे। तिसके अनन्तर कुन्ती अत्यन्त कष्टसे आंसू रोककर पुत्रोंसे कहने लगी। (२४–३२)

आश्रमवासिकपर्वमें १६ अध्याय समाप्त।

कुन्त्युवाच- एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
कृतमुद्धर्षणं पूर्वं मया वः सीदतां नृपाः ॥ १ ॥
द्यूतापहृतराज्यानां पतितानां सुखादपि ।
ज्ञातिभिः परिभूतानां कृतमुद्धर्षणं मया ॥ २ ॥
कथं पाण्डोर्न नश्येत सन्ततिः पुरुषर्षभाः ।
यशश्च वो न नश्येत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ३ ॥
यूयमिन्द्रसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ।
मा परेषां मुखप्रेक्षाः स्थेत्येवं तत्कृतं मया ॥ ४ ॥
कथं धर्मभृतां श्रेष्ठो राजा त्वं वासवोपमः ।
पुनर्वने न दुःखी स्या इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ५ ॥
नागायुतसमप्राणः ख्यातविक्रमपौरुषः ।
नायं भीमोऽत्ययं गच्छेदिति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ६ ॥
भीमसेनादवरजस्तथाऽयं वासवोपमः ।
विजयो नावसीदेत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ७ ॥
नकुलः सहदेवश्च तथेमौ गुरुवर्तिनौ ।

आश्रमवासिकपर्वमें १७ अध्याय ।

कुन्ती बोली, हे महाबाहु पाण्डुपुत्र नरपतिगण ! तुम लोगोंने जो कहा, वह सत्य है, परन्तु पहले मैंने तुम लोगोंको जो कहा वा तुम्हारे निमित्त जो कुछ किया है, उन सब कार्योंको तुम लोगोंके जूए, राज्य और सुखसे भ्रष्ट, स्वजनोंसे पराभूत तथा अवसन्न होनेपर उत्साह बढानेके निमित्त ही हुआ जानो । हे पुरुषप्रवरगण ! पाण्डुकी सन्तति तथा तुम लोगोंका यश किसी प्रकार लुप्त न हो, इस ही निमित्त मैंने तुम लोगोंको हर्षित किया था; इन्द्र तथा देवताओंके सदृश पराक्रमशाली तुम लोगोंको दूसरोंका मुखापेक्षी न होनेके लिये मैंने ऐसी विवेचना करके वैसा किया था । हे युधिष्ठिर ! तुम धार्मिकश्रेष्ठ और सुरराजसदृश राजा हो, इसलिये जिसमें फिर तुम लोगोंको वनके बीच किसी प्रकारका क्लेश भोगना न पडे, ऐसा ही समझकर मैंने तुम्हें हर्षित किया था; दश हजार हाथियोंके समान बलशाली, विक्रम तथा पुरुषार्थमें विख्यात इस भीमसेनके विनाशकी आशङ्कासे मैंने तुम लोगोंके हर्षको बढाया था । भीमसेनके भाई इन्द्रसदृश यह विजय किसी प्रकार अवसन्न न हों, इस ही निमित्त मैंने तुम लोगोंको हर्ष

क्षुधा कथं न सीदेतामिति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ८ ॥
इयं च बृहती श्यामा तथाऽत्यायतलोचना ।
वृथा सभातले क्लिष्टा मा भूदिति च तत्कृतम् ॥ ९ ॥
प्रेक्षतामेव वो भीम वेपन्तीं कदलीमिव ।
स्त्रीधर्मिणीमरिष्टाङ्गीं तथा द्यूतपराजिताम् ॥ १० ॥
दुःशासनो यदा मौर्ख्याद्दासीवत्पर्यकर्षत ।
तदैव विदितं मह्यं पराभूतमिदं कुलम् ॥ ११ ॥
निषण्णाः कुरवश्चैव तदा मे श्वशुरादयः ।
सा दैवं नाथमिच्छन्ती व्यलपत्कुररी यथा ॥ १२ ॥
केशपक्षे परामृष्टा पापेन हतबुद्धिना ।
यदा दुःशासनेनैषा तदा मुह्याम्यहं नृपाः ॥ १३ ॥
युष्मत्तेजोविवृद्ध्यर्थं मया ह्युद्धर्षणं कृतम् ।
तदानीं विदुलावाक्यैरिति तद्वित्त पुत्रकाः ॥ १४ ॥
कथं न राजवंशोऽयं नश्येत्प्राप्य सुतान्मम ।
पाण्डोरिति मया पुत्रास्तस्मादुद्धर्षणं कृतम् ॥ १५ ॥
न तस्य पुत्राः पौत्रा वा क्षतवंशस्य पार्थिव ।

उत्पन्न किया। गुरुके आज्ञानुवर्ती ये नकुल और सहदेव किसी प्रकार क्षुधासे अवसन्न न हों, ऐसा ही समझके मैंने तुम लोगोंके उत्साहको विशेष रीतिसे वर्धित किया था। यह दीर्घाङ्गी श्याम-वर्णवाली विशालनयनी द्रौपदी सभा-स्थलमें वृथा क्लेश न पावे, यही समझ-कर मैंने वैसा किया था। (१—९)

हे भीम! जब दुःशासनने मूर्खतासे तुम लोगोंके सम्मुखमें ही कदलीकी भांति कम्पित शरीरवाली स्त्रीधर्मिणी अरिष्टाङ्गी जूएमें हारी हुई इस द्रौपदी-को दासीकी भांति परिकर्षित किया, तभी मैंने इस कुरुकुलको अपने समीप पराजित समझा था। जब द्रौपदी कुररी की भांति विलाप करती हुई अन्य नाथकी अभिलाष नहीं की, उस समय मेरे श्वशुर प्रभृति कौरवगण अत्यन्त दुःखित हुए। हे नृप! जिस समय हतबुद्धि पापात्मा दुःशासनने इसका केश पकडा, उस समय मैं मुग्ध होगई थी। हे पुत्र! उस समय तुम्हारा तेज बढा-नेके लिये मैंने विदुलाके वचनोंके तुम लोगोंको हर्षित किया था। उस समय पाण्डुका यह राजवंश मेरे पुत्रोंसे विनष्ट न हो, इस ही अभिप्रायसे मैंने तुम

लभन्ते सुकृताँल्लोकान् यस्माद्वंशः प्रणश्यति ॥ १६ ॥
भुक्तं राज्यफलं पुत्रा भर्तुर्मे विपुलं पुरा।
महादानानि दत्तानि पीतः सोमो यथाविधि॥ १७ ॥
नाहमात्मफलार्थं वै वासुदेवमचूचुदम्।
विदुलायाः प्रलापैस्तैः पालनार्थं च तत्कृतम् ॥ १८ ॥
नाहं राज्यफलं पुत्राः कामये पुत्रनिर्जितम्।
पतिलोकानहं पुण्यान्कामये तपसा विभो ॥ १९ ॥
श्वश्रूश्वशुरयोः कृत्वा शुश्रूषां वनवासिनोः।
तपसा शोषयिष्यामि युधिष्ठिर कलेवरम् ॥ २० ॥
निवर्तस्व कुरुश्रेष्ठ भीमसेनादिभिः सह।
धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्तु महदस्तु च ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि कुन्तीवाक्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच– कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा पाण्डवा राजसत्तम।
व्रीडिताः संन्यवर्तन्त पाञ्चाल्या सहितानघाः ॥ १ ॥
ततः शब्दो महानेव सर्वेषामभवत्तदा।

लोगोंका हर्ष वर्धित किया था; जिससे वंश प्रनष्ट होता है, वे पाण्डुके पुत्र और पृथ्वीपति कौरवगण सुकृत लोगोंको न प्राप्त कर सकेंगे। (१०—१६)

हे पुत्रगण! पहले मैंने स्वामीका विपुल राज्यफल भोग किया है, सब प्रकारसे महादान किया तथा विधिपूर्वक सोमपान किया है। मैंने निज फलके निमित्त श्रीकृष्णको नियुक्त नहीं किया, केवल विदुलाके प्रलाप हेतु तथा पालन करनेके निमित्त वैसा किया था। हे पुत्रगण! मैं पुत्रसे निर्जित राज्यफलकी कामना नहीं करती; हे विभु! मैं तपस्याके सहारे केवल पुण्यजनक पतिलोककी कामना करती हूं। हे युधिष्ठिर! मैं वनवासी सासश्वशुरकी सेवा करती हुई तपोबलसे शरीर सुखाऊंगी; हे कुरुप्रवीर! इसलिये तुम भीमसेनादिके सहित लौट जाओ, तुम्हारी बुद्धि धर्ममें रत रहे और तुम्हारा मन अत्यन्त उच्चपदपर आरूढ होवे। १७-२१

आश्रमवासिकपर्वमें १७ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें १८ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजसत्तम! पापरहित पाण्डवगण कुन्तीका ऐसा वचन सुनके लज्जित होकर द्रौपदी

अन्तःपुराणां रुदतां दृष्ट्वा कुन्तीं तथा गताम् ॥ २ ॥
प्रदक्षिणमथावृत्त्य राजानं पाण्डवास्तदा ।
अभिवाद्य न्यवर्तन्त पृथां तामनिवर्त्य वै ॥ ३ ॥
ततोऽब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
गान्धारीं विदुरं चैव समाभाष्यावगृह्य च ॥ ४ ॥
युधिष्ठिरस्य जननी देवी साधु निवर्त्यताम् ।
यथा युधिष्ठिरः प्राह तत्सर्वं सत्यमेव हि ॥ ५ ॥
पुत्रैश्वर्यं महदिदमपास्य च महाफलम् ।
काऽनुगच्छेद्वनं दुर्गं पुत्रानुत्सृज्य मूढवत् ॥ ६ ॥
राज्यस्थया तपस्तप्तुं कर्तुं दानव्रतं महत् ।
अनया शक्यमेवाद्य श्रूयतां च वचो मम ॥ ७ ॥
गान्धारि परितुष्टोऽस्मि वध्वाः शुश्रूषणेन वै ।
तस्मात्त्वमेनां धर्मज्ञे समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ८ ॥
इत्युक्ता सौबलेयी तु राज्ञा कुन्तीमुवाच ह ।
तत्सर्वं राजवचनं स्वं च वाक्यं विशेषवत् ॥ ९ ॥
न च सा वनवासाय देवी कृतमतिं तदा ।

के सहित निवृत्त हुए। उस समय कुन्तीके इस प्रकार गमन करनेपर अन्तःपुरवासीगण उसे देखके अत्यन्त शोकार्त होकर रोदन करने लगे, उनके रोदन करनेसे तुमुल शब्द हुआ। उस समय पाण्डवगण पृथाको फिर निवृत्त न करके धृतराष्ट्रकी प्रदक्षिणा करते हुए प्रणाम करके निवृत्त हुए। (१–३)

अनन्तर महातेजस्वी अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्र गान्धारी और विदुरको सम्भाषणपूर्वक ग्रहण करके बोले, युधिष्ठिरने जो कहा है, वह सब सत्य है; इसलिये युधिष्ठिरकी जननी कुन्तीदेवी सद्भावके सहित निवृत्त होवे। महाफलजनक पुत्रके इस महान् ऐश्वर्य तथा पुत्रों को परित्याग करके मूढकी भांति वह दुर्गम वनमें कहां जायगी? आज मेरा यह वचन सुने, कि वह राज्यमें ही रहके महादान तथा तपस्या कर सकेगी। हे गान्धारी! मैं वधूकी सेवासे अत्यन्तही परितुष्ट हुआ हूं, इसलिये तुम ही इसे निवृत्त होनेकी आज्ञा करो। सुबलपुत्री गान्धारीने राजाका ऐसा वचन सुनके कुन्तीको राजवाक्य सुनाया और स्वयं भी विशेष करके अनेक अनेक कथा कही; परन्तु वनवासके निमित्त निश्चय करनेवाली

शक्नोत्युपावर्तयितुं कुन्तीं धर्मपरां सतीम् ॥ १० ॥
तस्यास्तां तु स्थितिं ज्ञात्वा व्यवसायं कुरुस्त्रियः ।
निवृत्तांश्च कुरुश्रेष्ठान् दृष्ट्वा प्ररुरुदुस्तदा ॥ ११ ॥
उपावृत्तेषु पार्थेषु सर्वास्वेव वधूषु च ।
ययौ राजा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो वनं तदा ॥ १२ ॥
पाण्डवाश्चातिदीनास्ते दुःखशोकपरायणाः ।
यानैः स्त्रीसहिताः सर्वे पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ १३ ॥
तदहृष्टमनानन्दं गतोत्सवमिवाभवत् ।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम् ॥ १४ ॥
सर्वे चासन्निरुत्साहाः पाण्डवा जातमन्यवः ।
कुन्त्या हीनाः सुदुःखार्ता वत्सा इव विनाकृताः ॥१५॥
धृतराष्ट्रस्तु तेनाह्ना गत्वा सुमहदन्तरम् ।
ततो भागीरथीतीरे निवासमकरोत्प्रभुः ॥ १६ ॥
प्रादुष्कृता यथान्यायमग्नयो वेदपारगैः ।
व्यराजन्त द्विजश्रेष्ठैस्तत्र तत्र तपोवने ॥ १७ ॥
प्रादुष्कृताग्निरभवत् स च वृद्धो नराधिपः ।
स राजाऽग्नीन् पर्युपास्य हुत्वा च विधिवत्तदा ॥ १८ ॥

धर्मपरायण सती कुन्तीदेवीको किसी प्रकार लौटानेमें समर्थ न हुई। (४-१०)

उस समय कुरुस्त्रीगण कुन्तीका धीरज और व्यवसाय मालूम करके तथा कुरुपतिगणोंको निवृत्त होते देखकर ऊंचे स्वरसे रोदन करती हुई निवृत्त हुईं। अनन्तर पृथापुत्रों तथा वधूगणोंके निवृत्त होनेपर महाप्राज्ञ राजा धृतराष्ट्रने वनमें गमन किया। शोकदुःखपरायण पाण्डवगण अत्यन्त दीनभावसे स्त्रियोंके सहित सवारीके द्वारा नगरमें आये; उस समय स्त्री, वृद्ध और बालकोंके सहित हस्तिनापुर मानो उत्सवरहित हुआ। जातमन्यु पाण्डवगण कुन्तीके विरहसे गो-विहीन बछडेकी भांति दुःखार्त तथा निरुत्साह हुए। (११-१५)

इधर राजा धृतराष्ट्रने उस दिन बहुत दूर जाके भागीरथीके तटपर वास किया। वहां तपोवनमें वेदपारग ब्राह्मणोंके द्वारा विधिपूर्वक अग्नि जलाकर प्रकाशित हुए; उस समय वह बूढे राजा विधानके अनुसार अग्निहोत्रकी उपासना तथा आहुति दान करके स्वयं प्रदीप्त अग्निकी भांति प्रकाशित होने लगे।

सन्ध्यागतं सहस्रांशुमुपातिष्ठत भारत ।
विदुरः सञ्जयश्चैव राज्ञः शय्यां कुशैस्ततः ॥ १९ ॥
चक्रतुः कुरुवीरस्य गान्धार्याश्चाविदूरतः ।
गान्धार्याः सन्निकर्षे तु निषसाद कुशे सुखम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरस्य जननी कुन्ती साधुव्रते स्थिता ।
तेषां संश्रवणे चापि निषेदुर्विदुरादयः ॥ २१ ॥
याजकाश्च यथोद्देशं द्विजा ये चानुयायिनः ।
प्राधीतद्विजमुख्या सा संप्रज्वलितपावका ॥ २२ ॥
बभूव तेषां रजनी ब्राह्मीव प्रीतिवर्धिनी ।
ततो रात्र्यां व्यतीतायां कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ॥ २३ ॥
हुत्वाग्निं विधिवत्सर्वे प्रययुस्ते यथाक्रमम् ।
उदङ्मुखा निरीक्षन्त उपवासपरायणाः ॥ २४ ॥
स तेषामतिदुःखोऽभून्निवासः प्रथमेऽहनि ।
शोचतां शोचमानानां पौरजानपदैर्जनैः ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

हे भारत! विदुर और सञ्जयने सन्ध्याके समय सूर्यकी उपासना करके कुशके सहारे राजाके निमित्त शय्या तैयार किया । अनन्तर युधिष्ठिरकी जननी उत्तम व्रतवाली कुन्ती कुरुवीरके समीप ही गान्धारीकी शय्या बिछाकर उसके निकट कुशाके आसनपर सुखसे बैठीं; विदुर प्रभृति सब कोई उनके निकट बैठे और याजक अनुयायी द्विजगणोंने यथास्थानमें निवास किया । उस समय ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि समुत्थित तथा पावकपुञ्ज प्रज्वलित होनेसे वह रात्रि ब्राह्मीकी भांति उन लोगको प्रीतिवर्धिनी हुई । तिसके अनन्तर रात बीतनेपर भोरको उपवासपरायण धृतराष्ट्र प्रभृति पुरुषोंने पौर्वाह्णिक कार्योंको पुरा करते हुए विधिपूर्वक अग्निमें होम करके इधर उधर देखते हुए यथाक्रमसे उत्तरकी ओर प्रस्थान किया। हे नरनाथ! शोच्यमान पुरवासी तथा जनपदवासियोंके निमित्त शोकपरायण धृतराष्ट्र प्रभृतिका प्रथम दिन उस भागीरथी तटपर वास अत्यन्त दुःखकर हुआ था । (१९–२५)

आश्रमवासिकपर्वमें १८ अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच– ततो भागीरथीतीरे मेध्ये पुण्यजनोचिते ।
निवासमकरोद्राजा विदुरस्य मते स्थितः ॥ १ ॥
तत्रैनं पर्युपातिष्ठन् ब्राह्मणा वनवासिनः ।
क्षत्रविट्शूद्रसङ्घाश्च बहवो भरतर्षभ ॥ २ ॥
स तैः परिवृतो राजा कथाभिः परिनन्द्य तान् ।
अनुजज्ञे स शिष्यान्वै विधिवत्प्रतिपूज्य च ॥ ३ ॥
सायाह्ने स महीपालस्ततो गङ्गामुपेत्य च ।
चकार विधिवच्छौचं गान्धारी च यशस्विनी ॥ ४ ॥
ते चैवान्ये पृथक् सर्वे तीर्थेष्वाप्लुत्य भारत ।
चक्रुः सर्वाः क्रियास्तत्र पुरुषा विदुरादयः ॥ ५ ॥
कृतशौचं ततो वृद्धं श्वशुरं कुन्तिभोजजा ।
गान्धारीं च पृथा राजन् गङ्गातीरमुपानयत् ॥ ६ ॥
राज्ञस्तु याजकैस्तत्र कृतो वेदीपरिस्तरः ।
जुहाव तत्र वह्निं स नृपतिः सत्यसङ्गरः ॥ ७ ॥
ततो भागीरथीतीरात्कुरुक्षेत्रं जगाम सः ।
सानुगो नृपतिर्वृद्धो नियतः संयतेन्द्रियः ॥ ८ ॥

आश्रमवासिकपर्वमें १९ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर राजा धृतराष्ट्रने विदुरकी सम्मतिके अनुसार पुण्यमान् पुरुषोंके वासके योग्य उस गङ्गाके तटपर ही निवास किया । हे भरतर्षभ ! वहांपर बहुतसे वनवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रगण उनकी सेवा करने लगे। राजाने उन लोगोंके बीच घिरकर अनेक प्रकारके वचनसे उन लोगोंको परितुष्ट करते हुए विधिपूर्वक शिष्योंके सहित ब्राह्मणोंकी सम्मानना करके चलनेके लिये आज्ञा किया । फिर महीपाल धृतराष्ट्रने यशस्विनी गान्धारीके सहित सायंकालमें गङ्गाकिनारे जाकर शौचादि कार्य पूरा किया । हे भारत ! विदुरादि अन्यान्य पुरुषोंने पृथक् रीतिसे तीर्थमें आगमन करते हुए वहां शौचादि कार्य पूरा किया । (१—५)

हे राजन् ! तिसके अनन्तर भोजराजपुत्री कुन्ती शौचादिसे निवृत्त होनेपर वृद्ध श्वशुर धृतराष्ट्र तथा गान्धारीको गङ्गातटपर ले आई । याजक गणोंने वहांपर राजाके निमित्त कुशास्तृत यज्ञवेदी तैयार की; उस सत्यसङ्गर राजा धृतराष्ट्रने वहां अग्निमें होम किया,

तत्राश्रमपदं धीमानभिगम्य स पार्थिवः ।
आससादाथ राजर्षिं शतयूपं मनीषिणम् ॥ ९ ॥
स हि राजा महानासीत्केकयेषु परन्तपः ।
स्वपुत्रं मनुजैश्वर्ये निवेश्य वनमाविशत् ॥ १० ॥
तेनासौ सहितो राजा ययौ व्यासाश्रमं प्रति ।
तत्रैनं विधिवद्राजा प्रत्यगृह्णात्कुरूद्वहम् ॥ ११ ॥
स दीक्षां तत्र संप्राप्य राजा कौरवनन्दनः ।
शतयूपाश्रमे तस्मिन्निवासमकरोत्तदा ॥ १२ ॥
तस्मै सर्वं विधिं राज्ञे राजाऽऽचख्यौ महामतिः ।
आरण्यकं महाराज व्यासस्यानुमते तदा ॥ १३ ॥
एवं स तपसा राजन् धृतराष्ट्रो महामनाः ।
योजयामास चात्मानं तांश्चाप्यनुचरांस्तदा ॥ १४ ॥
तथैव देवी गान्धारी वल्कलाजिनधारिणी ।
कुन्त्या सह महाराज समानव्रतचारिणी ॥ १५ ॥
कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा चैव ते नृप ।
सन्नियम्येन्द्रियग्राममास्थिताः परमं तपः ॥ १६ ॥

फिर उन्होंने नियत तथा संयतेन्द्रिय होकर अनुचरोंके सहित कुरुक्षेत्रमें गमन किया। वह बुद्धिमान् पृथ्वीपति धृतराष्ट्र आश्रममें आगमन करके मनीषी राजर्षि शतयूपसे मिले। (६—९)

हे परन्तप! वह शतयूप केकयदेशके महाराज थे; उन्होंने पुत्रको पार्थिव ऐश्वर्य तथा राज्यका अधिपति करके वनका अवलम्बन किया था। राजा धृतराष्ट्र उनके सहित व्यासदेवके आश्रममें गये; राजा शतयूपने वहां विधिपूर्वक कुरुपतिको प्रतिग्रह किया। कुरुनन्दन राजा धृतराष्ट्रने वहां दीक्षा पाकर उस शतयूपके आश्रममें निवास किया। हे महाराज! महाबुद्धिमान् राजा शतयूपने वेदव्यासकी अनुमतिक्रमसे राजा धृतराष्ट्रसे समस्त वन्यविधि विशेष रीतिसे कही; तब महामना पृथ्वीपति धृतराष्ट्र अनुचरोंके सहित तपस्यामें नियुक्त हुए। हे महाराज! समान तपचारिणी गान्धारी देवी भी वल्कल तथा अजिन धारण करके कुन्तीके सहित तपस्यामें नियुक्त हुई। हे नरनाथ! उन सब लोगोंने कर्म, मन, वचन और नेत्रके सहित इन्द्रियोंको संयत करते हुए परम तपस्या अवलंबन की। (१०--१६)

त्वगस्थिभूतः परिशुष्कमांसो जटाजिनी वल्कलसंवृताङ्गः।
स पार्थिवस्तत्र तपश्चचार महर्षिवत्तीव्रमपेतमोहः ॥ १७ ॥
क्षत्ता च धर्मार्थविदग्र्यबुद्धिः ससञ्जयस्तं नृपतिं सदारम्।
उपाचरद्घोरतपो जितात्मा तदा कृशो वल्कलचीरवासाः ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि शतयूपाश्रमनिवासे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततस्तत्र मुनिश्रेष्ठा राजानं द्रष्टुमभ्ययुः।
नारदः पर्वतश्चैव देवलश्च महातपाः ॥ १ ॥
द्वैपायनः सशिष्यश्च सिद्धाश्चान्ये मनीषिणः।
शतयूपश्च राजर्षिर्वृद्धः परमधार्मिकः ॥ २ ॥
तेषां कुन्ती महाराज पूजां चक्रे यथाविधि।
ते चापि तुतुषुस्तस्यास्तापसाः परिचर्यया ॥ ३ ॥
तत्र धर्म्याः कथास्तात चक्रुस्ते परमर्षयः।
रमयन्तो महात्मानं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ४ ॥
कथान्तरे तु कस्मिंश्चिद्देवर्षिर्नारदस्ततः।
कथामिमामकथयत्सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ५ ॥

वह पृथ्वीपाल धृतराष्ट्र महर्षिकी भांति मोहरहित होकर अस्थिचर्मावशिष्ट, शुष्क मांसयुक्त, शरीरको जटा, अजिन तथा वल्कलके द्वारा ढांकके तीव्र तपस्या करने लगे। धर्मार्थवित् लोकातीत बुद्धिमान् जितात्मा क्षत्ता विदुर भी सञ्जयके सहित वल्कल तथा चीरवसन पहरके सस्त्रीक धृतराष्ट्रके निकट अत्यन्त घोर तपस्या करने लगे। (१७-१८)

आश्रमवासिकपर्वमें १९ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें २० अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर मुनिश्रेष्ठ महातपस्वी नारद, पर्वत, शिष्योंके सहित द्वैपायन, मनीषी सिद्धगण और परम धार्मिक वृद्ध राजर्षि शतयूप, ये सब कोई राजा धृतराष्ट्रका दर्शन करनेके लिये उस स्थानमें आये। हे महाराज! कुन्तीने उन समागत तपस्वियोंकी विधिपूर्वक परिचर्या की, वे सब कोई उसकी सेवासे प्रसन्न हुए। हे तात! उन परमर्षियोंने वहां आपसमें धर्मयुक्त वचनकी पर्यालोचना करते हुए महात्मा जननाथ धृतराष्ट्रको आनन्दित किया। तिसके अनन्तर किसी कथाप्रसङ्गसे सर्वप्रत्यक्षदर्शी देवर्षि नारद यह वार्ता कहने लगे। (१-५)

नारद उवाच- केकयाधिपतिः श्रीमान् राजाऽऽसीदकुतोभयः ।
सहस्रचित्य इत्युक्तः शतयूपपितामहः ॥ ६ ॥
स पुत्रे राज्यमासज्ज्य ज्येष्ठे परमधार्मिके ।
सहस्रचित्यो धर्मात्मा प्रविवेश वनं नृपः ॥ ७ ॥
स गत्वा तपसः पारं दीप्तस्य वसुधाधिपः ।
पुरन्दरस्य संस्थानं प्रतिपेदे महाद्युतिः ॥ ८ ॥
दृष्टपूर्वः स बहुशो राजन्संपतता मया ।
महेन्द्रसदने राजा तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ ९ ॥
तथा शैलालयो राजा भगदत्तपितामहः ।
तपोबलेनैव नृपो महेन्द्रसदनं गतः ॥ १० ॥
तथा पृषध्रो राजाऽऽसीद्राजन्वज्रधरोपमः ।
स चापि तपसा लेभे नाकपृष्ठमितो गतः ॥ ११ ॥
अस्मिन्नरण्ये नृपते मान्धातुरपि चात्मजः ।
पुरुकुत्सो नृपः सिद्धिं महतीं समवाप्तवान् ॥ १२ ॥
भार्या समभवद्यस्य नर्मदा सरितां वरा ।
सोऽस्मिन्नरण्ये नृपतिस्तपस्तप्त्वा दिवं गतः ॥ १३ ॥
शशलोमा च राजाऽऽसीद्राजन् परमधार्मिकः ।
सम्यगस्मिन्वने तप्त्वा ततो दिवमवाप्तवान् ॥ १४ ॥

नारद मुनि बोले, शतयूपके पितामह केकयाधिपति श्रीमान् नरनाथ सहस्रचित्य निःशङ्कचित्त थे। उस धर्मात्मा सहस्रचित्यने परम धार्मिक जेठे पुत्रको राज्यभार अर्पण करके वनमें प्रवेश किया। महातेजस्वी पृथ्वीपति सहस्रचित्यने तपस्याकी पराकाष्ठा लाभ करके अन्तमें प्रदीप्त इन्द्रलोक पाया; मैंने महेन्द्रभवनमें जाके देखा, कि बहुत पहलेके देखे हुए नरनाथ सहस्रचित्य तपस्याके सहारे निष्पाप होकर वहां निवास करते हैं और भगदत्तके पितामह राजा शैलालयने तपोबलसे सुरेन्द्रभवन में गमन किया है। हे राजन्! इन्द्रसदृश राजा पृषध्रने भी तपोबलके सहारे इस लोकसे स्वर्गमें गमन किया है। हे नरनाथ! इस वनमें ही मान्धातृपुत्र राजा पुरुकुत्सने महती सिद्धि पाई है; नदियोंमें श्रेष्ठ नर्मदा जिसकी भार्या है, वह राजा इस वनमें तपस्या करके सुरलोकमें गया है। (६—१३)

हे राजन्! परम धार्मिक राजा

द्वैपायनप्रसादाच्च त्वमपीदं तपोवनम् ।
राजन्नवाप्य दुष्प्रापां गतिमग्र्यां गमिष्यसि ॥ १५ ॥
त्वं चापि राजशार्दूल तपसोऽन्ते श्रिया वृतः ।
गान्धारीसहितो गन्ता गतिं तेषां महात्मनाम् ॥ १६ ॥
पाण्डुः स्मरति ते नित्यं बलहन्तुः समीपगः ।
त्वां सदैव महाराज श्रेयसा स च योक्ष्यति ॥ १७ ॥
तव शुश्रूषया चैव गान्धार्याश्च यशस्विनी ।
भर्तुः सलोकतामेषा गमिष्यति वधूस्तव ॥ १८ ॥
युधिष्ठिरस्य जननी स हि धर्मः सनातनः ।
वयमेतत्प्रपश्यामो नृपते दिव्यचक्षुषा ॥ १९ ॥
प्रवेक्ष्यति महात्मानं विदुरश्च युधिष्ठिरम् ।
सञ्जयस्तदनुध्यानादितः स्वर्गमवाप्स्यति ॥ २० ॥
वैशंपायन उवाच-एतच्छ्रुत्वा कौरवेन्द्रो महात्मा सार्धं पत्न्या प्रीतिमान्संबभूव
विद्वान् वाक्यं नारदस्य प्रशस्य चक्रे पूजां चातुलां नारदाय ॥ २१ ॥
ततः सर्वे नारदं विप्रमुख्याः संपूजयामासुरतीव राजन् ।
राज्ञः प्रीत्या धृतराष्ट्रस्य ते वै पुनः पुनः संप्रहृष्टास्तदानीम् ॥ २२ ॥

शशलोमाने इस वनमें पूरी रीतिसे तपस्या करके स्वर्गलोक पाया है । हे राजन् ! आप भी द्वैपायनकी कृपासे इस वनमें तपोबल लाभ करके दुष्प्राप्य उत्तम गति पावेंगे । हे राजशार्दूल ! आप भी तपस्याके अन्तमें श्रीसे परिवृत होकर गान्धारीके सहित उन महात्माओंकी गति प्राप्त करेंगे । हे महाराज ! पाण्डु इन्द्रके निकट रहके भी सदा आपको स्मरण करते हैं, वह आपको श्रीयुक्त करेंगे । हे नरनाथ ! हम लोग दिव्यदृष्टिसे यह देखते हैं, कि तुम्हारी वधू युधिष्ठिरकी जननी यशस्विनी कुन्ती आपकी तथा गान्धारीकी सेवा करनेसे स्वामीकी सलोकता प्राप्त करेगी, यही सनातन धर्म है और विदुर महात्मा युधिष्ठिरके शरीरमें प्रवेश करेंगे, सञ्जय तपस्याके सहारे इस लोकसे सुरलोकमें जायंगे । (१४—२०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कुरुपति महात्मा विद्वान् धृतराष्ट्रने नारद मुनिका ऐसा वचन सुनके भार्याके सहित अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उनके वचनकी प्रशंसा करके उनकी अतुल पूजा कीं हे राजन्! तिसके अनन्तर ब्राह्मणोंने राजा धृतराष्ट्रकी प्रीतिके अनुसार अत्यन्त सन्तुष्ट

नारदस्य तु तद्वाक्यं शशंसुर्द्विजसत्तमाः ।
शतयूपस्तु राजर्षिर्नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
अहो भगवता श्रद्धा कुरुराजस्य वर्धिता ।
सर्वस्य च जनस्यास्य मम चैव महाद्युते ॥ २४ ॥
अस्ति काचिद्विवक्षा तु तां मे निगदतः शृणु ।
धृतराष्ट्रं प्रति नृपं देवर्षे लोकपूजित ॥ २५ ॥
सर्ववृत्तान्ततत्त्वज्ञो भवान् दिव्येन चक्षुषा ।
युक्तः पश्यसि विप्रर्षे गतिर्या विविधा नृणाम् ॥ २६ ॥
उक्तवान्नृपतीनां त्वं महेन्द्रस्य सलोकताम् ।
न त्वस्य नृपतेर्लोकाः कथितास्ते महामुने ॥ २७ ॥
स्थानमप्यस्य नृपतेः श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ।
त्वत्तः कीदृक्कदा चेति तन्ममाख्याहि तत्त्वतः ॥ २८ ॥
इत्युक्तो नारदस्तेन वाक्यं सर्वमनोनुगम् ।
व्याजहार सभामध्ये दिव्यदर्शी महातपाः ॥ २९ ॥
नारद उवाच-यदृच्छया शक्रसदो गत्वा शक्रं शचीपतिम् ।
दृष्टवानस्मि राजर्षे तत्र पाण्डुं नराधिपम् ॥ ३० ॥

होकर नारद मुनिकी पूजा की; उस समय जब द्विजवरगण वैसे वचनसे नारद मुनिकी प्रशंसा कर रहे थे, तब राजर्षि शतयूप नारदसे बोले, हे महा-तेजस्वी! यह क्या ही आश्चर्य है, कि आपने हमारी, कुरुराजकी तथा सब लोगोंकी ही श्रद्धा वर्धित की है। हे लोकपूजित देवर्षि! धृतराष्ट्रके सम्बन्धमें मुझे कुछ कहना है, मैं उसे कहता हूं, सुनिये। हे महामुनि! आपको सबका वृत्तान्त तथा तत्त्व विदित है। विशेष करके आप दिव्य दृष्टिसे सब प्राणियोंकी विविध गति देखते रहते हैं। आपने सब राजाओंको इन्द्रकी सलोकता प्राप्तिका विषय वर्णन किया, परन्तु ये राजा धृतराष्ट्र कौनसा लोक प्राप्त करेंगे उस विषयमें कुछ भी न कहा। हे विभु! इसलिये इस राजाको किस समय कौनसा स्थान प्राप्त होगा, उसे मैं आपके समीप सुननेकी इच्छा करता हूं, आप उसे विस्तारपूर्वक कहिये। (२१—२८)

दिव्यदर्शी महातपस्वी नारद मुनि शतयूपका ऐसा वचन सुनके सबके मनोनुकूल विषय वर्णन करने लगे। नारद मुनि बोले, हे राजर्षि! मैंने यदृच्छाक्रमसे इन्द्रके स्थानमें जाकर

तत्रेयं धृतराष्ट्रस्य कथा समभवन्नृप।
तपसो दुष्करस्यास्य यदयं तपते नृपः ॥ ३१ ॥
तत्राहमिदमश्रौषं शक्रस्य वदतः स्वयम्।
वर्षाणि त्रीणि शिष्टानि राज्ञोऽस्य परमायुषः ॥ ३२ ॥
ततः कुबेरभवनं गान्धारीसहितो नृपः।
प्रयाता धृतराष्ट्रोऽयं राजराजाभिसत्कृतः ॥ ३३ ॥
कामगेन विमानेन दिव्याभरणभूषितः।
ऋषिपुत्रो महाभागस्तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ ३४ ॥
संचरिष्यति लोकांश्च देवगन्धर्वरक्षसाम्।
स्वच्छन्देनेति धर्मात्मा यन्मां त्वमनुपृच्छसि ॥ ३५ ॥
देवगुह्यमिदं प्रीत्या मया वः कथितं महत्।
भवन्तो हि श्रुतधनास्तपसा दग्धकिल्बिषाः ॥ ३६ ॥
वैशम्पायन उवाच– इति ते तस्य तच्छ्रुत्वा देवर्षेर्मधुरं वचः।
सर्वे सुमनसः प्रीता बभूवुः स च पार्थिवः ॥ ३७ ॥
एवं कथाभिरन्वास्य धृतराष्ट्रं मनीषिणः।
विप्रजग्मुर्यथाकामं ते सिद्धगतिमास्थिताः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि नारदवाक्ये विंशोऽध्यायः ॥ २०॥

देखा, कि शचीपति इन्द्र और राजा पाण्डु वहां एकत्र निवास करते हैं। हे नरनाथ! यह धृतराष्ट्र जिस प्रकार दुष्कर तपस्या करते हैं, इनकी वह वार्ता ही वहां होरही थी; मैंने वहां सुरराजके मुखसे ऐसा सुना, कि इस राजा धृतराष्ट्रकी परमायु तीन वर्ष अवशिष्ट है; उसके अनन्तर ये ऋषिपुत्र महाभाग धृतराष्ट्र तपोबलसे सब पापोंको जलाकर, दिव्य आभूषणोंसे भूषित और राजाओंसे सत्कृत होकर, गान्धारीके सहित दिव्य विमानपर चढके, कुबेर-भवनमें जायंगे और इच्छानुसार देव, गन्धर्व तथा राक्षसलोकमें विचरण कर सकेंगे। हे राजन्! आपने मुझसे जो विषय पूछा, वह देवलोकमें गोपनीय होनेपर भी आप लोगोंके श्रुतज्ञ होने तथा तपसे सब पापोंके जलानेसे और आप लोगोंके विषयमें मेरी महती प्रीति रहनेसे मैंने आपसे यह वृत्तान्त कहा है। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, देवर्षि नारदके ऐसे मधुर वचनको सुनके राजाओंके सहित सब कोई सुस्थचित्त तथा परम परितुष्ट हुए। उन लोगोंने इस ही

वैशम्पायन उवाच– वनं गते कौरवेन्द्रे दुःखशोकसमन्विताः ।
बभूवुः पाण्डवा राजन्मातृशोकेन चान्विताः ॥ १ ॥
तथा पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम् ।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणा नृपतिं प्रति ॥ २ ॥
कथं नु राजा वृद्धः स वने वसति निर्जने ।
गान्धारी च महाभागा सा च कुन्ती पृथा कथम् ॥३॥
सुखार्हः स हि राजर्षिरसुखी तद्वनं महत् ।
किमवस्थः समासाद्य प्रज्ञाचक्षुर्हतात्मजः ॥ ४ ॥
सुदुष्करं कृतवती कुन्ती पुत्रानपश्यती ।
राज्यश्रियं परित्यज्य वनं सा समरोचयत ॥ ५ ॥
विदुरः किमवस्थश्च भ्रातुः शुश्रूषुरात्मवान् ।
स च गावल्गणिर्धीमान्भर्तृपिण्डानुपालकः ॥ ६ ॥
आकुमारं च पौरास्ते चिन्ताशोकसमाहताः ।
तत्र तत्र कथाश्चक्रुः समासाद्य परस्परम् ॥ ७ ॥
पाण्डवाश्चैव ते सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।

प्रकार वचनके सहारे मनीषी धृतराष्ट्र को आश्वासित करके इच्छानुसार सिद्ध गति अवलम्बन की। (२९—३८)

आश्रमवासिकपर्वमें २० अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें २१ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! कौरवेन्द्र महाराज धृतराष्ट्रके वनमें जानेके अनन्तर मातृशोकयुक्त पाण्डव-गण दुःखित तथा शोकित हुए। पुर-वासी लोग जननाथ धृतराष्ट्रके निमित्त शोक करने लगे, ब्राह्मण लोग शोकार्त होकर धृतराष्ट्रके सम्बन्धमें ऐसा कहने लगे, कि वह वृद्ध राजा, महाभागा गान्धारी और पृथा कुन्ती, ये लोग निर्जन वनमें किस प्रकार वास करते हैं? वह सुखके योग्य प्रज्ञाचक्षु हतपुत्र राजर्षि दुःखजनक महावनमें कैसी दशामें निवास कर रहे हैं? कुन्तीने राज्यश्री परित्याग करके पुत्रोंको विना देखे किस प्रकार वनवासकी इच्छा की? आत्मज्ञ विदुर भ्राताकी सेवा करते हुए किस अवस्थामें हैं और स्वामिपिण्डानु-पालक गवल्गणपुत्र सञ्जय भी किस अवस्थाको प्राप्त हुए हैं? पुरवासी आबाल वृद्ध सब कोई चिन्ता तथा शोकसे परिपूरित होकर आपसमें एक दूसरेके साथ इस ही प्रकार वार्तालाप करने लगे। (१—७)

शोचन्तो मातरं वृद्धामूषुर्नातिचिरं पुरे ॥ ८ ॥
तथैव वृद्धं पितरं हतपुत्रं जनेश्वरम् ।
गान्धारीं च महाभागां विदुरं च महामतिम् ॥ ९ ॥
नैषां बभूव संप्रीतिस्तान्विचिन्तयतां तदा ।
न राज्ये न च नारीषु न वेदाध्ययनेषु च ॥ १० ॥
परं निर्वेदमगमंश्चिन्तयन्तो नराधिपम् ।
तं च ज्ञातिवधं घोरं संस्मरन्तः पुनः पुनः ॥ ११ ॥
अभिमन्योश्च बालस्य विनाशं रणमूर्धनि ।
कर्णस्य च महाबाहोः संग्रामेष्वपलायिनः ॥ १२ ॥
तथैव द्रौपदेयानामन्येषां सुहृदामपि ।
वधं संस्मृत्य ते वीरा नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ १३ ॥
हतप्रवीरां पृथिवीं हृतरत्नां च भारत ।
सदैव चिन्तयन्तस्ते न शमं चोपलेभिरे ॥ १४ ॥
द्रौपदी हतपुत्रा च सुभद्रा चैव भाविनी ।
नातिप्रीतियुते देव्यौ तदास्तामप्रहृष्टवत् ॥ १५ ॥
वैराट्यास्तनयं दृष्ट्वा पितरं ते परिक्षितम् ।
धारयन्ति स्म ते प्राणांस्तव पूर्वपितामहाः ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

उस समय अत्यन्त शोकयुक्त पाण्डवगण बूढी माता, बूढे हतपुत्र जननाथ धृतराष्ट्र, महाभागा गांधारी और महाबुद्धिमान् विदुरके निमित्त शोक करते हुए अधिक समयतक पुरके बीच वास न कर सके । अधिक क्या कहें, उन लोगोंके निमित्त सदा चिन्ता करनेवाले पाण्डुपुत्रोंको राज्य, स्त्री वा वेदाध्ययन, किसीसे भी तृप्ति न हुई, बल्कि उन लोगोंने बार बार नरनाथ धृतराष्ट्रको तथा ज्ञातिवध स्मरण करते हुए चिन्तासे आकुल होकर अपनेको अत्यन्त निकृष्ट समझा और युद्धके अगाडी बालक अभिमन्यु, संग्राममें न भागनेवाले महाबाहु कर्ण तथा सुहृद द्रुपदपुत्रोंका विनाश स्मरण करके क्षुब्धचित्त हुए । हे भारत ! वे लोग पृथिवीको रत्नविहीन तथा वीरोंसे रहित देखकर सर्वदा चिन्ता करते हुए शान्ति लाभ न कर सके; हतपुत्रा द्रौपदी तथा भाविनी सुभद्रा देवी, ये दोनों दुःखिनीकी भांति अप्रीतियुक्त होरहीं । परन्तु

वैशम्पायन उवाच- एवं ते पुरुषव्याघ्राः पाण्डवाः मातृनन्दनाः ।
स्मरन्तो मातरं वीरा बभूवुर्भृशदुःखिताः ॥ १ ॥
ये राजकार्येषु पुरा व्यासक्ता नित्यशोऽभवन् ।
ते राजकार्याणि तदा नाकार्षुः सर्वतः पुरे ॥ २ ॥
प्रविष्टा इव शोकेन नाभ्यनन्दन्त किंचन ।
संभाष्यमाणा अपि ते न किंचित्प्रत्यपूजयन् ॥ ३ ॥
ते स्म वीरा दुराधर्षा गाम्भीर्ये सागरोपमाः ।
शोकोपहतविज्ञाना नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ ४ ॥
अचिन्तयंश्च जननीं ततस्ते पाण्डुनन्दनाः ।
कथं नु वृद्धमिथुनं वहत्यतिकृशा पृथा ॥ ५ ॥
कथं च स महीपालो हतपुत्रो निराश्रयः ।
पत्न्या सह वसत्येको वने श्वापदसेविते ॥ ६ ॥
सा च देवी महाभागा गान्धारी हतबान्धवा ।
पतिमन्धं कथं वृद्धमन्वेति विजने वने ॥ ७ ॥
एवं तेषां कथयतामौत्सुक्यमभवत्तदा ।

तुम्हारे पूर्व पितामहोंने तुम्हारे पिता उत्तरापुत्र परीक्षितको देखकर प्राण धारण किया। (८-१६)

आश्रमवासिकपर्वमें २१ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें २२ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, वे वीरवर पुरुषश्रेष्ठ मातृनन्दन पाण्डवगण माताको स्मरण करते हुए इस ही प्रकार अत्यन्त दुःख भोगने लगे। पहले जो लोग राजकार्यमें नियुक्त थे, उस समय वे सब कोई नगरके बीच पूरी रीतिसे राजकार्य करनेमें समर्थ न हुए; वे लोग भी इस प्रकार शोकयुक्त हुए, कि किसीके पूछनेपर भी उत्तर देने तथा किसी विषयको अभिनन्दन करनेमें समर्थ न हुए। गम्भीरतामें समुद्रसदृश दुराधर्ष वे सब वीरगण अत्यन्त शोकसे ज्ञानरहित होकर सदा चेतरहितकी भांति निवास करने लगे। (१—४)

तिसके अनन्तर पाण्डवगण जननीके निमित्त इस प्रकार चिन्ता करने लगे, कि वह अत्यन्त कृशाङ्गी पृथा वृद्ध दम्पतीको किस प्रकार ले चलती है? वह हतपुत्र महीपाल आश्रयरहित ही पत्नीके सहित किस प्रकार अकेले श्वापदसेवित उस वनमें वास करते हैं? वह महाभागा हतबान्धव गान्धारी देवी निर्जन वनमें किस प्रकार बूढे अन्ध

गमने चाभवद् बुद्धिर्धृतराष्ट्रदिदृक्षया ॥ ८ ॥
सहदेवस्तु राजानं प्रणिपत्येदमब्रवीत् ।
अहो मे भवतो दृष्टं हृदयं गमनं प्रति ॥ ९ ॥
न हि त्वां गौरवेणाहमशकं वक्तुमञ्जसा ।
गमनं प्रति राजेन्द्र तदिदं समुपस्थितम् ॥ १० ॥
दिष्ट्या द्रक्ष्यामि तां कुन्तीं वर्तयन्तीं तपस्विनीम् ।
जटिलां तापसीं वृद्धां कुशकाशपरिक्षताम् ॥ ११ ॥
प्रासादहर्म्यसंवृद्धामत्यन्तसुखभागिनीम् ।
कदा तु जननीं श्रान्तां द्रक्ष्यामि भृशदुःखिताम् ॥१२॥
अनित्याः खलु मर्त्यानां गतयो भरतर्षभ ।
कुन्ती राजसुता यत्र वसत्यसुखिता वने ॥ १३ ॥
सहदेववचः श्रुत्वा द्रौपदी योषितां वरा ।
उवाच देवी राजानमभिपूज्याभिनन्द्य च ॥ १४ ॥
कदा द्रक्ष्यामि तां देवीं यदि जीवति सा पृथा ।
जीवन्त्या ह्यद्य मे प्रीतिर्भविष्यति जनाधिप॥ १५ ॥

पतिका अनुसरण करती है ? पाण्डवोंके इस ही प्रकार उत्सुकतापूर्वक विलाप करते रहनेपर कुछ समयके अनन्तर उन लोगोंकी धृतराष्ट्रके देखनेकी अभिलाष हुई। अनन्तर सहदेव राजा युधिष्ठिरको प्रणाम करके यह वचन बोले, ओहो ! आपके चित्तको गमनोन्मुख देखता हूं। हे राजेन्द्र ! मैं गौरववशसे सहसा जो चलनेकी बात नहीं कह सकता था, इस समय वह गमनकाल उपस्थित हुआ है, अच्छाही हुआ, मैं उस बूढी कुशकाश-परिक्षता जटाधारिणी तपस्विनी कुन्ती देवीको देखूंगा। ओहो ! जो सदा प्रासाद तथा कोठेके ऊपर रहती हुई बूढी हुई, जिसने कभी सुखके अतिरिक्त दुःख नहीं देखा, इस समय उस अत्यन्त दुःखित परिश्रान्त जननीको कब देखूंगा? हे भरतर्षभ ! मर्त्य लोगोंकी गति निश्चय ही अनित्य है, क्यों कि कुन्ती राजपुत्री होकर दुःखके सहित जङ्गलमें वास करती है। (५—१३)

स्त्रियोंमें मुख्य द्रौपदी देवीने सहदेवका वचन सुनकर राजा युधिष्ठिरको सम्मानपूर्वक अभिनन्दित करके कहा, हे जननाथ ! यदि वह पृथादेवी जीवित हों, तो मैं किस समय उन्हें देखूंगी ? क्योंकि मैं अपनी जिबित अवस्थामें उनका दर्शन पानेसे अत्यन्त प्रसन्न

एषा तेऽस्तु मतिर्नित्यं धर्मे ते रमतां मनः ।
योऽद्य त्वमस्मान् राजेन्द्र श्रेयसा योजयिष्यसि ॥१६॥
अग्रपादस्थितं चेमं विद्धि राजन्वधूजनम् ।
काङ्क्षन्तं दर्शनं कुन्त्या गान्धार्याः श्वशुरस्य च ॥१७॥
इत्युक्तः स नृपो देव्या द्रौपद्या भरतर्षभ ।
सेनाध्यक्षान् समानाय्य सर्वानिदमुवाच ह ॥ १८ ॥
निर्यातयत मे सेनां प्रभूतरथकुञ्जराम् ।
द्रक्ष्यामि वनसंस्थं च धृतराष्ट्रं महीपतिम् ॥ १९ ॥
स्त्र्यध्यक्षांश्चाब्रवीद्राजा यानानि विविधानि मे ।
सज्जीक्रियन्तां सर्वाणि शिबिकाश्च सहस्रशः ॥ २० ॥
शकटापणवेशाश्च कोशः शिल्पिन एव च ।
निर्यान्तु कोशपालाश्च कुरुक्षेत्राश्रमं प्रति ॥ २१ ॥
यश्च पौरजनः कश्चिद् द्रष्टुमिच्छति पार्थिवम् ।
अनावृतः सुविहितः स च यातु सुरक्षितः ॥ २२ ॥
सूदाः पौरोगवाश्चैव सर्वं चैव महानसम् ।
विविधं भक्ष्यभोज्यं च शकटैरुह्यतां मम ॥ २३ ॥

हूंगी । हे राजेन्द्र ! आपकी यह मति सदा वर्धित हो और आपका मन सदा धर्ममें रत रहे । हे नरेन्द्र ! आप शीघ्र हम लोगोंको पृथाके दर्शनरूपी मङ्गलकार्यमें नियुक्त करिये । हे राजन् ! आपको मालूम हो, कि ये वधूगण कुन्ती, गान्धारी तथा श्वशुरको देखनेकी इच्छासे आगे पांव रखती हुई निवास कर रही हैं । (१४—१७)

हे भरतर्षभ ! नरनाथ युधिष्ठिर द्रौपदी देवीका ऐसा वचन सुनके सेनाध्यक्षोंको बुलाके यह बात बोले, कि, मैं उस वनवासी महीपति धृतराष्ट्रको देखनेके लिये जाऊंगा, इसलिये तुम लोग हमारे बहुतसे रथ तथा हाथियोंसे युक्त समस्त सेनाको सज्जित होनेके लिये आज्ञा करो । अनन्तर राजा युधिष्ठिर स्त्रियोंके अध्यक्षोंसे बोले, कि तुम अनेक प्रकारके यान तथा पालकियोंको सज्जित करो । गाडी हांकनेवाले, आपण व्यवसायी, वंशधर, शिल्पी और कोशपाल लोग कोश (खजाना) लेकर कुरुक्षेत्राश्रममें जावें । यदि कोई पुरवासी राजाको देखनेकी इच्छा करते हों, तो वे अनावृत, सुविहित तथा उत्तम रीतिसे रक्षित होकर जा सकेंगे । हमारे रसोइयें और

प्रयाणं घुष्यतां चैवं श्वोभूत इति माचिरम्।
क्रियतां पथि चाप्यत्र वेश्मानि विविधानि च ॥ २४॥
एवमाज्ञाप्य राजा स भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
श्वोभूते निर्ययौ राजन् सस्त्रीवृद्धपुरःसरः ॥ २५ ॥
स बहिर्दिवसानेव जनौघं परिपालयन्।
न्यवसन्नृपतिः पञ्च ततोऽगच्छद्वनं प्रति ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि युधिष्ठिरयात्रायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच– आज्ञापयामास ततः सेनां भरतसत्तमः।
अर्जुनप्रमुखैर्गुप्तां लोकपालोपमैर्नरैः ॥ १ ॥
योगोयोग इति प्रीत्या ततः शब्दो महानभूत्।
क्रोशतां सादिनां तत्र युज्यतां युज्यतामिति ॥ २ ॥
केचिद्यानैर्नरा जग्मुः केचिदश्वैर्महाजवैः।
काञ्चनैश्च रथैः केचिज्ज्वलितज्वलनोपमैः ॥ ३ ॥
गजेन्द्रैश्च तथैवान्ये केचिदुष्ट्रैर्नराधिप।

पुरमें रहनेवाले सेवकगण अनेक प्रकारके पाकपात्र तथा भक्ष्यभोज्य प्रभृति सामग्रियोंको लेकर गाडीपर चढें, कल् चलना होगा, इतनी बातकी शीघ्र घोषणा करो और मार्गके बीच अनेक प्रकारके गृह बनाओ (१८–२४)

हे राजन्! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर भाइयोंके सहित इस ही प्रकार आज्ञा करके दूसरे दिन स्त्रियों और बूढोंके सहित नगरसे बाहिर हुए। उस नरनाथ युधिष्ठिरने नगरके बाहिरी हिस्सेमें पांच दिन निवास कर सब लोगोंको परिपालन करनेके अनन्तर वनकी ओर गमन किया। (२५––२६)

आश्रमवासिकपर्वमें २२ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें २३ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर भरतसत्तम राजा युधिष्ठिरने लोकपालसदृश अर्जुन प्रभृति पुरुषोंसे रक्षित सेनाको चलनेके लिये आज्ञा की। हे भारत! तिसके अनन्तर परम प्रीतिसम्पन्न सेना तथा सवार प्रभृतिका "इकट्ठे होओ, इकठे होजाओ, घोडोंको जोतो" इस ही प्रकार तुमुल शब्द प्रकट हुआ। हे नरनाथ! अनन्तर पैदल और प्रासधारी योद्धाओंके बीच कोई यान, कोई महावेगशाली घोडे कोई प्रज्वलित अग्निसदृश सुवर्णके बने

पदातिनस्तथैवान्ये नखरप्रासयोधिनः ॥ ४ ॥
पौरजानपदाश्चैव यानैर्बहुविधैस्तथा ।
अन्वयुः कुरुराजानं धृतराष्ट्रं दिदृक्षवः ॥ ५ ॥
स चापि राजवचनादाचार्यो गौतमः कृपः ।
सेनामादाय सेनानीः प्रययावाश्रमं प्रति ॥ ६ ॥
ततो द्विजैः परिवृतः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
संस्तूयमानो बहुभिः सूतमागधबन्दिभिः ॥ ७ ॥
पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
रथानीकेन महता निर्जगाम कुरूद्वहः ॥ ८ ॥
गजैश्चाचलसंकाशैर्भीमकर्मा वृकोदरः ।
सज्जयन्त्रायुधोपेतैः प्रययौ पवनात्मजः ॥ ९ ॥
माद्रीपुत्रावपि तथा हयारोहौ सुसंवृतौ ।
जग्मतुः शीघ्रगमनौ सन्नद्धकवचध्वजौ ॥ १० ॥
अर्जुनश्च महातेजा रथेनादित्यवर्चसा ।
वशी श्वेतैर्हयैर्युक्तैर्दिव्येनान्वगमन्नृपम् ॥ ११ ॥
द्रौपदीप्रमुखाश्चापि स्त्रीसंघाः शिबिकायुताः ।
स्त्र्यध्यक्षगुप्ताः प्रययुर्विसृजन्तोऽमितं वसु ॥ १२ ॥

हुए रथ, कोई हाथी और कोई कोई ऊंटोंपर चढके चलने लगे। धृतराष्ट्रके देखनेकी इच्छा करनेवाले पुरवासी तथा जनपदवासी लोग अनेक प्रकारके यानोंमें चढके कुरुराजका अनुगमन करने लगे। गौतमपुत्र कृपाचार्य राजाकी आज्ञासे सेनानायक होकर सेनाके सहित आश्रमकी ओर चले! तिसके अनन्तर कुरुराज युधिष्ठिर द्विजवरोंसे घिरकर बहुतेरे सूत, मागध और बन्दियोंसे स्तुत, सिरके ऊपर पाण्डुरवर्ण छत्रसे सुशोभित और महान् रथ तथा सेनासमूहसे समावृत होकर बाहिर हुए। पवनपुत्र भीमकर्म करनेवाले वृकोदरने सज्जित-यन्त्र और आयुधयुक्त पर्वतसदृश हाथी-पर चढके गमन किया। माद्रीपुत्र नकुल और सहदेवने ध्वजा और कवच बांध-कर शीघ्रगामी घोडेपर चढके भली भांति सेनासे घिरके गमन किया। चित्तको वशमें करनेवाले अर्जुन सफेद-वर्णवाले घोडोंसे युक्त, सूर्यके समान प्रभासम्पन्न दिव्य रथपर चढके राजाके अनुगामी हुए। द्रौपदी प्रभृति सब स्त्रियें पालकीमें चढके स्त्रीरक्षकोंसे रक्षित

समृद्धरथहस्त्यश्वं वेणुवीणानुनादितम् ।
शुशुभे पाण्डवं सैन्यं तत्तदा भरतर्षभ ॥ १३ ॥
नदीतीरेषु रम्येषु सरःसु च विशांपते ।
वासान् कृत्वा क्रमेणाथ जग्मुस्ते कुरुपुङ्गवाः ॥ १४ ॥
युयुत्सुश्च महातेजा धौम्यश्चैव पुरोहितः ।
युधिष्ठिरस्य वचनात्पुरगुप्तिं प्रचक्रतुः ॥ १५ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा कुरुक्षेत्रमवातरत् ।
क्रमेणोत्तीर्य यमुनां नदीं परमपावनीम् ॥ १६ ॥
स ददर्शाश्रमं दूराद्राजर्षेस्तस्य धीमतः ।
शतयूपस्य कौरव्य धृतराष्ट्रस्य चैव ह ॥ १७ ॥
ततः प्रमुदितः सर्वो जनस्तद्वनमञ्जसा ।
विवेश सुमहानादैरापूर्य भरतर्षभ ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्राश्रमगमने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततस्ते पाण्डवा दूरादवतीर्य पदातयः ।
अभिजग्मुर्नरपतेराश्रमं विनयानताः ॥ १ ॥

होकर अमित वसु विसर्जन करती हुई चलने लगीं । (१—१२)

हे भरतर्षभ ! उस समय समृद्ध रथ, हाथी और घोडोंसे युक्त पाण्डवोंकी सेना बांसरी और वीणासे अनुनादित होकर अत्यन्त शोभित होने लगी । हे पृथ्वीनाथ ! वे कुरुपुङ्गवगण मनोहर नदी तथा तालावोंके तटपर वास करते हुए क्रमसे चलने लगे; इधर महातेजस्वी युयुत्सु और पुरोहित धौम्य राजाकी आज्ञानुसार नगरकी रक्षा करने लगे । अनन्तर राजा युधिष्ठिरने क्रमसे परम-पावनी यमुना नदी पार होके कुरुक्षेत्रमें पहुंचकर वहांसे दूरमें स्थित उस धीमान् राजर्षि शतयूप और कुरुपति धृतराष्ट्रका आश्रम देखा । हे भरतर्षभ ! तिसके अनन्तर सब कोई अत्यन्त आनन्दित होकर सहसा महाशब्दसे उस वनको परिपूर्ण करते हुए उसमें प्रविष्ट हुए । (१३—१८)

आश्रमवासिकपर्वमें २३ अध्याय समाप्त ।

आश्रमवासिकपर्वमें २४ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर पदातिके सहित पाण्डवोंने दूरसे ही उतरके विनय और प्रणतिपूर्वक राजाके आश्रममें गमन किया । उस समय योद्धा

स च योधजनः सर्वो ये च राष्ट्रनिवासिनः ।
स्त्रियश्च कुरुमुख्यानां पद्भिरेवान्वयुस्तदा ॥ २ ॥
आश्रमं ते ततो जग्मुर्धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः ।
शून्यं मृगगणाकीर्णं कदलीवनशोभितम् ॥ ३ ॥
ततस्तत्र समाजग्मुस्तापसा नियतव्रताः ।
पाण्डवानागतान् द्रष्टुं कौतूहलसमन्विताः ॥ ४ ॥
तानपृच्छत्ततो राजा क्वासौ कौरववंशभृत् ।
पिता ज्येष्ठो गतोऽस्माकमिति बाष्पपरिप्लुतः ॥ ५ ॥
ते तमूचुस्ततो वाक्यं यमुनामवगाहितुम् ।
पुष्पाणामुदकुम्भस्य चार्थे गत इति प्रभो ॥ ६ ॥
तैराख्यातेन मार्गेण ततस्ते जग्मुरञ्जसा ।
ददृशुश्चाविदूरे तान्सर्वानथ पदातयः ॥ ७ ॥
ततस्ते सत्वरा जग्मुः पितुर्दर्शनकाङ्क्षिणः ।
सहदेवस्तु वेगेन प्राधावद्यत्र सा पृथा ॥ ८ ॥
सुस्वरं रुरुदे धीमान्मातुः पादावुपस्पृशन् ।
सा च बाष्पाकुलमुखी ददर्श दयितं सुतम् ॥ ९ ॥
बाहुभ्यां संपरिष्वज्य समुन्नाम्य च पुत्रकम् ।

लोग, पुरवासी और कुरुपतिगणकी स्त्रियें पैदल ही चलने लगीं; अनन्तर पाण्डवोंने मृगसमूहसे परिपूरित कदली-वनसे शोभित पुण्यजनक धृतराष्ट्रके निर्जन आश्रममें प्रवेश किया। (१-३)

तिसके अनन्तर नियतव्रती तपस्वी-वृन्द समागत पाण्डवोंको देखनेके लिये कौतूहलयुक्त होकर वहां आये। राजा युधिष्ठिरने आंसू डबडबाये हुए नेत्रयुक्त होकर उन लोगोंसे यह बात पूंछी, कि 'हमारे जेठे पिता वह कुरुवंशपति कहां हैं?' उन लोगोंने इतनी बात सुनके राजासे कहा, 'हे प्रभु! वह फूल और जल लाने तथा यमुनामें स्नान करनेके निमित्त इस ही मार्गसे गये हैं।' पाण्डवोंने शीघ्र ही उन लोगोंके कहे हुए मार्गसे गमन किया, पदातियोंने उन्हें दूरसे देखा। अनन्तर वे लोग पिताको देखनेके लिये अत्यन्त उत्सुक होके शीघ्र चले, परन्तु सहदेव वेगपूर्वक पृथाके समीप जानेके लिये दौडे। धीमान् सहदेव माताके दोनों चरण छूके रोने लगे, पृथा नेत्रोंमें आंसू भरके प्रिय पुत्रको देखने लगी; अनन्तर दोनों

गान्धार्याः कथयामास सहदेवमुपस्थितम् ॥ १० ॥
अनन्तरं च राजानं भीमसेनमथार्जुनम् ।
नकुलं च पृथा दृष्ट्वा त्वरमाणोपचक्रमे ॥ ११ ॥
सा ह्यग्रे गच्छति तयोर्दम्पत्योर्हतपुत्रयोः ।
कर्षन्ती तौ ततस्ते तां दृष्ट्वा संन्यपतन्भुवि ॥ १२ ॥
राजा तान्स्वरयोगेन स्पर्शेन च महामनाः ।
प्रत्यभिज्ञाय मेधावी समाश्वासयत प्रभुः ॥ १३ ॥
ततस्ते बाष्पमुत्सृज्य गान्धारीसहितं नृपम् ।
उपतस्थुर्महात्मानो मातरं च यथाविधि ॥ १४ ॥
सर्वेषां तोयकलशान् जगृहुस्ते स्वयं तदा ।
पाण्डवा लब्धसंज्ञास्ते मात्रा चाश्वासिताः पुनः ॥१५॥
तथा नार्यो नृसिंहानां सोऽवरोधजनस्तदा ।
पौरजानपदाश्चैव ददृशुस्तं जनाधिपम् ॥ १६ ॥
निवेदयामास तदा जनं तन्नामगोत्रतः ।
युधिष्ठिरो नरपतिः स चैनं प्रत्यपूजयत् ॥ १७ ॥
स तैः परिवृतो मेने हर्षबाष्पाविलेक्षणः ।

भुजाओंसे पुत्रको आलिङ्गन करके उसने गान्धारीसे सहदेवके आनेका संवाद कहा। (४—१०)

अनन्तर राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और नकुलको देखकर शीघ्रताके सहित उनके निकट गमन किया। पाण्डवोंने उस पृथाको हतपुत्र दंपती धृतराष्ट्र तथा गान्धारीका हाथ धरके उनके आगे आगे आती हुई देखकर उन लोगोंके समीप जाकर भूमिपर झुकके प्रणाम किया। महामना मेधावी राजा धृतराष्ट्रने स्वर और स्पर्शसे पाण्डवोंको जानके उन्हें आश्वासित किया। तिसके अनन्तर महात्मा पाण्डवोंने आंसू बहाते हुए गान्धारीके सहित राजा धृतराष्ट्र और कुन्ती माताकी विधिपूर्वक पूजा की। फिर पाण्डव लोग सावधान होकर उनके जलकलश ग्रहण करके निज माता कुन्तीके द्वारा फिर आश्वासित हुए; उस समय पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंकी स्त्रियें, अन्तःपुरवासी, पुरवासी और जनपदवासी सब लोग जननाथ धृतराष्ट्रका दर्शन करने लगे। (११—१६)

अनन्तर नरनाथ युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रको सबका नाम और गोत्र सुनाकर परिचय देके उनकी पूजा की। उस समय

राजाऽऽत्मानं गृहगतं पुरेव गजसाह्वये ॥ १८ ॥
अभिवादितो वधूभिश्च कृष्णाद्याभिः स पार्थिवः ।
गान्धार्या सहितो धीमान्कुन्त्या च प्रत्यनन्दत ॥१९।
ततश्चाश्रममागच्छत्सिद्धचारणसेवितम् ।
दिदृक्षुभिः समाकीर्णं नभस्तारागणैरिव ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि युधिष्ठिरादिधृतराष्ट्रसमागमे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच- स तैः सह नरव्याघ्रैर्भ्रातृभिर्भरतर्षभ ।
राजा रुचिरपद्माक्षैरासांचक्रे तदाऽऽश्रमे ॥ १ ॥
तापसैश्च महाभागैर्नानादेशसमागतैः ।
द्रष्टुं कुरुपतेः पुत्रान् पाण्डवान्पृथुवक्षसः ॥ २ ॥
तेऽब्रुवन् ज्ञातुमिच्छामः कतमोऽत्र युधिष्ठिरः ।
भीमार्जुनौ यमौ चैव द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ३ ॥
तानाचख्यौ तदा सूतः सर्वांस्तानभिनामतः ।
सञ्जयो द्रौपदीं चैव सर्वाश्चान्याः कुरुस्त्रियः ॥ ४ ॥

बाष्पाकुललोचन राजा धृतराष्ट्रने पाण्डव प्रभृति सब लोगोंके बीच घिरके अपनेको मानो हस्तिनापुरमें स्थित समझा। अनन्तर उस पृथ्वीपति धृतराष्ट्रने गान्धारी और कुन्तीके सहित द्रौपदी प्रभृति वधूगणके द्वारा अभिवादित और आनन्दित होकर तारासमूहसे भरे हुए नभमण्डलकी भांति दर्शनेच्छु लोगोंसे परिपूरित, सिद्ध तथा चारणोंसे सेवित आश्रममें गमन किया। (१७-२०)

आश्रमवासिकपर्वमें २४ अध्याय समाप्त ।

आश्रमवासिकपर्वमें २५ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा धृतराष्ट्रने सुरम्य कमलनेत्र पुरुषश्रेष्ठ उन पांचों भाइयोंके सहित आश्रममें निवास किया। महाभाग तपस्वीगण विपुल वक्षःस्थलसम्पन्न कुरुपतिके पुत्र उन पाण्डवोंके देखनेकी अभिलाषसे अनेक देशोंसे आके बोले कि 'इन लोगोंके बीच कौन युधिष्ठिर, कौन भीम, कौनसे अर्जुन और कौनसे नकुल सहदेव हैं और कौनसी यशस्विनी द्रौपदी है ? हम लोग उन्हें जाननेकी इच्छा करते हैं'। (१--३)

उस समय सूत सञ्जय तपस्वियोंकी ऐसी बात सुनके पांचों पाण्डव, द्रौपदी तथा अन्यान्य कुरुस्त्रियोंका नाम पृथक् पृथक् कहके परिचय देने लगे। (४)

सञ्जय उवाच– य एष जाम्बूनदशुद्धगौरतनुर्महासिंह इव प्रवृद्धः ।
प्रचण्डघोणः पृथुदीर्घनेत्रस्ताम्रायताक्षः कुरुराज एषः ॥ ५ ॥
अयं पुनर्मत्तगजेन्द्रगामी प्रतप्तचामीकरशुद्धगौरः ।
पृथ्वायतांसः पृथुदीर्घबाहुर्वृकोदरः पश्यत पश्यतेमम् ॥ ६ ॥
यस्त्वेष पार्श्वेऽस्य महाधनुष्मान् श्यामो युवा वारणयूथपाभः ।
सिंहोन्नतांसो गजखेलगामी पद्मायताक्षोऽर्जुन एष वीरः ॥ ७ ॥
कुन्तीसमीपे पुरुषोत्तमौ तु यमाविमौ विष्णुमहेन्द्रकल्पौ ।
मनुष्यलोके सकले समोऽस्ति ययोर्न रूपे न बले न शीले ॥ ८ ॥
इयं पुनः पद्मदलायताक्षी मध्यं वयः किंचिदिव स्पृशन्ती ।
नीलोत्पलाभा सुरदेवतेव कृष्णा स्थिता मूर्तिमतीव लक्ष्मीः ॥ ९ ॥
अस्यास्तु पार्श्वे कनकोत्तमाभा यैषा प्रभा मूर्तिमतीव सौमी ।
मध्ये स्थिता सा भगिनी द्विजाग्र्याश्चक्रायुधस्याप्रतिमस्य तस्य ॥ १० ॥
इयं च जाम्बूनदशुद्धगौरी पार्थस्य भार्या भुजगेन्द्रकन्या ।
चित्राङ्गदा चैव नरेन्द्रकन्या यैषा सवर्णाऽऽर्द्रमधूकपुष्पैः ॥ ११ ॥

सञ्जय बोले, ये जो विशुद्ध सुवर्णकी भांति गौरशरीरयुक्त, महासिंहकी भांति समुन्नत हैं और जिसकी नासिका ऊंची, नैत्र स्थूल वा दीर्घ अथवा लोचन ताम्र वर्ण तथा अत्यन्त विस्तृत दीखते हैं, येही युधिष्ठिर हैं। जिसका चलना मतवारे गजेन्द्रकी भांति, वर्ण प्रतप्त चामीकरके सदृश, मांस स्थूल और विस्तृत है, तथा भुजा मोटी और लम्बी हैं, वेही भीमसेन हैं; आप लोग देखिये। इनके बगलमें महाधनुर्धारी, हाथियोंके यूथपतिकी भांति श्यामल, सिंहकी भांति ऊंचे स्कन्धवाला युवा गजगामी कमलनेत्र वीरवर पुरुषही अर्जुन हैं। ये जो पुरुषश्रेष्ठ विष्णु और महेन्द्रसदृश, मनुष्यलोकातीत रूप, बल और शीलसम्पन्न दो पुरुष कुन्तीके समीप निवास करते हैं, वेही यमज नकुल सहदेव हैं। यह जो पद्मदलकी भांति विशालनयनी मध्यम अवस्थावाली, नीलोत्पलसदृश मूर्तिमती लक्ष्मी तथा सुरदेवताकी भांति निवास करती हैं, वही कृष्णा द्रौपदी है। (५-९)

हे द्विजवरगण! उसके बगलमें यह जो मूर्तिमती इन्द्रप्रभासमान कनकवर्णवाली स्त्री विद्यमान है, वही उस अप्रतिम चक्रधारी कृष्णकी बहिन सुभद्रा है। यह जो विशुद्ध जाम्बूनदकी भांति गौरवर्णवाली नागकन्या और मधूक पुष्पसमान रूपवाली नरेन्द्रकन्या दीख पडती

इयं स्वसा राजचमूपतेश्च प्रवृद्धनीलोत्पलदामवर्णा ।
पस्पर्ध कृष्णेन सदा नृपो यो वृकोदरस्यैष परिग्रहोऽग्र्यः ॥ १२ ॥
इयं च राज्ञो मगधाधिपस्य सुता जरासन्ध इति श्रुतस्य ।
यवीयसो माद्रवतीसुतस्य भार्या मता चम्पकदामगौरी ॥ १३ ॥
इन्दीवरश्यामतनुः स्थिता तु यैषाऽपरासन्नमहीतले च ।
भार्या मता माद्रवतीसुतस्य ज्येष्ठस्य सेयं कमलायताक्षी ॥ १४ ॥
इयं तु निष्टप्तसुवर्णगौरी राज्ञो विराटस्य सुता सपुत्रा ।
भार्याऽभिमन्योर्निहतो रणे यो द्रोणादिभिस्तैर्विरथो रथस्थैः ॥ १५ ॥
एतास्तु सीमन्तशिरोरुहा याः शुक्लोत्तरीया नरराजपत्न्यः ।
राज्ञोऽस्य वृद्धस्य परंशताख्याः स्नुषा नृवीराहतपुत्रनाथाः ॥ १६ ॥
एता यथा मुख्यमुदाहृता वो ब्राह्मण्यभावादृजुबुद्धिसत्त्वाः ।
सर्वा भवद्भिः परिपृच्छ्यमाना नरेन्द्रपत्न्यः सुविशुद्धसत्त्वाः ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच– एवं स राजा कुरुवृद्धवर्यः समागतस्तैर्नरदेवपुत्रैः ।
पप्रच्छ सर्वं कुशलं तदानीं गतेषु सर्वेष्वथ तापसेषु ॥ १८ ॥

हैं, वे अर्जुनकी भार्या चित्रांगदा हैं। जो नरनाथ कृष्णके सङ्ग सर्वदा स्पर्धा करते थे, उस राजचमूपतिकी बहिन यह नीलोत्पलदामवर्णवाली स्त्री ही भीमसेनकी भार्या है। यह मगधराज जरासन्धकी पुत्री चम्पकदामकी भाँति गौराङ्गी स्त्री ही माद्रीके कनिष्ठ पुत्र सहदेवकी भार्या है। यह जो इन्दीवरकी भाँति श्यामाङ्गी और कमलदलके समान विशालनयनी स्त्री पृथ्वीपर बैठी है, उसे ही माद्रीके जेठे पुत्र नकुलकी भार्या जानो। तपाये हुए सुवर्णकी भाँति गौरवर्ण, पुत्रके सहित यह विराटराज-पुत्री युद्धमें विरथ हुए रथस्थ द्रोणादिके द्वारा मरे हुए अभिमन्युकी पत्नी है। इनके अतिरिक्त ये जो सीमन्त-समन्वित केशवाली, सफेद वस्त्र पहरे हुए, हतपुत्रा तथा अनाथ एक सौ राजरानियें दीखती हैं, वे सब इस वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी पुत्रवधू हैं। हे तपस्वी गण! आप लोग ब्रह्मनिष्ठासे सरलचित्त तथा सत्त्वगुणसम्पन्न हैं, इसलिये आप लोगोंने जिन सब विशुद्ध सत्त्वगुणसम्पन्न राजरानियोंका परिचय पूछा था, मैंने उसे यथार्थ रीतिसे आपके समीप कहा है। (१०—१७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उस समय तपस्वियोंके गमन करनेपर कुरुवृद्धवर्य राजा धृतराष्ट्रने उन नरदेवपुत्र पाण्डवों-के सहित समागत होकर कुशलादि

योधेषु वाऽप्याश्रममण्डलं तं मुक्त्वा निविष्टेषु विमुच्य पत्रम् ।
स्त्रीवृद्धबाले च सुसंनिविष्टे यथार्हतस्तान्कुशलान्यपृच्छत् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि ऋषीन्प्रति युधिष्ठिरादिकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच- युधिष्ठिर महाबाहो कच्चित्त्वं कुशली ह्यसि ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पौरजानपदैस्तथा ॥ १ ॥
ये च त्वामनुजीवन्ति कच्चित्तेऽपि निरामयाः ।
सचिवा भृत्यवर्गाश्च गुरवश्चैव ते नृप ॥ २ ॥
कच्चित्तेऽपि निरातङ्का वसन्ति विषये तव ।
कच्चिद्वर्तसि पौराणीं वृत्तिं राजर्षिसेविताम् ॥ ३ ॥
कच्चिन्न्यायाननुच्छिद्य कोशस्तेऽभिप्रपूर्यते ।
अरिमध्यस्थमित्रेषु वर्तसे चानुरूपतः ॥ ४ ॥
ब्राह्मणानग्रहारैर्वा यथावदनुपश्यसि ।
कच्चित्ते परितुष्यन्ति शीलेन भरतर्षभ ॥ ५ ॥
शत्रवोऽपि कुतः पौरा भृत्या वा स्वजनोऽपि वा ।
कच्चिद्यजसि राजेन्द्र श्रद्धावान्पितृदेवताः ॥ ६ ॥

पूंछा । अनन्तर योद्धाओंके आश्रममण्डल परित्याग करके निज निज स्थानपर जाने और स्त्री, वृद्ध तथा बालकोंके वाहन परित्याग करके अपने अपने स्थानमें प्रविष्ट होनेपर वह पाण्डवोंसे यथोचित कुशलादि पूंछने लगे । (१८—१९)

आश्रमवासिकपर्वमें २५ अध्याय समाप्त ।

आश्रमवासिकपर्वमें २६ अध्याय ।

धृतराष्ट्र बोले, हे महाबाहो युधिष्ठिर! तुम भ्राता, पुरवासी और जनपद-वासियोंके सहित कुशलसे तो हो ? हे नरनाथ ! तुम्हारे जो सब गुरु, सचिव और सेवकवृन्द तुम्हें अवलम्ब करके जीविका निर्वाह किया करते हैं, वे लोग निरामय तथा निरातङ्कसे तुम्हारे राज्यमें निवास करते हैं न ? तुम राजर्षियोंसे सेवित पुरातनी वृत्तिमें वर्तमान तो हो ? तुम न्यायपथको अतिक्रम न करके कोषपूरण और शत्रुमित्र तथा उदासीन लोगोंके निकट समभावसे निवास करते हो न ? हे भरतप्रवर ! तुम ब्राह्मणोंको उत्कृष्ट उपचार प्रदान करके यथासमयमें उनके तत्त्वोंका निश्चय करते हो न ? वे सब लोग तथा शत्रु, पुरवासियों, सेवक और स्वजनवृन्द तुम्हारे स्वभावसे सन्तुष्ट तो हैं ? हे

अतिथीनन्नपानेन कच्चिदर्चसि भारत।
कच्चिन्नयपथे विप्राः स्वकर्मनिरतास्तव ॥ ७ ॥
क्षत्रिया वैश्यवर्गा वा शूद्रा वाऽपि कुटुम्बिनः।
कच्चित्स्त्रीबालवृद्धं ते न शोचति न याचते ॥ ८ ॥
जामयः पूजिताः कच्चित्तव गेहे नरर्षभ।
कच्चिद्राजर्षिवंशोऽयं त्वामासाद्य महीपतिम् ॥ ९ ॥
यथोचितं महाराज यशसा नावसीदति।
वैशम्पायन उवाच- इत्येवंवादिनं तं स न्यायवित्प्रत्यभाषत ॥ १० ॥
कुशलप्रश्नसंयुक्तं कुशलो वाक्यकर्मणि।
युधिष्ठिर उवाच- कच्चित्ते वर्धते राजंस्तपो दमशमश्च ते ॥ ११ ॥
अपि मे जननी चेयं शुश्रूषुर्विगतक्लमा।
अथास्याः सफलो राजन्वनवासो भविष्यति ॥ १२ ॥
इयं च माता ज्येष्ठा मे शीतवाताध्वकर्शिता।
घोरेण तपसा युक्ता देवी कच्चिन्न शोचति ॥ १३ ॥
हतान्पुत्रान्महावीर्यान् क्षत्रधर्मपरायणान्।
नापध्यायति वा कच्चिदस्मान्पापकृतः सदा ॥ १४ ॥

राजेन्द्र! तुम श्रद्धायुक्त होकर पितरों, देवताओं और अन्नजलसे अतिथियोंकी पूजा करते हो न? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र लोग तुम्हारे नीतिपथके अनुवर्ती होकर अपने अपने कर्ममें रत तो रहते हैं? कुटुम्ब, स्त्री, वृद्ध और बालकगण तुम्हारे निकट शोक प्रकाश तथा प्रार्थना तो नहीं करते? हे नरवर राजेन्द्र! तुम्हारे गृहमें स्त्रियें पूजित तो होती हैं? तुम्हारे पृथ्वीपति होनेसे यह राजर्षिवंश तुम्हारे द्वारा यशहीन वा अवसन्न तो नहीं हुआ? (२-१०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जब धृतराष्ट्रने ऐसा कहा, तब न्यायवित् वाक्य बोलनेमें कुशल युधिष्ठिर उनसे कुशल प्रश्नयुक्त वचन कहने लगे। (१०-११)

युधिष्ठिर बोले, हे राजन्! आपकी तपस्या, दम और शम वर्धित होता है न? मेरी यह माता कुन्ती विश्रान्त शरीरसे आपकी सेवा करती है न? हे नरनाथ! यदि ये आपकी सेवामें रत रहें, तो इनका वनवास सफल होगा। शीतल वायु सेवन और मार्गके श्रमसे कातर घोर तपमें निष्ठा करनेवाली ये जेठी माता गान्धारी देवी क्षत्रधर्मपरायण मृत पुत्रोंके निमित्त शोक तो नहीं

क्व चासौ विदुरो राजन्नेमं पश्यामहे वयम् ।
सञ्जयः कुशली चायं कच्चिन्नु तपसि स्थिरः ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच- इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं धृतराष्ट्रो जनाधिपम् ।
कुशली विदुरः पुत्र तपो घोरं समाश्रितः ॥ १६ ॥
वायुभक्षो निराहारः कृशो धमनिसंततः ।
कदाचिद् दृश्यते विप्रैः शून्येऽस्मिन्कानने क्वचित्॥१७॥
इत्येवं ब्रुवतस्तस्य जटी वीटामुखः कृशः ।
दिग्वासा मलदिग्धाङ्गो वनरेणुसमुक्षितः ॥ १८ ॥
दूरादालक्षितः क्षत्ता तत्राख्यातो महीपतेः ।
निवर्तमानः सहसा राजन्दृष्ट्वाऽऽश्रमं प्रति ॥ १९ ॥
तमन्वधावन्नृपतिरेक एव युधिष्ठिरः ।
प्रविशन्तं वनं घोरं लक्ष्यालक्ष्यं क्वचित् क्वचित ॥२०॥
भो भो विदुर राजाऽहं दयितस्ते युधिष्ठिरः ।
इति ब्रुवन्नरपतिस्तं यत्नादभ्यधावत ॥ २१ ॥
ततो विविक्त एकान्ते तस्थौ बुद्धिमतां वरः ।

करती ? हम लोगोंको पापकर्म करनेवाला समझकर सदा हमारी बुराई तो नहीं विचारती ? हे राजन् ! विदुर कहां हैं ? वह यहां क्यों नहीं दीख पडते हैं ? सञ्जय तपस्यामें रत रहके कुशलसे तो हैं ? (११-१५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धृतराष्ट्रने जननाथ युधिष्ठिरका ऐसा प्रश्न सुनके उनसे कहा, हे पुत्र ! विदुर घोर तपस्या अवलम्बन करके कुशलसे हैं, परन्तु वह अन्यान्य खानेकी वस्तुओंका परित्याग करके केवल वायु पान करके इस प्रकार कृशित हुए हैं, कि उनका समस्त शरीर शिराओंसे परिपूरित हुआ है और उस ही अवस्थामें किसी किसी समय इस सूने जङ्गलमें ब्राह्मणोंके द्वारा वह लक्षित हुआ करते हैं। हे राजन् ! जब धृतराष्ट्र ऐसा कह रहे थे, उस ही समय वह जटाधारी वीटामुख अत्यन्त दुबले, दिगम्बर, मलिनदेह और वनधूलिधूसरित क्षत्ता विदुर दूरसे उनके दृष्टिगोचर होते ही सहसा आश्रमकी ओर लौटे। अकेले नरनाथ युधिष्ठिर घोर अलक्ष्य जङ्गलके बीच प्रविष्ट उस विदुरके पीछे दौडे । 'महाराज भो भो विदुर !! मैं तुम्हारा प्रियपात्र राजा युधिष्ठिर हूं ' ऐसा वचन कहते कहते अत्यन्त यत्नके सहित उनके पीछे पीछे दौडे । (१६-२१)

विदुरो वृक्षमाश्रित्य कंचित्तत्र वनान्तरे ॥ २२ ॥
तं राजा क्षीणभूयिष्ठमाकृतीमात्रसूचितम् ।
अभिजज्ञे महाबुद्धिं महाबुद्धिर्युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरोऽहमस्मीति वाक्यमुक्त्वाऽग्रतः स्थितः ।
विदुरस्य श्रवे राजा तं च प्रत्यभ्यपूजयत् ॥ २४ ॥
ततः सोऽनिमिषो भूत्वा राजानं तमुदैक्षत ।
संयोज्य विदुरस्तस्मिन्दृष्टिं दृष्ट्या समाहितः ॥ २५ ॥
विवेश विदुरो धीमान् गात्रैर्गात्राणि चैव ह ।
प्राणान्प्राणेषु च दधदिन्द्रियाणीन्द्रियेषु च ॥ २६ ॥
स योगबलमास्थाय विवेश नृपतेस्तनुम् ।
विदुरो धर्मराजस्य तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ २७ ॥
विदुरस्य शरीरं तु तथैव स्तब्धलोचनम् ।
वृक्षाश्रितं तदा राजा ददर्श गतचेतनम् ॥ २८ ॥
बलवन्तं तथाऽऽत्मानं मेने बहुगुणं तदा ।
धर्मराजो महातेजास्तच्च सस्मार पाण्डवः ॥ २९ ॥
पौराणमात्मनः सर्वं विद्यावान्स विशांपते ।
योगधर्मं महातेजा व्यासेन कथितं यथा ॥ ३० ॥

तिसके अनन्तर प्राज्ञवर विदुरके उस एकान्त तथा निर्जन वनके बीच किसी एक वृक्षको अवलम्बन करके निवास करनेपर महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने आकृतिमात्र अवशिष्ट अत्यन्त कृश महाबुद्धियुक्त विदुरके सामने जाकर आगे निवास करते हुए उनके श्रुति-गोचर होनेके लिये ऊंचे स्वरसे " मैं युधिष्ठिर हूं "-ऐसा कहके उनकी पूजा की। तिसके अनन्तर विदुर समाहित होकर अनिमिष नेत्रसे युधिष्ठिरकी ओर देखकर इकटक दृष्टिसे उन्हें देखने लगे। अनन्तर वह धीमान् विदुर योगबल अवलम्बन करके राजाके शरीरमें निज शरीर, प्राणमें प्राण और इन्द्रियसमूहमें इन्द्रियोंको प्रविष्ट करके प्रदीप्त अग्निकी भांति प्रकाशित होने लगे। परन्तु राजाने उस समय विदुरके उस वृक्षाश्रित स्तब्ध-लोचनयुक्त चेतरहित शरीरको देखा और अपनेको अत्यन्त गुणवान् तथा बलवान् समझा। (२२---२९)

हे महाबुद्धिमान् ! विद्वान् महा-तेजस्वी धर्मराज पाण्डुपुत्रने व्यासदेवके कहे हुए अपने पुराने योगधर्मको स्मरण

धर्मराजश्च तत्रैव संचस्कारयिषुस्तदा ।
दग्धुकामोऽभवद्विद्वानथ वागभ्यभाषत ॥ ३१ ॥
भो भो राजन्न दग्धव्यमेतद्विदुरसंज्ञकम् ।
कलेवरमिहैवं ते धर्म एष सनातनः ॥ ३२ ॥
लोकाः सान्तानिका नाम भविष्यन्त्यस्य भारत ।
यतिधर्ममवाप्तोऽसौ नैव शोच्यः परन्तप ॥ ३३ ॥
इत्युक्तो धर्मराजः स विनिवृत्त्य ततः पुनः ।
राज्ञो वैचित्रवीर्यस्य तत्सर्वं प्रत्यवेदयत् ॥ ३४ ॥
ततः स राजा द्युतिमान्स च सर्वो जनस्तदा ।
भीमसेनादयश्चैव परं विस्मयमागताः ॥ ३५ ॥
तच्छ्रुत्वा प्रीतिमान् राजा भूत्वा धर्मजमब्रवीत् ।
आपो मूलं फलं चैव ममेदं प्रतिगृह्यताम् ॥ ३६ ॥
यदर्थो हि नरो राजंस्तदर्थोऽस्यातिथिः स्मृतः ।
इत्युक्तः स तथेत्येवं प्राह धर्मात्मजो नृपम् ॥ ३७ ॥
फलं मूलं च बुभुजे राज्ञा दत्तं सहानुजः ।
ततस्ते वृक्षमूलेषु कृतवासपरिग्रहाः ।

किया। अनन्तर उस समय धर्मराजने संस्काराभिलाषी होकर विदुरके शरीरको जलानेकी इच्छा की, तब इस प्रकार देववाणी हुई –'हे राजन्! इस विदुरको मत जलाओ, इस शरीरके इस स्थानमें रहनेसे ही तुम्हें परम धर्म होगा। हे परन्तप भारत! इनके यतिधर्मको प्राप्त होनेसे इन्हें सन्तानिक लोक मिलेगा, इसलिये इनके निमित्त शोक मत करो'। (२९—३३)

धर्मराजने ऐसा सुनके वहांसे लौट-कर विचित्रवीर्यपुत्र राजा धृतराष्ट्रके निकट यह समस्त वृत्तान्त वर्णन किया। तिसके अनन्तर द्युतिमान् धृतराष्ट्र और भीमसेन प्रभृति सब लोग उस वचनको सुनके अत्यन्त विस्मययुक्त हुए। राजा धृतराष्ट्र विदुरके उस वृत्तान्तको सुनके अत्यन्त प्रसन्न होकर धर्मपुत्रसे बोले कि 'मेरा यह फल, मूल और जल प्रति-ग्रह करो। हे राजन्! ऐसा शास्त्रमें कहा है कि मनुष्य जैसा अर्थ भोग करता है उसके अतिथियोंको भी वही अर्थ भोगना होता है।' धृतराष्ट्रका ऐसा वचन सुनके धर्मराज बोले, कि 'आपने जो कहा, वही होवे'। इतनी बात कहके भाइयोंके सहित धृतराष्ट्रके दिये

तां रात्रिमवसन्सर्वे फलमूलजलाशनाः ॥ ३८ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि विदुरनिर्याणे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततस्तु राजन्नेतेषामाऽऽश्रमे पुण्यकर्मणाम् ।
शिवा नक्षत्रसंपन्ना सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥
ततस्तत्र कथाश्चासंस्तेषां धर्मार्थलक्षणाः ।
विचित्रपदसंचारा नानाश्रुतिभिरन्विताः ॥ २ ॥
पाण्डवास्त्वभितो मातुर्धरण्यां सुषुपुस्तदा ।
उत्सृज्य तु महार्हाणि शयनानि नराधिप ॥ ३ ॥
यदाहारोऽभवद्राजा धृतराष्ट्रो महामनाः ।
तदाहारा नृवीरास्ते न्यवसंस्तां निशां तदा ॥ ४ ॥
व्यतीतायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिकक्रियः ।
भ्रातृभिः सहितो राजा ददर्शाश्रममण्डलम् ॥ ५ ॥
सान्तःपुरपरीवारः सभृत्यः सपुरोहितः ।
यथासुखं यथोद्देशं धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञया ॥ ६ ॥
ददर्श तत्र वेदीश्च संप्रज्वलितपावकाः ।
कृताभिषेकैर्मुनिभिर्हुताग्निभिरुपस्थिताः ॥ ७ ॥

हुए फलमूल भोजन तथा जलपान किया, अनन्तर उन लोगोंने वृक्षमूलमें वास करते हुए वह रात्रि व्यतीत की। (३४–३८)

आश्रमवासिकपर्वमें २६ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें २७ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे भारत! अनन्तर पुण्यकर्मा पाण्डवोंने उस आश्रममें धर्मार्थ लक्षणयुक्त विचित्र पद तथा अनेक श्रुतियुक्त विविध कथा कहते कहते मङ्गलसूचक नक्षत्रोंसे युक्त रात्रि व्यतीत की। हे नरनाथ! उस समय पाण्डवोंने महामूल्यवान् शय्या परित्याग करके कुन्तीके चारों ओर पृथ्वीपर शयन किया। उस रात्रिमें महामना राजा धृतराष्ट्रने जो आहार किया, नरवीर पाण्डवोंने भी उस समय वही भोजन किया। रात बीतनेपर भोरको राजा युधिष्ठिरने भाइयोंके सहित पूर्वान्हिक क्रिया पूरी करके आश्रम-मण्डलका दर्शन किया; अनन्तर धर्मराज धृतराष्ट्र की आज्ञानुसार अन्तःपुरके परिवार, सेवकों तथा पुरोहितके सहित सुखपूर्वक वहांके सब स्थान और प्रज्वलित अग्निसम्पन्न तथा मुनियोंके द्वारा

वानेयपुष्पनिकरैराज्यधूमोद्गमैरपि ।
ब्राह्मेण वपुषा युक्ता युक्ता मुनिगणस्य ताः ॥ ८ ॥
मृगयूथैरनुद्विग्नैस्तत्र तत्र समाश्रितैः ।
अशङ्कितैः पक्षिगणैः प्रगीतैरिव च प्रभो ॥ ९ ॥
केकाभिर्नीलकण्ठानां दात्यूहानां च कूजितैः ।
कोकिलानां कुहुरवैः सुखैः श्रुतिमनोहरैः ॥ १० ॥
प्राधीतद्विजघोषैश्च क्वचित्क्वचिदलङ्कृतम् ।
फलमूलसमाहारैर्महद्भिश्चोपशोभितम् ॥ ११ ॥
ततः स राजा प्रददौ तापसार्थमुपाहृतान् ।
कलशान्काञ्चनान् राजंस्तथैवौदुम्बरानपि ॥ १२ ॥
अजिनानि प्रवेणीश्च स्रुक् स्रुवं च महीपतिः ।
कमण्डलूंश्च स्थालीश्च पिठराणि च भारत ॥ १३ ॥
भाजनानि च लौहानि पात्रीश्च विविधा नृप ।
यद्यदिच्छति यावच्च यच्चान्यदपि भाजनम् ॥ १४ ॥
एवं स राजा धर्मात्मा परीत्याश्रममण्डलम् ।
वसु विश्राण्य तत्सर्वं पुनरायान्महीपतिः ॥ १५ ॥
कृताह्निकं च राजानं धृतराष्ट्रं महीपतिम् ।

होमकी अग्निसे उपासित वेदियोंको देखने लगे । वे सब वेदी वनके पुष्पों तथा आज्य रससे परिव्याप्त तथा मुनियोंके ब्राह्म शरीरकी शोभासे शोभित होरही हैं । हे प्रभु ! उन स्थानोंमें मृगों के समूहोंके अनुद्विग्न तथा अशङ्कित चित्तसे निवास करने और विविध पक्षियोंके मनोहर बोली बोलनेसे मानो सङ्गीत होता हुआ बोध होने लगा । कोई कोई स्थान नीलकण्ठवाले मयूरोंकी केकाध्वनि,दात्यूहोंका कूजना, कोकिलोंकी सुखकर श्रुतिमनोहर कूकना, वेदपाठी ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि और अत्यन्त उत्कृष्ट फलमूलोंसे सुशोभित होरहे हैं । (१–११)

हे राजन् ! तिसके अनन्तर पृथ्वीपति राजा युधिष्ठिरने तपस्वियोंके निमित्त समाहृत सुवर्णके कलश, उदुम्बर, अजिन, चित्रकम्बल, स्रुक्, स्रुवा, कमण्डलु, स्थाली, पिठपात्र, लोहमय भाजन तथा अन्यान्य विविध पात्र उन लोगोंको प्रदान किया । धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने बहुतसा धन बांटते तथा इस ही प्रकार आश्रमोंमें परिभ्रमण करके

ददर्शासीनमव्यग्रं गान्धारीसहितं तदा ॥ १६ ॥
मातरं चाविदूरस्थां शिष्यवत्प्रणतां स्थिताम् ।
कुन्तीं ददर्श धर्मात्मा शिष्टाचारसमन्विताम् ॥ १७ ॥
स तमभ्यर्च्य राजानं नाम संश्राव्य चात्मनः ।
निषीदेत्यभ्यनुज्ञातो बृस्यामुपविवेश ह ॥ १८ ॥
भीमसेनादयश्चैव पाण्डवा भरतर्षभ ।
अभिवाद्योपसंगृह्य निषेदुः पार्थिवाज्ञया ॥ १९ ॥
स तैः परिवृतो राजा शुशुभेऽतीव कौरवः ।
बिभ्रद्ब्राह्मीं श्रियं दीप्तां देवैरिव बृहस्पतिः ॥ २० ॥
तथा तेषूपविष्टेषु समाजग्मुर्महर्षयः ।
शतयूपप्रभृतयः कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ २१ ॥
व्यासश्च भगवान्विप्रो देवर्षिगणसेवितः ।
वृतः शिष्यैर्महातेजा दर्शयामास पार्थिवम् ॥ २२ ॥
ततः स राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रश्च वीर्यवान् ।
भीमसेनादयश्चैव प्रत्युत्थायाभ्यवादयन् ॥ २३ ॥
समागतस्ततो व्यासः शतयूपादिभिर्वृतः ।
धृतराष्ट्रं महीपालमास्यतामित्यभाषत ॥ २४ ॥

लौटकर नित्यकर्म किये तथा अव्यग्र-चित्तसे गान्धारीके सहित बैठे हुए राजा धृतराष्ट्र और उनके निकटमें शिष्यकी भांति प्रणतभावसे स्थित शिष्टाचारयुक्त कुन्तीमाताको देखा। युधिष्ठिर राजा धृतराष्ट्रको अपना नाम सुनाकर पूजा करते हुए बैठनेकी आज्ञा पाकर यति-योंके आसनपर बैठे। हे भरतप्रवर! भीमसेन प्रभृति पाण्डवगण राजाका पांव छूके प्रणाम करनेके अनन्तर उनकी आज्ञानुसार बैठ गये। कुरुराज धृतराष्ट्र ब्राह्मी श्री धारण करते हुए पाण्डवोंके बीच घिरकर उस समय देवताओंसे घिरे हुए बृहस्पतिकी भांति शोभित हुए। उन लोगोंके बैठनेके अनन्तर कुरुक्षेत्र-निवासी शतयूप प्रभृति महर्षिवृन्द उस स्थानमें आये। देवर्षियोंसे सेवित महा-तेजस्वी भगवान् व्यासदेव शिष्योंसे घिरके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको देखनेके लिये वहां आये; कुरुपति कुन्तीपुत्र वीर्यवान् राजा युधिष्ठिर और भीमसेन आदि सब लोगोंने, उठके उन्हें प्रणाम किया। तिसके अनन्तर व्यासमुनिने शत-यूप आदि ऋषियोंसे घिरकर वहां आके

वरं तु विष्टरं कौश्यं कृष्णाजिनकुशोत्तरम् ।
प्रतिपेदे तदा व्यासस्तदर्थमुपकल्पितम् ॥ २५ ॥
ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठा विष्टरेषु समन्ततः ।
द्वैपायनाभ्यनुज्ञाता निषेदुर्विपुलौजसः ॥ २६ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि
आश्रमवासपर्वणि व्यासागमने सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततः समुपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत ॥ १ ॥
धृतराष्ट्र महाबाहो कच्चित्ते वर्तते तपः ।
कच्चिन्मनस्ते प्रीणाति वनवासे नराधिप ॥ २ ॥
कच्चिद्धृदि न ते शोको राजन्पुत्रविनाशजः ।
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि सुप्रसन्नानि तेऽनघ ॥ ३ ॥
कच्चिद् बुद्धिं दृढां कृत्वा चरस्यारण्यकं विधिम् ।
कच्चिद्वधूश्च गान्धारी न शोकेनाभिभूयते ॥ ४ ॥
महाप्रज्ञा बुद्धिमती देवी धर्मार्थदर्शिनी ।
आगमापायतत्त्वज्ञा कच्चिदेषा न शोचति ॥ ५ ॥
कच्चित्कुन्ती च राजंस्त्वां शुश्रूषत्यनहङ्कृता ।

पृथ्वीपति धृतराष्ट्रको बैठनेके लिये कहा; उस समय व्यासदेवने अपने लिये उपकल्पित उत्तम कुशासन, कृष्णाजिन और कुशोत्तर पाया । विपुल तेजस्वी द्विजवरगण द्वैपायन मुनिकी आज्ञा पाके चारों ओर कुशाकी चटाईपर बैठ गये । (१२—२६)

आश्रमवासिकपर्वमें २७ अध्याय समाप्त ।

आश्रमवासिकपर्वमें २८ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर महात्मा पाण्डवोंके बैठनेपर सत्यवती-पुत्र व्यासदेव बोले, हे महाबाहो धृतराष्ट्र! तुम्हारा तप वर्धित होता है न ? वनवाससे तुम्हारा मन प्रसन्न तो है ? हे अनघ महाराज ! तुम्हारे हृदयमें पुत्र-विनाशजनित शोक तो नहीं विद्यमान है ? तुम्हारा ज्ञाननिवह सुप्रसन्न हुआ है न ? तुम बुद्धिको दृढ करके अरण्य-विधिका आचरण करते हो न ? वधू गान्धारी शोकसे अभिभूत तो नहीं होती? महाप्राज्ञ बुद्धिमती धर्मार्थदर्शिनी, आगम और अपायोंकी तत्त्वोंको जानने-वाली यह गान्धारी देवी शोक तो नहीं करती ? हे राजन् ! जो अपने पुत्रोंको

या परित्यज्य स्वं पुत्रं गुरुशुश्रूषणे रता ॥ ६ ॥
कच्चिद्धर्मसुतो राजा त्वया प्रत्यभिनन्दितः ।
भीमार्जुनयमाश्चैव कच्चिदेतेऽपि सान्त्विताः ॥ ७ ॥
कच्चिन्नन्दसि दृष्ट्वैतान् कच्चित्ते निर्मलं मनः ।
कच्चिच्च शुद्धभावोऽसि जातज्ञानो नराधिप ॥ ८ ॥
एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत ।
निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च ॥ ९ ॥
कच्चित्ते न च मोहोऽस्ति वनवासेन भारत ।
स्ववशे वन्यमन्नं वा उपवासोऽपि वा भवेत् ॥ १० ॥
विदितं चापि राजेन्द्र विदुरस्य महात्मनः ।
गमनं विधिनाऽनेन धर्मस्य सुमहात्मनः ॥ ११ ॥
माण्डव्यशापाद्धि स वै धर्मो विदुरतां गतः ।
महाबुद्धिर्महायोगी महात्मा सुमहामनाः ॥ १२ ॥
बृहस्पतिर्वा देवेषु शुक्रो वाऽप्यसुरेषु च ।
न तथा बुद्धिसंपन्नो यथा स पुरुषर्षभः ॥ १३ ॥
तपोबलव्ययं कृत्वा सुचिरात्संभृतं तदा ।

त्यागके गुरुसेवामें रत हुई है, वह कुन्ती अहङ्काररहित होकर तुम्हारी सेवा करती है न ? हे नरनाथ ! तुमने महामना महात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको ढाढस दिया है न ? इन लोगोंको देखके तुम्हारा चित्त निर्मल तथा आनन्दित हुआ है न ? और ज्ञान उदय होनेसे शुद्धचित्त हुआ है न ? (१—८)

हे महाराज ! सब भूतोंमें जितने गुण हैं, उनमेंसे निर्वैरता, सत्य और अक्रोध, येही तीनों मुख्य हैं । हे भारत ! इसलिये वनवाससे तुम्हें मोह तो नहीं हुआ ? क्यों अपने वशमें रहनेसे वन्य अन्न अथवा उपवास ही हुआ करता है । हे राजेन्द्र ! महात्मा विदुरका विषय तुम्हें विदित है ? इसही विधानसे महात्मा धर्मका गमन हुआ करता है । धर्मही माण्डव्यके शापसे विदुरत्वको प्राप्त हुए हैं, वह महाबुद्धि महायोगी सुमहामना महात्मा पुरुषप्रवर विदुर जिस प्रकार बुद्धिसम्पन्न हैं, देवताओंके बीच बृहस्पति और असुरोंके बीच शुक्र भी वैसे बुद्धिसम्पन्न नहीं हैं। उस समय सनातन धर्म बहुत दिनोंके उपार्जित तपोबलको व्यय करके

माण्डव्येनर्षिणा धर्मो ह्यभिभूतः सनातनः ॥ १४ ॥
नियोगाद्‌ब्रह्मणः पूर्वं मया स्वेन बलेन च ।
वैचित्रवीर्यके क्षेत्रे जातः स सुमहामतिः ॥ १५ ॥
भ्राता तव महाराज देवदेवः सनातनः ।
धारणान्मनसा ध्यानाद्यं धर्मं कवयो विदुः ॥ १६ ॥
सत्येन संवर्धयति यो दमेन शमेन च ।
अहिंसया च दानेन तप्यमानः सनातनः ॥ १७ ॥
येन योगबलाज्जातः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
धर्म इत्येष नृपते प्राज्ञेनामितबुद्धिना ॥ १८ ॥
यथा वह्निर्यथा वायुर्यथाऽऽपः पृथिवी यथा ।
यथाऽऽकाशं तथा धर्म इह चामुत्र स्थितः ॥ १९ ॥
सर्वगश्चैव राजेन्द्र सर्वं व्याप्य चराचरम् ।
दृश्यते देवदेवैः स सिद्धैर्निर्मुक्तकल्मषैः ॥ २० ॥
यो हि धर्मः स विदुरो विदुरो यः स पाण्डवः ।
स एष राजन् दृश्यस्ते पाण्डवः प्रेष्यवत्स्थितः ॥ २१ ॥
प्रविष्टः स महात्मानं भ्राता ते बुद्धिसत्तमः ।

माण्डव्य ऋषिके द्वारा अभिशप्त हुए थे। (९—१४)

वही महाबुद्धिमान् पहले ब्रह्माकी आज्ञानुसार निज तेज और बलसे मेरे द्वारा विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें उत्पन्न हुए थे। हे महाराज! पण्डित लोग जिसे धर्म कहके जानते हैं, तुम्हारे भ्राता वह महाबुद्धिमान् विदुर मनके द्वारा ध्यान तथा धारणासे सनातन देवदेव स्वरूप हुए थे; वह सनातन पुरुषश्रेष्ठ तपस्या करते हुए सत्य, शम, अहिंसा, दम और दानके सहारे वर्धित हुए थे। स्वयं धर्मरूपी कुरुराज युधिष्ठिरने योगबलसे उस अमितबुद्धि प्राज्ञ विदुरके सहित जन्म लिया है। अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी और आकाशकी भांति धर्म इस लोक तथा परलोकमें सदा निवास करता है। हे राजेन्द्र! वह सर्वग है, इसीसे सब चराचरोंमें व्याप्त होकर निवास करता है। निष्पाप सिद्ध तथा देवगण ही उसका दर्शन किया करते हैं। हे राजन्! जो धर्म, वेही विदुर हैं और जो विदुर वेही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर निकट हैं। मैं देखता हूं, कि वह पाण्डुका पुत्र युधिष्ठिर दासकी भांति आपके निकट निवास करता है, यही वह विदुर है।

दृष्ट्वा महात्मा कौन्तेयं महायोगबलान्वितः ॥ २२ ॥
त्वां चापि श्रेयसा योक्ष्ये न चिराद्भरतर्षभ ।
संशयच्छेदनार्थाय प्राप्तं मां विद्धि पुत्रक ॥ २३ ॥
न कृतं यैः पुरा कैश्चित्कर्म लोके महर्षिभिः ।
आश्चर्यभूतं तपसः फलं तद्दर्शयामि वः ॥ २४ ॥
किमिच्छसि महीपाल मत्तः प्राप्तुमभीप्सितम् ।
द्रष्टुं स्प्रष्टुमथ श्रोतुं तत्कर्ताऽस्मि तवानघ ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

॥ समाप्तं चाश्रमवासपर्व ॥

॥ अथ पुत्रदर्शनपर्व ॥

जनमेजय उवाच– वनवासं गते विप्र धृतराष्ट्रे महीपतौ ।
सभार्ये नृपशार्दूले वध्वा कुन्त्या समन्विते ॥ १ ॥
विदुरे चापि संसिद्धे धर्मराजं व्यपाश्रिते ।
वसत्सु पाण्डुपुत्रेषु सर्वेष्वाश्रममण्डले ॥ २ ॥
यत्तदाश्चर्यमिति वै करिष्यामीत्युवाच ह ।
व्यासः परमतेजस्वी महर्षिस्तद्वदस्व मे ॥ ३ ॥

तुम्हारे भाई वह महात्मा बुद्धिसत्तम विदुर महात्मा कुन्तीपुत्रको देखकर महायोगबलसे इन्हींमें प्रविष्ट हुए हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! तुम भी शीघ्र कल्याण लाभ करोगे, इसलिये तुम्हारा सन्देह छुडानेके निमित्त मैं तुम्हारे समीप आया हूं। हे महीपाल ! पहले जगत्के बीच किसी महर्षिके द्वारा जो कार्य सम्पादित नहीं हुए, मैं उस तपस्याके आश्चर्यभूत फलको तुम्हें दिखाऊंगा। हे अनघ ! तुम मेरे समीप कौनसी वस्तु पाने अथवा कौनसे विषयको देखने, सुनने वा जाननेकी इच्छा करते हो, वह मुझसे कहो, मैं उसे ही करूंगा। (१५–२५)

आश्रमवासिकपर्वमें २८ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें २९ अध्याय।

जनमेजय बोले, हे विप्र ! नृपवर महीपति धृतराष्ट्रके निज भार्या गान्धारी तथा वधू कुन्तीके सहित वनमें जाने, सिद्ध विदुरके धर्मराजमें प्रविष्ट होने और पाण्डुपुत्रोंके आश्रममण्डलमें वास करते रहनेपर उस समय जो आश्चर्य-व्यापार हुआ था और परम तेजस्वी महर्षि व्यासदेवने जो ऐसा कहा था,

वनवासे च कौरव्यः कियन्तं कालमच्युत ।
युधिष्ठिरो नरपतिर्न्यवसत्सजनस्तदा ॥ ४ ॥
किमाहाराश्च ते तत्र ससैन्या न्यवसन्प्रभो ।
सान्तःपुरा महात्मान इति तद् ब्रूहि मेऽनघ ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच- तेऽनुज्ञातास्तदा राजन्कुरुराजेन पाण्डवाः ।
विविधान्यन्नपानानि विश्राम्यानुभवन्ति ते ॥ ६ ॥
मासमेकं विजहुस्ते ससैन्यान्तःपुरा वने ।
अथ तत्रागमद्व्यासो यथोक्तं ते मयाऽनघ ॥ ७ ॥
तथा च तेषां सर्वेषां कथाभिर्नृपसन्निधौ ।
व्यासमन्वास्य तं राजन्नाजग्मुर्मुनयोऽपरे ॥ ८ ॥
नारदः पर्वतश्चैव देवलश्च महातपाः ।
विश्वावसुस्तुम्बुरुश्च चित्रसेनश्च भारत ॥ ९ ॥
तेषामपि यथान्यायं पूजां चक्रे महातपाः ।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥
निषेदुस्ते ततः सर्वे पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात् ।

कि 'तुम्हारा इष्ट साधन करूंगा,' वह सब मेरे निकट विस्तारपूर्वक कहिये । हे प्रभु पापरहित ! कुरुवंशमें उत्पन्न हुए नरनाथ युधिष्ठिरने उस वनके बीच कितने समयतक वास किया था ? और वे महात्मा लोग उस अन्तःपुरवासियों और सेनाके सहित वहां वास करते हुए क्या भोजन करते थे, वह आप मुझसे कहिये । (१—५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन्! उस समय पाण्डव लोगोंने कुरुराज धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाके अनेक प्रकारके अन्न और पीनेकी वस्तु भोजन की । हे अनघ ! उन लोगोंके उस वनमें सेना तथा अन्तःपुरवासियोंके सहित एक महीनेतक विहार करनेपर वहांपर व्यासदेव आये, यह मैंने तुम्हारे समीप यथार्थ कहा है । हे राजन् ! वे लोग राजाके निकट व्यासदेवके पीछे बैठके वार्तालाप करने लगे; तब नारद, पर्वत, महातपस्वी देवल, विश्वावसु, तुम्बुरु और चित्रसेन प्रभृति अन्यान्य मुनियोंने वहां आगमन किया । महातपस्वी कुरुराज युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रकी आज्ञानुसार उन समागत ऋषियोंकी पूजा की । (६–१०)

तिसके अनन्तर वे लोग युधिष्ठिरके निकट पूजा पाके उत्तम पवित्र मयूरासनपर बैठे । हे कुरूद्वह ! मुनियोंके

आसनेषु च पुण्येषु बार्हिणेषु वरेषु च ॥ ११ ॥
तेषु तत्रोपविष्टेषु स तु राजा महामतिः ।
पाण्डुपुत्रैः परिवृतो निषसाद कुरूद्वह ॥ १२ ॥
गान्धारी चैव कुन्ती च द्रौपदी सात्वती तथा ।
स्त्रियश्चान्यास्तथान्याभिः सहोपविविशुस्ततः ॥१३॥
तेषां तत्र कथा दिव्या धर्मिष्ठाश्चाभवन्नृप ।
ऋषीणां च पुराणानां देवासुरविमिश्रिताः ॥ १४ ॥
ततः कथान्ते व्यासस्तं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठः पुनरेव स तद्वचः ॥ १५ ॥
प्रीयमाणो महातेजाः सर्ववेदविदां वरः ।
विदितं मम राजेन्द्र यत्ते हृदि विवक्षितम् ॥ १६ ॥
दह्यमानस्य शोकेन तव पुत्रकृतेन वै ।
गान्धार्याश्चैव यद्दुःखं हृदि तिष्ठति नित्यदा ॥ १७ ॥
कुन्त्याश्च यन्महाराज द्रौपद्याश्च हृदि स्थितम् ।
यच्च धारयते तीव्रं दुःखं पुत्रविनाशजम् ॥ १८ ॥
सुभद्रा कृष्णभगिनी तच्चापि विदितं मम ।
श्रुत्वा समागममिमं सर्वेषां वस्ततो नृप ॥ १९ ॥
संशयच्छेदनार्थाय प्राप्तः कौरवनन्दन ।

बैठनेके अनन्तर महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र पाण्डुपुत्रोंके बीच घिरके बैठे; उनके पीछे गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी, सात्वतकुलमें उत्पन्न हुई सुभद्रा तथा अन्यान्य स्त्रियां अपर स्त्रियोंके सहित वहां बैठीं। हे नृपवर ! वहांपर प्राचीन ऋषि तथा उन लोगोंमें देवासुर सम्बंधित धर्मसंयुक्त दिव्य कथा होने लगीं। अनन्तर कथाकी समाप्ति होनेपर वेद जाननेवाले पुरुषोंमें मुख्य वाग्मिवर महातेजस्वी व्यासदेव अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रज्ञाचक्षु नरेन्द्र धृतराष्ट्रसे फिर कहने लगे। हे राजेन्द्र ! पुत्रवियोगजनित शोकसे जलनेपर तुम्हारे हृदयमें जो भाव उदित हुए हैं, मैंने उसे समझा है। हे महाराज ! गान्धारीके हृदयमें सदा जो दुःख निवास करता है, कुन्ती और द्रौपदीके भीतर जो सदा विद्यमान हैं, तथा कृष्णकी बहिन सुभद्रा पुत्रविनाशजनित जिस तीव्र दुःखको मनके बीच धारण करती है, वह सब मुझे विदित हुआ है। हे नरनाथ ! इस

इमे च देवगन्धर्वाः सर्वे चेमे महर्षयः ॥ २० ॥
पश्यन्तु तपसो वीर्यमद्य मे चिरसंभृतम् ।
तदुच्यतां महाप्राज्ञ कं कामं प्रददामि ते ॥ २१ ॥
प्रवणोऽस्मि वरं दातुं पश्य मे तपसः फलम् ।
एवमुक्तः स राजेन्द्रो व्यासेनामितबुद्धिना ॥ २२ ॥
मुहूर्तमिव संचिन्त्य वचनायोपचक्रमे ।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतश्च सफलं जीवितं च मे ॥ २३ ॥
यन्मे समागमोऽद्येह भवद्भिः सह साधुभिः ।
अद्य चाप्यवगच्छामि गतिमिष्टामिहात्मनः ॥ २४ ॥
ब्रह्मकल्पैर्भवद्भिर्यत्समेतोऽहं तपोधनाः ।
दर्शनादेव भवतां पूतोऽहं नात्र संशयः ॥ २५ ॥
विद्यते न भयं चापि परलोकान्ममानघाः ।
किंतु तस्य सुदुर्बुद्धेर्मन्दस्यापनयैर्भृशम् ॥ २६ ॥
दूयते मे मनो नित्यं स्मरतः पुत्रगृद्धिनः ।
अपापाः पाण्डवा येन निकृताः पापबुद्धिना ॥ २७ ॥
घातिता पृथिवी येन सहया सनरद्विपा ।

स्थानमें तुम लोगोंका समागम सुनके सन्देह छुडानेके निमित्त मैं आया हूं । ये देव, गन्धर्व और महर्षिगण आज मेरे चिरसञ्चित तपस्याके प्रभावको देखें । हे महाराज ! तुम्हारी क्या कामना है, वह मुझसे कहो, मैं वही तुम्हें प्रदान करता हूं; मेरी तपस्याका फल देखो, मैं वरदान करनेके लिये प्रस्तुत हुआ हूं । (११-२२)

उस नरेन्द्र धृतराष्ट्रने अमितबुद्धि व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके मुहूर्तभर सोचके निज अभिप्राय प्रकाश करना आरम्भ किया। धृतराष्ट्र बोले, मैं धन्य हूं ! क्यों कि आपके द्वारा अनुग्रहीत हुआ; आज मेरा जीना सफल हुआ क्यों कि आज साधुओं तथा आपके सङ्ग मेरा समागम हुआ । हे तपोधनगण ! आज ब्रह्मकल्प आप लोगोंके सहित मेरा समागम होनेसे मुझे इस लोकमें ही निज अभिलषित गति प्राप्त हुई । हे अनघगण ! आप लोगोंके दर्शनसे मैं निश्चय ही पवित्र हुआ; परलोकसे अब मुझे भय न रहा; परन्तु मेरे पुत्रवत्सल होनेसे उन दुर्बुद्धि मूढ पुत्रोंकी दुर्नीतियोंको स्मरण करते हुए मेरा अन्तःकरण अत्यन्त व्यथित होता है। जिस पापबुद्धि

राजानश्च महात्मानो नानाजनपदेश्वराः ॥ २८ ॥
आगम्य मम पुत्रार्थे सर्वे मृत्युवशं गताः ।
ये ते पितॄंश्च दारांश्च प्राणांश्च मनसः प्रियान् ॥ २९ ॥
परित्यज्य गताः शूराः प्रेतराजनिवेशनम् ।
का नु तेषां गतिर्ब्रह्मन् मित्रार्थे ये हता मृधे ॥ ३० ॥
तथैव पुत्रपौत्राणां मम ये निहता युधि ।
दूयते मे मनोऽभीक्ष्णं घातयित्वा महाबलम् ॥ ३१ ॥
भीष्मं शान्तनवं वृद्धं द्रोणं च द्विजसत्तमम् ।
मम पुत्रेण मूढेन पापेनाकृतबुद्धिना । ॥ ३२ ॥
क्षयं नीतं कुलं दीप्तं पृथिवीराज्यमिच्छता ।
एतत्सर्वमनुस्मृत्य दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ३३ ॥
न शान्तिमधिगच्छामि दुःखशोकसमाहतः ।
इति मे चिन्तयानस्य पितः शान्तिर्न विद्यते ॥ ३४ ॥
वैशम्पायन उवाच– तच्छ्रुत्वा विविधं तस्य राजर्षेः परिदेवितम् ।
पुनर्नवीकृतः शोको गान्धार्या जनमेजय ॥ ३५ ॥

दुर्योधनके द्वारा पापरहित पाण्डुपुत्रगण निराकृत और हाथीघोडोंसे युक्त यह पृथ्वी तथा अनेक जनपदवासी महात्मा राजा लोग मारे गये; उन मन्दभाग्य पुत्रोंके निमित्त ही मेरा हृदय विशीर्ण होता है । (२२—२८)

हे ब्रह्मन् ! जिन लोगोंने मेरे पुत्रोंके निमित्त पिता, माता, पत्नी, प्राण और अपने प्रिय पुत्रोंको परित्याग कर युद्धके लिये आकर मित्रके निमित्त मृत्युके वशमें होकर प्रेतराजके स्थानमें गमन किया है, उन लोगोंकी क्या गति हुई ? मेरे पुत्रों तथा पौत्रोंके बीच जो लोग महाबलवान् शान्तनुपुत्र बूढे भीष्म और द्विजसत्तम द्रोणाचार्य युद्धमें संहार करके मरे हैं, उनके निमित्त मेरा चित्त अत्यन्त सन्तप्त होता है । पृथ्वीभरके राज्यका अभिलाषी सुहृद्द्वेषी पापात्मा उस मूढ पुत्रके द्वारा यह प्रदीप्त कुल नष्ट हुआ; दिन रात इन्हीं विषयोंको स्मरण करते हुए दुःख और शोकसे समाहत तथा जलके मैं शान्तिलाभ नहीं कर सकता हूं । हे पिता ! यह विषय सर्वदा मेरे स्मृतिपथारूढ होनेसे मुझे तनिक भी शान्ति लाभ नहीं होती है। (२९-३४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे जनमेजय ! उस राजर्षि धृतराष्ट्रका वैसा विविध परिदेवित सुनके गान्धारी,

कुन्त्या द्रुपदपुत्र्याश्च सुभद्रायास्तथैव च ।
तासां च वरनारीणां वधूनां कौरवस्य ह ॥ ३६ ॥
पुत्रशोकसमाविष्टा गान्धारी त्विदमब्रवीत् ।
श्वशुरं बद्धनयना देवी प्राञ्जलिरुत्थिता ॥ ३७ ॥
षोडशेमानि वर्षाणि गतानि मुनिपुङ्गव ।
अस्य राज्ञो हतान्पुत्रान् शोचतो न शमो विभो ॥३८॥
पुत्रशोकसमाविष्टो निःश्वसन् ह्येष भूमिपः ।
न शेते वसतीः सर्वा धृतराष्ट्रो महामुने ॥ ३९ ॥
लोकानन्यान्समर्थोऽसि स्रष्टुं सर्वांस्तपोबलात् ।
किमु लोकान्तरगतान् राज्ञो दर्शयितुं सुतान् ॥४०॥
इयं च द्रौपदी कृष्णा हतज्ञातिसुता भृशम् ।
शोचत्यतीव सर्वासां स्नुषाणां दयिता स्नुषा ॥ ४१ ॥
तथा कृष्णस्य भगिनी सुभद्रा भद्रभाषिणी ।
सौभद्रवधसंतप्ता भृशं शोचति भाविनी ॥ ४२ ॥
इयं च भूरिश्रवसो भार्या परमसंमता ।
भर्तृव्यसनशोकार्ता भृशं शोचति भाविनी ॥ ४३ ॥
यस्यास्तु श्वशुरो धीमान् बाह्लिकः स कुरूद्वहः ।

कुन्ती, द्रुपदराजपुत्री द्रौपदी, सुभद्रा तथा अन्यान्य नरनारियों तथा वधूगणों का शोक फिर नवीन होगया। परन्तु पुत्रशोकयुक्त बद्धनेत्रवाली गान्धारी उठके हाथ जोडकर निज श्वशुर व्यासदेवसे बोली, हे मुनिपुङ्गव! आज सोलह वर्ष व्यतीत हुआ, मरे हुए पुत्रोंके शोकसे इस नरनाथको तनिक भी शान्ति नहीं होती है। हे विभु! पुत्रशोकयुक्त यह भूपति धृतराष्ट्र सदा लम्बी सांस छोडते हुए सारी रात बिताते हैं, एक बार भी शयन नहीं करते। हे महामुनि! आप तपोबलसे दूसरे लोकोंकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं, परन्तु इस राजाके परलोकमें गये हुए पुत्रोंको क्या दिखा सकेंगे? पुत्रवधुओंके बीच अत्यन्त प्रिय ज्ञाति तथा पुत्रोंसे रहित यह कृष्णा द्रौपदी अत्यन्त शोक करती है। उत्तम वचन कहनेवाली कृष्णकी बहिन भाविनी यह सुभद्रा अभिमन्युके वधसे अत्यन्त सन्तप्त होकर बहुत ही शोकार्त हुई है; यह भूरिश्रवाकी भार्या स्वामीके मरनेसे शोकार्ता होकर अत्यन्त शोक करती है। बुद्धिमान् बाह्लिक जिसके श्वशुर हैं, वे

निहतः सोमदत्तश्च पित्रा सह महारणे ॥ ४४ ॥
श्रीमतोऽस्य महाबुद्धेः संग्रामेष्वपलायिनः ।
पुत्रस्य ते पुत्रशतं निहतं यद्रणाजिरे ॥ ४५ ॥
तस्य भार्याशतमिदं दुःखशोकसमाहतम् ।
पुनःपुनर्वर्धयानं शोकं राज्ञो ममैव च ॥ ४६ ॥
तेनारम्भेण महता मामुपास्ते महामुने ।
ये च शूरा महात्मानः श्वशुरा मे महारथाः ॥ ४७ ॥
सोमदत्तप्रभृतयः का नु तेषां गतिः प्रभो ।
तव प्रसादाद्भगवन् विशोकोऽयं महीपतिः ॥ ४८ ॥
यथा स्याद्भविता चाहं कुन्ती चेयं वधूस्तव ।
इत्युक्तवत्यां गान्धार्यां कुन्ती व्रतकृशानना ॥ ४९ ॥
प्रच्छन्नजातं पुत्रं तं सस्मारादित्यसन्निभम् ।
तामृषिर्वरदो व्यासो दूरश्रवणदर्शनः ॥ ५० ॥
अपश्यद्दुःखितां देवीं मातरं सव्यसाचिनः ।
तामुवाच ततो व्यासो यत्ते कार्यं विवक्षितम् ॥ ५१ ॥
तद् ब्रूहि त्वं महाभागे यत्ते मनसि वर्तते ।

ही कुरुकुलोद्वह सोमदत्त पिताके सहित महासंग्राममें मरे हैं। (३५-४४)

हे महामुनि! संग्राममें न भागनेवाले महाबुद्धिमान् श्रीमान् तुम्हारे इस पुत्रके जो एक सौ पुत्र युद्धमें मारे गये, उनकी ये एक सौ भार्या दुःख तथा शोकसे समाहत होकर बार बार मेरे तथा राजाके शोकको बढाती हैं और वे सब उस शोकार्तचित्तसे ही मेरी सेवा करती हैं। हे प्रभु! सोमदत्त प्रभृति जो सब महारथ महात्माओंने शूरवर मेरे श्वशुर-कुलको नष्ट किया है, उनकी क्या गति हुई? हे भगवन्! ये महीपति, मैं और आपकी वधू कुन्ती जिस प्रकार आपकी कृपासे शोकरहित होवें, आप वैसाही करिये। (४५-४९)

गान्धारीके ऐसा कहनेपर नियम और व्रतादिसे कृश शरीरवाली कुन्तीने आदित्यसदृश गुप्त रीतिसे उत्पन्न हुए उस पुत्रको स्मरण किया। दूरश्रवण-दर्शी ऋषिवर वरदाता व्यासदेवने सव्यसाचीकी माता उस दुःखिता कुन्ती देवीकी ओर देखा। तिसके अनन्तर श्रीवेदव्यास मुनि उससे बोले, हे महाभागे! तुम्हारे मनके बीच जो विषय उपस्थित हुआ है, वह तुम मुझसे कहो।

श्वशुराय ततः कुन्ती प्रणम्य शिरसा तदा ।
उवाच वाक्यं सव्रीडा विवृण्वाना पुरातनम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि धृतराष्ट्रादिकृतप्रार्थने एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

कुन्त्युवाच— भगवन् श्वशुरो मेऽसि दैवतस्यापि दैवतम् ।
स मे देवातिदेवस्त्वं शृणु सत्यां गिरं मम ॥ १ ॥
तपस्वी कोपनो विप्रो दुर्वासा नाम मे पितुः ।
भिक्षामुपागतो भोक्तुं तमहं पर्यतोषयम् ॥ २ ॥
शौचेन त्वागसत्यागैः शुद्धेन मनसा तथा ।
कोपस्थानेष्वपि महत्स्वकुप्यन्न कदाचन ॥ ३ ॥
स प्रीतो वरदो मेऽभूत्कृतकृत्यो महामुनिः ।
अवश्यं ते गृहीतव्यमिति मां सोऽब्रवीद्वचः ॥ ४ ॥
ततः शापभयाद्विप्रमवोचं पुनरेव तम् ।
एवमस्त्विति च प्राह पुनरेव स मे द्विजः ॥ ५ ॥
धर्मस्य जननी भद्रे भवित्री त्वं शुभानने ।
वशे स्थास्यन्ति ते देवा यांस्त्वमावाहयिष्यसि ॥ ६ ॥

तब कुन्ती सिर नीचा करके श्वशुरको प्रणामकर लज्जापूर्वक पुराना वृत्तान्त विस्तारके सहित कहने लगी। (४९-५२)

आश्रमवासिकपर्वमें २९ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ३० अध्याय।

कुन्ती बोली, हे भगवन्! आप श्वशुर और देवताके देवता हैं, आपही हमारे देवाधिदेव हैं; इसलिये मैं आपके समीप सत्य वचन कहती हूं, सुनिये। (१)

एक बार क्रुद्धस्वभाववाले परम तपस्वी द्विजवर दुर्वासा भिक्षा तथा भोजनके निमित्त मेरे पिताके निकट उपस्थित हुए, तब मैंने सेवासे उन्हें सन्तुष्ट किया। मेरे शौच, त्याग, निरपराध तथा शुद्ध-चित्तसम्पन्न होकर सेवा करनेपर उन्होंने क्रोधके कार्यमें भी कोप नहीं किया। बल्कि उस महामुनिने मुझसे परम प्रसन्न और कृतकृत्य होकर वर देनेके लिये उद्यत होकर कहा, कि 'तुम्हारा वचन अवश्य स्वीकार्य है'। तिसके अनन्तर मैंने शापभयसे उस विप्रसे फिर विनय-वाक्यसे वर मांगा, तब उन्होंने कहा, 'ऐसा ही होगा'। इतनी बात कहके वह फिर मुझसे बोले, हे भद्रे शुभानने! तू धर्मकी जननी होगी और तुम जिन देवताओंको आह्वान करोगी, वेही तुम्हारे

इत्युक्त्वाऽन्तर्हितो विप्रस्ततोऽहं विस्मिताऽभवम् ।
न च सर्वास्ववस्थासु स्मृतिर्मे विप्रणश्यति ॥ ७ ॥
अथ हर्म्यतलस्थाऽहं रविमुद्यन्तमीक्षती ।
संस्मृत्य तदृषेर्वाक्यं स्पृहयन्ती दिवाकरम् ॥ ८ ॥
स्थिताऽहं बालभावेन तत्र दोषमबुध्यती ।
अथ देवः सहस्रांशुर्मत्समीपगतोऽभवत् ॥ ९ ॥
द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहं भूमौ च गगनेऽपि च ।
तताप लोकानेकेन द्वितीयेनागमत्स माम् ॥ १० ॥
स मामुवाच वेपन्तीं वरं मत्तो वृणीष्व ह ।
गम्यतामिति तं चाहं प्रणम्य शिरसाऽवदम् ॥ ११ ॥
स मामुवाच तिग्मांशुर्वृथाऽऽह्वानं न मे क्षमम् ।
धक्ष्यामि त्वां च विप्रं च येन दत्तो वरस्तव ॥ १२ ॥
तमहं रक्षती विप्रं शापादनपकारिणम् ।
पुत्रो मे त्वत्समो देव भवेदिति ततोऽब्रुवम् ॥ १३ ॥
ततो मां तेजसाऽऽविश्य मोहयित्वा च भानुमान् ।

वशमें होजायंगे । उस विप्रवरके इतनी बात कहके अन्तर्धान होनेपर मैं अत्यन्त विस्मित हुई; मेरी स्मरणशक्ति सब अवस्थामें ही समभावसे रहती है, कदापि लुप्त नहीं होती। (२—७)

कुछ दिनके अनन्तर मैं कोठेपर निवास करती हुई उदय हुए सूर्यको देखकर ऋषिके वचनको स्मरण करके दिवाकरकी अभिलाष की; उस समय बाल्यस्वभावसे मैं उस विषयमें दोष न समझ सकी । अनन्तर सहस्रांशु सूर्यदेव निज शरीरको दो हिस्सेमें विभक्त करके आकाश और भूमण्डलमें स्थापित करते हुए मेरे निकट आये । वह एक अंशसे सब लोकोंको ताप प्रदान करते हुए दूसरे अंशसे मेरे समीप आके मुझे कांपती हुई देखके बोले, 'वर ग्रहण करो'। मैंने सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम करके कहा, 'आप मेरे समीपसे चले जाइये'। उस सूर्यने मेरे वचनको न मानके मुझसे कहा, 'तुमने जिस लिये मुझे आह्वान किया है, वह वृथा न होगा। यदि मुझे प्रत्याख्यात होना पडे, तो जिसने तुम्हें वर दिया है, मैं उस ब्राह्मणको और तुम्हें भस्म करूंगा।' मैंने सूर्यका ऐसा वचन सुनके उस उपकारी ब्राह्मणको शापसे बचाके कहा, 'हे देव ! मेरे तुम्हारे सदृश पुत्र हो, आप मुझे यही

उवाच भविता पुत्रस्तवेत्यभ्यगमद्दिवम् ॥ १४ ॥
ततोऽहमन्तर्भवने पितुर्वृत्तान्तरक्षिणी ।
गूढोत्पन्नं सुतं बालं जले कर्णमवासृजम् ॥ १५ ॥
नूनं तस्यैव देवस्य प्रसादात्पुनरेव तु ।
कन्याऽहमभवं विप्र यथा प्राह स मामृषिः ॥ १६ ॥
स मया मूढया पुत्रो ज्ञायमानोऽप्युपेक्षितः ।
तन्मां दहति विप्रर्षे यथा सुविदितं तव ॥ १७ ॥
यदि पापमपापं वा यदेतद्विवृतं मया ।
तं द्रष्टुमिच्छामि भगवन्व्यपनेतुं त्वमर्हसि ॥ १८ ॥
यच्चास्य राज्ञो विदितं हृदिस्थं भवतोऽनघ ।
तं चायं लभतां काममद्यैव मुनिसत्तम ॥ १९ ॥
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो वेदविदां वरः ।
साधु सर्वमिदं भाव्यमेवमेतद्यथाऽऽत्थ माम् ॥ २० ॥
अपराधश्च ते नास्ति कन्याभावं गता ह्यसि ।
देवाश्चैश्वर्यवन्तो वै शरीराण्याविशन्ति वै ॥ २१ ॥

वर दीजिये।' तिसके अनन्तर सूर्य निज तेजके सहारे मुझमें प्रविष्ट होके मुझे मोहित करते हुए बोले, कि 'तुम्हारे मेरे समान पुत्र होगा,' ऐसा कहके वह स्वर्गमें चले गये । (८—१४)

तिसके अनन्तर मैं उस वृत्तान्तको गोपनकर पिताके अन्तर्गृहमें जाके गूढोत्पन्न बालक कर्णको जलमें परित्याग किया । हे विप्र! उस ऋषिने जैसा कहा था, निश्चय ही मैं उस देवके प्रसादसे फिर कन्या होगई ! हे विप्रर्षि! मैंने मूढ होकर जानके जो पुत्रके विषय में उपेक्षा की थी, वही आज मुझे जलाती है, यह मैंने आपके निकट यथार्थ कहा । हे भगवन्! इसमें चाहे पाप हो वा पुण्य हो, मैंने आपके निकट विस्तारके सहित कहा; परन्तु उस पुत्रको देखनेके लिये मुझे जो इच्छा हुई है, आप कृपा करके उसे सफल करिये । हे अनघ मुनिसत्तम! इस राजाके हृदयका जो भाव है, वह आपको विदित हैं, ये जो कामना करते हैं, उसे आज ही प्राप्त करें, यही हमारी अभिलाष है । (१५—१९)

वेदविदांवर व्यासदेव कुन्तीका ऐसा वचन सुनके बोले, कि तुमने मुझसे जो कहा, वह सत्य है, वह सब उत्तम रीतिसे सम्पन्न होगा । तुम्हारा कुछ अपराध नहीं, क्यों कि तुम्हें कन्याभाव प्राप्त

सन्ति देवनिकायाश्च संकल्पाज्जनयन्ति ये।
वाचा दृष्ट्या तथा स्पर्शात्संघर्षेणेति पञ्चधा ॥२२॥
मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति।
इति कुन्ति विजानीहि व्येतु ते मानसो ज्वरः॥२३॥
सर्वं बलवतां पथ्यं सर्वं बलवतां शुचि।
सर्वं बलवतां धर्मः सर्वं बलवतां स्वकम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि व्यासकुन्तीसंवादे त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

व्यास उवाच- भद्रे द्रक्ष्यसि गान्धारि पुत्रान् भ्रातॄन्सखींस्तथा।
वधूश्च पतिभिः सार्धं निशि सुप्तोत्थिता इव ॥ १ ॥
कर्णं द्रक्ष्यति कुन्ती च सौभद्रं चापि यादवी।
द्रौपदी पञ्चपुत्रांश्च पितॄन्भ्रातॄंस्तथैव च ॥ २ ॥
पूर्वमेवैष हृदये व्यवसायोऽभवन्मम।
यदाऽस्मि चोदितो राज्ञा भवत्या पृथयैव च ॥ ३ ॥
न ते शोच्या महात्मानः सर्व एव नरर्षभाः।
क्षत्रधर्मपराः सन्तस्तथा हि निधनं गताः ॥ ४ ॥

हुआ है। देवगण निज ऐश्वर्यबलसे शरीरमें प्रवेश किया करते हैं। देवताश्रित पुरुष सङ्कल्प, वाक्य, दृष्टि, स्पर्श और संघर्ष,— इस पांच प्रकारसे जीव उत्पन्न कर सकते हैं। हे कुन्ती! तुम यह निश्चय जानना, कि मनुष्यधर्ममें विद्यमान रहनेपर भी तुम्हें कदापि मोह न होगा; मैं कहता हूं, कि तुम्हारी सब मानसिक पीडा दूर होगी। देखो बलवान् पुरुषोंका सभी हितकर, सभी पवित्र और सभी धर्म हुआ करता है। (२०--२४)

आश्रमवासिकपर्वमें ३० अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ३१ अध्याय।

श्रीवेदव्यास मुनि बोले, हे भद्रे गान्धारी! तुम रातमें सोके उठे हुए लोगोंकी भांति पुत्र, भाई, सखा, पितृवर्गके सहित बान्धवोंको देखोगी। कुन्ती कर्णको, यदुकुलमें उत्पन्न हुई सुभद्रा अभिमन्युको और द्रौपदी अपने पांचों पुत्रों, पिता तथा भाइयोंको देखेगी। ये महाराज, तुम और पृथाने मुझसे जो कहा है, वह विषय पहले ही मेरे अन्तःकरणमें उदित हुआ था; वे महात्मा राजा लोग क्षत्रधर्मपरायण होके युद्धमें मरनेसे किसीके भी शोचनीय नहीं हैं।

अचिन्त्यमवश्यं तत्सुरकार्यमनिन्दिते ।
अवतेरुस्ततः सर्वे देवभागा महीतलम् ॥ ५ ॥
गन्धर्वाप्सरसश्चैव पिशाचा गुह्यराक्षसाः ।
तथा पुण्यजनाश्चैव सिद्धा देवर्षयोऽपि च ॥ ६ ॥
देवाश्च दानवाश्चैव तथा देवर्षयोऽमलाः ।
त एते निधनं प्राप्ताः कुरुक्षेत्रे रणाजिरे ॥ ७ ॥
गन्धर्वराजो यो धीमान् धृतराष्ट्र इति श्रुतः ।
स एव मानुषे लोके धृतराष्ट्रः पतिस्तव ॥ ८ ॥
पाण्डुं मरुद्गणाद्विद्धि विशिष्टतममच्युतम् ।
धर्मस्यांशोऽभवत्क्षत्ता राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
कलिं दुर्योधनं विद्धि शकुनिं द्वापरं तथा ।
दुःशासनादीन्विद्धि त्वं राक्षसान शुभदर्शने ॥ १० ॥
मरुद्गणाद्भीमसेनं बलवन्तमरिंदमम् ।
विद्धि त्वं तु नरमृषिमिमं पार्थं धनंजयम् ॥ ११ ॥
नारायणं हृषीकेशमश्विनौ यमजौ तथा ।
यः स वै पार्थादुद्भूतः संहर्षजननस्तथा ॥ १२ ॥
यश्च पाण्डवदायादो हतः षड्भिर्महारथैः ।
स सोम इह सौभद्रो योगादेवाभवद् द्विधा ॥ १३ ॥

हे अनिन्दिते ! वह सुरकार्य अवश्यंभाव्य था, इसीसे वे सब कोई देव-अंशके सहारे पृथ्वीमें जन्मे थे। वेही मनुष्यरूपी गन्धर्व, अप्सरा, पिशाच, गुह्य, राक्षस, पुण्यजन, सिद्ध, देवर्षि, देव, दानव तथा निर्मल देवर्षिवृन्द उस कुरुक्षेत्रके युद्धमें मरे हैं। (१—७)

ये जो धीमान् धृतराष्ट्र हैं, ये पहले गन्धर्वराज थे, वेही गन्धर्वराज मनुष्यलोकमें धृतराष्ट्ररूपसे जन्म लेकर तुम्हारे पति हुए हैं। विशिष्टतम अच्युत, पाण्डु मरुद्गणसे उत्पन्न हुए थे और क्षत्ता विदुर तथा राजा युधिष्ठिर धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए हैं। हे शुभदर्शने ! दुर्योधन कलि, शकुनि द्वापर और दुःशासन प्रभृतिको राक्षस जानो। बलवान् अरिदमन भीमसेन मरुद्गण, पृथापुत्र धनंजय नर, हृषीकेश नारायण और यमजोंको अश्विनीकुमाररूपी जानना। जो सबको हर्षित करनेवाला पार्थका पुत्र छः महारथोंके द्वारा मारा गया है, उस सुभद्रापुत्र अभिमन्युको योगबलसे दो

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमादित्यं तपतां वरम् ।
लोकांश्च तापयानं वै विद्धि कर्णं च शोभने ॥ १४ ॥
द्रौपद्या सह संभूतं धृष्टद्युम्नं च पावकात् ।
अग्नेर्भागं शुभं विद्धि राक्षसं तु शिखण्डिनम् ॥१५॥
द्रोणं बृहस्पतेर्भागं विद्धि द्रौणिं च रुद्रजम् ।
भीष्मं च विद्धि गाङ्गेयं वसुं मानुषतां गतम् ॥ १६ ॥
एवमेते महाप्रज्ञे देवा मानुष्यमेत्य हि ।
ततः पुनर्गताः स्वर्गं कृते कर्माणि शोभने ॥ १७ ॥
यच्च वै हृदि सर्वेषां दुःखमेतच्चिरं स्थितम् ।
तदद्य व्यपनेष्यामि परलोककृताद्भयात् ॥ १८ ॥
सर्वे भवन्तो गच्छन्तु नदीं भागीरथीं प्रति ।
तत्र द्रक्ष्यथ तान्सर्वान् ये हताऽस्मिन् रणाजिरे ॥१९॥
वैशम्पायन उवाच- इति व्यासस्य वचनं श्रुत्वा सर्वो जनस्तदा ।
महता सिंहनादेन गङ्गामभिमुखो ययौ ॥ २० ॥
धृतराष्ट्रश्च सामात्यः प्रययौ सह पाण्डवैः ।
सहितो मुनिशार्दूलैर्गन्धर्वैश्च समागतैः ॥ २१ ॥
ततो गङ्गां समासाद्य क्रमेण स जनार्णवः ।

शरीर धारण किये हुए चन्द्रमा जानो। हे शोभने! कर्णको सन्ताप करनेवाले द्विधाकृत विग्रह लोकतापन सूर्य समझो। अग्निसे द्रौपदीके सहित उत्पन्न हुए धृष्टद्युम्नको अग्निका अंश और शिखण्डीको राक्षस जानो। द्रोणको बृहस्पतिका अंश, द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको रुद्रका अंश और गङ्गानन्दन भीष्मको मनुष्यरूपी वसु कहके मालूम करो। (८-१६)

हे महाप्राज्ञ शोभने! ये देववृन्द इस ही प्रकार मनुष्यत्व प्राप्त करके निज निज कार्योंको पूरा करते हुए फिर सुरपुरमें गये हैं। सबके हृदयमें जो यह दुःख सदा रहता है, उसे आज परलोककृत भयसे दूर करूंगा। तुम सब कोई भागीरथी नदीमें जाओ। जो लोग इस रणभूमिमें मरे हैं, वे सब कोई वहांपर तुम लोगोंको दीख पडेंगे। (१७-१९)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उस समय सब लोगोंने व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके बडा सिंहनाद करते हुए गङ्गाद्वार में गमन किया। धृतराष्ट्रने मन्त्रियों, समागत गन्धर्वों, मुनियों तथा पाण्डवोंके सहित गमन किया। तिसके अन-

निवासमकरोत्सर्वो यथाप्रीति यथासुखम् ॥ २२ ॥
राजा च पाण्डवैः सार्धमिष्टे देशे सहानुगः ।
निवासमकरोद्धीमान् सस्त्रीवृद्धपुरःसरः ॥ २३ ॥
जगाम तदहश्चापि तेषां वर्षशतं यथा ।
निशां प्रतीक्षमाणानां दिदृक्षूणां मृतान्नृपान् ॥ २४ ॥
अथ पुण्यं गिरिवरमस्तमभ्यगमद्रविः ।
ततः कृताभिषेकास्ते नैशं कर्म समाचरन् ॥ २५ ॥

इति श्रीमहा० आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि गंगातीरगमने एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततो निशायां प्राप्तायां कृतसायाह्निकक्रियाः ।
व्यासमभ्यगमन्सर्वे ये तत्रासन्समागताः ॥ १ ॥
धृतराष्ट्रस्तु धर्मात्मा पाण्डवैः सहितस्तदा ।
शुचिरेकमना सार्धमृषिभिस्तैरुपाविशत् ॥ २ ॥
गान्धार्या सह नार्यस्तु सहिताः समुपाविशन् ।
पौरजानपदश्चापि जनः सर्वो यथावयः ॥ ३ ॥
ततो व्यासो महातेजाः पुण्यं भागीरथीजलम् ।
अवगाह्य जुहावाथ सर्वान् लोकान् महामुनिः ॥ ४ ॥

अनन्तर सब लोगोंके गङ्गाद्वारमें जाने तथा प्रीतिपूर्वक सुखसे वहां स्थित होनेपर बूढे राजा धीमान् धृतराष्ट्रने स्त्रियों, पाण्डवों और सेवकोंके सहित वहां जाके अभिलषित स्थानमें निवास किया। वे लोग मरे हुए राजाओंको देखनेकी इच्छासे रात्रिके समागमकी प्रतीक्षा करने लगे। वह दिन उन लोगोंको एक सौ वर्षके समान मालूम होने लगा। अनन्तर सूर्यके पवित्र अस्तमय गिरिवर में जानेपर वे सब लोग अभिषेक कार्य-को पूरा करके रात्रिके कार्य करने लगे। (२०—२५)

आश्रमवासिकपर्वमें ३१ अध्याय समाप्त ।

आश्रमवासिकपर्वमें ३२ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर रात्रिका समय उपस्थित होनेपर वे सब कोई सायंसन्ध्या करके व्यास-देवके निकट गये। उस समय धर्मात्मा धृतराष्ट्र पवित्र और एकाग्र चित्तसे पाण्डवों तथा ऋषियोंके सहित बैठे; गान्धारीके सहित सब स्त्रियां, पौर तथा जनपदवासी लोग अवस्थाके अनुसार क्रमसे बैठ गये। अनन्तर महातेजस्वी महामुनि व्यासदेवने जलमें स्नान करते हुए कुरुपाण्डवोंकी मृत सेना तथा अनेक

पाण्डवानां च ये योधाः कौरवाणां च सर्वशः ।
राजानश्च महाभागा नानादेशनिवासिनः ॥ ५ ॥
ततः सुतुमुलः शब्दो जलान्ते जनमेजय ।
प्रादुरासीद्यथापूर्वं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ६ ॥
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
ससैन्याः सलिलात्तस्मात्समुत्तस्थुः सहस्रशः ॥ ७ ॥
विराटद्रुपदौ चैव सहपुत्रौ ससैनिकौ ।
द्रौपदेयाश्च सौभद्रो राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ८ ॥
कर्णदुर्योधनौ चैव शकुनिश्च महारथः ।
दुःशासनादयश्चैव धार्तराष्ट्रा महाबलाः ॥ ९ ॥
जारासन्धिर्भगदत्तो जलसन्धश्च वीर्यवान् ।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो वृषसेनश्च सानुजः ॥ १० ॥
लक्ष्मणो राजपुत्रश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ।
शिखण्डिपुत्राः सर्वे च धृष्टकेतुश्च सानुजः ॥ ११ ॥
अचलो वृषकश्चैव राक्षसश्चाप्यलायुधः ।
बाह्लिकः सोमदत्तश्च चेकितानश्च पार्थिवः ॥ १२ ॥
एते चान्ये च बहवो बहुत्वाद्ये न कीर्तिताः ।
सर्वे भासुरदेहास्ते समुत्तस्थुर्जलात्ततः ॥ १३ ॥
यस्य वीरस्य यो वेषो यो ध्वजो यच्च वाहनम् ।

देशनिवासी महाभाग राजाओंको आह्वान किया। (१—५)

हे जनमेजय! तिसके अनन्तर जलके बीच कुरुपाण्डवोंकी सेनाका पहिलेकी भांति तुमुल शब्द उत्पन्न हुआ; अनन्तर वे राजा लोग भीष्म और द्रोणके सहित सेनाके सङ्ग उस जलसे उठे। सेना और पुत्रके सहित विराट, द्रुपद, द्रुपदके पुत्र, सुभद्रानन्दन अभिमन्यु, घटोत्कच राक्षस, कर्ण, दुर्योधन, महारथ शकुनि, दुःशासन प्रभृति महाबली धृतराष्ट्रके सब पुत्र, जरासन्धका पुत्र, भगदत्त, वीर्यवान् जलसन्ध, भूरिश्रवा, शल, शल्य भाइयोंके सहित वृषसेन, राजपुत्र लक्ष्मण, धृष्टद्युम्ननन्दन, शिखण्डीके पुत्र, भाइयोंके सहित धृष्टकेतु, अचल, वृषक, अलायुध राक्षस, बाह्लिक, सोमदत्त, राजा चेकितान, बहुतायतके कारण सबके नाम नहीं कहे गये; इनके सहित दूसरे बहुतेरे लोग दिव्य प्रकाशमान

तेन तेन व्यदृश्यन्त समुपेता नराधिपाः ॥ १४ ॥
दिव्याम्बरधराः सर्वे सर्वे भ्राजिष्णुकुण्डलाः ।
निर्वैरा निरहङ्कारा विगतक्रोधमत्सराः ॥ १५ ॥
गन्धर्वैरुपगीयन्तः स्तूयमानाश्च बन्दिभिः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा वृताश्चाप्सरसां गणैः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रस्य च तदा दिव्यं चक्षुर्नराधिप ।
मुनिः सत्यवतीपुत्रः प्रीतः प्रादात्तपोबलात् ॥ १७ ॥
दिव्यज्ञानबलोपेता गान्धारी च यशस्विनी ।
ददर्श पुत्रांस्तान् सर्वान् ये चान्येऽपि मृधे हताः ॥१८॥
तदद्भुतमचिन्त्यं च सुमहल्लोमहर्षणम् ।
विस्मितः स जनः सर्वो ददर्शानिमिषेक्षणः ॥ १९ ॥
तदुत्सवमहोदग्रं हृष्टनारीनराकुलम् ।
आश्चर्यभूतं ददृशे चित्रं पटगतं यथा ॥ २० ॥
धृतराष्ट्रस्तु तान् सर्वान् पश्यन्दिव्येन चक्षुषा ।
मुमुदे भरतश्रेष्ठ प्रसादात्तस्य वै मुनेः ॥ २१ ॥

इति श्रीम०आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि भीष्मादिदर्शने द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

शरीर धारण करके जलसे प्रकट हुए। जिस वीरका जैसा वेष तथा जैसा वाहन था, राजा लोग उस ही वेष तथा वाहनसे युक्त होकर सबके दृष्टिगोचर हुए। सब कोई दिव्य वस्त्र, प्रकाशमान कुण्डल तथा माला धारण करते हुए वैर, अहङ्कार, क्रोध और मत्सररहित होकर अप्सरा तथा बन्दिगन्धर्वोंके गीतके सहारे स्तुतियुक्त होने लगे। (६-१६)

हे नरनाथ! उस समय सत्यवतीपुत्र मुनिश्रेष्ठ व्यासदेवने परम प्रसन्न होकर तपोबलसे धृतराष्ट्रको दिव्य नेत्र प्रदान किया। दिव्य ज्ञानबलसे युक्त यशस्विनी गान्धारी युद्धमें मरे हुए पुत्रोंको देखने लगी; वे सब कोई अत्यन्त विस्मित होकर इकटक नेत्रसे उस रोएंको खडा करनेवाले अचिन्त्य अद्भुत व्यापारको देखने लगे। अत्यन्त उत्कृष्ट प्रहृष्ट नर-नारियोंसे युक्त आश्चर्यमय वह उत्सव चित्रपटकी भांति सबके दृष्टिगोचर हुआ। हे भरतश्रेष्ठ! धृतराष्ट्र महामुनि व्यासदेवकी कृपासे दिव्य नेत्रके सहारे उन लोगोंको देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए। (१७-२१)

आश्रमवासिकपर्वमें ३२ अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच- ततस्ते पुरुषश्रेष्ठा समाजग्मुः परस्परम् ।
विगतक्रोधमात्सर्याः सर्वे विगतकल्मषाः ॥ १ ॥
विधिं परममास्थाय ब्रह्मर्षिविहितं शुभम् ।
संहृष्टमनसः सर्वे देवलोक इवामराः ॥ २ ॥
पुत्रः पित्रा च मात्रा च भार्याश्च पतिभिः सह ।
भ्रात्रा भ्राता सखा चैव सख्या राजन्समागताः ॥ ३ ॥
पाण्डवास्तु महेष्वासं कर्णं सौभद्रमेव च ।
संप्रहर्षात्समाजग्मुर्द्रौपदेयांश्च सर्वशः ॥ ४ ॥
ततस्ते प्रीयमाणा वै कर्णेन सह पाण्डवाः ।
समेत्य पृथिवीपाल सौहृद्ये च स्थिताऽभवन् ॥ ५ ॥
परस्परं समागम्य योधास्ते भरतर्षभ ।
मुनेः प्रसादात्ते ह्येवं क्षत्रिया नष्टमन्यवः ॥ ६ ॥
असौहृदं परित्यज्य सौहृदे पर्यवस्थिताः ।
एवं समागताः सर्वे गुरुभिर्बान्धवैः सह ॥ ७ ॥
पुत्रैश्च पुरुषव्याघ्राः कुरवोऽन्ये च पार्थिवाः ।
तां रात्रिमखिलामेवं विहृत्य प्रीतमानसाः ॥ ८ ॥
मेनिरे परितोषेण नृपाः स्वर्गसदो यथा ।

आश्रमवासिकपर्वमें ३३ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर वे पुरुषश्रेष्ठगण क्रोध, मत्सरता और पापरहित होके परस्पर मिले । वे लोग सुरलोकमें समागत देवताओंकी भांति प्रहृष्ट होकर ब्रह्मर्षिविहित परम पवित्र विधि अवलम्बन करके पुत्र पिता तथा माताके सहित, भार्या पतिके सङ्ग, भ्राता भ्रातृभावसे और मित्र मित्रके सङ्ग मिले। परन्तु पाण्डव लोग अत्यन्त हर्षके सहित महाधनुर्धारी कर्ण, सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पुत्रोंके निकट गये । हे महीपाल ! उन लोगोंने कर्णके सङ्ग मिलके परम प्रीति अनुभव करते हुए सुहृदताके सहित एकत्र निवास किया । (१-५)

हे भरतप्रवर ! मुनिश्रेष्ठ व्यासदेवकी कृपासे वे सब क्षत्रिय योद्धा लोग आपसमें मिलके वैरभाव को परित्याग करके सुहृदतापूर्वक एकत्र स्थित हुए । पुरुषश्रेष्ठ कौरवों तथा अन्यान्य राजाओंने परस्पर पुत्र और बान्धवोंके सङ्ग मिलके प्रसन्नचित्तसे परितोषके सहित इस ही प्रकार उस रात्रिको विहार करते

नात्र शोको भयं त्रासो नारतिर्नायशोऽभवत् ॥ ९ ॥
परस्परं समागम्य योधानां भरतर्षभ ।
समागतास्ताः पितृभिर्भ्रातृभिः पतिभिः सुतैः ॥१०॥
मुदं परमिकां प्राप्य नार्यो दुःखमथात्यजन् ।
एकां रात्रिं विहृत्यैव ते वीरास्ताश्च योषितः ॥ ११ ॥
आमन्त्र्यान्योन्यमाश्लिष्य ततो जग्मुर्यथागतम् ।
ततो विसर्जयामास लोकांस्तान्मुनिपुङ्गवः ॥ १२ ॥
क्षणेनान्तर्हिताश्चैव प्रेक्षतामेव तेऽभवन् ।
अवगाह्य महात्मानः पुण्यां भागीरथीं नदीम् ॥१३॥
सरथाः सध्वजाश्चैव स्वानि वेश्मानि भेजिरे ।
देवलोकं ययुः केचित्केचिद्ब्रह्मसदस्तथा ॥ १४ ॥
केचिच्च वारुणं लोकं केचित्कौबेरमाप्नुवन् ।
ततो वैवस्वतं लोकं केचिच्चैवाप्नुवन्नृपाः ॥ १५ ॥
राक्षसानां पिशाचानां केचिच्चाप्युत्तरान्कुरून् ।
विचित्रगतयः सर्वे यानवाप्यामरैः सह ॥ १६ ॥
आजग्मुस्ते महात्मानः सवाहाः सपदानुगाः ।
गतेषु तेषु सर्वेषु सलिलस्थो महामुनिः ॥ १७ ॥

हुए स्वर्गवासियोंकी भांति सुख अनुभव किया। हे भरतर्षभ! योद्धाओंके परस्पर एकत्रित होनेसे उस समय उन लोगोंमें शोक, भय, त्रास, दुःख तथा अयश कुछ भी न रहा; इसके अतिरिक्त वे सब स्त्रियां पिता, भाई, पति तथा पुत्रके सहित समागत होकर परम हर्ष-पूर्वक एक बारगी दुःखरहित हुईं। वे सब वीरगण तथा स्त्रियें इस ही प्रकार एक रात्रि विहार करके परस्पर आमन्त्रण तथा आलिङ्गन करनेके अनन्तर वीर लोग जिस स्थानसे आये थे, वहां चले गये। अनन्तर मुनिश्रेष्ठ व्यासदेवने जब उन समागत लोगोंको बिदा किया, तो वे लोग सबके सामने ही क्षणभरके बीच अन्तर्धान होगये। (९-१३)

वे महात्मा लोग पुण्य देनेवाली भागीरथी नदीमें स्नान करके ध्वजायुक्त रथोंमें चढकर अपने अपने स्थानपर गये; उनके बीच किसीने सुरलोक, किसीने वरुणलोक, किसीने कुबेरलोक और किसीने यमलोकमें गमन किया। राक्षसों तथा पिशाचोंके बीच कोई महात्मा वाहनोंके द्वारा और कोई पांवके

धर्मशीलो महातेजाः कुरूणां हितकृत्तथा ।
ततः प्रोवाच ताः सर्वाः क्षत्रिया निहतेश्वराः ॥ १८ ॥
या याः पतिकृतान्लोकानिच्छन्ति परमस्त्रियः ।
ता जाह्नवीजलं क्षिप्रमवगाहन्त्वतन्द्रिताः ॥ १९ ॥
ततस्तस्य वचः श्रुत्वा श्रद्दधाना वराङ्गनाः ।
श्वशुरं समनुज्ञाप्य विविशुर्जाह्नवीजलम् ॥ २० ॥
विमुक्ता मानुषैर्देहैस्ततस्ता भर्तृभिः सह ।
समाजग्मुस्तदा साध्व्यः सर्वा एव विशांपते ॥ २१ ॥
एवं क्रमेण सर्वास्ताः शीलवत्यः पतिव्रताः ।
प्रविश्य क्षत्रिया मुक्ता जग्मुर्भर्तृसलोकताम् ॥ २२ ॥
दिव्यरूपसमायुक्ता दिव्याभरणभूषिताः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा यथाऽऽसां पतयस्तथा ॥ २३ ॥
ताः शीलगुणसंपन्ना विमानस्था गतक्लमाः ।
सर्वाः सर्वगुणोपेताः स्वस्थानं प्रतिपेदिरे ॥ २४ ॥
यस्य यस्य तु यः कामस्तस्मिन्काले बभूव ह ।
तं तं विसृष्टवान्व्यासो वरदो धर्मवत्सलः ॥ २५ ॥

सहारे ही विचित्र चालसे उत्तर कुरुदेशमें गये। उन सब लोगोंके जानेके अनन्तर कुरुकुलके हितैषी धर्मशील महातेजस्वी वेदव्यासमुनि जलमें निवास करते हुए पतिहीन क्षत्रिय स्त्रियोंसे बोले, कि जिन स्त्रियोंको पतिलोकमें जानेकी इच्छा है, वे शीघ्र ही अतन्द्रित होकर इस गङ्गाजलमें स्नान करें। (१३-१९)

तिसके अनन्तर वे स्त्रियें श्रीवेद-व्यास मुनिका वचन सुनके श्रद्धायुक्त होकर श्वशुरको अपना अभिप्राय सुनाके शीघ्र ही देवनदी गङ्गाके जलमें प्रविष्ट हुईं। हे पृथ्वीनाथ! उस समय वे साध्वी स्त्रियें मानुष शरीर छोडके स्वामीके सङ्ग जा मिलीं; उन शीलवती पतिव्रता क्षत्रिया स्त्रियोंने इस ही प्रकार गङ्गाजीमें प्रवेश करके शरीर छोडकर स्वामीकी सलोकता पाई। उनके पतिका जैसा रूप, आभूषण, माला और वस्त्र था, उन्होंने भी वैसा ही रूप, आभरण, माला और वस्त्र धारण किया। वे शील-गुणसम्पन्न स्त्रियें विमानमें निवास करती हुई श्रमविहीन होकर निज निज स्थानमें गईं। उस समय जिसकी जैसी कामना हुई थी, वरदाता व्यासदेवने उनकी वह कामना पूरी की। (२०-२५)

तच्छ्रुत्वा नरदेवानां पुनरागमनं नराः।
जहृषुर्मुदिताश्चासन्नानादेशगता अपि ॥ २६ ॥
प्रियैः समागमं तेषां यः सम्यक् शृणुयान्नरः।
प्रियाणि लभते नित्यमिह च प्रेत्य चैव सः ॥ २७ ॥
इष्टबान्धवसंयोगमनायासमनामयम्।
यश्चैतच्छ्रावयेद्विद्वान्विदुषो धर्मवित्तमः ॥ २८ ॥
स यशः प्राप्नुयाल्लोके परत्र च शुभां गतिम्।
स्वाध्याययुक्ता मनुजास्तपोयुक्ताश्च भारत ॥ २९ ॥
साध्वाचारा दमोपेता दाननिर्धूतकल्मषाः।
ऋजवः शुचयः शान्ता हिंसाऽनृतविवर्जिताः ॥ ३० ॥
आस्तिकाः श्रद्दधानाश्च धृतिमन्तश्च मानवाः।
श्रुत्वाऽऽश्चर्यमिदं पर्व ह्यवाप्स्यन्ति परां गतिम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीम० आश्रम० पुत्रदर्शनपर्वणि स्त्रीणां स्वस्वपतिलोकगमने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

सौतिरुवाच— एतच्छ्रुत्वा नृपो विद्वान्हृष्टोऽभूज्जनमेजयः।
पितामहानां सर्वेषां गमनागमनं तदा ॥ १ ॥
अब्रवीच्च मुदा युक्तः पुनरागमनं प्रति।
कथं नु त्यक्तदेहानां पुनस्तद्रूपदर्शनम् ॥ २ ॥

अनेक देशोंके समागत पुरुषगण देवताओंके पुनरागमन वृत्तान्तको सुनके अत्यन्त हर्षित तथा आनन्दित हुए; जो लोग उन लोगोंका प्रियसमागम पूरी रीतिसे सुनते हैं, वे इस लोक और परलोकमें सदा प्रियलाभ किया करते हैं। जो धार्मिकवर विद्वान् मनुष्य इस अनामय इष्टबान्धवसंयोगको अनायास ही सुनाते हैं, उन्हें इस लोक तथा परलोकमें यश वा शुभ गति प्राप्त हुआ करती है। हे भारत ! जो धृतिवान् मनुष्य इस अत्याश्चर्यपर्वको सुनते हैं, वे लोग स्वाध्याय, तपस्या, सदाचार, दानयुक्त, निष्पाप, सरल, पवित्र, शान्तचित्त, हिंसा और असत्यसे रहित, आस्तिक तथा श्रद्धावान् होकर परम गतिको प्राप्त हुआ करते हैं। (२६-३१)

आश्रमवासिकपर्वमें ३३ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ३४ अध्याय।

सौति बोले, विद्वान् राजा जनमेजय पितामहोंका इस प्रकार गमनागमन-वृत्तान्त सुनके अत्यन्त आनन्दित होकर पुनरागमनका विवरण पूछते हुए बोले, शरीर छोडे हुए पुरुषोंका फिर उस

इत्युक्तः स द्विजश्रेष्ठो व्यासशिष्यः प्रतापवान् ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठस्तं नृपं जनमेजयम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच– अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः ।
कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृप ॥ ४ ॥
महाभूतानि नित्यानि भूताधिपतिसंश्रयात् ।
तेषां च नित्यसंवासो न विनाशो वियुज्यताम् ॥ ५ ॥
अनायासकृतं कर्म सत्यः श्रेष्ठः फलागमः ।
आत्मा चैभिः समायुक्तः सुखदुःखमुपाश्नुते ॥ ६ ॥
अविनाश्यस्तथा युक्तः क्षेत्रज्ञ इति निश्चयः ।
भूतानामात्मको भावो यथाऽसौ न वियुज्यते ॥ ७ ॥
यावन्न क्षीयते कर्म तावत्तस्य स्वरूपता ।
क्षीणकर्मा नरो लोके रूपान्यत्वं नियच्छति ॥ ८ ॥
नानाभावास्तथैकत्वं शरीरं प्राप्य संहताः ।
भवन्ति ते तथा नित्याः पृथग्भावं विजानताम् ॥ ९ ॥
अश्वमेधश्रुतिश्चेयमश्वसंज्ञपनं प्रति ।
लोकान्तरगता नित्यं प्राणा नित्यं शरीरिणाम् ॥ १० ॥

प्रकार दीख पडना कैसे सम्भव हुआ ? प्रतापशाली द्विजवर व्यासशिष्य ऐसा प्रश्न सुनके नरनाथ जनमेजयसे कहने लगे । (१—३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज ! ऐसा निश्चय है, कि समस्त कर्म अविनाशी हैं, उन कर्मोंसे जीवोंके शरीर तथा आकृतिसमूह उत्पन्न हुआ करता है । महाभूतोंका नित्य भूताधिपतिके संयोग निबन्धनसे उनका नित्य संवास होता है; परन्तु उनके पृथक् होनेपर भी उनका विनाश नहीं होता; कर्म अनायास साध्य है, उसका फलागम सत्यप्रधान है, इस ही लिये आत्मा कर्मफलसे युक्त होकर सुखदुःख भोग किया करता है । ऐसा निश्चय है कि क्षेत्रज्ञ अविनाशी होनेपर भी नश्वर प्राणियोंमें युक्त रहता है, इसका अविच्छेद ही प्राणियोंका आत्मीय भाव है; जबतक कर्मक्षय नहीं होता, तबतक क्षेत्रज्ञकी स्वरूपता रहती है; इस लोकमें मनुष्य क्षीणकर्मा होनेसे रूपान्तर प्राप्त हुआ करता है । समस्त स्वभावको संहत होकर एकत्व वा एक शरीर प्राप्त करके पृथक् भावज्ञ पुरुषोंके निकट नित्य रूपसे निवास करते हैं । अश्वमेधमें

अहं हितं वदाम्येतत्प्रियं चेत्तव पार्थिव ।
देवयाना हि पन्थानः श्रुतास्ते यज्ञसंस्तरे ॥ ११ ॥
आहुतो यत्र यज्ञस्ते तत्र देवा हितास्तव ।
यदा समन्विता देवाः पशूनां गमनेश्वराः ॥ १२ ॥
गतिमन्तश्च तेनेष्टा नान्ये नित्या भवन्त्युत ।
नित्येऽस्मिन्पञ्चके वर्गे नित्ये चात्मनि पूरुषः ॥ १३ ॥
अस्य नानासमायोगं यः पश्यति वृथामतिः ।
वियोगे शोचतेऽत्यर्थं स बाल इति मे मतिः ॥ १४ ॥
वियोगे दोषदर्शी यः संयोगं स विसर्जयेत् ।
असंगे संगमो नास्ति दुःखं भुवि वियोगजम् ॥ १५ ॥
परापरज्ञस्त्वपरो नाभिमानादुदीरितः ।
अपरज्ञः परां बुद्धिं ज्ञात्वा मोहाद्विमुच्यते ॥ १६ ॥
अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
नाहं तं वेद्मि नासौ मां न च मेऽस्ति विरागता ॥१७॥

घोडा मारनेके विषयमें ऐसी जनश्रुति है, कि जीवोंका प्राण नित्य लोकान्तरमें गमन करता है । (४–१०)

हे पृथ्वीपति ! मैं आपसे यह हितकर प्रियवचन कहता हूं, सुनिये । मैंने ऐसा सुना है, कि तुम्हारे यज्ञके समयमें सब मार्ग देवताओंके गमन करनेसे रुद्ध हुए थे । जिस स्थानमें आपने यज्ञ किया, देवताओंने वहां आके तुम्हारे हितकी चेष्टा की थी । जब देवता लोग यज्ञमें एकत्र होके पशुओंको गमन करनेकी आज्ञा करते हैं, तभी वे गमन करनेमें प्रवृत्त होते हैं; यज्ञमें विना प्रदत्त हुए वे नित्य नहीं होते । जो पुरुष इस नित्य पञ्चतत्त्व अर्थात् पांचों महाभूतों तथा नित्य आत्मामें जीवका अनेक समायोग देखता है, वह वृथामति और वियोगसे अत्यन्त शोकार्त होता है, उस पुरुषको मेरे मतमें बालक समझना चाहिये । जो पुरुष वियोगमें दोषदर्शी होता है, वही संयोग परिवर्जन करता है और जिसकी असङ्गमें आसक्ति नहीं होती, उसे ही पृथिवीमें वियोगजनित महादुःख हुआ करता है । जो पुरुष अभिमानरहित है, वही परावरज्ञ होता है और अपरज्ञ पुरुषको परम बुद्धिका बोध होनेपर उसे मोहसे छुटकारा मिलता है । अदर्शनके लिये ही वे अदृश्य हुए हैं, इस ही निमित्त मैं उन्हें नहीं जानता, वे भी मुझे नहीं

येन येन शरीरेण करोत्ययमनीश्वरः ।
तेन तेन शरीरेण तदवश्यमुपाश्नुते ॥
मानसं मनसाऽप्नोति शरीरं च शरीरवान् ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि जनमेजयं प्रति वैशंपायनवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच- अदृष्ट्वा तु नृपः पुत्रान् दर्शनं प्रतिलब्धवान् ।
ऋषेः प्रसादात्पुत्राणां स्वरूपाणां कुरूद्वह ॥ १ ॥
स राजा राजधर्मांश्च ब्रह्मोपनिषदं तथा ।
अवाप्तवान्नरश्रेष्ठो बुद्धिनिश्चयमेव च ॥ २ ॥
विदुरश्च महाप्राज्ञो ययौ सिद्धिं तपोबलात् ।
धृतराष्ट्रः समासाद्य व्यासं चैव तपस्विनम् ॥ ३ ॥
जनमेजय उवाच- ममापि वरदो व्यासो दर्शयेत्पितरं यदि ।
तद्रूपवेषवयसं श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ ४ ॥
प्रियं मे स्यात्कृतार्थश्च स्यामहं कृतनिश्चयः ।
प्रसादादृषिमुख्यस्य मम कामः समृध्यताम् ॥ ५ ॥
सौतिरुवाच- इत्युक्तवचने तस्मिन्नृपे व्यासः प्रतापवान् ।

जानते; उसमें मुझे वैराग्य नहीं है । किन्तु यह अनीश्वर मनुष्य जिस जिस शरीरसे जो जो कार्य करता है, उस ही उस शरीरसे उसे उन फलोंको भोगना होता है, मानसिक कार्य मनसे और शारीरक कर्म शरीरके द्वारा प्राप्त हुआ करते हैं । (११—१८)

आश्रमवासिकपर्वमें ३४ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ३५ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे करूद्वह ! नरनाथ धृतराष्ट्रने पुत्रोंको न देखनेपर ऋषिकी कृपासे निज निज रूपधारी पुत्रोंको फिर देखा । पुरुषश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रको ऋषिकी कृपासे राजधर्म, ब्रह्मोपनिषद और बुद्धिनिश्चय प्राप्त हुआ। महाप्राज्ञ विदुरने तपोबलसे और धृतराष्ट्रने तपस्वी व्यासदेवकी कृपासे सिद्धि पाई । (१—३)

जनमेजय बोले, यदि वरदाता व्यासदेव मुझे वैसे रूप, वेष तथा अवस्थायुक्त मेरे पिताका दर्शन करा सकें, तो मैं आपकी सब बातोंका विश्वास करूं। उस ऋषिश्रेष्ठकी कृपासे मेरे पिताका दर्शन होनेपर मैं परम प्रसन्न, कृतार्थ और कृतनिश्चय हूंगा, तथा मेरी चिर कामना परिपूर्ण होगी । (४—५)

प्रसादमकरोद्धीमानानयच्च परिक्षितम् ॥ ६ ॥
ततस्तद्रूपवयसमागतं नृपतिं दिवः ।
श्रीमन्तं पितरं राजा ददर्श जनमेजयः ॥ ७ ॥
शमीकं च महात्मानं पुत्रं तं चास्य शृङ्गिणम् ।
अमात्या ये बभूवुश्च राज्ञस्तांश्च ददर्श ह ॥ ८ ॥
ततः सोऽवभृथे राजा मुदितो जनमेजयः ।
पितरं स्नापयामास स्वयं सस्नौ च पार्थिवः ॥ ९ ॥
स्नात्वा स नृपतिर्विप्रमास्तीकमिदमब्रवीत् ।
यायावरकुलोत्पन्नं जरत्कारुसुतं तदा ॥ १० ॥
आस्तीक विविधाश्चर्यो यज्ञोऽयमिति मे मतिः ।
यदद्यायं पिता प्राप्तो मम शोकप्रणाशनः ॥ ११ ॥
आस्तीक उवाच- ऋषिर्द्वैपायनो यत्र पुराणस्तपसो निधिः ।
यज्ञे कुरुकुलश्रेष्ठ तस्य लोकावुभौ जितौ ॥ १२ ॥
श्रुतं विचित्रमाख्यानं त्वया पाण्डवनन्दन ।
सर्पाश्च भस्मसान्नीता गतश्च पदवीं पितुः ॥ १३ ॥
कथंचित्तक्षको मुक्तः सत्यत्वात्तव पार्थिव ।
ऋषयः पूजिताः सर्वे गतिर्दृष्टा महात्मनः ॥ १४ ॥

सौति बोले, उस नरनाथ जनमेजयके ऐसा कहनेपर धीमान् प्रतापवान् वेदव्यास मुनिने परीक्षितको बुलाया। तिसके अनन्तर राजा जनमेजयने वैसे ही रूप, वेष और अवस्थायुक्त सुरलोकसे आये हुए श्रीमान् पिता, महात्मा शमीक, उनके पुत्र शृङ्गी ऋषि तथा राजा परीक्षितको मन्त्रियोंके सहित देखा। अनन्तर उन्होंने अत्यन्त आनन्दित होके यज्ञके अन्तमें पिताको स्नान कराके स्वयं स्नान किया। उस समय राजा जनमेजय स्नान करके याया- वरकुलमें उत्पन्न जरत्कारुपुत्र द्विजश्रेष्ठ आस्तिक मुनिसे बोले, हे आस्तिक! मेरा यह यज्ञ अत्यन्त आश्चर्यजनक बोध हुआ, क्यों कि आज मेरे शोकनाशक पिता समागत हुए। (६--११)

आस्तीक मुनि बोले, हे कुरुश्रेष्ठ! तपोनिधि पुराण ऋषि द्वैपायन मुनि जिसके यज्ञमें अधिष्ठित होते हैं, उसके दोनों लोक जीत हुआ करते हैं। हे पाण्डवनन्दन! आपने विचित्र आख्यान सुना, सांपोंको जलाया, और पिताकी पदवीको प्राप्त हुए। हे महाराज! तक्षक

प्राप्तः सुविपुलो धर्मः श्रुत्वा पापविनाशनम् ।
विमुक्तो हृदयग्रन्थिरुदारजनदर्शनात् ॥ १५ ॥
ये च पक्षधरा धर्मे सद्वृत्तरुचयश्च ये ।
यान् दृष्ट्वा हीयते पापं तेभ्यः कार्या नमस्क्रिया ॥१६॥
सौतिरुवाच- एतच्छ्रुत्वा द्विजश्रेष्ठात्स राजा जनमेजयः ।
पूजयामास तमृषिमनुमान्य पुनः पुनः ॥ १७ ॥
पप्रच्छ तमृषिं चापि वैशम्पायनमच्युतम् ।
कथावशेषं धर्मज्ञो वनवासस्य सत्तम ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि जनमेजयस्य स्वपितृदर्शने पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

जनमेजय उवाच- दृष्ट्वा पुत्रांस्तथा पौत्रान् सानुबन्धान् जनाधिपः ।
धृतराष्ट्रः किमकरोद्राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच- तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं पुत्राणां दर्शनं नृप ।
वीतशोकः स राजर्षिः पुनराश्रममागमत् ॥ २ ॥
इतरस्तु जनः सर्वस्ते चैव परमर्षयः ।
प्रतिजग्मुर्यथाकामं धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञया ॥ ३ ॥

आपके सत्यसे किसी प्रकार छूट गया । ऋषियोंके पूजित होनेसे महात्माओंकी गति देखी गई, इस पापविनाशी आख्यानको सुननेसे विपुल धर्म प्राप्त हुआ और उदार लोगोंके दर्शनसे हृदयकी ग्रन्थि छूट गई । जो लोग धर्मके पक्षपाती सद्वृत्त रुचिसम्पन्न हैं, तथा जिनके दर्शनसे पापका नाश होता है, उन्हें नमस्कार है । (१२—१६)

सौति बोले, राजा जनमेजयने द्विजश्रेष्ठ वैशम्पायन मुनिके समीप यह सब सुनके उस ऋषिको बार बार सम्मानित करके पूजा की । अनन्तर धर्मज्ञसत्तम जनमेजयने ऋषिवर अच्युत वैशम्पायनसे वनवासकी कथाका शेष वृत्तान्त पूंछा । (१७—१८)

आश्रमवासिकपर्वमें ३५ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्वमें ३६ अध्याय ।

जनमेजय बोले, पुत्र, पौत्र और आत्मीय जनोंको देखकर धृतराष्ट्रने तथा राजा युधिष्ठिरने अन्तमें क्या किया? (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, वह राजर्षि धृतराष्ट्र पुत्रदर्शनरूपी उस महान् आश्चर्य व्यापारको देखकर शोकरहित होके फिर आश्रममें आये । साधारण लोग और परमर्षिवृन्द धृतराष्ट्रकी आज्ञानु-

पाण्डवास्तु महात्मानो लघुभूयिष्ठसैनिकाः ।
पुनर्जग्मुर्महात्मानं सदारास्तं महीपतिम् ॥ ४ ॥
तत्राश्रमपदं धीमान् ब्रह्मर्षिर्लोकपूजितः ।
मुनिः सत्यवतीपुत्रो धृतराष्ट्रमभाषत ॥ ५ ॥
धृतराष्ट्र महाबाहो शृणु कौरवनन्दन ।
श्रुतं ते ज्ञानवृद्धानामृषीणां पुण्यकर्मणाम् ॥ ६ ॥
श्रद्धाऽभिजनवृद्धानां वेदवेदाङ्गवेदिनाम् ।
धर्मज्ञानां पुराणानां वदतां विविधाः कथाः ॥ ७ ॥
मा स्म शोके मनः कार्षीर्दिष्टे न व्यथते बुधः ।
श्रुतं देवरहस्यं ते नारदाद्देवदर्शनात् ॥ ८ ॥
गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूतां गतिं शुभाम् ।
यथा दृष्टास्त्वया पुत्रास्तथा कामविहारिणः ॥ ९ ॥
युधिष्ठिरः स्वयं धीमान् भवन्तमनुरुध्यते ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः सदारः ससुहृज्जनः ॥ १० ॥
विसर्जयैनं यात्वेष स्वराज्यमनुशासताम् ।
मासः समधिकस्तेषामतीतो वसतां वने ॥ ११ ॥
एतद्धि नित्यं यत्नेन पदं रक्ष्यं नराधिप ।

सार यथाभिलषित स्थानमें चले गये । महात्मा पाण्डवोंने स्त्रियोंको सङ्ग लेकर सेनाके सहित महात्मा पृथ्वीनाथ धृतराष्ट्रके निकट फिर गमन किया। लोकपूजित ब्रह्मर्षि सत्यवतीपुत्र मुनिश्रेष्ठ व्यासदेव उस आश्रममें आके धृतराष्ट्रसे कहने लगे, हे कुरुनन्दन महाबाहो धृतराष्ट्र! तुमने ज्ञानवृद्ध पुण्य कर्म करनेवाले पूजनीय आभजनगणके बीच वृद्ध, वेदवेदाङ्ग जाननेवाले, धर्मज्ञ पुरातन ऋषियोंकी विविध कथा और देवर्षि नारद मुनिके समीप देवरहस्य सुना है; इसलिये अब शोकमें मन न लगाना, क्योंकि विद्वान् पुरुष देवनिर्बन्धमें व्यथित नहीं होते। तुमने पुत्रोंको जिस प्रकार देखा, वे लोग क्षत्रधर्मके अनुसार शस्त्रपूत शुभ गति पाके उस ही प्रकार इच्छानुसार विहार किया करते हैं। ये धीमान् युधिष्ठिर भाइयों और सुहृज्जनोंके सहित तुमसे अनुरोध करते हैं, तुम इन्हें बिदा करो; ये तुम्हारे समीपसे बिदा होके निज राज्यमें जाके राज्य शासन करें; इन लोगोंने एक महीनेसे अधिक वनमें वास किया है। हे नरनाथ!

बहुप्रत्यर्थिकं ह्येतद्राज्यं नाम कुरूद्वह ॥ १२ ॥
इत्युक्तः कौरवो राजा व्यासेनातुलतेजसा।
युधिष्ठिरमथाहूय वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥
अजातशत्रो भद्रं ते शृणु मे भ्रातृभिः सह।
त्वत्प्रसादान्महीपाल शोको नास्मान्प्रबाधते ॥ १४ ॥
रमे चाहं त्वया पुत्र पुरेव गजसाह्वये।
नाथेनानुगतो विद्वन्प्रियेषु परिवर्तिना ॥ १५ ॥
प्राप्तं पुत्रफलं त्वत्तः प्रीतिर्मे परमा त्वयि।
न मे मन्युर्महाबाहो गम्यतां पुत्र माचिरम् ॥ १६ ॥
भवन्तं चेह संप्रेक्ष्य तपो मे परिहीयते।
तपोयुक्तं शरीरं च त्वां दृष्ट्वा धावितं पुनः ॥ १७ ॥
मातरौ ते तथैवेमे शीर्णपर्णकृताशने।
मम तुल्यव्रते पुत्र न चिरं वर्तयिष्यतः ॥ १८ ॥
दुर्योधनप्रभृतयो दृष्टा लोकान्तरं गताः।
व्यासस्य तपसो वीर्याद्भवतश्च समागमात् ॥ १९ ॥

अत्यन्त यत्नके सहित सदा राज्यकी रक्षाही राजाओंका धर्म है; क्यों कि राजा लोग प्रत्ययगणोंसे सदा आक्रान्त हुआ करते हैं। (२—१२)

कुरुराज वाग्मी धृतराष्ट्र अमित-तेजस्वी वेदव्यासमुनिका ऐसा वचन सुनके युधिष्ठिरको आह्वान करके कहने लगे, हे अजातशत्रो! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम भाईयोंके सहित मेरा वचन सुनो। हे महीपाल! तुम्हारी कृपासे अब शोक मुझे बाधित नहीं कर सकता। हे पुत्र! पहले तुम्हें हस्तिनापुरके प्रभु तथा प्रिय विषयमें सब प्रकारसे वर्तमान जानके मैंने तुम्हारे अनुगत होकर जैसे तुम्हारे सङ्ग सुखभोग किया था, इस समय भी उस ही प्रकार सुखी हुआ। हे वत्स! मुझे तुमसे पुत्रफल प्राप्त हुआ, तुममें मेरी परम प्रीति रही, तुम्हारे विषयमें मुझे तनिक भी क्रोध नहीं है; इसलिये तुम शीघ्र जाओ। तुम्हारे इस स्थानमें सदा रहनेसे तुम्हें देखकर मेरी तपस्या नष्ट होती है; तुम्हारा तपयुक्त शरीर देखकर मेरा मन तुममें लीन हुआ है। मेरे समान ये तुम्हारी दोनों माता बहुत समयसे सूखे पत्ते भोजन करती हुई व्रत—नियममें वर्तमान हैं। व्यास मुनिके तपोबलसे और तुम्हारे समागमसे वे परलोकमें गये हुए दुर्योधन

प्रयोजनं च निर्वृत्तं जीवितस्य ममानघ।
उग्रं तपः समास्थास्ये त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥
त्वय्यद्य पिण्डः कीर्तिश्च कुलं चेदं प्रतिष्ठितम्।
श्वो वाऽद्य वा महाबाहो गम्यतां पुत्र माचिरम् ॥२१॥
राजनीतिः सुबहुशः श्रुता ते भरतर्षभ।
संदेष्टव्यं न पश्यामि कृतं मे भवता विभो ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच– इत्युक्तवचनं तं तु नृपो राजानमब्रवीत्।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ॥ २३ ॥
कामं गच्छन्तु मे सर्वे भ्रातरोऽनुचरास्तथा।
भवन्तमहमन्विष्ये मातरौ च यतव्रतः ॥ २४ ॥
तमुवाचाथ गान्धारी मैवं पुत्र शृणुष्व च।
त्वदधीनं कुरुकुलं पिण्डश्च श्वशुरस्य मे ॥ २५ ॥
गम्यतां पुत्र पर्याप्तमेतावत्पूजिता वयम्।
राजा यदाह तत्कार्यं त्वया पुत्र पितुर्वचः ॥ २६ ॥

प्रभृति पुत्र तथा बान्धवगण दीख पडे। हे अनघ! मेरे जीवनका प्रयोजन निवृत्त हुआ है; अब तुम आज्ञा करो मैं उग्र तपस्या अवलम्बन करूंगा। हे पुत्र! आज पितृपिण्ड, कीर्ति तथा यह कुरुकुल तुममें प्रतिष्ठित हुआ। हे महाबाहो! इसलिये आज वा कल गमन करो, विलम्ब मत करो। हे भरतर्षभ! तुमने बहुतसी राजनीति सुनी है, इसलिये तुम्हारे विषयमें मैं अपना कुछ भी वक्तव्य नहीं देखता हूं। (१३–२२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर नरनाथ युधिष्ठिर उनसे बोले, कि हे धर्मज्ञ! मैं निरपराध हूं, इसलिये मुझे परित्याग करना आपको उचित नहीं है। मेरे भाई और सेवक लोग इच्छानुसार जावें, परन्तु मैं संयत वा व्रतनिष्ठ होकर कुन्ती तथा गान्धारी माता और आपका अनुगमन करूंगा। अनन्तर गान्धारी युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके बोली, हे पुत्र! तुम ऐसा मत करो, मेरा वचन सुनो। यह कुरुकुल तथा मेरे श्वशुरका पिण्ड तुम्हारे अधीन हुआ है। हे पुत्र! तुम्हारे द्वारा हम लोगोंकी यथेष्ट सेवा हुई है। महाराज जो वचन कहते हैं, वह तुम्हें प्रतिपालन करना उचित है; पितृवाक्यको अतिक्रम करना पुत्रका कार्य नहीं है, इसलिये तुम शीघ्र जाओ। (२३–२६)

वैशम्पायन उवाच– इत्युक्तः स तु गान्धार्या कुन्तीमिदमभाषत ।
स्नेहबाष्पाकुले नेत्रे प्रमृज्य रुदतीं वचः ॥ २७ ॥
विसर्जयति मां राजा गान्धारी च यशस्विनी ।
भवत्यां बद्धचित्तस्तु कथं यास्यामि दुःखितः ॥ २८ ॥
न चोत्सहे तपोविघ्नं कर्तुं ते धर्मचारिणि ।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥ २९ ॥
ममापि न तथा राज्ञि राज्ये बुद्धिर्यथा पुरा ।
तपस्येवानुरक्तं मे मनः सर्वात्मना तथा ॥ ३० ॥
शून्येयं च मही कृत्स्ना न मे प्रीतिकरी शुभे ।
बान्धवा नः परिक्षीणा बलं नो न यथा पुरा ॥ ३१ ॥
पञ्चालाः सुभृशं क्षीणाः कथामात्रावशेषिताः ।
न तेषां कुलकर्तारं कंचित्पश्याम्यहं शुभे ॥ ३२ ॥
सर्वे हि भस्मसान्नीतास्ते द्रोणेन रणाजिरे ।
अवशिष्टाश्च निहता द्रोणपुत्रेण वै निशि ॥ ३३ ॥
चेदयश्चैव मत्स्याश्च दृष्टपूर्वास्तथैव नः ।
केवलं वृष्णिचक्रं च वासुदेवपरिग्रहात् ॥ ३४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, युधिष्ठिर गान्धारीका ऐसा वचन सुनके प्रीतिपूर्वक बाष्प-परिपूर्ण दोनों नेत्रोंसे आंसू पोंछते हुए रोती हुई कुन्ती देवीसे यह वचन बोले, हे माता! राजा और यशस्विनी गान्धारी मुझे परित्याग करती है, परन्तु मेरा चित्त तुममें बद्ध रहनेसे मैं दुःखित होकर किस प्रकार गमन करू ? हे धर्मचारिणी ! मैं तुम्हारी तपस्यामें विघ्न करनेके लिये उत्साहित नहीं होता, क्यों कि तपस्यासे महत् फल प्राप्त हुआ करता है, इस लिये तपस्याके तुल्य और कुछ भी नहीं है। हे रानी! पहलेकी भांति राज्यमें भी मेरा वैसा अनुराग नहीं होता है, मेरा मन इस समय सब प्रकारसे तपस्यामें अनुरक्त हुआ है। हे शुभे! पहलेकी भांति मेरे पास बन्धुबल नहीं है। इस समय यह समस्त पृथ्वीमण्डल सूना होनेसे मुझे प्रीतिकर नहीं होता है। पांचालगण सब प्रकारसे नष्ट हुए, अब केवल कथामात्र शेष हैं, उनका कर्ता किसीको भी नहीं देखता, वे सब कोई द्रोणाचार्यके द्वारा संग्राममें भस्म होगये हैं। जो लोग शेष थे, उन्हें द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रात्रिके समय मार डाला।

यदु दृष्ट्वा स्थातुमिच्छामि धर्मार्थं नार्थहेतुतः ।
शिवेन पश्य नः सर्वान् दुर्लभं तव दर्शनम् ॥ ३५ ॥
अविषह्यं च राजा हि तीव्रं चारप्स्यते तपः ।
एतच्छ्रुत्वा महाबाहुः सहदेवो युधां पतिः ॥ ३६ ॥
युधिष्ठिरमुवाचेदं बाष्पव्याकुललोचनः ।
नोत्सहेऽहं परित्यक्तुं मातरं भरतर्षभ ॥ ३७ ॥
प्रतियातु भवान् क्षिप्रं तपस्तप्स्याम्यहं विभो ।
इहैव शोषयिष्यामि तपसेदं कलेवरम् ॥ ३८ ॥
पादशुश्रूषणे रक्तो राज्ञो मात्रोस्तथाऽनयोः ।
तमुवाच ततः कुन्ती परिष्वज्य महाभुजम् ॥ ३९ ॥
गम्यतां पुत्र मैवं त्वं वोचः कुरु वचो मम ।
आगमा वः शिवाः सन्तु स्वस्था भवत पुत्रकाः ॥ ४० ॥
उपरोधो भवेदेवमस्माकं तपसः कृते ।
त्वत्स्नेहपाशबद्धा च हीयेयं तपसः परात् ॥ ४१ ॥
तस्मात्पुत्रक गच्छ त्वं शिष्टमल्पं च नः प्रभो ।

मैं विना अर्थके केवल धर्मार्थ जिन्हें देखकर रहनेकी इच्छा करता हूं, हम लोगोंके पहले देखे हुए उन चेदी और मत्स्यवंशीय लोगोंके बीच केवल वृष्णि-चक्र श्रीकृष्णकी कृपासे अवशिष्ट है। आप मुझे शुभनेत्रसे देखो; तुम्हारा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है; राजा अत्यन्त तीव्र अविसह्य तपस्या आरम्भ करेंगे। २७-३६

योद्धाश्रेष्ठ महाबाहु सहदेव इतनी बात सुनके आंखोंमें आंसू भरके युधिष्ठिरसे बोले, हे भरतर्षभ! मैं माताको छोडके न जा सकूंगा, आप शीघ्र जाइये। हे विभु! मैं भी तपस्या करते हुए तपोबलसे इस स्थानमें शरीर सुखाऊंगा और राजा धृतराष्ट्र, कुन्ती तथा गान्धारी माताकी चरणसेवामें अनुरक्त रहूंगा। (३६—३९)

तिसके अनन्तर कुन्ती महाभुज सहदेवको गोदीमें लेकर बोली, हे पुत्र! तुम मेरे वचनको प्रतिपालन करके जाओ। हे पुत्रगण! तुम लोगोंका आंगमन सफल तथा शुभ होवे और तुम लोग रोग-रहित रहो; हम लोगोंके तपस्याके विषयमें यह बाधा होती है। यदि तुम लोग इस स्थानमें निवास करोगे, तो तुम्हारे स्नेहपाशमें बद्ध होकर तपस्यासे मुझे भ्रष्ट होना होगा। हे पुत्र! इसलिये तुम जाओ, हम लोगोंकी

एवं संस्तम्भितं वाक्यैः कुन्त्या बहुविधैर्मनः ॥ ४२ ॥
सहदेवस्य राजेन्द्र राज्ञश्चैव विशेषतः ।
ते मात्रा समनुज्ञाता राज्ञा च कुरुपुङ्गवाः ॥ ४३ ॥
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठमामन्त्रयितुमारभन् ।
युधिष्ठिर उवाच– राज्यं प्रति गमिष्यामः शिवेन प्रतिनन्दिताः ॥ ४४ ॥
अनुज्ञातास्त्वया राजन् गमिष्यामो विकल्मषाः ।
एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराज्ञा महात्मना ॥ ४५ ॥
अनुजज्ञे स कौरव्यमभिनन्द्य युधिष्ठिरम् ।
भीमं च बलिनां श्रेष्ठं सान्त्वयामास पार्थिवः ॥ ४६ ॥
स चास्य सम्यङ्मेधावी प्रत्यपद्यत वीर्यवान् ।
अर्जुनं च समाश्लिष्य यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ४७ ॥
अनुजज्ञे स कौरव्यः परिष्वज्याभिनन्द्य च ।
गान्धार्या चाभ्यनुज्ञाताः कृतपादाभिवादनाः ॥ ४८ ॥
जनन्या समुपाघ्राताः परिष्वक्ताश्च ते नृपम् ।
चक्रुः प्रदक्षिणं सर्वे वत्सा इव निवारणे ॥ ४९ ॥
पुनः पुनर्निरीक्षन्तः प्रचक्रुस्ते प्रदक्षिणम् ।
द्रौपदीप्रमुखाश्चैव सर्वाः कौरवयोषितः ॥ ५० ॥

आयुमें अब थोडा ही शेष है। (३९-४२)

हे राजेन्द्र! कुन्तीके इस ही प्रकार बहुतसे वचन सुनके राजा युधिष्ठिर और सहदेवका मन स्तम्भित हुआ। वे कुरुपुङ्गवगण निज माता कुन्तीके द्वारा गमन करनेकी आज्ञा पाके कुरुराज धृतराष्ट्रको प्रणाम करके आमन्त्रण करने लगे। (४२—४४)

युधिष्ठिर बोले, हे राजन्! आप मङ्गलदाता हैं। जब आपके द्वारा हम लोग अनुज्ञात और अभिनन्दित हुए, तब निर्विघ्नताके सहित राज्यमें जायंगे। राजर्षि धृतराष्ट्रने महात्मा धर्मराजके ऐसा पूंछनेपर उन्हें अभिनन्दित करते हुए जानेके लिये अनुमति दी। अनन्तर बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन, अर्जुन तथा यमज नकुल सहदेवके धीरज देके आश्वासित करते हुए आलिङ्गन तथा अभिनन्दन करके जानेके निमित्त आज्ञा की। पाण्डव लोग गान्धारीसे आज्ञा पाके तथा कुन्ती माताके द्वारा मस्तक सूंघे जानेपर उन्हें प्रणाम करते हुए निवारित बछडोंकी भांति प्रदक्षिणपूर्वक बार बार देखते हुए प्रदक्षिणा करने

न्यायतः श्वशुरे वृत्तिं प्रयुज्य प्रययुस्ततः ।
श्वश्रूभ्यां समनुज्ञाताः परिष्वज्याभिनन्दिताः ॥५१॥
संदिष्टाश्चेति कर्तव्यं प्रययुर्भर्तृभिः सह ।
ततः प्रजज्ञे निनदः सूतानां युज्यतामिति ॥ ५२ ॥
उष्ट्राणां क्रोशतां चापि हयानां हेषतामपि ।
ततो युधिष्ठिरो राजा सदारः सहसैनिकः
नगरं हास्तिनपुरं पुनरायात्सबान्धवः ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि युधिष्ठिरप्रत्यागमे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

॥ समाप्तं चेदं पुत्रदर्शनपर्व ॥

॥ अथ नारदागमनपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच- द्विवर्षोपनिवृत्तेषु पाण्डवेषु यदृच्छया ।
देवर्षिर्नारदो राजन्नाजगाम युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥
तमभ्यर्च्य महाबाहुः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
आसीनं परिविश्वस्तं प्रोवाच वदतां वरः ॥ २ ॥
चिरात्तु नानुपश्यामि भगवन्तमुपस्थितम् ।
कच्चित्ते कुशलं विप्र शुभं वा प्रत्युपस्थितम् ॥ ३ ॥

लगे । (४४—५०)

द्रौपदी प्रभृति कुरु-स्त्रियें न्यायपूर्वक श्वशुर धृतराष्ट्रको प्रणामादि करके सास गान्धारी तथा कुन्तीसे अनुज्ञात होके आलिङ्गनपूर्वक अभिनन्दित और कर्तव्य-विषयोंकी आज्ञा पाके अपने अपने स्वामीके सङ्ग चलीं । उस समय 'वाहनोंको जोतो' इस प्रकार सूतोंका चिल्लाना, ऊंटोंका बलबलाना और घोडोंका हिनहिनाना इनका शब्द प्रकट हुआ। तिसके अनन्तर राजा युधिष्ठिर बन्धु-जनों और सैनिक लोगोंके सहित फिर हस्तिनानगरमें आये । (५०—५३)

आश्रमवासिकपर्वमें ३६ अध्याय समाप्त ।

आश्रमवासिकपर्वमें ३७ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पाण्डवोंको धृतराष्ट्रके निकटसे हस्तिनांपुर जानेपर दो वर्षके अनन्तर एकबार देवर्षि नारद मुनि इच्छानुसार युधिष्ठिर के निकट आये । नारद मुनि कुरुराज महाबाहु युधिष्ठिरके द्वारा पूजित होकर बैठे, तब वाग्मिवर धर्मराजने उनसे विश्वस्तभावसे कहा, हे विप्रवर ! मैंने आपको बहुत समयसे यहां आते नहीं

के देशाः परिदृष्टास्ते किं च कार्यं करोमि ते ।
तद् ब्रूहि द्विजमुख्यस्त्वं त्वं ह्यस्माकं परा गतिः ॥४॥
नारद उवाच- चिरदृष्टोऽसि मेत्येवमागतोऽहं तपोवनात् ।
परिदृष्टानि तीर्थानि गङ्गा चैव मया नृप ॥ ५ ॥
युधिष्ठिर उवाच- वदन्ति पुरुषा मेऽद्य गङ्गातीरनिवासिनः ।
धृतराष्ट्रं महात्मानमास्थितं परमं तपः ॥ ६ ॥
अपि दृष्टस्त्वया तत्र कुशली स कुरूद्वहः ।
गान्धारी च पृथा चैव सूतपुत्रश्च सञ्जयः ॥ ७ ॥
कथं च वर्तते चाद्य पिता मम स पार्थिवः ।
श्रोतुमिच्छामि भगवन्यदि दृष्टस्त्वया नृपः ॥ ८ ॥
नारद उवाच- स्थिरीभूय महाराज शृणु वृत्तं यथातथम् ।
यथा श्रुतं च दृष्टं च मया तस्मिंस्तपोवने ॥ ९ ॥
वनवासनिवृत्तेषु भवत्सु कुरुनन्दन ।
कुरुक्षेत्रात्पिता तुभ्यं गङ्गाद्वारं ययौ नृप ॥ १० ॥
गान्धार्या सहितो धीमान्वध्वा कुन्त्या समन्वितः ।
सञ्जयेन च सूतेन साग्निहोत्रः सयाजकः ॥ ११ ॥

देखा। इस समय आप कुशल हैं न ? हे द्विजवर ! आपने कौनसे देश देखे हैं ? कहिये, इस समय मुझे तुम्हारा कौनसा मङ्गल कार्य करना होगा ? आप हम लोगोंकी परम गति हैं। (१—४)

नारद मुनि बोले, हे नरनाथ ! मैं गङ्गाप्रभृति तीर्थोंका दर्शन करके बहुत समयतक तुमसे भेंट न होनेके कारण तपोवनसे आता हूं। (५)

युधिष्ठिर बोले, आज गङ्गातीर-निवासी पुरुषोंने मुझसे परम तपोनिष्ठ महात्मा धृतराष्ट्रका संवाद कहा है; परंतु क्या आपने वहां कुरुराज, गान्धारी, पृथा तथा सूतपुत्र सञ्जयको कुशली देखा है ? हे भगवन् ! यदि आपने उस मेरे पिता पृथ्वीपति धृतराष्ट्रको देखा है, तो वह इस समय कैसी अवस्थामें निवास करते हैं ? इस विषयको मैं सुननेकी इच्छा करता हूं (६-८)

नारद मुनि बोले, हे महाराज ! मैंने उस तपोवनमें जो देखा और सुना है, उसे यथार्थ रीतिसे आपके समीप कहता हूं, आप स्थिर होकर सुनिये। हे कुरु-नन्दन ! आप लोगोंके वनवाससे निवृत्त होनेपर आपके पिता धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती और सूत सञ्जयने अग्निहोत्रके

आतस्थे स तपस्तीव्रं पिता तव तपोधनः ।
वीटां मुखे समाधाय वायुभक्षोऽभवन्मुनिः ॥ १२ ॥
वने स मुनिभिः सर्वैः पूज्यमानो महातपाः ।
त्वगस्थिमात्रशेषः स षण्मासानभवन्नृप ॥ १३ ॥
गान्धारी तु जलाहारी कुन्ती मासोपवासिनी ।
सञ्जयः षष्ठभुक्तेन वर्तयामास भारत ॥ १४ ॥
अग्नींस्तु याजकास्तत्र जुहुवुर्विधिवत्प्रभो ।
दृश्यतोऽदृश्यतश्चैव वने तस्मिन्नृपस्य वै ॥ १५ ॥
अनिकेतोऽथ राजा स बभूव वनगोचरः ।
ते चापि सहिते देव्यौ सञ्जयश्च तमन्वयुः ॥ १६ ॥
सञ्जयो नृपतेर्नेता समेषु विषमेषु च ।
गान्धार्याश्च पृथा चैव चक्षुरासीदनिन्दिता ॥ १७ ॥
ततः कदाचिद्गङ्गायाः कच्छे स नृपसत्तमः ।
गङ्गायामाप्लुतो धीमानाश्रमाभिमुखोऽभवत् ॥ १८ ॥
अथ वायुः समुद्भूतो दावाग्निरभवन्महान् ।
ददाह तद्वनं सर्वं परिगृह्य समन्ततः ॥ १९ ॥

सहित कुरुक्षेत्रसे गङ्गाद्वारमें गमन किया। तब आपके तपस्वी पिताने मौनावलम्बन करके मुखमें वीटा अर्थात् गुलिका स्थापन करके वायुभक्षी होकर तीव्र तपस्या आरम्भ की थी। वह महा-तपस्वी इस ही प्रकार उत्तम कठोर तपस्या करते हुए वनके बीच मुनियोंसे पूजित हुए और छः महीनेके बीच उनकी त्वचा तथा हड्डी मात्र शेष रह गई। हे भारत! गान्धारी जलाहार, कुन्ती एक महीनेतक उपवास और सञ्जय छठवें भागमें भोजन करके प्राण धारण करने लगे। हे प्रभु! वहां याजकगण उस नरनाथके सामने विधानपूर्वक अग्निमें आहुति देने लगे। अनन्तर राजाको आश्रम छोडके वनकी ओर जाते देखकर गान्धारी और कुन्ती देवी तथा सञ्जय उनके अनुगामी हुए। हे महाराज! सञ्जय नरपतिको सम तथा विषम स्थानमें ले जानेके लिये नायक और अनिन्दिता पृथा गान्धारी-को नेत्रस्वरूप हुई। (९—१७)

तिसके अनन्तर नृपसत्तम धृतराष्ट्रने गङ्गाके किसी तटपर जाकर स्नान करके आश्रमकी ओर मुंह किया। अनन्तर महावायु प्रकट होनेसे उस वनमें

दह्यत्सु मृगयूथेषु द्विजिह्वेषु समन्ततः ।
वराहाणां च यूथेषु संश्रयत्सु जलाशयान् ॥ २० ॥
समाविद्धे वने तस्मिन्प्राप्ते व्यसन उत्तमे ।
निराहारतया राजन्मन्दप्राणविचेष्टितः ॥ २१ ॥
असमर्थोऽपसरणे सुकृशौ मातरौ च ते ।
ततः स नृपतिर्दृष्ट्वा वह्निमायान्तमन्तिकात् ॥ २२ ॥
इदमाह ततः सूतं सञ्जयं जयतां वरः ।
गच्छ सञ्जय यत्राग्निर्न त्वां दहति कर्हिचित् ॥ २३ ॥
वयमत्राग्निना युक्ता गमिष्यामः परां गतिम् ।
तमुवाच किलोद्विग्नः सञ्जयो वदतां वरः ॥ २४ ॥
राजन्मृत्युरनिष्टोऽयं भविता ते वृथाग्निना ।
न चोपायं प्रपश्यामि मोक्षणे जातवेदसः ॥ २५ ॥
यदत्रानन्तरं कार्यं तद्भवान्वक्तुमर्हति ।
इत्युक्तः सञ्जयेनेदं पुनराह स पार्थिवः ॥ २६ ॥
नैष मृत्युरनिष्टो नो निःसृतानां गृहात्स्वयम् ।
जलमग्निस्तथा वायुरथवाऽपि विकर्षणम् ॥ २७ ॥

दावाग्नि उत्पन्न हुई। उस दावाग्निने उस वनको चारों ओरसे घेरकर सब जला दिया; हरिनोंके झुण्ड और सांपोंके जलने तथा वाराहोंके जलमें घुसनेपर उस वनके नष्ट होनेसे जब अत्यन्त व्यसन उपस्थित हुआ, तब राजा उपवाससे मन्दप्राण तथा चेष्टाहीन होगये और तुम्हारी माता कुन्ती तथा गान्धारी उनके निकट जानेमें असमर्थ हुई। अनन्तर विजयिप्रवर राजाने अग्निको निकट आते देखकर सूतपुत्र सञ्जयसे यह वचन कहा, हे सञ्जय! जिस स्थानमें अग्नि है, तुम वहां जाओ। यह अग्नि तुम्हें कदापि भस्म न करेगी। हम लोगोंको इस ही स्थानमें अग्निसे गृहीत होनेसे परम गति प्राप्त होगी। वाग्मिवर सञ्जय व्याकुल होके उनसे बोले, हे महाराज! इस वृथा अग्निमें आपकी मृत्यु होनेसे वह इष्टकर न होगी, परन्तु अग्निसे बचनेका उपाय भी नहीं देखता हूं; इसके अनन्तर जो कुछ करना हो, आप उसके लिये आज्ञा करिये। १८-२६

राजा धृतराष्ट्र सञ्जयका ऐसा वचन सुनके फिर उनसे बोले, हे सञ्जय! जब हम लोग गृहसे बाहिर हुए हैं, तब यह मृत्यु हमारे लिये अनिष्टकर न होगी।

तापसानां प्रशस्यं ते गच्छ सञ्जय मा चिरम् ।
इत्युक्त्वा सञ्जयं राजा समाधाय मनस्तथा ॥ २८ ॥
प्राङ्मुखः सह गान्धार्या कुन्त्या चोपाविशत्तदा ।
सञ्जयस्तं तथा दृष्ट्वा प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥ २९ ॥
उवाच चैनं मेधावी युङ्क्ष्वात्मानमिति प्रभो ।
ऋषिपुत्रो मनीषी स राजा चक्रेऽस्य तद्वचः ॥ ३० ॥
सन्निरुध्येन्द्रियग्राममासीत्काष्ठोपमस्तदा ।
गान्धारी च महाभागा जननी च पृथा तव ॥ ३१ ॥
दावाग्निना समायुक्ते स च राजा पिता तव ।
सञ्जयस्तु महामात्रस्तस्माद्दावादमुच्यत ॥ ३२ ॥
गङ्गाकूले मया दृष्टस्तापसैः परिवारितः ।
स तानामन्त्र्य तेजस्वी निवेद्यैतच्च सर्वशः ॥ ३३ ॥
प्रययौ सञ्जयो धीमान् हिमवन्तं महीधरम् ।
एवं स निधनं प्राप्तः कुरुराजो महामनाः ॥ ३४ ॥
गान्धारी च पृथा चैव जनन्यौ ते विशांपते ।
यदृच्छयाऽनुव्रजता मया राज्ञः कलेवरम् ॥ ३५ ॥
तयोश्च देव्योरुभयोर्मया दृष्टानि भारत ।

जल, वायु, अग्नि और योगबलसे प्राणवायुका आकर्षण— ये सब मृत्युके विषय तपस्वियोंके लिये श्रेष्ठ हैं; इसलिये तुम देरी मत करो, शीघ्र जाओ। राजा ऐसा कहके योगयुक्त चित्तसे गान्धारी और कुन्तीके सहित पूर्वमुख होकर बैठे। (२६–२९)

मेधावी सञ्जयने धृतराष्ट्रको योगमें चित्त लगाते देखकर उनकी प्रदक्षिणा करके कहा, हे प्रभु ! आप आत्माको युक्त करिये। ऋषिपुत्र मनीषी राजा धृतराष्ट्रने सञ्जयका ऐसा वचन सुनके इन्द्रियोंको पूरी रीतिसे रुद्ध करके काष्ठकी भांति निवास किया। अनन्तर महाभागा गान्धारी, तुम्हारी माता कुन्ती और राजा धृतराष्ट्र दावाग्निके सहित संयुक्त हुए; महामन्त्री सञ्जय उस दावानलसे छूटे। मैंने देखा, कि तेजस्वी सञ्जयने गङ्गाके तटपर तपस्वियोंसे घिरके उन्हें आमन्त्रण करके सब वृत्तान्त सुनाकर हिमालय पर्वतपर गमन किया। हे विशांपते ! महामना कुरुराज, गान्धारी और कुन्ती की इसही प्रकार मृत्यु हुई है। हे भारत ! मैंने इच्छानुसार घूमते हुए राजा धृत-

ततस्तपोवने तस्मिन् समाजग्मुस्तपोधनाः ॥ ३६ ॥
श्रुत्वा राज्ञस्तदा निष्ठां न त्वशोचन् गतांश्च ते ।
तत्राश्रौषमहं सर्वमेतत्पुरुषसत्तम ॥ ३७ ॥
यथा च नृपतिर्दग्धो देव्यौ ते चेति पाण्डव ।
न शोचितव्यं राजेन्द्र स्वतः स पृथिवीपतिः ॥ ३८ ॥
प्राप्तवानग्निसंयोगं गान्धारी जननी च ते ।
वैशम्पायन उवाच–एतच्छ्रुत्वा च सर्वेषां पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ ३९ ॥
निर्याणं धृतराष्ट्रस्य शोकः समभवन्महान् ।
अन्तःपुराणां च तदा महानार्तस्वरोऽभवत् ॥ ४० ॥
पौराणां च महाराज श्रुत्वा राज्ञस्तदा गतिम् ।
अहो धिगिति राजा तु विक्रुश्य भृशदुःखितः ॥४१॥
ऊर्ध्वबाहुः स्मरन्मातुः प्ररुरोद युधिष्ठिरः ।
भीमसेनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ४२ ॥
अन्तःपुरेषु च तदा सुमहान् रुदितस्वनः ।
प्रादुरासीन्महाराज पृथां श्रुत्वा तथा गताम् ॥ ४३ ॥
तं च वृद्धं तथा दग्धं हतपुत्रं नराधिपम् ।
अन्वशोचन्त ते सर्वे गान्धारीं च तपस्विनीम् ॥४४॥

राष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती देवीका शरीर देखा। (२९–३६)

तिसके अनन्तर तपस्वी ऋषियोंने आके राजाकी वैसी निष्ठा सुनके शोक न किया। हे पुरुषसत्तम! मैंने वहां यह सब वृत्तान्त सुना। हे पाण्डव! राजा, गान्धारीदेवी और कुन्ती, ये लोग जिस प्रकार जले हैं, वह तुम्हारे शोकका विषय नहीं है, क्यों कि तुम्हारी माता और गान्धारीको अग्नि प्राप्त हुई है। (३६—३९)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज! महात्मा पाण्डव लोग धृतराष्ट्रकी मृत्युका समाचार सुनके अत्यन्त शोकार्त हुए, राजाकी गति सुनके अन्तःपुर और पुरवासियोंके बीच महान् आर्तनाद प्रकट हुआ। इधर युधिष्ठिर, भीमसेन प्रभृति भाइयोंके सहित अत्यन्त दुःखसे 'ओहो धिक्!' ऐसा वचन कहके दोनों भुजाओंको उठाकर ऊंचे स्वरसे रोदन करने लगे। हे महाराज! पृथा की मृत्युका संवाद सुनके रनिवासमें महान् रोदनध्वनि प्रकट हुई; हतपुत्र बूढे नरनाथ धृतराष्ट्र और तपस्विनी गान्धारी

तस्मिन्नुपरते शब्दे मुहूर्तादिव भारत ।
निगृह्य बाष्पं धैर्येण धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि नारदागमनपर्वणि दावाग्निना धृतराष्ट्रादिदाहे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच– तथा महात्मनस्तस्य तपस्युग्रे च वर्ततः ।
अनाथस्येव च वने तिष्ठत्स्वस्मासु बन्धुषु ॥ १ ॥
दुर्विज्ञेया गतिर्ब्रह्मन्पुरुषाणां मतिर्मम ।
यत्र वैचित्रवीर्योऽसौ दग्ध एवं वनाग्निना ॥ २ ॥
यस्य पुत्रशतं श्रीमद्भवद्बाहुशालिनः ।
नागायुतबलो राजा स दग्धो हि दवाग्निना ॥ ३ ॥
यं पुरा पर्यवीजन्त तालवृन्तैर्वरस्त्रियः ।
तं गृध्राः पर्यवीजन्त दावाग्निपरिकालितम् ॥ ४ ॥
सूतमागधसंघैश्च शयानो यः प्रबोध्यते ।
धरण्यां स नृपः शेते पापस्य मम कर्मभिः ॥ ५ ॥
न च शोचामि गान्धारीं हतपुत्रां यशस्विनीम् ।
पतिलोकमनुप्राप्तां तथा भर्तृव्रते स्थिताम् ॥ ६ ॥

का उस प्रकार जलना सुनके सब कोई शोक करने लगे । हे भारत ! मुहूर्त भरके बीच वह शब्द निवृत्त हुआ, धर्मराज धैर्यके सहारे आंसू रोकके कहने लगे । (३९—४५)

आश्रमवासिकपर्वमें ३७ अध्याय समाप्त ।

आश्रमवासिकपर्वमें ३८ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे ब्रह्मन् ! हम सब बन्धुबान्धवोंके रहते उस उग्र तपस्यामें रत महात्मा धृतराष्ट्रकी अनाथकी भांति मृत्यु हुई । जब वह विचित्रवीर्यपुत्र दावानलमें जले हैं, तब मैंने निश्चय जाना, कि पुरुषकी गति दुर्विज्ञेय है । जिनके बाहुबलशाली एक सौ पुत्र हुए थे, वेही अयुत हाथियोंके सदृश बलशाली राजा धृतराष्ट्र दावानलमें भस्म हुए । जिनके समीप मुख्य मुख्य स्त्रियें तालका वेना लेकर सञ्चालन करती थीं, इस समय दावाग्निसे परिगृहीत उस पृथ्वीपति धृतराष्ट्रको गृद्धगण वीजन करने लगे । हाय ! जो उत्तम शय्यापर सोके प्रतिदिन भोरको सूत और मागधोंके द्वारा जागते थे, आज वेही राजा मुझ पापात्माके कार्यदोषसे पृथ्वीपर सोये । मैं उस पतिव्रतमें रत रहनेवाली पतिलोकमें गई हुई हतपुत्रा यशस्विनी

पृथामेव च शोचामि या पुत्रैश्वर्यमृद्धिमत् ।
उत्सृज्य सुमहद्दीप्तं वनवासमरोचयत् ॥ ७ ॥
धिग्राज्यमिदमस्माकं धिग्बलं धिक्पराक्रमम् ।
क्षत्रधर्मं च धिग्यस्मान्मृता जीवामहे वयम् ॥ ८ ॥
सुसूक्ष्मा किल कालस्य गतिर्द्विजवरोत्तम ।
यत्समुत्सृज्य राज्यं सा वनवासमरोचयत् ॥ ९ ॥
युधिष्ठिरस्य जननी भीमस्य विजयस्य च ।
अनाथवत्कथं दग्धा इति मुह्यामि चिन्तयन् ॥ १० ॥
वृथा संतर्पितो वह्निः खाण्डवे सव्यसाचिना ।
उपकारमजानन्स कृतघ्न इति मे मतिः ॥ ११ ॥
यत्रादहत्स भगवान् मातरं सव्यसाचिनः ।
कृत्वा यो ब्राह्मणच्छद्म भिक्षार्थी समुपागतः ॥ १२ ॥
धिगग्निं धिक्च पार्थस्य विश्रुतां सत्यसंधताम् ।
इदं कष्टतरं चान्यद्भगवन्प्रतिभाति मे ॥ १३ ॥

गान्धारीके निमित्त शोक नहीं करता; किन्तु जिसने समृद्धिशाली पुत्रोंके प्रदीप्त ऐश्वर्यको परित्याग करके वनवासकी अभिलाष की थी, उस पृथाके निमित्त ही मुझे अत्यन्त शोक उपस्थित होता है। हम लोगोंके राज्यबल, पराक्रम और क्षत्रधर्मको धिक्कार है और हम लोग जो मरके फिर जीवित हुए, उन्हें भी धिक्कार है। (१—८)

हे द्विजवरोत्तम! कालकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है, क्यों कि कुन्तीमाता राज्यको परित्याग करके वनवासकी अभिलाषी हुई थीं। पृथा युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुनकी जननी होकर अनाथाकी भांति किस निमित्त जली? इसकी चिन्ता करके मैं विमोहित होता हूं; सव्यसाचीने खाण्डव वनमें वृथा अग्निको तृप्त किया था, क्यों कि उपकारको स्वीकार न करनेसे मुझे बोध होता है, कि अग्नि कृतघ्न है। हे भगवन्! जिसने वनके बीच भिक्षार्थी ब्राह्मणके छलसे निकट जाके सव्यसाचीकी माता पृथाको जलाया है उस अग्नि भगवान् और पार्थकी सत्यसन्धताको धिक्कार है; क्यों कि यह सबसे बढके मुझे कष्टकर बोध होता है। राजर्षि तपस्वी पृथ्वीनाथ कुरुपतिको जो अग्निसंयोग हुआ, वह वृथा हैं, उस महावनमें उनके मन्त्रयुक्त अग्निके विद्यमान रहते ऐसी मृत्यु क्यों हुई? मुझे बोध होता है, कि पिताका

वृथाग्निना समायोगो यद्भूत्पृथिवीपतेः ।
तथा तपस्विनस्तस्य राजर्षेः कौरवस्य ह ॥ १४ ॥
कथमेवंविधो मृत्युः प्रशास्य पृथिवीमिमाम् ।
तिष्ठत्सु मन्त्रपूतेषु तस्याग्निषु महावने ॥ १५ ॥
वृथाग्निना समायुक्तो निष्ठां प्राप्तः पिता मम ।
मन्ये पृथा वेपमाना कृशा धमनिसंतता ॥ १६ ॥
हा तात धर्मराजेति समाक्रन्दन्महाभये ।
भीम पर्याप्नुहि भयादिति चैवाभिवाशती ॥ १७ ॥
समन्ततः परिक्षिप्ता माताऽभून्मे दवाग्निना ।
सहदेवः प्रियस्तस्याः पुत्रेभ्योऽधिक एव तु ॥ १८ ॥
न चैनां मोक्षयामास वीरो माद्रवतीसुतः ।
तच्छ्रुत्वा रुरुदुः सर्वे समालिङ्ग्य परस्परम् ॥ १९ ॥
पाण्डवाः पञ्च दुःखार्ता भूतानीव युगक्षये ।
तेषां तु पुरुषेन्द्राणां रुदतां रुदितस्वनः ॥ २० ॥
प्रासादाभोगसंरुद्धे अन्वरौत्सीत्सरोदसी ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि नारदागमनपर्वणि युधिष्ठिरविलापे अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

नारद उवाच– नासौ वृथाग्निना दग्धो यथा तत्र श्रुतं मया ।

वैसे अग्निके सहित संयोग होनेसे ही निष्ठा लाभ हुई है, और वह अत्यन्त दुबली शिराओंसे व्याप्त पृथा महाभयसे कांपती 'हा तात धर्मराज !' ऐसा कहके रोती हुई तथा ' हे भीम ! भयसे रक्षा करो ' ऐसा कहके अवसन्न होकर दावाग्निके द्वारा चारों ओरसे व्याप्त हुई है; उसके सब पुत्रोंसे अधिक प्रिय वीरश्रेष्ठ माद्रीपुत्र सहदेवभी उसे अग्निसे बचा न सके । (९—१९)

पांचों पाण्डव ऐसी बात सुनके सब कोई परस्परको आलिङ्गन करते हुए प्रलयकालके प्राणियोंकी भांति रोदन करने लगे । उन पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंके रोदन करते रहनेपर उनके रोनेका शब्द मन्दिरके परिसरप्रदेशमें परिव्याप्त होनेसे मानो गगनमण्डलके सहित उस प्रासादके स्थान रोदन करने लगे । (१९—२१)

आश्रमवासिकपर्वमें ३८ अध्याय समाप्त ।

आश्रमवासिकपर्वमें ३९ अध्याय ।

नारद मुनि बोले, हे भारत ! मैंने

वैचित्रवीर्यो नृपतिस्तत्ते वक्ष्यामि सुव्रत ॥ १ ॥
वनं प्रविशताऽनेन वायुभक्षेण धीमता ।
अग्नयः कारयित्वेष्टिमुत्सृष्टा इति नः श्रुतम् ॥ २ ॥
याजकास्तु ततस्तस्य तानग्नीन्निर्जने वने ।
समुत्सृज्य यथाकामं जग्मुर्भरतसत्तम ॥ ३ ॥
स विवृद्धस्तदा वह्निर्वने तस्मिन्नभूत्किल ।
तेन तद्वनमादीप्तमिति ते तापसाऽब्रुवन् ॥ ४ ॥
स राजा जाह्नवीतीरे यथा ते कथितं मया ।
तेनाग्निना समायुक्तः स्वेनैव भरतर्षभ ॥ ५ ॥
एवमावेदयामासुर्मुनयस्ते ममानघ ।
ये ते भागीरथीतीरे मया दृष्टा युधिष्ठिर ॥ ६ ॥
एवं स्वेनाग्निना राजा समायुक्तो महीपते ।
मा शोचिथास्त्वं नृपतिं गतः स परमां गतिम् ॥ ७ ॥
गुरुशुश्रूषया चैव जननी ते जनाधिप ।
प्राप्ता सुमहतीं सिद्धिमिति मे नात्र संशयः ॥ ८ ॥
कर्तुमर्हसि राजेन्द्र तेषां त्वमुदकक्रियाम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरेतदत्र विधीयताम् ॥ ९ ॥

उस वनमें जैसा सुना है, वही तुमसे कहूंगा, उसमें अन्यथा न होगी। मैंने सुना कि, वह विचित्रवीर्यपुत्र नरनाथ धृतराष्ट्र वृथाग्निमें नहीं जले। हे भरत-सत्तम! मैंने ऐसा सुना है, कि उस धीमान् नरनाथने वायुभक्षणपूर्वक वनमें प्रवेश करते हुए यज्ञ कराके अग्निको परित्याग किया; अनन्तर याजकवृन्द निर्जन वनके बीच उनकी उस अग्निको विसर्जन करके अभिलषित स्थानमें गये। तपस्वियोंने इस प्रकार कहा, कि उस समय उस अग्निने वनके बीच अत्यन्त वर्धित होकर उस जंगलको प्रदीप्त किया। हे भरतप्रवर! उसके अनन्तर राजा गङ्गाजीके तटपर उस अग्निके सहित संयुक्त हुए। हे युधिष्ठिर! गङ्गाजीके तटपर मैंने जिन मुनियोंका दर्शन किया, उन्होंने मुझसे यह सब वृत्तान्त कहा है। हे पृथ्वीनाथ! जब कि राजा इस प्रकार निज अग्निके सहित संयुक्त हुए हैं, तब उन्होंने निश्चय ही परम गति प्राप्त की है, उनके लिये आप शोक न करिये। हे जननाथ! आपकी माताने भी गुरु-सेवासे महती सिद्धि पाई है, इसमें कुछ

वैशम्पायन उवाच– ततः स पृथिवीपालः पाण्डवानां धुरन्धरः ।
निर्ययौ सहसोदर्यैः सदारश्च नरर्षभः ॥ १० ॥
पौरजानपदाश्चैव राजभक्तिपुरस्कृताः ।
गङ्गां प्रजग्मुरभितो वाससैकेन संवृताः ॥ ११ ॥
ततोऽवगाह्य सलिले सर्वे ते नरपुङ्गवाः ।
युयुत्सुमग्रतः कृत्वा ददुस्तोयं महात्मने ॥ १२ ॥
गान्धार्याश्च पृथायाश्च विधिवन्नामगोत्रतः ।
शौचं निवर्तयन्तस्ते तत्रोषुर्नगराद्बहिः ॥ १३ ॥
प्रेषयामास स नरान् विधिज्ञानाप्तकारिणः ।
गङ्गाद्वारं नरश्रेष्ठो यत्र दग्धोऽभवन्नृपः ॥ १४ ॥
तत्रैव तेषां कृत्यानि गङ्गाद्वारेऽन्वशात्तदा ।
कर्तव्यानीति पुरुषान् दत्तदेयान्महीपतिः ॥ १५ ॥
द्वादशेऽहनि तेभ्यः स कृतशौचो नराधिपः ।
ददौ श्राद्धानि विधिवद्दक्षिणावन्ति पाण्डवः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रं समुद्दिश्य ददौ स पृथिवीपतिः ।
सुवर्णं रजतं गाश्च शय्याश्च सुमहाधनाः ॥ १७ ॥

सन्देह नहीं है । हे राजेन्द्र ! इस समय आप भाइयोंके सहित उन लोगोंकी विधिपूर्वक जलक्रिया पूरी करिये । (१-९)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे नरश्रेष्ठ ! उसके अनन्तर वह पाण्डवधुरन्धर पृथ्वीपति युधिष्ठिर भाइयों और स्त्रियोंके सहित नगरसे बाहिर हुए; पुरवासियों और जनपदवासियोंने राजभक्ति दिखाते हुए एकवस्त्रसे संवृत होकर उन लोगोंको घेरकर गङ्गाकी ओर गमन किया, तिसके बाद उन नरपुङ्गवोंने गङ्गाजलमें स्नान कर युयुत्सुको आगे करके महात्मा धृतराष्ट्रको जलप्रदान किया, फिर गान्धारी और पृथाके नाम गोत्रका उच्चारण करके विधिपूर्वक शौचकार्य निवर्तित करते हुए नगरके बाहिरी भागमें निवास किया । पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिरने जहां धृतराष्ट्र जले थे, उस गङ्गाद्वारमें विधिज्ञ आप्तकारी मनुष्योंको भेजा; पृथ्वीनाथ युधिष्ठिरने उन पुरुषोंको गङ्गाद्वारमें ही उनके कर्तव्य कार्योंको करनेके लिये आज्ञा की । (१०-१५)

अनन्तर पाण्डुपुत्र नरनाथ युधिष्ठिरने द्वादशाहमें शौचादिसे निवृत्त होकर उन लोगोंका विधिविहित दक्षिणायुक्त श्राद्ध दान किया । उन्होंने धृतराष्ट्रके

गान्धार्याश्चैव तेजस्वी पृथायाश्च पृथक् पृथक् ।
संकीर्त्य नामनी राजा ददौ दानमनुत्तमम् ॥ १८ ॥
यो यदिच्छति यावच्च तावत्स लभते नरः ।
शयनं भोजनं यानं मणिरत्नमथो धनम् ॥ १९ ॥
यानमाच्छादनं भोगान् दासीश्च समलङ्कृताः ।
ददौ राजा समुद्दिश्य तयोर्मात्रोर्महीपतिः ॥ २० ॥
ततः स पृथिवीपालो दत्त्वा श्राद्धान्यनेकशः ।
प्रविवेश पुरं राजा नगरं वारणाह्वयम् ॥ २१ ॥
ते चापि राजवचनात्पुरुषा ये गताऽभवन् ।
संकल्प्य तेषां कुल्यानि पुनः प्रत्यागमंस्ततः ॥ २२ ॥
माल्यैर्गन्धैश्च विविधैरर्चयित्वा यथाविधि ।
कुल्यानि तेषां संयोज्य तदाचख्युर्महीपतेः ॥ २३ ॥
समाश्वास्य तु राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
नारदोऽप्यगमद्राजन् परमर्षिर्यथेप्सितम् ॥ २४ ॥
एवं वर्षाण्यतीतानि धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
वनवासे तथा त्रीणि नगरे दशपञ्च च ॥ २५ ॥
हतपुत्रस्य संग्रामे दानानि ददतः सदा ।

उद्देश्यसे सोना, रूपा, गऊ और महामूल्यवान शय्या प्रदान की, फिर पृथक् रीतिसे गान्धारी और पृथाके नामसे सब प्रकारके उत्तम वस्त्र दान किये। उस समय शय्या, भोजनपात्र, यान, मणि, रत्न, धन प्रभृति जो जो जिसे इच्छा हुई, उसने वही पाई। इतनाही नहीं वरन राजा युधिष्ठिरने गान्धारी और पृथामाताके उद्देश्यसे यान, ओढनेके वस्त्र, विविध भोग्यवस्तु तथा अलङ्कारयुक्त दासीप्रभृति प्रदान की। फिर उन्होंने पिता-माताके उद्देश्यसे बहुतसी श्राद्धीय वस्तु दान करके हस्तिनानगरमें प्रवेश किया। राजाकी आज्ञासे जो लोग धृतराष्ट्रादिके संस्कारके निमित्त गये थे, वे उनकी हड्डियोंको एकत्रित करके फिर लौट आये, तब युधिष्ठिरने विविध माला और सुगन्धिसे विधिपूर्वक पूजा करते हुए उन हड्डियोंको गङ्गाके सहित संयुक्त करनेके लिये कहा। (१६—२३)

हे राजन् ! परमर्षि नारदने धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको आश्वासित करके अभिलषित स्थानमें गमन किया।

ज्ञातिसंबन्धिमित्राणां भ्रातॄणां स्वजनस्य च ॥ २६ ॥
युधिष्ठिरस्तु नृपतिर्नातिप्रीतमनास्तदा ।
धारयामास तद्राज्यं निहतज्ञातिबान्धवः ॥ २७ ॥ [१०८८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आश्रमवासिके पर्वणि नारदागमनपर्वणि श्राद्धदाने ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

॥ समाप्तं नारदागमनपर्व आश्रमवासिकं च पर्व समाप्तम् ॥

॥ अथानन्तरं मौसलपर्व तस्यायमाद्यः श्लोकः ॥

वैशम्पायन उवाच– षट्त्रिंशे त्वथ संप्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः ।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

संग्राममें हतपुत्र, ज्ञाति, सम्बन्धी, मित्र, भ्राता और स्वजनोंको सदा धन देने-वाले धीमान् धृतराष्ट्रके इस ही प्रकार नगरमें पन्द्रह वर्ष और वनवासमें तीन वर्ष बीते थे। उस समय युधिष्ठिर ज्ञाति-बान्धवोंके मरनेसे राज्य पाके भी प्रसन्नचित्त न हुए। (२४–२७)

आश्रमवासिकपर्वमें ३९ अध्याय समाप्त।

आश्रमवासिकपर्व समाप्त ।

श्लोक—संख्या ।

१—१४	आश्वमेधिकपर्वके अन्ततक	८२४२०
१५	आश्रमवासिकपर्व	१०८८
		८३५०८

आश्रमवासिकपर्वकी विषयसूची ।

आश्रमवासिकपर्वकी विषयसूची समाप्त।

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	" ॥।)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाई	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आने	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढेतीन "	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	[९७" १०७]	११	१०७६	६)	१)

कुल मूल्य. ५८।) कुल डा. व्य.१०।≡)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक-श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि०सातारा.)

ॐ

श्री–महर्षि--व्यास--प्रणीत

महाभारत।

(१६) मौसलपर्व।

(भाषाभाष्यसमेत।)

लेखक और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

संवत् १९८९,

शक १८५४,

सन १९३२.

काल का महत्त्व !

गमनं प्राप्तकालं व इदं श्रेयस्करं विभो ।
एवं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिश्च भारत ॥ ३२ ॥
भवन्ति भवकालेषु विपद्यन्ते विपर्यये ।
कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनञ्जय ॥ ३३ ॥
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया ।
स एव बलवान्भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः ॥ ३४ ॥

म० भा० मौसल. अ० ८

"अब तुम लोगोंका काल उपस्थित हुआ है, इसलिये मेरे विचारमें अब यहांसे गमन करनाही कल्याणकारी बोध होता है। क्यों कि सम्पत्कालमें बुद्धिका जो तेज तथा प्रतिपत्ति होती है, आपत्कालमें वह सभी विपन्न हुआ करता है। हे धनंजय ! काल ही सब का मूल है। उसनेही बीजस्वरूप होके इस जगत्की सृष्टि की है, और वही इच्छानुसार फिर सब हरेगा। कालके वशसे बलवान् होके भी पुरुष फिर निर्बल होता है।"

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्यायमंडळ,
भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम्

महाभारतम्।

१६ मौसलपर्व।

श्रीगणेशाय नमः।

श्रीवेदव्यासाय नमः।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच- षट्त्रिंशे त्वथ संप्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः।
ववुर्वाताश्च निर्घाता रूक्षाः शर्करवर्षिणः।
अपसव्यानि शकुना मण्डलानि प्रचक्रिरे ॥ २ ॥
प्रत्यगूहुर्महानद्यो दिशो नीहारसंवृताः।
उल्काश्चाङ्गारवर्षिण्यः प्रापतन्गगनाद्भुवि ॥ ३ ॥

मौसलपर्वमें १ अध्याय।

नारायण, नरोत्तम नर और सरस्वती देवीको प्रणाम करके जय कीर्तन करे। (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कौरवनन्दन युधिष्ठिरने राज्य पानेके अनन्तर छत्तीसवें वर्षके प्रारम्भमें ही अनेक प्रकारका अशकुन देखा। कङ्कडसे युक्त रूखा वायु शब्दके सहित बहने लगा, पक्षी-वृन्द अपसव्य मण्डलमें भ्रमण करने लगे। सब महानदियें सूख गईं और सब दिशा कुहारेसे परिपूरित हुईं, अङ्गारवर्षा युक्त उल्कासमूह आकाशमंडलसे पृथ्वीपर गिरने लगे, हे महाराज!

आदित्यो रजसा राजन् समवच्छन्नमण्डलः ।
विरश्मिरुदये नित्यं कबन्धैः समदृश्यत ॥ ४ ॥
परिवेषाश्च दृश्यन्ते दारुणाश्चन्द्रसूर्ययोः ।
त्रिवर्णाः श्यामरूक्षान्तास्तथा भस्मारुणप्रभाः ॥ ५ ॥
एते चान्ये च बहव उत्पाता भयशंसिनः ।
दृश्यन्ते बहवो राजन् हृदयोद्वेगकारकाः ॥ ६ ॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
शुश्राव वृष्णिचक्रस्य मौसले कदनं कृतम् ॥ ७ ॥
विमुक्तं वासुदेवं च श्रुत्वा रामं च पाण्डवः ।
समानीयाब्रवीद्भ्रातॄन्किं करिष्याम इत्युत ॥ ८ ॥
परस्परं समासाद्य ब्रह्मदण्डबलात्कृतान् ।
वृष्णीन्विनष्टांस्ते श्रुत्वा व्यथिताः पाण्डवा भवन् ॥९॥
निधनं वासुदेवस्य समुद्रस्येव शोषणम् ।
वीरा न श्रद्दधुस्तस्य विनाशं शार्ङ्गधन्वनः ॥ १० ॥
मौसलं ते समाश्रित्य दुःखशोकसमन्विताः ।
विषण्णा हतसङ्कल्पाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥११॥
जनमेजय उवाच– कथं विनष्टा भगवन्नन्धका वृष्णिभिः सह ।

सूर्य किरणरहित हुए और उनका मण्डल धूलिधूसरित तथा कबन्धोंसे परिपूर्ण दिखाई देने लगा । चन्द्र और सूर्य मण्डलमें श्याम, अरुण और भस्म सदृश त्रिवर्ग रूक्ष परिवेश दीखने लगा । (२—५)

हे महाराज ! हृदयको व्याकुल करनेवाले तथा भयसूचक इस ही प्रकार और भी अनेक उत्पात दीखनेपर किसी दिन कुरुराज युधिष्ठिरने सुना, कि वृष्णिवंशीय लोग सब कोई मुसलयुद्धमें विनष्ट हुए हैं और राम तथा कृष्णने देहत्याग किया है । पाण्डुनन्दन इतनी बात सुनते ही भाइयोंको बुलाकर बोले; 'ब्रह्मशापसे वृष्णिवंशीय लोग परस्पर युद्ध करके सब कोई विनष्ट हुए हैं, इसलिये हम लोगोंको इस समय क्या करना चाहिये?' उसे सुनके पाण्डुके पुत्र अत्यन्त व्यथित हुए; परन्तु समुद्र सूखनेकी भांति बलदेव और श्रीकृष्णके मरनेको असम्भव समझके पहले किसीने विश्वास नहीं किया । अनन्तर मौसल-युद्धविषयक सब संवाद सुनके दुःख तथा शोकसे अभिभूत, विषण्ण तथा हत-

पश्यतो वासुदेवस्य भोजाश्चैव महारथाः ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच– षट्त्रिंशेऽथ ततो वर्षे वृष्णीनामनयो महान् ।
अन्योन्यं मुसलैस्ते तु निजघ्नुः कालचोदिताः ॥ १३ ॥
जनमेजय उवाच– केनानुशप्तास्ते वीराः क्षयं वृष्णयन्धका गताः ।
भोजाश्च द्विजवर्य त्वं विस्तरेण वदस्व मे ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच– विश्वामित्रं च कण्वं च नारदं च तपोधनम् ।
सारणप्रमुखा वीरा ददृशुर्द्वारकां गतान् ॥ १५ ॥
ते तान्साम्बं पुरस्कृत्य भूषयित्वा स्त्रियं यथा ।
अब्रुवन्नुपसंगम्य दैवदण्डनिपीडिताः ॥ १६ ॥
इयं स्त्री पुत्रकामस्य बभ्रोरमिततेजसः ।
ऋषयः साधु जानीत किमियं जनयिष्यति ॥ १७ ॥
इत्युक्तास्ते तदा राजन्विप्रलम्भप्रधर्षिताः ।
प्रत्यब्रुवंस्तान्मुनयो यत्तच्छृणु नराधिप ॥ १८ ॥
वृष्णयन्धकविनाशाय मुसलं घोरमायसम् ।

सङ्कल्प होकर बैठ गये । (६--११)

जनमेजय बोले, हे भगवन् ! अन्धक, वृष्णि और महारथ भोजवंशीगण श्रीकृष्णके सामने किस प्रकार विनष्ट हुए ? आप यह सब मेरे समीप प्रकाश करके कहिये । (१२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, युधिष्ठिरको राज्य मिलनेपर छत्तीसवें वर्षमें वृष्णिवंशियोंके बीच बहुत ही दुर्नीति उपस्थित होनेसे वे लोग एरकामें लगे हुए मुसलकणके द्वारा परस्परको मारके विनिष्ट हुए हैं । (१३)

जनमेजय बोले, हे द्विजश्रेष्ठ ! वृष्णि, अन्धक और भोजवंशीय लोगोंका किसके शापसे इस प्रकार नाश हुआ ! आप वह सब मेरे निकट विस्तारपूर्वक कहिये । (१४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, एक समय सारण प्रभृति वीरगण विश्वामित्र, कण्व और तपोधन नारद मुनिको द्वारका नगरीमें आया हुआ देखकर साम्बको स्त्रीकी भांति सज्जित करके मानो कालप्रेरित होके ही ऋषियोंके निकट जाकर बोले, " हे ब्रह्मर्षिगण ! पुत्राभिलाषी अमिततेजस्वी यह बभ्रुकी भार्या क्या प्रसव करेगी, उसे आप लोग उत्तम रीतिसे जानते होंगे । " हे महाराज ! महर्षि-वृन्द ऐसा सुनके वृष्णिवंशियोंके वञ्चनावाक्यसे अत्यन्त ही रुष्ट हुए और जो प्रत्युत्तर दिया,

वासुदेवस्य दायादः साम्बोऽयं जनयिष्यति ॥ १९ ॥
येन यूयं सुदुर्वृत्ता नृशंसा जातमन्यवः ।
उच्छेत्तारः कुलं कृत्स्नमृते रामजनार्दनौ ॥ २० ॥
समुद्रं यास्यति श्रीमांस्त्यक्त्वा देहं हलायुधः ।
जरा कृष्णं महात्मानं शयानं भुवि भेत्स्यति ॥ २१ ॥
इत्यब्रुवन्त ते राजन्प्रलब्धास्तैर्दुरात्मभिः ।
मुनयः क्रोधरक्ताक्षाः समीक्ष्याथ परस्परम् ॥ २२ ॥
तथोक्त्वा मुनयस्ते तु ततः केशवमभ्ययुः ।
अथाब्रवीत्तदा वृष्णीन् श्रुत्वैवं मधुसूदनः ॥ २३ ॥
अन्तज्ञो मतिमांस्तस्य भवितव्यं तथेति तान् ।
एवमुक्त्वा हृषीकेशः प्रविवेश पुरं तदा ॥ २४ ॥
कृतान्तमन्यथा नैच्छत्कर्तुं स जगतः प्रभुः ।
श्वो भूतेऽथ ततः साम्बो मुसलं तदसूत वै ॥ २५ ॥
येन वृष्ण्यन्धककुले पुरुषा भस्मसात्कृताः ।
वृष्ण्यन्धकविनाशाय किङ्करप्रतिमं महत् ॥ २६ ॥

उसे सुनिये। उन लोगोंने कहा, यह श्रीकृष्णका पुत्र सांब वृष्णि और अन्धकोंके विनाशके निमित्त एक घोर आयस मुसल प्रसव करेगा। तुम लोग अत्यन्त दुर्वृत्त, गर्वित और नृशंस हुए हो; इसलिये तुम लोगोंके दोषसे ही राम-कृष्णको छोडके सारा यदुकुल विनष्ट होगा। (१५—२०)

श्रीमान् हलधर समुद्रमें प्रवेश करके शरीर छोडेंगे और जरा नाम कोई कैवर्त पृथ्वीपर सोये हुए महात्मा कृष्णको विद्ध करेगा। हे नरनाथ! दुःस्वभाव यादवोंके द्वारा प्रतारित वे मुनिगण क्रोधसे लाल नेत्र करके परस्पर एक दूसरेको अवलोकन करते हुए इतनी बात कहके, पीछे केशव के समीप गये। (२१—२३)

अनागत विषयों के जानने वाले बुद्धिमान् मधुसूदन भी यह सब वृत्तान्त सुनके वृष्णिवंशियोंसे बोले, कि मुनियोंने जैसा कहा है, वैसाही होगा। अनन्तर उस जगत्प्रभु हृषीकेशने जो कालवशसे हुआ है, उसे अन्यथा करनेमें अनभिलाषी होकर पुरके बीच प्रवेश किया। (२१ — २५)

दूसरे दिन सवेरे सांबने उस मुसलको प्रसव किया, जिसके द्वारा वृष्णि और अंधकवंशिय पुरुषोंका नाश हुआ।

असूत शापजं घोरं तच्च राज्ञे न्यवेदयन् ।
विषण्णरूपस्तद्राजा सूक्ष्मं चूर्णमकारयत् ॥ २७ ॥
तच्चूर्णं सागरे चापि प्राक्षिपन्पुरुषा नृप ।
अघोषयंश्च नगरे वचनादाहुकस्य ते ॥ २८ ॥
जनार्दनस्य रामस्य बभ्रोश्चैव महात्मनः ।
अद्यप्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह ॥ २९ ॥
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः ।
यश्च नो विदितं कुर्यात्पेयं कश्चिन्नरः क्वचित् ॥ ३० ॥
जीवन्स शूलमारोहेत्स्वयं कृत्वा सबान्धवः ।
ततो राजभयात्सर्वे नियमं चक्रिरे तदा ॥
नराः शासनमाज्ञाय रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां मौसलपर्वणि
मुसलोत्पत्तौ प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं प्रयतमानानां वृष्णीनामन्धकैः सह ।
कालो गृहाणि सर्वेषां परिचक्राम नित्यशः ॥ १ ॥

हे महाराज ! तिसके अनन्तर वृष्णि और अन्धकोंके विनाशका मूल, मुनि-शापके प्रभावसे सांबके द्वारा प्रसव हुए उस यमदूत सदृश महत् मुसलका विषय राजा उग्रसेनके समीप सुनानेपर उन्होंने दुःखी होकर उसका उत्तम चूर्ण कराया और यदुवंशियोंने वह सब चूर्ण समुद्रमें फेंक दिया। तिसके अनन्तर उन लोगोंने महात्मा जनार्दन, राम, बभ्रु और आहुकके वचनानुसार नगरमें इस प्रकार ढिंढोरा दिलाया, कि आजसे नगरवासी वृष्णि और अन्धकवंशियोंके बीच कोई मद्यादि पीके मतवाला न होवे। यदि कोई पुरुष मद्य पीयेगा, तो हम लोग जाननेसे उसके अकेले पीनेपर भी बांधवोंके सहित जीवित अवस्थामें ही उसे शूली पर चढावेंगे। द्वारकावासी लोगोंने अक्लिष्टकर्मा रामकी ऐसी आज्ञा सुनके राजभयसे "हम लोग अब मद्य न पीयेंगे" इसही प्रकार नियम स्थापित किया। (२६—३१)

मौसलपर्वमें १ अध्याय समाप्त ।

मौसलपर्वमें २ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अन्धक लोगोंके सहित वृष्णिवंशियोंके इस प्रकार सावधान होनेपर कालपुरुष सदा प्रतिदिन उन लोगोंके गृहोंमें घूमने

करालो विकटो मुण्डः पुरुषः कृष्णपिङ्गलः ।
गृहाण्यावेक्ष्य वृष्णीनां नादृश्यत क्वचित् क्वचित् ॥ २ ॥
तमघ्नन्त महेष्वासाः शरैः शतसहस्रशः ।
न चाशक्यत वेद्धुं स सर्वभूतात्ययस्तदा ॥ ३ ॥
उत्पेदिरे महावाता दारुणाश्च दिने दिने ।
वृष्ण्यन्धकविनाशाय बहवो लोमहर्षणाः ॥ ४ ॥
विवृद्धमूषिका रथ्या विभिन्नमणिकास्तथा ।
केशा नखाश्च सुप्तानामद्यन्ते मूषिकैर्निशि ॥ ५ ॥
चीची कूचीति वाशन्ति सारिका वृष्णिवेश्मसु ।
नोपशाम्यति शब्दश्च स दिवारात्रमेव हि ॥ ६ ॥
अन्वकुर्वन्नुलूकानां सारसा विरुतं तथा ।
अजाः शिवानां विरुतमन्वकुर्वत भारत ॥ ७ ॥
पाण्डुरारक्तपादाश्च विहगाः कालचोदिताः ।
वृष्ण्यन्धकानां गेहेषु कपोता व्यचरंस्तदा ॥ ८ ॥
व्यजायन्त खरा गोषु करभाऽश्वतरीषु च ।
शुनीष्वपि बिडालाश्च मूषिका नकुलीषु च ॥ ९ ॥

लगा। किसी किसी गृहमें न दीखनेपर भी उस सिरमुंडे कराल वदन विकट दर्शन कालपुरुषको वार्ष्णेय लोगोंके सब गृहोंमें ही पर्यवेक्षण करते देखा गया। यादव लोगोंने उसे मारनेके लिये असंख्य बाण चलाये, परन्तु किसीसे उस सर्वभूतक्षयकारीको विद्ध करनेमें समर्थ न हुए। उस समय प्रतिदिन वृष्णि और अन्धकवंशियोंके विनाश सूचक प्रबलतर निदारुण महावायु प्रवाहित होना आरम्भ हुआ। (१–४)

सब रथ्या मूषिक और टूटे मृत्पात्रोंसे परिपूर्ण होगये और यदुवंशियोंके सोनेपर चूहोंने उनके नखों तथा केशोंको काटना आरम्भ किया। वार्ष्णेय लोगोंके गृहमें स्थित सारिकासमूह चीची-कुची प्रभृति बोली बोलने लगीं और वह शब्द दिनरातके बीच एक बार भी बन्द न हुआ। हे भारत! उस समय सारसवृन्द उल्लुओं और बकरे सियारोंके शब्दका अनुकरण करने लगे। पाण्डुरवर्ण और लालचरणवाले कबूतर आदि पक्षिवृन्द मानो कालसे प्रेरित होके ही वृष्णि और अन्धकगणोंके प्रतिगृहोंमें विचरने लगे; गो-योनिमें गर्दभ, अश्वतरीसे करभ, शुनीसे बिडाल

नापत्रपन्त पापानि कुर्वन्तो वृष्णयस्तदा ।
प्राद्विषन् ब्राह्मणांश्चापि पितॄन्देवांस्तथैव च ॥ १० ॥
गुरूंश्चाप्यवमन्यन्ते न तु रामजनार्दनौ ।
पत्न्यः पतीनुच्चरन्त पत्नीश्च पतयस्तथा ॥ ११ ॥
विभावसुः प्रज्वलितो वामं विपरिवर्तते ।
नीललोहितमञ्जिष्ठा विसृजन्नर्चिषः पृथक् ॥ १२ ॥
उदयास्तमने नित्यं पुर्यां तस्यां दिवाकरः ।
व्यदृश्यतासकृत्पुंभिः कबन्धैः परिवारितः ॥ १३ ॥
महानसेषु सिद्धेषु संस्कृतेऽतीव भारत ।
आहार्यमाणे कृमयो व्यदृश्यन्त सहस्रशः ॥ १४ ॥
पुण्याहे वाच्यमाने तु जपत्सु च महात्मसु ।
अभिधावन्त श्रूयन्ते न चादृशत कश्चन ॥ १५ ॥
परस्परं च नक्षत्रं हन्यमानं पुनः पुनः ।
ग्रहैरपश्यन्सर्वे ते नात्मनस्तु कथंचन ॥ १६ ॥
नदन्तं पाञ्चजन्यं च वृष्ण्यन्धकनिवेशने ।

और नकुलीके गर्भसे चूहे उत्पन्न होने लगे । (८—९)

उस समय वार्ष्णेयगण पापकार्य करके भी लज्जा नहीं करते थे और देवता, ब्राह्मण तथा पितरोंका द्वेष करना आरम्भ किया । रामकृष्णके अतिरिक्त प्रायः सब यदुवंशी लोग गुरुजनोंकी अवमानना करनेमें प्रवृत्त हुए, पत्नी पतिकी और पति पत्नीकी वञ्चना करने लगा । अग्नि लाल, काली और मञ्जिष्ठावर्ण शिखाके सहित वामावर्तमें प्रज्वलित होने लगी; उस पुरीसे उदय और अस्तके समय सूर्य बार बार कबन्ध पुरुषोंसे घिरा हुआ दिखाई देने लगा । हे भारत ! सिद्ध महानस तथा उत्तम संस्कारयुक्त अन्नादि भोजनकी वस्तुओंमें सहस्रों कृमि दिखाई देने लगे । वे महात्मा लोग जिस समय पुण्याहवाचन तथा जपादिमें रत होते थे, उस समय बोध होता था, कि मानो कोई उस स्थानमें दौड रहा है, किन्तु किसीको देख न सकते थे । (१०—१५)

यादव लोग परस्परके नक्षत्रको ग्रहोंसे पीडित देखने लगे, परन्तु किसीने भी अपने नक्षत्रको न देखा; वृष्णि और अन्धकवंशियोंके गृहमें पाञ्चजन्य शङ्खके शब्दके समयमें दारुण स्वरसे गधोंका

समंतात्पर्यवाशन्त रासभा दारुणस्वराः ॥ १७ ॥
एवं पश्यन् हृषीकेशः संप्राप्तं कालपर्ययम् ।
त्रयोदश्याममावास्यां तान् दृष्ट्वा प्राब्रवीदिदम्॥ १८ ॥
चतुर्दशी पञ्चदशी कृतेयं राहुणा पुनः ।
प्राप्ते वै भारते युद्धे प्राप्ता चाद्य क्षयाय नः ॥ १९ ॥
विमृशन्नेव कालं तं परिचिन्त्य जनार्दनः ।
मेने प्राप्तं स षट्त्रिंशं वर्षं वै केशिसूदनः ॥ २० ॥
पुत्रशोकाभिसन्तप्ता गान्धारी हतबान्धवा ।
यदनुव्याजहारार्ता तदिदं समुपागमत् ॥ २१ ॥
इदं च तदनुप्राप्तमब्रवीद्यद्युधिष्ठिरः ।
पुरा व्यूढेष्वनीकेषु दृष्ट्वोत्पातान् सुदारुणान् ॥ २२ ॥
इत्युक्त्वा वासुदेवस्तु चिकीर्षुः सत्यमेव तत् ।
आज्ञापयामास तदा तीर्थयात्रामरिन्दमः ॥ २३ ॥
अघोषयन्त पुरुषास्तत्र केशवशासनात् ।
तीर्थयात्रा समुद्रे वः कार्येति पुरुषर्षभाः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शत० संहि०वैयासिक्यां मौसलपर्वणि उत्पातदर्शने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २॥

शब्द होने लगा । उस समय हृषीकेशने त्रयोदशीमें अमावास्या अर्थात् कृष्ण-पक्षको त्रयोदश दिवसात्मकादि रूप काल विपर्यय देखकर यादवोंसे कहा; 'यह देखो, भारत युद्धके समय जिस प्रकार हुआ था, उस ही भांति हम लोगोंके विनाशके निमित्त ही आज त्रयोदशीमें ही पौर्णमासीका कार्य सम्पादित होता है ।(१६—१९)

केशिनिषूदन जनार्दन इतनी बात कहके ही क्षणभर सोचके निरूपित कालका समागम समझके फिर बोले, 'हतबान्धवा गान्धारीने पुत्रशोकसे सन्तापित होके आर्तभावसे जो कहा था, वही छत्तीसवां वर्ष उपस्थित हुआ है। इसके अतिरिक्त पहले सब सेनाकी व्यूहरचना होनेपर महाराज युधिष्ठिर-ने निदारुण उत्पातोंको देखकर जो आशङ्का की थी, इस समय भी वही उपस्थित हुआ है । (२०—२२)

श्रीकृष्णने इतनी बात कहके ही उस दैवकृत दुर्निमित्तोंको सत्य करनेकी अ-भिलाषसे ही उस समय तीर्थयात्राके लिये आज्ञा की । तब पुरुषवृन्द नगरके बीच इस प्रकार ढिंढोरा देने लगे, कि हे पुरुषपुङ्गवगण ! केशवकी आज्ञानुसार

वैशम्पायन उवाच– काली स्त्री पाण्डुरैर्दन्तैः प्रविश्य हसती निशि ।
स्त्रियः स्वप्नेषु मुष्णन्ती द्वारकां परिधावति ॥ १ ॥
अग्निहोत्रनिकेतेषु वास्तुमध्येषु वेश्मसु ।
वृष्ण्यन्धकानखादन्त स्वप्ने गृध्रा भयानकाः ॥ २ ॥
अलङ्काराश्च छत्रं च ध्वजाश्च कवचानि च ।
ह्रियमाणान्यदृश्यन्त रक्षोभिः सुभयानकैः ॥ ३ ॥
तच्चाग्निदत्तं कृष्णस्य वज्रनाभमयोमयम् ।
दिवमाचक्रमे चक्रं वृष्णीनां पश्यतां तदा ॥ ४ ॥
युक्तं रथं दिव्यमादित्यवर्णं हया हरन्पश्यतो दारुकस्य ।
ते सागरस्योपरिष्टादवर्तन्मनोजवाश्चतुरो वाजिमुख्याः ॥ ५ ॥
तालः सुपर्णश्च महाध्वजौ तौ सुपूजितौ रामजनार्दनाभ्याम् ।
उच्चैर्जह्रुरप्सरसो दिवानिशं वाचश्चोचुर्गम्यतां तीर्थयात्राम् ॥ ६ ॥
ततो जिगमिषन्तस्ते वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
सान्तःपुरास्तदा तीर्थयात्रामैच्छन्नरर्षभाः ॥ ७ ॥

आप सब लोगोंको समुद्रकी तीर्थयात्रा करनी होगी । (२३—२४)

मौसलपर्वमें २ अध्याय समाप्त ।

मौसलपर्वमें ३ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, काली स्त्री रात्रिके समय पाण्डुर दांत निकाल के हंसते हंसते यादवोंके गृहमें प्रवेश कर तथा निद्रावस्थामें यादवोंकी स्त्रियोंके मङ्गलसूत्रादि हरती हुई द्वारका नगरमें सर्वत्र घूमने लगी । वृष्णि और अन्धकवंशीय लोग स्वप्नमें ऐसा देखने लगे, कि गृध्रगण उनके गृहवास्तुके बीच तथा अग्निहोत्रके गृहोंमें उन्हें भक्षण करते हैं; भयानक निशाचरोंके द्वारा उनके अलङ्कार, छत्र, ध्वजा और कवच अपहृत होते हैं । पहले अग्निने जो अयोमय वज्रनाभ चक्र प्रदान किया था, वार्ष्णेय लोगोंके सामनेही वह आकाशमें चला गया । दारुकके सम्मुखमेंही उसके मनोजव घोडोंने उस जुते हुए आदित्यवर्ण दिव्य रथको हरण करते हुए समुद्रके बीच गमन किया । (१—५)

राम और जनार्दन ताल तथा सुवर्ण नाम जिन दो महाध्वजाओंकी सदा पूजा करते थे, आकाशसे उन दोनोंको किसीने हर लिया और अप्सरावृन्द दिनरात ऐसा कहने लगीं कि 'तुम लोग तीर्थयात्रा करो' । अनन्तर वृष्णि और अन्धकवंशीय महारथ मनुजपुङ्गव-

ततो भोज्यं च भक्ष्यं च पेयं चान्धकवृष्णयः ।
बहु नानाविधं चक्रुर्मद्यं मांसमनेकशः ॥ ८ ॥
ततः सैनिकवर्गाश्च निर्ययुर्नगराद्बहिः ।
यानैरश्वैर्गजैश्चैव श्रीमन्तस्तिग्मतेजसः ॥ ९ ॥
ततः प्रभासे न्यवसन्यथोद्दिष्टं यथागृहम् ।
प्रभूतभक्ष्यपेयास्ते सदारा यादवास्तदा ॥ १० ॥
निविष्टांस्तान्निशम्याथ समुद्रान्ते स योगवित् ।
जगामामन्त्र्य तान्वीरानुद्धवोऽर्थविशारदः ॥ ११ ॥
तं प्रस्थितं महात्मानमभिवाद्य कृताञ्जलिम् ।
जानन्विनाशं वृष्णीनां नैच्छद्वारयितुं हरिः ॥ १२ ॥
ततः कालपरीतास्ते वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
अपश्यन्नुद्धवं यान्तं तेजसाऽऽवृत्य रोदसी ॥ १३ ॥
ब्राह्मणार्थेषु यत्सिद्धमन्नं तेषां महात्मनाम् ।
तद्वानरेभ्यः प्रददुः सुरागन्धसमन्वितम् ॥ १४ ॥

गण जिगमिषु होकर अन्तःपुरचारिणी स्त्रियोंके सहित तीर्थयात्रा करनेके लिये अभिलाषी हुए। उस समय उन लोगों ने अनेक प्रकारकी भक्ष्य, भोज्य और पीनेकी वस्तु तैयार करके बहुतसा मद्य और मांस मङ्गाया और उग्र पराक्रमी समुज्ज्वल सैनिक पुरुषोंके सहित घोडे, हाथी और यानोंमें चढके नगरसे बाहिर हुए। (६—९)

इस ही प्रकार वे सस्त्रीक यदुवंशी लोग बहुतसी पीने तथा खानेकी वस्तुओंके सहित प्रभास तीर्थमें जाकर इच्छानुसार गृहवासके अनुरूप सुखभोग करने लगे। उस समय मोक्षविशारद उद्धवने उन लोगोंको उस समुद्रके तटपर सन्निविष्ट देखके योगबलसे सब जानके उन वीरोंको आमन्त्रण करते हुए प्रस्थान किया। उस महात्माके हाथ जोडकर प्रणाम करते हुए प्रस्थित होनेपर भी भगवान् कृष्ण ने उन्हें निवारण करनेकी चेष्टा नहीं की, क्योंकि वृष्णिवंशियोंके नष्ट होनेका विषय वह पहलेसे ही जानते थे। कालके वशमें हुए वृष्णि तथा अन्धकवंशीय महारथोंने इतना ही देखा, कि उद्धव निज तेजके सहारे पृथ्वीतल और आकाशको परिपूरित करते हुए जा रहे हैं। (१०—१३)

ब्राह्मणोंके निमित्त जो सब अन्न पकाया गया था, उन लोगोंने मदमत्त

ततस्तूर्यशताकीर्णं नटनर्तकसंकुलम् ।
अवर्तत महापानं प्रभासे तिग्मतेजसाम् ॥ १५ ॥
कृष्णस्य सन्निधौ रामः सहितः कृतवर्मणा ।
अपिबद्युयुधानश्च गदो बभ्रुस्तथैव च ॥ १६ ॥
ततः परिषदो मध्ये युयुधानो मदोत्कटः ।
अब्रवीत्कृतवर्माणमवहास्यावमन्य च ॥ १७ ॥
कः क्षत्रियो हन्यमानः सुप्तान्हन्यान्मृतानिव ।
तन्न मृष्यन्ति हार्दिक्य यादवा यत्त्वया कृतम् ॥ १८ ॥
इत्युक्ते युयुधानेन पूजयामास तद्वचः ।
प्रद्युम्नो रथिनां श्रेष्ठो हार्दिक्यमवमन्य च ॥ १९ ॥
ततः परमसंक्रुद्धः कृतवर्मा तमब्रवीत् ।
निर्दिशन्निव सावज्ञं तदा सव्येन पाणिना ॥ २० ॥
भूरिश्रवाश्छिन्नबाहुर्युद्धे प्रायगतस्त्वया ।
वधेन सुनृशंसेन कथं वीरेण पातितः ॥ २१ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा केशवः परवीरहा ।
तिर्यक्सरोषया दृष्ट्या वीक्षाञ्चक्रे स मन्युमान् ॥२२॥

होके वह सब अन्न वानरोंको प्रदान किया। इस ही प्रकार उद्धवके चले जानेपर उस प्रभासतीर्थमें उग्रवीर्य यादवोंके सैकडों तूर्यशब्द तथा नट-नर्तकोंके नृत्य गीतादियुक्त महापान आरम्भ हुआ। राम, कृतवर्मा, सात्यकि, गद और बभ्रु प्रभृति वीरगण कृष्णके सम्मुखमें ही मद्य पीने लगे। इतने ही समयमें सात्यकि मतवाला होकर सभाके बीच उपहास और अवमानना करते हुए कृतवर्मासे बोला, हे हार्दिक्य! कौन पुरुष क्षत्रियकुलमें जन्म लेकर मृतकसदृश सोते हुए लोगोंका वध किया करता है? तुमने जो कार्य किया है, यदुवंशी लोग उसे कदापि न सहेंगे। (१४—१८)

सात्यकिने जब ऐसा कहा, तब रथिश्रेष्ठ प्रद्युम्नने कृतवर्माकी अवज्ञा करते हुए सात्यकिके कहे हुए वचनकी बहुत ही प्रशंसा की। उसे सुनकर कृतवर्मा अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और बायां हाथ अवज्ञासे दिखाके बोला, भुजा कटने पर जब भूरिश्रवा रणमें योगयुक्त होकर बैठा था, तब तुमने वीर होकर किस प्रकार नृशंसकी भांति वध करते हुए उसे रणके बीच गिराया था? उसकी

मणिः स्यमन्तकश्चैव यः स सत्राजितोऽभवत् ।
तां कथां श्रावयामास सात्यकिर्मधुसूदनम् ॥ २३ ॥
तच्छ्रुत्वा केशवस्याङ्कमगमद्रुदती तदा ।
सत्यभामा प्रकुपिता कोपयन्ती जनार्दनम् ॥ २४ ॥
तत उत्थाय सक्रोधः सात्यकिर्वाक्यमब्रवीत् ।
पञ्चानां द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्नशिखण्डिनोः ॥ २५ ॥
एष गच्छामि पदवीं सत्येन च तथा शपे ।
सौप्तिके ये च निहताः सुप्ता येन दुरात्मना ॥ २६ ॥
द्रोणपुत्रसहायेन पापेन कृतवर्मणा ।
समाप्तमायुरस्याद्य यशश्चैव सुमध्यमे ॥ २७ ॥
इत्येवमुक्त्वा खड्गेन केशवस्य समीपतः ।
अभिद्रुत्य शिरः क्रुद्धश्चिच्छेद कृतवर्मणः ॥ २८ ॥
तथाऽन्यानपि निघ्नन्तं युयुधानं समन्ततः ।
अभ्यधावद्धृषीकेशो विनिवारयितुं तदा ॥ २९ ॥
एकीभूतास्ततः सर्वे कालपर्यायचोदिताः ।

इतनी बात सुनके केशिनिषूदन केशव बहुतही क्रुद्ध हुए और क्रोधपूर्वक तिरछे नेत्रसे उसे देखने लगे। (१९-२२)

उस समय सात्यकिने सत्राजितकी स्यमन्तक मणिसम्बन्धीय सब संवाद मधुसूदनको सुनाया; उसे सुनके सत्यभामा क्रुद्ध होकर जनार्दन केशवके क्रोधको उद्दीपित करनेके निमित्त रोती हुई उनकी गोदीमें गिरी। अनन्तर सात्यकि क्रोधपूर्वक उठके बोला। हे सुमध्यमे! मैं सत्यके सहारे शपथ करके कहता हूं, कि धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदीके पांचों पुत्रोंने जिस पदवीमें गमन किया है, मैं भी वही पदवीका अनुसरण करता हूं। जिस पापीने द्रोणपुत्रकी सहायतासे सौप्तिकमें वीरोंका विनाश किया था, आज उस दुरात्मा कृतवर्माका यश तथा आयुकाल शेष हुआ है। (२३—२७)

सात्यकी इतनी बात कहके ही क्रोधपूर्वक दौडा और केशवके सामने ही तलवारसे कृतवर्माका सिर काटा और उसके बान्धवोंका वध करते हुए चारों ओर घूमने लगा; कृष्ण उसे निवारण करनेके लिये आगे बढे। महाराज! इतनेही समयमें भोज और अन्धकवंशियोंने कालप्रेरितकी भांति एकत्रित होकर शिनिनन्दनको घेर लिया। परन्तु

भोजान्धका महाराज शैनेयं पर्यवारयन् ॥ ३० ॥
तान्दृष्ट्वा पततस्तूर्णमभिक्रुद्धान् जनार्दनः ।
न चुक्रोध महातेजा जानन्कालस्य पर्ययम् ॥ ३१ ॥
ते तु पानमदाविष्टाश्चोदिताः कालधर्मणा ।
युयुधानमथाभ्यघ्नन्नुच्छिष्टैर्भाजनैस्तदा ॥ ३२ ॥
हन्यमाने तु शैनेये क्रुद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
तदनन्तरमागच्छन्मोक्षयिष्यन् शिनेः सुतम् ॥ ३३ ॥
स भोजैः सह संयुक्तः सात्यकिश्चान्धकैः सह ।
व्यायच्छमानौ तौ वीरौ बाहुद्रविणशालिनौ ॥ ३४ ॥
बहुत्वान्निहतौ तत्र उभौ कृष्णस्य पश्यतः ।
हतं दृष्ट्वा च शैनेयं पुत्रं च यदुनन्दनः ॥ ३५ ॥
एरकानां ततो मुष्टिं कोपाज्जग्राह केशवः ।
तदभून्मुसलं घोरं वज्रकल्पमयोमयम् ॥ ३६ ॥
जघान कृष्णस्तांस्तेन ये ये प्रमुखतोऽभवन् ।
ततोऽन्धकाश्च भोजाश्च शैनेया वृष्णयस्तथा ॥ ३७ ॥
जघ्नुरन्योन्यमाक्रन्दे मुसलैः कालचोदिताः ।
यस्तेषामेरकां कश्चिज्जग्राह कुपितो नृप ॥ ३८ ॥

महातेजस्वी कृष्ण उन लोगोंको क्रोधपूर्वक शीघ्रतासे आते हुए देखकर भी क्रुद्ध न हुए; क्योंकि वह कालविपर्ययके विषय पहलेसे ही जानते थे। (२८—३१)

अनन्तर वे मदमत्त वीरगण मानो कालप्रेरित होके ही जूठे भाजनोंसे सात्यकिको मारने लगे। उस समय रुक्मिणीपुत्र शैनेयको पीडित देखके उसकी रक्षा करनेके निमित्त क्रोधपूर्वक दौडके भोजगणोंके सङ्ग और सात्यकि अन्धकवंशियोंके सङ्ग युद्धमें प्रवृत्त हुए। बाहुबलशाली वे दोनों वीर बहुत युद्ध करके भी शत्रुओंको बहुतायतके कारण कृष्णके सामने ही मारे गये। यदुनन्दन कृष्णने पुत्र और शिनिनन्दनको मरा हुआ देखकर क्रोधपूर्वक एक मुट्ठी एरका (पटेर) ग्रहण किया, वह वज्रसदृश अयोमय मुसल होगया। (३२-३६)

अनन्तर जिसे सामने पाया, उस मुसलसे ही उन सबका नाश कर डाला। उसे देखकर कालप्रेरित अन्धक, भोज, शैनेय और वृष्णिवंशीयगण उस ही मुसलभूत एरका (पटेर) लेकर

वज्रभूतेव सा राजन्नदृश्यत तदा विभो ।
तृणं च मुसलीभूतमपि तत्र व्यदृश्यत ॥ ३९ ॥
ब्रह्मदण्डकृतं सर्वमिति तद्विद्धि पार्थिव ।
अविध्यान्विध्यते राजन्प्रक्षिपन्ति स्म यत्तृणम् ॥४०॥
तद्वज्रभूतं मुसलं व्यदृश्यत तदा दृढम् ।
अवधीत्पितरं पुत्रः पिता पुत्रं च भारत ॥ ४१ ॥
मत्ताः परिपतन्ति स्म योधयन्तः परस्परम् ।
पतङ्गा इव चाग्नौ ते निपेतुः कुकुरान्धकाः ॥ ४२ ॥
नासीत्पलायने बुद्धिर्वध्यमानस्य कस्यचित् ।
तत्रापश्यन्महाबाहुर्जानन्कालस्य पर्ययम् ॥ ४३ ॥
मुसलं समवष्टभ्य तस्थौ स मधुसूदनः ।
साम्बं च निहतं दृष्ट्वा चारुदेष्णं च माधवः ॥ ४४ ॥
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च ततश्चुक्रोध भारत ।
गदं वीक्ष्य शयानं च भृशं कोपसमन्वितः ॥ ४५ ॥
स निःशेषं तदा चक्रे शार्ङ्गचक्रगदाधरः ।

परस्परमें एक दूसरेका नाश करने लगे । हे विभु महाराज ! उस समय उन लोगोंके बीच जिस किसीने कुपित होकर एक भी एरका (पटेर) ग्रहण किया, ब्रह्मशापसे वही वज्रकी भांति सारवान् हुआ तथा समस्त तृण भी मुसल होगये । (३७—३९)

हे महाराज ! वे लोग जो सब तृण चलाने लगे, वे सब भी वज्रकी भांति सारवान् मुसल होकर वधानर्ह लोगोंका वध करते हुए दीख पडे । हे भारत ! वे लोग इस प्रकार मतवारे हुए थे, कि परस्परयुद्धमें प्रवृत्त होकर पिता पुत्र को और पुत्र पिताको मारके गिराने लगे। हे महाराज! जैसे पतङ्ग अग्निमें जा पडते हैं वैसे ही वे कुकुर और अन्धकवंशीय लोग युद्धमें गिरने लगे; तथापि किसीको भागनेकी इच्छा न हुई; महाबाहु मधुसूदन कालके उलट फेरके विषयको जान सके थे, इसलिये उस युद्धमें जो मुसल देखा, वही ग्रहण करके उसहीसे सबका विनाश करने लगे। (४०-४४)

शार्ङ्ग धनुष, गदा और चक्रधारी दाशार्ह माधव, साम्ब, चारुदेष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा गद प्रभृति वीरोंको मरे वा पृथ्वीमें पडे हुए देखकर अत्यन्त क्रुद्ध होकर उस ही भांति बचे हुए लोगोंका नाश करते हुए यदुकुलको

तं निघ्नन्तं महातेजा बभ्रुः परपुरञ्जयः ॥ ४६ ॥
दारुकश्चैव दाशार्हमूचतुर्यन्निबोध तत् ।
भगवान्निहताः सर्वे त्वया भूयिष्ठशो नराः ।
रामस्य पदमन्विच्छ तत्र गच्छाम यत्र सः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां मौसलपर्वणि
कृतवर्मादीनां परस्परहनने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो ययुर्दारुकः केशवश्च बभ्रुश्च रामस्य पदं पतन्तः ।
अथापश्यन् राममनन्तवीर्यं वृक्षे स्थितं चिन्तयानं विविक्ते ॥ १ ॥
ततः समासाद्य महानुभावं कृष्णस्तदा दारुकमन्वशासत् ।
गत्वा कुरून्सर्वमिमं महान्तं पार्थाय शंसस्व वधं यदूनाम् ॥ २ ॥
ततोऽर्जुनः क्षिप्रमिहोपयातु श्रुत्वा मृतान्यादवान्ब्रह्मशापात् ।
इत्येवमुक्तः स ययौ रथेन कुरूंस्तदा दारुको नष्टचेताः ॥ ३ ॥
ततो गते दारुके केशवोऽथ दृष्ट्वान्तिके बभ्रुमुवाच वाक्यम् ।
स्त्रियो भवान् रक्षितुं यातु शीघ्रं नैता हिंस्युर्दस्यवो वित्तलोभात् ॥४॥

निःशेषप्राय किया; तब परपुरविजयी महातेजस्वी बभ्रु और दारुकने उनके समीप जाके जो कहा, उसे सुनिये। वे लोग बोले, हे भगवन्! आपने सब का विनाश करके यदुकुलको निःशेषप्राय किया है, इस समय जिस स्थानमें राम निवास करते हैं, वहां चलिये, हम भी आपके अनुगामी होते हैं। (४४—४७)

मौसलपर्वमें ३ अध्याय समाप्त ।

मौसलपर्वमें ४ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर केशव, दारुक और बभ्रुने शीघ्र ही वहां से चलकर रामके समीप जाके देखा कि वह अनन्तवीर्य निर्जन स्थानमें वृक्षके ऊपर बैठके ध्यान कर रहे हैं। माधवने बलदेवको वैसे भावसे उपस्थित देखकर दारुकसे कहा, तुम शीघ्र जाके कौरवों को विशेष करके अर्जुनके समीप यादवोंका दारुण मृत्युसंवाद कहो और जिस प्रकार यादवोंके ब्रह्मशापजनित मृत्युको समाचार सुनके अर्जुन शीघ्र इस स्थानमें आवें, उस विषयमें यत्नवान् होना। इतनी बात सुनके दारुक विकलचित्तसे रथपर चढके कौरवोंके निकट गया। (१—३)

दारुकके जानेपर केशव पशवारेकी ओर स्थित बभ्रुकी ओर देखकर बोले, आप शीघ्र द्वारकानगरमें जाकर स्त्रियोंकी रक्षा करिये; जिससे डाकू लोग

स प्रस्थितः केशवेनानुशिष्टो मदातुरो ज्ञातिवधार्दितश्च ।
तं विश्रान्तं सन्निधौ केशवस्य दुरन्तमेकं सहसैव बभ्रुम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मानुशप्तमवधीन्महद्वै कूटे युक्तं मुसलं लुब्धकस्य ।
ततो दृष्ट्वाभिहतं बभ्रुमाह कृष्णोऽग्रजं भ्रातरमुग्रतेजाः ॥ ६ ॥
इहैव त्वं मां प्रतीक्षस्व राम यावत् स्त्रियो ज्ञातिवशाः करोमि ।
ततः पुरीं द्वारवतीं प्रविश्य जनार्दनः पितरं प्राह वाक्यम् ॥ ७ ॥
स्त्रियो भवान् रक्षतु नः समग्रा धनञ्जयस्यागमनं प्रतीक्षन् ।
रामो वनान्ते प्रतिपालयन्मामास्तेऽद्याहं तेन समागमिष्ये ॥ ८ ॥
दृष्टं मयेदं निधनं यदूनां राज्ञां च पूर्वं कुरुपुङ्गवानाम् ।
नाहं विना यदुभिर्यादवानां पुरीमिमामशकं द्रष्टुमद्य ॥ ९ ॥
तपश्चरिष्यामि निबोध तन्मे रामेण सार्धं वनमभ्युपेत्य ।
इतीदमुक्त्वा शिरसा च पादौ संस्पृश्य कृष्णस्त्वरितो जगाम ॥१०॥
ततो महानिनदः प्रादुरासीत्सस्त्रीकुमारस्य पुरस्य तस्य ।
अथाब्रवीत्केशवः सन्निवर्त्य शब्दं श्रुत्वा योषितां क्रोशतीनाम् ॥११॥

धनके लोभसे उन की हिंसा न कर सकें। ज्ञातिवधसे दुःखी मदसे मतवारा बभ्रु अत्यन्त थके रहनेपर भी केशवकी ऐसी आज्ञा सुनके जाने लगा, इतने ही समयमें ब्रह्मशापवश किसी व्याधके एक कूटसंयुक्त दुरन्त मुसलने सहसा गिरके कृष्णके निकट ही उसका जीवन हर लिया। उग्रवीर्य माधव बभ्रुको मरा हुआ देखके अग्रज भ्राता रामसे बोले, जब तक मैं स्त्रियोंको स्वजनोंकी रक्षामें रखकर न लौटूं, तबतक आप इस ही स्थानमें मेरी प्रतीक्षा करिये। (४—७)

जनार्दन इतनी बात कहके ही द्वारकानगरमें प्रवेश करके पितासे बोले जबतक अर्जुन न आवें, तबतक आप इन पुरनारियोंकी रक्षा करिये। राम वनके बीच मेरी प्रतीक्षा करते हैं, इसलिये आज मैं शीघ्र जाके उनके संग मिलूंगा। पहले असंख्य राजाओं और कौरवोंका मरना तथा इस समय यादवोंकी मृत्यु देखकर इस यादवरहित यदुनगरीमें रहनेकी मुझे अभिलाषा नहीं होती है; इसलिये अब मैंने ऐसा निश्चय किया है, कि रामके सहित वनवासी होकर शेष समय तपस्यामें व्यतीत करूंगा। श्रीकृष्ण इतनी बात कहके ही सिर झुका उनके दोनों चरणोंको छूके शीघ्रताके सहित वहांसे चले, तब पुरके बीच स्त्रियों और बालकोंके रोदनकी महान् ध्वनि प्रकट हुई। (७—११)

पुरीमिमामेष्यति सव्यसाची स वो दुःखान्मोचयिता नराग्र्यः ।
ततो गत्वा केशवस्तं ददर्श रामं वने स्थितमेकं विविक्ते ॥ १२ ॥
अथापश्यद्योगयुक्तस्य तस्य नागं मुखान्निश्चरन्तं महान्तम् ।
श्वेतं ययौ स ततः प्रेक्ष्यमाणो महार्णवो येन महानुभावः ॥ १३ ॥
सहस्रशीर्षः पर्वताभोगवर्ष्मा रक्ताननः स्वां तनुं तां विमुच्य ।
सम्यक्च तं सागरः प्रत्यगृह्णान्नागा दिव्याः सरितश्चैव पुण्याः ॥१४॥
कर्कोटको वासुकिस्तक्षकश्च पृथुश्रवा अरुणः कुञ्जरश्च ।
मिश्री शङ्खः कुमुदः पुण्डरीकस्तथा नागो धृतराष्ट्रो महात्मा ॥१५॥
ह्रादः क्राथः शितिकण्ठोग्रतेजास्तथा नागौ चक्रमन्दातिषण्डौ ।
नागश्रेष्ठो दुर्मुखश्चाम्बरीषः स्वयं राजा वरुणश्चापि राजन् ॥१६ ॥
प्रत्युद्गम्य स्वागतेनाभ्यनन्दस्ते पूजयंश्चार्घ्यपाद्यक्रियाभिः ।
ततो गते भ्रातरि वासुदेवो जानन्सर्वा गतयो दिव्यदृष्टिः ॥ १७ ॥
वने शून्ये विचरंश्चिन्तयानो भूमौ चाथ संविवेशाग्र्यतेजाः ।
सर्वं तेन प्राक्तदा वित्तमासीद्गान्धार्या यद्वाक्यमुक्तः स पूर्वम् ॥१८॥
दुर्वाससा पायसोच्छिष्टलिप्ते यच्चाप्युक्तं तच्च सस्मार वाक्यम् ।

उसे सुन केशव लौटकर उन रोनेवाली स्त्रियोंसे बोले, नरश्रेष्ठ अर्जुन इस द्वारकापुरीमें आके तुम लोगोंका दुःख दूर करेंगे। अनन्तर केशवने वनके बीच जाके देखा, कि राम निर्जनमें एकले योगयुक्त होके बैठे हैं और उनके मुखसे एक श्वेतवर्ण महानाग बाहिर आरहा है। जिसके द्वारा समुद्र अपनेको महानुभाव कहके बोध करता था, देखते देखते वह सहस्रशीर्ष पर्वतभोगसदृश लोहितवदन नागने अपनी पार्थिव तनु परित्याग करके समुद्रमें प्रवेश किया। हे महाराज! उस समय समुद्र, पवित्र नदियें, उग्र तेजस्वी महात्मा कर्कोटक, वासुकी, तक्षक, पृथुश्रवा, वरुण, कुञ्जर, मिश्री, शंख, कुमुद, पुण्डरीक, धृतराष्ट्र, ह्राद, क्राथ, शितिकण्ठ, चक्रमन्द, अतिषण्ड, दुर्मुख, और अम्बरीष प्रभृति श्रेष्ठ नागों तथा राजा वरुणने स्वयं उठके उन्हें ग्रहण करते हुए स्वागत प्रश्न तथा पाद्य अर्घ्य से पूजा की। (११-१७)

उग्रवीर्य कृष्ण भ्राताको गमन करते देखकर दिव्य दृष्टिके सहारे कालकी सारी गतिका पर्यवेक्षण करके निर्जन वनमें घूमते घूमते पृथ्वीमें बैठे! उस महानुभावने पहलेसे ही इन सब विषयोंको सोचा था, तथापि पहले गांधारी

संचिन्तयन्नन्धकवृष्णिनाशं कुरुक्षयं चैव महानुभावः ॥ १९ ॥
मेने ततः संक्रमणस्य कालं ततश्चकारेन्द्रियसन्निरोधम् ।
तथा च लोकत्रयपालनार्थमात्रेयवाक्यप्रतिपालनाय ॥ २० ॥
देवोऽपि सन्देहविमोक्षहेतोर्निर्णीतमैच्छत्सकलार्थतत्त्ववित् ।
स सन्निरुद्धेन्द्रियवाङ्मनास्तु शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः ॥२१॥
जराऽथ तं देशमुपाजगाम लुब्धस्तदानीं मृगलिप्सुरुग्रः ।
स केशवं योगयुक्तं शयानं मृगासक्तो लुब्धकः सायकेन ॥ २२ ॥
जराऽविध्यत्पादतले त्वरावांस्तं चाभितस्तज्जिघृक्षुर्जगाम ।
अथापश्यत्पुरुषं योगयुक्तं पीताम्बरं लुब्धकोऽनेकबाहुम् ॥ २३ ॥
मत्वाऽऽत्मानं त्वपराद्धं स तस्य पादौ जरा जगृहे शङ्कितात्मा ।
आश्वासयंस्तं महात्मा तदानीं गच्छन्नूर्ध्वं रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या ॥२४॥
दिवं प्राप्तं वासवोऽथाश्विनौ च रुद्रादित्या वसवश्चाथ विश्वे ।
प्रत्युद्ययुर्मुनयश्चापि सिद्धा गन्धर्वमुख्याश्च सहाप्सरोभिः ॥ २५ ॥

के वचन तथा जूठा पायस लेप करने के समयमें दुर्वासाने जो कहा था, उसे स्मरण कर कुरु, अन्धक और वृष्णि-वंशियोंके मृत्युका विषय सोचके उस समयको संक्रमणका उपयुक्त काल समझके इन्द्रियोंको संयत किया । इसके अतिरिक्त वह सर्वार्थतत्त्ववित् देवश्रेष्ठ कृष्ण समर्थ होके भी महर्षि अत्रिके वचनको प्रतिपालन तथा तीनों लोकों की स्थिति और सन्देहनिराकरणके हेतु नियमित मृत्युके अधीन होनेके अभिलाषी होकर वाङ्मनःप्रभृति इन्द्रियनिरोधरूपी महायोग अवलंबन करके सोये । (१७-२१)

इतने ही समयमें जरा नाम किसी उग्रमूर्ति व्याधने मृगयाभिलाषी होकर उस स्थानमें आके सोये हुए योगयुक्त माधवको मृग जानके शीघ्रही बाणसे विद्ध करके पकडनेकी इच्छासे निकट गया और समीप पहुंचके उस योगयुक्त पीताम्बरधारी चतुर्भुज पुरुषको देखकर अपनेको अपराध करनेवाला समझ शङ्कितचित्तसे उनका दोनों चरण धारण किया । उस समय महात्मा माधव उसे आश्वासित करके निज तेजके सहारे आकाश और पृथ्वीको परिपूरित करते हुए ऊपरकी ओर गये । उनके स्वर्गके निकट पहुंचनेपर मुनिगण, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य, वसु, विश्वदेवगण, अप्सराओंके सहित गन्धर्व और सिद्धगणोंने उठके उनकी अभ्यर्थना की । (२२—२५)

ततो राजन्भवानुग्रतेजा नारायणः प्रभवश्चाव्ययश्च ।
योगाचार्यो रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या स्थानं प्राप स्वं महात्माऽप्रमेयम् २६॥
ततो देवैर्ऋषिभिश्चापि कृष्णः समागतश्चारणैश्चैव राजन् ।
गन्धर्वाग्र्यैरप्सरोभिर्वराभिः सिद्धैः साध्यैश्चानतैः पूज्यमानः ॥२७॥
तं वै देवाः प्रत्यनन्दन्त राजन्मुनिश्रेष्ठा ऋग्भिरानर्चुरीशम् ।
तं गन्धर्वाश्चापि तस्थुः स्तुवन्तः प्रीत्या चैनं पुरुहूतोऽभ्यनन्दत् ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां मौसलपर्वणि
श्रीकृष्णस्य स्वलोकगमने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच– दारुकोऽपि कुरून्गत्वा दृष्ट्वा पार्थान्महारथान् ।
आचष्ट मौसले वृष्णीनन्योन्येनोपसंहृतान् ॥ १ ॥
श्रुत्वा विनष्टान्वार्ष्णेयान् सभोजान्धककौकुरान् ।
पाण्डवाः शोकसंतप्ता वित्रस्तमनसोऽभवन् ॥ २ ॥
ततोऽर्जुनस्तानामन्त्र्य केशवस्य प्रियः सखा ।
प्रययौ मातुलं द्रष्टुं नेदमस्तीति चाब्रवीत ॥ ३ ॥
स वृष्णिनिलयं गत्वा दारुकेण सह प्रभो ।

हे महाराज ! तिसके अनन्तर वह उग्रवीर्य योगाचार्य सर्वभूतप्रभव अव्यय महात्मा भगवान् नारायण निज शोभा के सहारे सुरलोकको प्रकाशित करते हुए देवता, ऋषि और चारणोंके सहित मिलके तथा प्रणत हुए मुख्य सिद्ध गन्धर्व और अप्सराओंसे पूजित होकर अपने धामकी ओर गये । हे नरनाथ ! उस समय श्रेष्ठ मुनियोंने ऊंचे स्वरसे ऋक् उच्चारण करते हुए उस जगदीश्वरका यश गाया, इन्द्रादि देवताओंने स्वागत प्रश्नादिसे उन्हें प्रत्यभिनन्दित किया और गन्धर्व लोग प्रीतिपूर्वक उनकी स्तुति गान करते हुए उनका अनुसरण करने लगे । (२६–२८)

मौसलपर्वमें ४ अध्याय समाप्त ।

मौसलपर्वमें ५ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, इधर दारुकने कौरवोंके नगरमें जाके पृथापुत्रोंके समीप वार्ष्णेय लोगोंके परस्परमें मुसल-घटित युद्ध तथा मरनेका संवाद कथन किया । पाण्डुके सब पुत्र भोज, अन्धक और कुक्कुरगणोंके सहित वार्ष्णेय-लोगोंका मरना सुनके अत्यन्त ही शोक सन्तप्त तथा व्याकुलचित्त हुए । अनन्तर केशवके प्रिय सखा अर्जुन बोले, बोध होता है, यदुकुल नष्ट हुआ; इतनी बात कहके सबको आमन्त्रण करते हुए

ददर्श द्वारकां वीरो मृतनाथामिव स्त्रियम् ॥ ४ ॥
याः स्म ता लोकनाथेन नाथवन्त्यः पुराऽभवन् ।
तास्त्वनाथास्तदा नाथं पार्थं दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ॥ ५ ॥
षोडश स्त्रीसहस्राणि वासुदेवपरिग्रहः ।
तासामासीन्महान्नादो दृष्ट्वैवार्जुनमागतम् ॥ ६ ॥
तास्तु दृष्ट्वैव कौरव्यो बाष्पेणापिहितेक्षणः ।
हीनाः कृष्णेन पुत्रैश्च नाशकत्सोऽभिवीक्षितुम् ॥ ७ ॥
स तां वृष्ण्यन्धकजलां हयमीनां रथोडुपाम् ।
वादित्ररथघोषौघां वेश्मतीर्थमहाह्रदाम् ॥ ८ ॥
रत्नशैवलसंघातां वज्रप्राकारमालिनीम् ।
रथ्यास्रोतोजलावर्तां चत्वरस्तिमितह्रदाम् ॥ ९ ॥
रामकृष्णमहाग्राहां द्वारकां सरितं तदा ।
कालपाशग्रहां भीमां नदीं वैतरणीमिव ॥ १० ॥
ददर्श वासविर्धीमान्विहीनां वृष्णिपुङ्गवैः ।
गतश्रियं निरानन्दां पद्मिनीं शिशिरे यथा ॥ ११ ॥

निज मातुल वसुदेवको देखनेके लिये चले। हे महाराज! उस वीरने दारुकके सहित वृष्णियोंके निवासस्थानमें जाके देखा, कि द्वारकानगरी नाथरहित स्त्री की भांति शोभाविहीन हुई है; जो पहले लोकनाथ कृष्णके अधिष्ठानसे सनाथ हुई थीं, उन नाथरहित स्त्रियोंने इस समय नाथसखा अर्जुनको देखतेही रोदन करना आरम्भ किया। श्रीकृष्ण-की सोलह हजार स्त्रियां अर्जुनको आया हुआ देखके महाशब्दके सहित रोदन करने लगीं; उनके भी दोनों नेत्र आंसूसे परिपूरित हुए और वह उन यदुकुल-भूषण कृष्णकी तथा पुत्रादिरहित यादवोंकी स्त्रियोंकी ओर देखनेमें भी समर्थ न हुए। (१—७)

अनन्तर इधर उधर पर्यवेक्षण करते हुए देखा, कि शीतकालकी श्रीविहीन कमलिनीकी भांति वृष्णिपुङ्गवोंसे रहित कालपाशग्रस्त यादवनगरी वृष्णि और अन्धकवंशरूपी जल, घोडेरूपी मीन, रथरूप नाव, बाजे और रथशब्दरूप ओघ, प्रासादरूप महाह्रद घट, रत्नसमूहरूपी शिवार, वज्रप्राकाररूपी माला, रथ्या-रूपी स्रोतजल और भवंर, चत्वररूपी स्थिर ह्रद और रामकृष्णरूपी ग्राहशा-लिनी भयङ्करी वैतरनी नदीकी भांति मालूम होती है। (८-११)

तां दृष्ट्वा द्वारकां पार्थस्ताश्च कृष्णस्य योषितः ।
सस्वनं बाष्पमुत्सृज्य निपपात महीतले ॥ १२ ॥
सात्राजिती ततः सत्या रुक्मिणी च विशाम्पते ।
अभिपत्य प्ररुरुदुः परिवार्य धनञ्जयम् ॥ १३ ॥
ततस्तं काञ्चने पीठे समुत्थाप्योपवेश्य च ।
अब्रुवन्त्यो महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ॥ १४ ॥
ततः संस्तूय गोविन्दं कथयित्वा च पाण्डवः ।
आश्वास्य ताः स्त्रियश्चापि मातुलं द्रष्टुमभ्यगात् ॥१५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां मौसलपर्वणि अर्जुनागमे पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच– तं शयानं महात्मानं वीरमानकदुन्दुभिम् ।
पुत्रशोकेन संतप्तं ददर्श कुरुपुङ्गवः ॥ १ ॥
तस्याश्रुपरिपूर्णाक्षो व्यूढोरस्को महाभुजः ।
आर्तस्यार्ततरः पार्थः पादौ जग्राह भारत ॥ २ ॥
तस्य मूर्धानमाघ्रातुमियेषानकदुन्दुभिः ।
स्वस्रीयस्य महाबाहुर्न शशाक च शत्रुहन् ॥ ३ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! पृथापुत्र अर्जुन द्वारका तथा श्रीकृष्णकी स्त्रियोंकी ऐसी अवस्था देखके सशब्द रोते हुए पृथ्वी-पर गिर पडे; उसे देखके रुक्मिणी और सत्राजितपुत्री सत्यभामा प्रभृति कृष्णकी स्त्रियां शीघ्र ही उस स्थानमें आके उनके चारों ओर रोदन करने लगीं। अनन्तर वे स्त्रियां उस महात्माको उठाके रत्नमय पीठपर बिठलाकर निर्ज-नमें उनके चारों ओर बैठीं; तब अर्जुनने भगवान् के कार्योंको कहकर अनेक प्रकारसे उनकी स्तुतिकर कृष्णकी स्त्रियोंको आश्वासित करके मामाको देखनेके लिये गमन किया। (१२–१५)

मौसलपर्वमें ५ अध्याय समाप्त।

मौसलपर्वमें ६ अध्याय ।

कुरुपुङ्गव धनञ्जयने वसुदेवके गृहमें जाके देखा, कि वह पुत्रशोकसे दुःखी वीरवर महात्मा सोये हुए हैं। हे भारत! उस समय विशालवक्ष महाभुज पृथा-नन्दनने आंखोंमें आंसू भरके अधिक आर्तभावसे उनके दोनों चरणोंको ग्रहण किया; महाबाहु अरिन्दम वृद्ध आनक-दुन्दुभि भानजेके मस्तकको सूंघनेके अभिलाषी होके भी शोकवशसे पहले असमर्थ हुए। अनन्तर बहुत कष्टसे

समालिङ्ग्यार्जुनं वृद्धः स भुजाभ्यां महाभुजः ।
रुदन्पुत्रान्स्मरन्सर्वान् विललाप सुविह्वलः ॥ ४ ॥
भ्रातॄन्पुत्रांश्च पौत्रांश्च दौहित्रान् स सखीनपि ।
वसुदेव उवाच— यैर्जिता भूमिपालाश्च दैत्याश्च शतशोऽर्जुन ॥ ५ ॥
तान् दृष्ट्वा नेह पश्यामि जीवाम्यर्जुन दुर्मरः ।
यौ तावर्जुन शिष्यौ ते प्रियौ बहुमतौ सदा ॥ ६ ॥
तयोरपनयात्पार्थ वृष्णयो निधनं गताः ।
यौ तौ वृष्णिप्रवीराणां द्वावेवातिरथौ मतौ ॥ ७ ॥
प्रद्युम्नो युयुधानश्च कथयन्कत्थसे च यौ ।
तौ सदा कुरुशार्दूल कृष्णस्य प्रियभाजनौ ॥ ८ ॥
तावुभौ वृष्णिनाशस्य मुखमास्तां धनञ्जय ।
न तु गर्हामि शैनेयं हार्दिक्यं चाहमर्जुन ॥ ९ ॥
अक्रूरं रौक्मिणेयं च शापो ह्येवात्र कारणम् ।
केशिनं यस्तु कंसं च विक्रम्य जगतः प्रभु ॥ १० ॥
विदेहावकरोत्पार्थ चैद्यं च बलगर्वितम् ।
नैषादिमेकलव्यं च चक्रे कालिङ्गमागधान् ॥ ११ ॥

अपने दोनों भुजाओंके सहारे महाभुज अर्जुनको आलिंगन करके पुत्र, पौत्र, दौहित्र, भ्राता और बान्धवों को स्मरण करते हुए विह्वलचित्तसे रोदन तथा विलाप करने लगे। (१—५)

वसुदेव बोले, हे धनञ्जय! बोध होता है, मेरी मृत्यु नहीं है, कारण जिन्होंने सैकडों दैत्यों तथा राजाओंको जीता था, मैं उन्हें न देखके भी अबतक जीवन धारण करता हूं। हे पार्थ! जो दो पुरुष तुम्हारे अत्यन्त प्रिय शिष्य थे, उनकी दुर्नीतिसे वार्ष्णेयगण मारे गये हैं। हे कुरुशार्दूल धनञ्जय! जो दो पुरुष वृष्णिवंशियोंके बीच अतिरथ तथा कृष्णके प्यारे थे और तुम कथाछलसे सदा जिनकी प्रशंसा करते थे, वे प्रद्युम्न और सात्यकि दोनों ही वृष्णिवंशके विनाशके अधिनायक हैं। हे अर्जुन! अथवा सात्यकि, कृतवर्मा, रुक्मिणीपुत्र वा अक्रूरको दोष नहीं दे सकता; क्यों कि ऋषियोंका शाप ही हम लोगोंके वंशनाश–विषयमें कारण हुआ है। (५–१०)

हे पार्थ! जिस जगत्प्रभुने विक्रमके सहित केशी, कंस और शिशुपालको मारा और निषदराज एकलव्य, काशी-

गान्धारान्काशिराजं च मरुभूमौ च पार्थिवान् ।
प्राच्यांश्च दाक्षिणात्यांश्च पार्वतीयांस्तथा नृपान् ॥१२॥
सोऽभ्युपेक्षितवानेतमनयान्मधुसूदनः ।
त्वं हि तं नारदश्चैव मुनयश्च सनातनम् ॥ १३ ॥
गोविन्दमनघं देवमभिजानीध्वमच्युतम् ।
प्रत्यपश्यच्च स विभुर्ज्ञातिक्षयमधोक्षजः ॥ १४ ॥
समुपेक्षितवान्नित्यं स्वयं स मम पुत्रकः ।
गान्धार्या वचनं यत्तदृषीणां च परन्तप ॥ १५ ॥
तन्नूनमन्यथा कर्तुं नैच्छत्स जगतः प्रभुः ।
प्रत्यक्षं भवतश्चापि तव पौत्रः परन्तप ॥ १६ ॥
अश्वत्थाम्ना हतश्चापि जीवितस्तस्य तेजसा ।
इमांस्तु नैच्छत्स्वान् ज्ञातीन् रक्षितुं च सखा तव ॥१७॥
ततः पुत्रांश्च पौत्रांश्च भ्रातॄनथ सखींस्तथा ।
शयानान्निहतान्दृष्ट्वा ततो मामब्रवीदिदम् ॥ १८ ॥
संप्राप्तोऽद्यायमस्यान्तः कुलस्य भरतर्षभ ।
आगमिष्यति बीभत्सुरिमां द्वारवतीं पुरीम् ॥ १९ ॥

राज पौण्ड्रक, कलिङ्ग, मागध, गांधार, प्राच्य, दाक्षिणात्य, पर्वतीय और मरु- देशीय राजाओंको अपने वशमें किया था, उस मधुसूदनने बालकोंके अपराधसे वंशनाश-विषयमें उपेक्षा किया। हे अर्जुन! मेरा वह पुत्र अनघ गोविन्द जो सनातन विष्णु था, उसे तुम जानते हो और मैंने भी नारद तथा अन्यान्य मुनियोंके निकट सुना था। हे परन्तप! जब उस अधोक्षज विभु जगदीश्वरने कुलक्षयके विषयको जान सकनेपर भी उपेक्षा किया, तब निश्चय बोध होता है, कि वह गांधारी तथा महाभाग ऋषियोंके वचनको अन्यथा करनेके अभिलाषी नहीं हुए। हे अरिन्दम! तुम्हारे पुत्रको अश्वत्थामाके द्वारा मरा हुआ देखके उन्होंने सम्मुखमें ही निज तेजके सहारे उसे फिर जिलाया था; परन्तु इस समय निज ज्ञातिगणोंको मरते हुए देखके भी रक्षा करनेकी इच्छा नहीं की। (१०—१७)

हे भारत! तुम्हारे उस सखाने निज पुत्र, पौत्र, भ्राता तथा सङ्गियोंको मरके सोये हुए देखकर मुझसे यह वचन कहा, "आज इस यदुकुलके नाशका समय उपस्थित है; इसलिये जब आप

आख्येयं तस्य यद्वृत्तं वृष्णीनां वैशसं महत् ।
स तु श्रुत्वा महातेजा यदूनां निधनं प्रभो ॥ २० ॥
आगन्ता क्षिप्रमेवेह न मेऽत्रास्ति विचारणा ।
योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु ॥ २१ ॥
यद्ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति बुद्ध्यस्व भारत ।
स स्त्रीषु प्राप्तकालासु पाण्डवो बालकेषु च ॥ २२ ॥
प्रतिपत्स्यति बीभत्सुर्भवतश्चौर्ध्वदेहिकम् ।
इमां च नगरीं सद्यः प्रतियाते धनञ्जये ॥ २३ ॥
प्राकाराट्टालकोपेतां समुद्रः प्लावयिष्यति ।
अहं देशे तु कस्मिंश्चित्पुण्ये नियममास्थितः ॥ २४ ॥
कालं कर्ता सद्य एव रामेण सह धीमता ।
एवमुक्त्वा हृषीकेशो मामचिन्त्यपराक्रमः ॥ २५ ॥
हित्वा मां बालकैः सार्धं दिशं कामप्यगात्प्रभुः ।
सोऽहं तौ च महात्मानौ चिन्तयन् भ्रातरौ तव ॥ २६ ॥
घोरं ज्ञातिवधं चैव न भुञ्जे शोककर्शितः ।
न भोक्ष्ये न च जीविष्ये दिष्ट्या प्राप्तोऽसि पाण्डव ॥ २७ ॥

धनञ्जयको वार्ष्णेयलोगोंके इस निदारुण मृत्यु-संवाद प्रदान करेंगे, तब वह द्वारकानगरीमें आवेंगे। हे प्रभु! वह महातेजस्वी यदुवंशियोंके मरनेका संवाद सुनते ही जो शीघ्र इस स्थानमें आवेंगे, उसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है; जो अर्जुन वही मैं हूं और जो मैं वही अर्जुन है, हम दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है; इसलिये वह जैसा कहेंगे, उसहीके अनुसार कार्यके अनुवर्ती होना। वह पाण्डुपुत्र अर्जुनही काल-परीत बालक, स्त्री तथा आपका भी और्ध्वदैहिक कार्य करेंगे, धनञ्जयके द्वारकासे चले जानेपर समुद्र उस ही समय प्राकार तथा अटालिओंके सहित इस नगरीको डुबा देगा। मैं बुद्धिमान् रामके सहित किसी पवित्र स्थानमें योग अवलम्बन करके देहत्याग करूंगा; मैंने जो कहा, आप इसमें तनिक भी सन्देह न करिये। (१८-२५)

हे पार्थ! अचिन्त्यपराक्रमी सर्व-शक्तिमान् हृषीकेशने इतनी बात कहके ही बालकोंके सहित मुझे परित्याग करके प्रस्थान किया है। इस समय मैं तुम्हारे उन दोनों महात्मा भाइयों और इस निदारुण ज्ञातिवधके विषयकी

यदुक्तं पार्थ कृष्णेन तत्सर्वमखिलं कुरु ।
एतत्ते पार्थ राज्यं च स्त्रियो रत्नानि चैव हि ।
इष्टान्प्राणानहं हीमांस्त्यक्ष्यामि रिपुसूदन ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां मौसलपर्वणि
अर्जुनवसुदेवसंवादे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच– एवमुक्तः स बीभत्सुर्मातुलेन परन्तप ।
दुर्मना दीनवदनो वसुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥
नाहं वृष्णिप्रवीरेण बन्धुभिश्चैव मातुल ।
विहीनां पृथिवीं द्रष्टुं शक्यामीह कथश्चन ॥ २ ॥
राजा च भीमसेनश्च सहदेवश्च पाण्डवः ।
नकुलो याज्ञसेनी च षडेकमनसो वयम् ॥ ३ ॥
राज्ञः संक्रमणे चापि कालोऽयं वर्तते ध्रुवम् ।
तमिमं विद्धि संप्राप्तं कालं कालविदां वर ॥ ४ ॥
सर्वथा वृष्णिदारास्तु बालं वृद्धं तथैव च ।
नयिष्ये परिगृह्याहमिन्द्रप्रस्थमरिन्दम ॥ ५ ॥

चिन्ता करके अत्यन्त शोकपीडित हुआ हूं और आहारादि परित्याग किया है, क्यों कि जीवनधारण तथा भोजनादि करनेकी इच्छा नहीं है। हे पाण्डुनन्दन! तुम मेरे भाग्यसे ही आये हो, इस समय कृष्णने जो कहा है, वह सब पूरा करो। हे अरिनिषूदन पृथानन्दन! इस राज्य, ऐश्वर्य, स्त्रियों और अपने प्रिय प्राणको भी तुम्हारे हाथमें सौंपता हूं, जो करना हो वह करो (२५—२८)

मौसलपर्वमें ६ अध्याय समाप्त ।

मौसलपर्वमें ७ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, दीनवदन बीभत्सु अर्जुन मातुल वसुदेवका ऐसा वचन सुनके बोले– " मामा ! मैं उन वृष्णिप्रवीर तथा बांधवोंसे रहित इस पृथ्वीको अब कदापि देखनेकी अभिलाष नहीं कर सकूंगा । बोध होता है, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल– सहदेव और द्रौपदीकी भी ऐसी ही दशा होगी; क्यों कि हम छःही एकान्तःकरण हैं । हे धर्मज्ञ ! धर्मराजका भी संक्रमणकाल उपस्थित हुआ है, इसलिये आप निश्चय जानिये; कि वह शीघ्र ही मृत्युके वशमें होंगे । इस समय मैं यदुवंशियोंकी स्त्रियों तथा बालकोंको शीघ्र ही इन्द्रप्रस्थमें लें जाऊंगा।"(१–५)

इत्युक्त्वा दारुकमिदं वाक्यमाह धनञ्जयः ।
अमात्यान्वृष्णिवीराणां द्रष्टुमिच्छामि मा चिरम् ॥६॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं सुधर्मां यादवीं सभाम् ।
प्रविवेशार्जुनः शूरः शोचमानो महारथान् ॥ ७ ॥
तमासनगतं तत्र सर्वाः प्रकृतयस्तथा ।
ब्राह्मणा नैगमास्तत्र परिवार्योपतस्थिरे ॥ ८ ॥
तान्दीनमनसः सर्वान्विमूढान्गतचेतसः ।
उवाचेदं वचः काले पार्थो दीनतरस्तथा ॥ ९ ॥
शक्रप्रस्थमहं नेष्ये वृष्ण्यन्धकजनं स्वयम् ।
इदं तु नगरं सर्वं समुद्रः प्लावयिष्यति ॥ १० ॥
सज्जीकुरुत यानानि रत्नानि विविधानि च ।
वज्रोऽयं भवतां राजा शक्रप्रस्थे भविष्यति ॥ ११ ॥
सप्तमे दिवसे चैव रवौ विमल उद्गते ।
बहिर्वत्स्यामहे सर्वे सज्जीभवत मा चिरम् ॥ १२ ॥
इत्युक्तास्तेन ते सर्वे पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
सज्जमाशु ततश्चक्रुः स्वासिद्ध्यर्थं समुत्सुकाः ॥ १३ ॥

धनञ्जय मामासे इतनी बात कहके दारुकसे बोले, चलो अब विलम्बकी अवश्यकता नहीं है, इस समय वृष्णि-वंशियोंके मन्त्रियोंसे भेंटकर आऊं। शूरवर अर्जुन इतनी बात कहके महारथ यादवोंके निमित्त शोक करते करते सुधर्मा नामी यादवोंकी सभामें जाके आसनपर बैठे। तब ब्राह्मण, वणिक् तथा प्रजापुञ्ज उनके चारों ओर एकत्रित हुए। पृथापुत्रने उन लोगोंको दीनचित्त किंकर्तव्यविमूढ तथा मुमूर्षुप्राय देखकर दीनभावसे उस समयके अनुसार यह वचन कहा, थोड़े ही दिनके बीच समुद्र द्वारकानगरको डूबावेगा, इसलिये मैं वृष्णि और अंधकवंशके अवशिष्ट लोगोंको इन्द्रप्रस्थमें ले जाऊंगा और उस ही स्थानमें वज्रको तुम लोगोंके राजपदपर प्रतिष्ठित करूंगा; इसलिये तुम लोग अनेक प्रकारके यान तथा रत्नोंको सज्जित करो। आजसे सौर––सप्तम दिवसमें हम लोग नगरसे बाहिर होंगे। इसलिये तुम लोग विलम्ब न करके इतनेही समयके बीच सज्जित हुए रहो। (६—१२)

अक्लिष्टकर्मा पृथानन्दनकी ऐसी आज्ञा सुनके वे सब कोई निज निज

तां रात्रिमवसत्पार्थः केशवस्य निवेशने ।
महता शोकमोहेन सहसाऽभिपरिप्लुतः ॥ १४ ॥
श्वो भूतेऽथ ततः शौरिर्वसुदेवः प्रतापवान् ।
युक्त्वाऽऽत्मानं महातेजा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥१५॥
ततः शब्दो महानासीद्वसुदेवनिवेशने ।
दारुणः क्रोशतीनां च रुदतीनां च योषिताम् ॥ १६ ॥
प्रकीर्णमूर्धजाः सर्वा विमुक्ताभरणस्रजः ।
उरांसि पाणिभिर्घ्नन्त्यो व्यलपन् करुणं स्त्रियः ॥१७॥
तं देवकी च भद्रा च रोहिणी मदिरा तथा ।
अन्वारोहन्त च तदा भर्तारं योषितां वराः ॥ १८ ॥
ततः शौरिं नृयुक्तेन बहुमूल्येन भारत ।
यानेन महता पार्थो बहिर्निष्क्रामयत्तदा ॥ १९ ॥
तमन्वयुस्तत्र तत्र दुःखशोकसमन्विताः ।
द्वारकावासिनः सर्वे पौरजानपदाहिताः ॥ २० ॥
तस्याश्वमेधिकं छत्रं दीप्यमानाश्च पावकाः ।
पुरस्तात्तस्य यानस्य याजकाश्च ततो ययुः ॥ २१ ॥
अनुजग्मुश्च तं वीरं देव्यस्ता वै स्वलङ्कृताः ।

प्राणरक्षाके निमित्त उत्सुक हुए और शीघ्र ही यानादि सज्जित करने लगे। अर्जुनने भी महत् शोक और मोहसे अभिभूत होकर उस रात्रिमें केशवके गृहमें निवास किया, दूसरे दिन भोरमें ही प्रतापवान् महातेजस्वी वसुदेव योग अवलम्बन करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए। उस समय वसुदेवके गृहमें रोनेवाली स्त्रियोंकी विदारुण रोदनध्वनि प्रकट हुई; वे स्त्रियें केशोंको खोलती तथा आभूषणोंको परित्याग करती हुई दोनों हाथोंसे अपने अपने वक्षस्थलमें आघात तथा करुणस्वरसे विलाप करने लगीं। स्त्रीरत्न देवकी, भद्रा, मदिरा और रोहिणी स्वामीके सहित चितामें चढनेकी अभिलाषिणी हुई। (१३-१८)

अनन्तर धनञ्जयने मनुष्य-वाहित महाई महत् यानके सहारे शौरिके शवको नगरसे बाहिर किया, उस समय अत्यन्त अनुरक्त द्वारकानिवासी प्रजासमूह दुःख और शोकयुक्त होके उनके पीछे पीछे चलने लगे। याजकवृन्द अग्रगामी हुए और अश्वमेधिक द्रव्य, प्रदीप्त अग्नि तथा छत्र उनके यानके आगे उपस्थित होने

स्त्रीसहस्रैः परिवृता वधूभिश्च सहस्रशः ॥ २२ ॥
यस्तु देशः प्रियस्तस्य जीवतोऽभून्महात्मनः ।
तत्रैनमुपसंकल्प्य पितृमेधं प्रचक्रिरे ॥ २३ ॥
तं चिताग्निगतं वीरं शूरपुत्रं वराङ्गनाः ।
ततोऽन्वारुरुहुः पत्न्यश्चतस्रः पतिलोकगाः ॥ २४ ॥
तं वै चतसृभिः स्त्रीभिरन्वितं पाण्डुनन्दनः ।
अदाहयच्चन्दनैश्च गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ २५ ॥
ततः प्रादुरभूच्छब्दः समिद्धस्य विभावसोः ।
सामगानां च निर्घोषो नराणां रुदतामपि ॥ २६ ॥
ततो वज्रप्रधानास्ते वृष्ण्यन्धककुमारकाः ।
सर्वे चैवोदकं चक्रुः स्त्रियश्चैव महात्मनः ॥ २७ ॥
अलुप्तधर्मस्तं धर्मं कारयित्वा स फाल्गुनः ।
जगाम वृष्णयो यत्र विनष्टा भरतर्षभ ॥ २८ ॥
स तान् दृष्ट्वा निपतितान्कदने भृशदुःखितः ।
बभूवातीव कौरव्यः प्राप्तकालं चकार ह ॥ २९ ॥

लगा। देवकी प्रभृति देवीगण अलङ्कारोंसे सज्जित और असंख्य स्त्रियों तथा वधूगणोंसे घिरकर उस वीरके पीछे चलने लगीं। अनन्तर जो स्थान जीवित समयमें उस महात्मा शूरपुत्रको परम प्रिय था, उस ही स्थानमें उनके शवको स्थापित करके पितृमेध कार्य आरम्भ हुआ। उनकी स्त्रीरत्न चारों रानियें चिताग्निके बीच उस वीरके सहित चितापर बैठकर पतिलोकमें गईं। (१९—२४)

इस ही प्रकार जब पाण्डुनन्दन चन्दनादि अनेक प्रकारकी सुगन्धित वस्तुओंसे चारों स्त्रियोंके सहित उस शवको जला रहे थे, तब समृद्ध अग्नि, सामग ब्राह्मणों और रोनेवाले लोगोंका शब्द एक ही समयमें प्रकट हुआ। तिसके अनन्तर वज्र प्रभृति वृष्णिकुमारों तथा यादवोंकी स्त्रियोंने मिलके उस महात्माका तर्पणकार्य पूरा किया। हे भरतपुङ्गव! धार्मिकश्रेष्ठ धनञ्जय धर्मके अनुसार उन कार्योंको पूरा करके जहां वार्ष्णेयगण विनष्ट हुए थे, उस स्थानमें गये। कुरुनन्दन उस स्थानमें पहुंचके उन सब लोगोंको रणमें मरे हुए देखकर अत्यन्त दुःखित हुए और उस समयके अनुसार कार्य करनेके लिये अभिलाषी होकर जो लोग ब्रह्मशापसे

यथाप्रधानतश्चैव चक्रे सर्वास्तथा क्रियाः ।
ये हता ब्रह्मशापेन मुसलैरेरकोद्भवैः ॥ ३० ॥
ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः ।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ३१ ॥
स तेषां विधिवत्कृत्वा प्रेतकार्याणि पाण्डवः ।
सप्तमे दिवसे प्रायाद्रथमारुह्य सत्वरः ॥ ३२ ॥
अश्वयुक्तै रथैश्चापि गोखरोष्ट्रयुतैरपि ।
स्त्रियस्ता वृष्णिवीराणां रुदत्यः शोककर्शिताः ॥ ३३ ॥
अनुजग्मुर्महात्मानं पाण्डुपुत्रं धनञ्जयम् ।
भृत्याश्चान्धकवृष्णीनां सादिनो रथिनश्च ये ॥ ३४ ॥
वीरहीनं वृद्धबालं पौरजानपदास्तथा ।
ययुस्ते परिवार्याथ कलत्रं पार्थशासनात् ॥ ३५ ॥
कुञ्जरैश्च गजारोहा ययुः शैलनिभैस्तथा ।
सपादरक्षैः संयुक्ताः सान्तरा युधिका ययुः ॥ ३६ ॥
पुत्राश्चान्धकवृष्णीनां सर्वे पार्थमनुव्रताः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव महाधनाः ॥ ३७ ॥
दश षट् च सहस्राणि वासुदेवावरोधनम् ।

एरकासे प्रकट मुसलके सहारे मरे थे, प्रधानताके अनुसार उन लोगोंका अन्त्येष्टिकार्य किया । (२५ — ३०)

अनंतर अनुगत लोगोंके द्वारा राम और कृष्णके शरीरका अनुसन्धान कराके विधिपूर्वक जलाया और प्रेतकार्य पुरा करके सातवें दिन उस स्थानसे बाहिर हुए । वृष्णिवंशियोंकी शोककर्षित स्त्रियें रोदन करती हुई घोडे, बैल खचर और ऊंटोंसे चलनेवाले रथोंमें चढके महात्मा पाण्डुपुत्र धनञ्जयकी अनुगामिनी हुई । अन्धक और वृष्णिवंशीय रथी तथा घुडसवार प्रभृति सेवक वृन्द, पुरवासी और जनपदवासी लोग पार्थकी आज्ञानुसार उन बालक और बूढोंसे युक्त वीरविहीन स्त्रियोंकी रक्षा करनेके लिये उनके चारों ओर चले और पदत्राणयुक्त पदाति तथा गजारोही पुरुष पर्वतसदृश हाथियोंपर चढके आगे पीछे चलने लगे । (३१—३६)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, महाधनवान् वैश्य और शूद्रगण तथा अन्धक वा वृष्णिवंशीय बालकगण पार्थके अनुगामी हुए । धीमान् वसुदेवनन्दन कृष्णकी सोलह

पुरस्कृत्य ययुर्वज्रं पौत्रं कृष्णस्य धीमतः ॥ ३८ ॥
बह्वूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
भोजवृष्ण्यन्धकस्त्रीणां हतनाथानि निर्ययुः ॥ ३९ ॥
तत्सागरसमप्रख्यं वृष्णिचक्रं महर्धिमत् ।
उवाह रथिनां श्रेष्ठः पार्थः परपुरञ्जयः ॥ ४० ॥
निर्याते तु जने तस्मिन्सागरो मकरालयः ।
द्वारकां रत्नसंपूर्णां जलेनाप्लावयत्तदा ॥ ४१ ॥
यद्यद्धि पुरुषव्याघ्रो भूमेस्तस्या व्यमुञ्चत ।
तत्तत्संप्लावयामास सलिलेन स सागरः ॥ ४२ ॥
तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य द्वारकावासिनो जनाः ।
तूर्णात्तूर्णतरं जग्मुरहो दैवमिति ब्रुवन् ॥ ४३ ॥
काननेषु च रम्येषु पर्वतेषु नदीषु च ।
निवसन्नानयामास वृष्णिदारान् धनञ्जयः ॥ ४४ ॥
स पञ्चनदमासाद्य धीमानतिसमृद्धिमत् ।
देशे गोपशुधान्याढ्ये निवासमकरोत्प्रभुः ॥ ४५ ॥
ततो लोभः समभवद्दस्यूनां निहतेश्वराः ।

सहस्र स्त्रियें उनके परपोते वज्रको आगे करके बाहिर हुई, वृष्णि और अन्धक-वंशीय हतनाथा करोडों स्त्रियेंभी उनकी अनुगामिनी हुई। इस ही प्रकार परपुर-विजयी रथिश्रेष्ठ पार्थ उन मरनेसे बचे हुए महान् समृद्धिशाली वृष्णिवंशियोंको साथ लेकर चलने लगे। (३७-४०)

उन लोगोंके बाहिर होनेपर मगरा-लय समुद्रने समग्र रत्नपूरित द्वारका-नगरीको जलमें डुबाया। पुरुषशार्दूल धनञ्जय वहांपर भूमागका जो जो अंश परित्याग करने लगे, समुद्र शीघ्र ही उन स्थानोंको जलसे डुबाने लगा। द्वारकावासी लोग वह अद्भुत घटना देखके कहने लगे, ओहो ! कैसी दैवदुर्घटना है ! ऐसा कहते हुए जितना शीघ्र होसका, नगरसे बाहिर हुए। इधर धीमान् अर्जुनने बीच बीचमें रमणीय वन, पर्वत तथा नदियोंके तटपर निवास करते हुए यादवोंकी स्त्रियोंको साथ लेकर जाते जाते एक दिन पञ्च-नदके समीपवर्ती गोपशु तथा धान्यसे पूर्ण किसी एक स्थानमें निवास किया। (४१—४५)

हे भारत ! उस स्थानमें बहुतसे डाकू वास करते थे। वे लोग धनञ्जयको

दृष्ट्वा स्त्रियो नीयमानाः पार्थेनैकेन भारत ॥ ४६ ॥
ततस्ते पापकर्माणो लोभोपहतचेतसः ।
आभीरा मन्त्रयामासुः सामात्याः शुभदर्शनाः ॥ ४७ ॥
अयमेकोऽर्जुनो धन्वी वृद्धबालं हतेश्वरम् ।
नयत्यस्मानतिक्रम्य योधाश्चेमे हतौजसः ॥ ४८ ॥
ततो यष्टिप्रहरणा दस्यवस्ते सहस्रशः ।
अभ्यधावन्त वृष्णीनां तं जनं लोप्त्रहारिणः ॥ ४९ ॥
महता सिंहनादेन त्रासयन्तः पृथग्जनम् ।
अभिपेतुर्वधार्थं ते कालपर्यायचोदिताः ॥ ५० ॥
ततो निवृत्तः कौन्तेयः सहसा सपदानुगः ।
उवाच तान्महाबाहुरर्जुनः प्रहसन्निव ॥ ५१ ॥
निवर्तध्वमधर्मज्ञा यदि जीवितुमिच्छथ ।
इदानीं शरनिर्भिन्नाः शोचध्वं निहता मया ॥ ५२ ॥
तथोक्तास्तेन वीरेण कदर्थीकृत्य तद्वचः ।
अभिपेतुर्जनं मूढा वार्यमाणाः पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

अकेले हतनाथा स्त्रियोंको लेके जाते हुए देख लोभके वशमें हुए । हे महाराज ! उन पापकर्म करनेवाले आभीरकगणने लोभसे अन्धे होकर परस्पर मिलके इस प्रकार सलाह की, कि अर्जुन एकला धनुर्धर है और उसके सब योद्धा लोग तेजरहित हैं; इसलिये हम लोग अतिक्रम करके किसी प्रकार भी इन बचे हुए बाल बूढोंके सहित हतनाथा स्त्रियोंको लेकर जानेमें समर्थ होंगे । (४६—४८)

वे परधन हरनेवाले अनगिनत डाकूलोग इसही प्रकार सलाह करके लाठीरूपी अस्त्र लेकर वृष्णिवंशियोंकी स्त्रियोंकी ओर दौडे । हे भारत ! वे लोग अन्यान्य अनुयात्रियोंको सिंहनादसे डराते हुए मानो काल-प्रेरित होके ही अर्जुनको वध करनेके लिये जाने लगे । उन्हें देखकर महाबाहु कुन्तिनन्दन धनञ्जय पदातियोंके सहित निवृत्त होके हंसते हंसते उनसे बोले, रे अधार्मिकगण ! यदि बचनेकी इच्छा हो, तो निवृत्त होजाओ, नहीं तो इस ही मुहूर्तमें मेरे बाणोंसे कटके तथा मरके अनुताप करना होगा । (४९—५२)

परन्तु मूढ भीलोंने वीरवर अर्जुनका ऐसा वचन सुनके तथा बार बार निवारित होके भी उनके वचनकी उपहास

ततोऽर्जुनो धनुर्दिव्यं गाण्डीवमजरं महत् ।
आरोपयितुमारेभे यत्नादिव कथञ्चन ॥ ५४ ॥
चकार सज्जं कृच्छ्रेण संभ्रमे तुमुले सति ।
चिन्तयामास शस्त्राणि न च सस्मार तान्यपि ॥५५॥
वैकृत्यं तन्महद्दृष्ट्वा भुजवीर्ये तथा युधि ।
दिव्यानां च महास्त्राणां विनाशाद्व्रीडितोऽभवत ॥५६॥
वृष्णियोधाश्च ते सर्वे गजाश्वरथयोधिनः ।
न शेकुरावर्तयितुं ह्रियमाणं च तं जनम् ॥ ५७ ॥
कलत्रस्य बहुत्वाद्धि संपतत्सु ततस्ततः ।
प्रयत्नमकरोत्पार्थो जनस्य परिरक्षणे ॥ ५८ ॥
मिषतां सर्वयोधानां ततस्ताः प्रमदोत्तमाः ।
समन्ततोऽवकृष्यन्त कामाचान्याः प्रवव्रजुः ॥ ५९ ॥
ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो धनञ्जयः ।
जघान दस्यून् सोद्वेगो वृष्णिभृत्यैः सहस्रशः ॥ ६० ॥
क्षणेन तस्य ते राजन्क्षयं जग्मुरजिह्मगाः ।

करते हुए स्त्रियोंकी ओर दौडे; तब अर्जुन अपने उत्तम महत् दिव्य अजर गाण्डीव धनुषपर रोदा चढानेकी इच्छासे बहुत यत्नके सहित नमाके अत्यन्त परिश्रम तथा कष्टसे रोदा चढाकर अस्त्रोंको स्मरण करने लगे, परन्तु कोई अस्त्र ही इस समय उनके स्मृति-पथमें न आया। कुन्तीपुत्र निज भुज-वीर्यकी विपरीतता तथा दिव्य महास्त्रोंका विनाश देखकर बहुत लज्जित हुए; इधर वृष्णिपक्षीय रथी तथा गज सवार प्रभृति योद्धा लोग उन ह्रिय-माण स्त्रियोंको लौटानेमें समर्थ न हुए। (५३—५७)

उन स्त्रियोंकी संख्या बहुत थी, इससे डाकू लोग चारों ओरसे आके आक्रमण करने लगे, धनञ्जयने स्त्रियों की रक्षा करनेके लिये बहुत यत्न किया; परन्तु डाकू लोग योद्धाओंके द्वारा निवारित होके भी उन स्त्रियोंको सब भांतिसे आकर्षण करके लेजाने लगे और कोई कोई स्त्री इच्छानुसार भीलोंकी अनुगामिनी हुई। उसे देख प्रभाव-शाली धनञ्जय अत्यन्त ही व्याकुल हुए और वृष्णिवंशीय सेवकोंके सहित गाण्डी-वसे छूटे हुए बाणोंसे डाकुओंको मारने लगे; हे महाराज! परन्तु जो बाण पहले विना रुधिर पीये हुए निवृत्त नहीं होते

अक्षया हि पुरा भूत्वा क्षीणाः क्षतजभोजनाः ॥६१॥
स शरक्षयमासाद्य दुःखशोकसमाहतः ।
धनुष्कोट्या तदा दस्यूनवधीत्पाकशासनिः ॥ ६२ ॥
प्रेक्षतस्त्वेव पार्थस्य वृष्ण्यन्धकवरास्त्रियः ।
जग्मुरादाय ते म्लेंच्छाः समन्ताज्जनमेजय ॥ ६३ ॥
धनञ्जयस्तु दैवं तन्मनसाऽचिन्तयत्प्रभुः ।
दुःखशोकसमाविष्टो निःश्वासपरमोऽभवत् ॥ ६४ ॥
अस्त्राणां च प्रणाशेन बाहुवीर्यस्य संशयात् ।
धनुषश्चाविधेयत्वाच्छराणां संक्षयेण च ॥ ६५ ॥
बभूव विमनाः पार्थो दैवमित्यनुचिन्तयन् ।
न्यवर्तत ततो राजन्नेदमस्तीति चाब्रवीत् ॥ ६६ ॥
ततः शेषं समादाय कलत्रस्य महामतिः ।
हृतभूयिष्ठरत्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरत् ॥ ६७ ॥
एवं कलत्रमानीय वृष्णीनां हृतशेषितम् ।
न्यवेशयत कौरव्यस्तत्र तत्र धनञ्जयः ॥ ६८ ॥
हार्दिक्यतनयं पार्थो नगरं मार्तिकावतम् ।

थे, उस समय वे शीघ्रगामी अक्षयबाण क्षीणवीर्य होकर उनके सम्मुखमें ही निष्फल होने लगे। (५८—६१)

इन्द्रपुत्रने निज बाणोंको व्यर्थ होते देखकर दुःख और शोकसे अभिभूत होकर धनुषके कोनेसे डाकुओंको मारना आरम्भ किया। हे जनमेजय! परन्तु म्लेंछगण देखते देखते अर्जुनके सम्मुखमें ही वृष्णि और अन्धकवंशियोंकी स्त्रियोंको लेकर चले गये। प्रभावशाली धनञ्जय उस दैवदुर्घटनाके विषयको सोचकर दुःख तथा शोकसे अभिभूत होके लम्बी सांस छोडने लगे; वह अपने बाहुबल, अस्त्र और बाणोंका क्षय होना और शरासनको शासनके बाहिर देखकर मन मलिन होके बहुत समयतक यह सोच-कर कि यह दैवकृत है, नहीं तो कदापि ऐसा न होता, ऐसा वचन कहके निवृत्त हुए। (६२—६६)

हे भारत! अनन्तर महाबुद्धिमान् कुरुनन्दनने हरनेसे बचे हुए हृतरत्न यादवोंकी स्त्रियोंको कुरुक्षेत्रमें लाके जहां तहां वासस्थान प्रदान किया! वह कृतवर्माके पुत्र तथा हरनेसे बची हुई भोजराजकी स्त्रियोंको मार्तिकावत नगरमें स्थापित करते हुए अवशिष्ट

भोजराजकलत्रं च हृतशेषं नरोत्तमः ॥ ६९ ॥
ततो वृद्धांश्च बालांश्च स्त्रियश्चादाय पाण्डवः ।
वीरैर्विहीनान् सर्वांस्तान् शक्रप्रस्थे न्यवेशयत् ॥७०॥
यौयुधानिं सरस्वत्यां पुत्रं सात्यकिनः प्रियम् ।
न्यवेशयत धर्मात्मा वृद्धबालपुरस्कृतम् ॥ ७१ ॥
इन्द्रप्रस्थे ददौ राज्यं वज्राय परवीरहा ।
वज्रेणाक्रूरदारास्तु वार्यमाणाः प्रवव्रजुः ॥ ७२ ॥
रुक्मिणी त्वथ गान्धारी शैब्या हैमवतीत्यपि ।
देवी जाम्बवती चैव विविशुर्जातवेदसम् ॥ ७३ ॥
सत्यभामा तथैवान्या देव्यः कृष्णस्य संमताः ।
वनं प्रविविशू राजंस्तापस्ये कृतनिश्चयाः ॥ ७४ ॥
द्वारकावासिनो ये तु पुरुषाः पार्थमभ्ययुः ।
यथार्हं संविभज्यैनान्वज्रे पर्यददज्जयः ॥ ७५ ॥
स तत्कृत्वा प्राप्तकालं बाष्पेणापिहितोऽर्जुनः ।
कृष्णद्वैपायनं व्यासं ददर्शासीनमाश्रमे ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां मौसलपर्वणि वृष्णिकलत्राद्यानयने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

वीरविहीन बालक, वृद्ध और स्त्रियोंको इन्द्रप्रस्थमें ले गये। अनन्तर परवीर-निषूदन पाण्डुनन्दन धर्मात्मा पार्थ सात्यकिनन्दन युयुधानके प्रिय पुत्रको वृद्ध और बालकोंके सहित सरस्वती नदीके तटपर स्थापित करके वज्रको इन्द्र-प्रस्थका राज्य प्रदान किया। वज्रने इन्द्रप्रस्थमें राजा होकर अक्रूरकी स्त्रीको बार बार निषेध किया, तोभी उन्होंने प्रव्रज्याधर्म ग्रहण किया। (६८-७२)

रुक्मिणी, गान्धारी, शैब्या, हैमवती और जाम्बवती देवीने अग्निमें प्रवेश किया और श्रीकृष्णकी सत्यभामा प्रभृति अन्यान्य प्रिय स्त्रियें तपस्या करनेका निश्चय करके वनमें प्रविष्ट हुईं। जो द्वारकावासी लोग पृथापुत्र धनञ्जयके सङ्ग आये थे, अर्जुनने विभागक्रमसे उन लोगोंमेंसे बहुतेरे लोगोंको वज्रके समीप स्थापित किया। अर्जुनने यह सब समयके अनुसार कार्य करके आंखोंसे आंसू बहाते हुए भगवान् कृष्ण-द्वैपायन व्यास मुनिके आश्रममें जाके उनका दर्शन किया। (७३—७६)

मौसलपर्वमें ७ अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच- प्रविशन्नर्जुनो राजन्नाश्रमं सत्यवादिनः ।
ददर्शासीनमेकान्ते मुनिं सत्यवतीसुतम् ॥ १ ॥
स तमासाद्य धर्मज्ञमुपतस्थे महाव्रतम् ।
अर्जुनोऽस्मीति नामास्मै निवेद्याभ्यवदत्ततः ॥ २ ॥
स्वागतं तेऽस्त्विति प्राह मुनिः सत्यवतीसुतः ।
आस्यतामिति होवाच प्रसन्नात्मा महामुनिः ॥ ३ ॥
तमप्रतीतमनसं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।
निर्विण्णमनसं दृष्ट्वा पार्थं व्यासोऽब्रवीदिदम् ॥ ४ ॥
नखकेशदशाकुम्भवारिणा किं समुक्षितः ।
आवीरजानुगमनं ब्राह्मणो वा हतस्त्वया ॥ ५ ॥
युद्धे पराजितो वाऽसि गतश्रीरिव लक्ष्यसे ।
न त्वां प्रभिन्नं जानामि किमिदं भरतर्षभ ॥ ६ ॥
श्रोतव्यं चेन्मया पार्थ क्षिप्रमाख्यातुमर्हसि ।
अर्जुन उवाच- यः स मेघवपुः श्रीमान् बृहत्पङ्कजलोचनः ॥ ७ ॥
स कृष्णः सह रामेण त्यक्त्वा देहं दिवं गतः ।

मौसलपर्वमें ८ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज ! अर्जुनने व्यासदेवके आश्रममें जाकर देखा, कि मुनिश्रेष्ठ सत्यवतीपुत्र निर्जनमें अकेले बैठे हैं। उनको देखकर उन्होंने उस महाव्रती धार्मिकश्रेष्ठके निकट जाकर कहा, कि मैं अर्जुन हूं,- इस ही प्रकार अपना नाम सुनाके प्रणाम किया। महामुनि सत्यवतीपुत्र व्यास भी स्वागत प्रश्नके अनन्तर बैठनेको कहके धनञ्जयको कातर मन मलिन तथा बार बार लम्बी सांस छोडते हुए देखकर बोले; हे भरतपुङ्गव ! तुम्हें तो कभी पराजित होते नहीं सुना, तब इस समय इस प्रकार श्रीविहीन क्यों देखता हूं ? तुम नखके जल, केशके जल, दशावारि अथवा कुम्भके मुखोदकसे अभिषिक्त तो नहीं हुए हो ? क्या तुमने त्रिरात्रके बीच रजस्वलागमन वा ब्रह्महत्या की है अथवा किसी युद्धमें पराजित हुए हो ? हे पार्थ ! किस कारणसे तुम्हारी ऐसी अवस्था हुई है ? हे अर्जुन! यदि यह मेरे सुनने योग्य हो, तो शीघ्र प्रकाश करके कहो। (१—७)

अर्जुन बोले, जिसकी देहश्री बादलसदृश और दोनों नेत्र विशाल कमलदलके तुल्य थे, उस श्रीमान् कृष्णने

मौसले वृष्णिवीराणां विनाशो ब्रह्मशापजः ॥ ८ ॥
बभूव वीरान्तकरः प्रभासे लोमहर्षणः ।
एते शूरा महात्मानः सिंहदर्पा महाबलाः ॥ ९ ॥
भोजवृष्ण्यन्धका ब्रह्मन्नन्योन्यं तैर्हतं युधि ।
गदापरिघशक्तीनां सहाः परिघबाहवः ॥ १० ॥
त एरकाभिर्निहताः पश्य कालस्य पर्ययम् ।
हतं पञ्चशतं तेषां सहस्रं बाहुशालिनाम् ॥ ११ ॥
निधनं समनुप्राप्तं समासाद्येतरेतरम् ।
पुनः पुनर्न मृष्यामि विनाशममितौजसाम् ॥ १२ ॥
चिन्तयानो यदूनां च कृष्णस्य च यशस्विनः ।
शोषणं सागरस्येव पर्वतस्येव चालनम् ॥ १३ ॥
नभसः पतनं चैव शैत्यमग्नेस्तथैव च ।
अश्रद्धेयमहं मन्ये विनाशं शार्ङ्गधन्वनः ॥ १४ ॥
न चेह स्थातुमिच्छामि लोके कृष्णविनाकृतः ।
इतः कष्टतरं चान्यच्छृणु तद्वै तपोधन ॥ १५ ॥

रामके सहित शरीर छोडके सुरलोकमें गमन किया है। ब्रह्मशापवशसे प्रभासमें मुसलजनित युद्धमें वृष्णिवंशियोंका दारुण लोमहर्षण विनाश हुआ है। हे ब्रह्मन्! जो भोज, वृष्णि और अन्धक-वंशीय महाबली शूरवीर लोग सिंह-सदृश पराक्रान्त तथा दर्पशाली थे, वे लोग परस्पर युद्ध करके विनष्ट हुए हैं। हे महाभाग! कालकी उलटी गति देखिये, जिन लोगोंकी भुजा परिघके समान थीं और जो लोग परिघ तथा शक्ति प्रभृति आयुधोंके प्रहारको सहजमें ही सह सकते थे, वेही एरका (पटेरकी) चोटसे मरे हैं। (७—११)

हाय! पांच लाख यदुवंशीय विशा-लबाहु वीर परस्पर युद्धमें प्रवृत्त होके मारे गये हैं। मैं बार बार चिन्ता करता हूं, तथापि यदुवंशियों और श्रीकृष्णके मरनेमें मुझे तनिक भी विश्वास नहीं होता है। समुद्रके सूखना, पर्वतके चलना, आकाशके पतन तथा अग्निमें शीतगु-णकी भांति क्या श्रीकृष्णके विनाशमें किसी प्रकार श्रद्धा होसकती है? जो हो अब मैं श्रीकृष्णसे रहित होकर इस पृथ्वीमें रहनेकी इच्छा नहीं करता। हे तपोधन! इसके अतिरिक्त जिसकी चिन्ता करके मेरा मन सदा विदीर्ण होता है, इससे भी बढके कष्टका कारण

मनो मे दीर्यते येन चिन्तयानस्य वै मुहुः ।
पश्यतो वृष्णिदाराश्च मम ब्रह्मन्सहस्रशः ॥ १६ ॥
आभीरैरनुसृत्याजौ हृताः पञ्चनदालयैः ।
धनुरादाय तत्राहं नाशकं तस्य पूरणे ॥ १७ ॥
यथा पुरा च मे वीर्यं भुजयोर्न तथाऽभवत् ।
अस्त्राणि मे प्रनष्टानि विविधानि महामुने ॥ १८ ॥
शराश्च क्षयमापन्नाः क्षणेनैव समन्ततः ।
पुरुषश्चाप्रमेयात्मा शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १९ ॥
चतुर्भुजः पीतवासाः श्यामः पद्मदलेक्षणः ।
यश्च याति पुरस्तान्मे रथस्य सुमहाद्युतिः ॥ २० ॥
प्रदहन् रिपुसैन्यानि न पश्याम्यहमच्युतम् ।
येन पूर्वं प्रदग्धानि शत्रुसैन्यानि तेजसा ॥ २१ ॥
शरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैरहं पश्चाच्च नाशयम् ।
तमपश्यन्विषीदामि घूर्णामीव च सत्तम ॥ २२ ॥

सुनिये, हे ब्रह्मन् ! मैं यादवोंकी स्त्रियोंको लेकर आता था, इतने ही समयमें मार्गके बीच पञ्चनदनिवासी भीलोंने युद्धकी अभिलाष करके मेरे सामने ही देखते देखते उन स्त्रियोंको हरण किया है। (११—१७)

यद्यपि मैं उस समय अपना गाण्डीव धनुष धारण किये हुए था, परन्तु मेरी दोनों भुजा पहलेकी भांति पराक्रम प्रकाश करनेमें असमर्थ हुईं, मैं उस धनुषमें रोदा चढाके उसे खींच न सका। हे महामुनि ! उस समय मैं अनेक प्रकारके अस्त्रोंको भूल गया था और सब बाण मुहूर्त भरके बीच सब प्रकारसे तूणसे खाली होगये थे। हे तपोधन ! जिनके दोनों नेत्र कमलदलके सदृश विशाल थे, वेही शंख, चक्र और गदाधारी श्यामवर्ण चतुर्भुज पीताम्बरधारी अप्रमेयात्मा परम पुरुष गोविन्दको जब नहीं देखता हूं, तो अब मुझे जीवन धारण करनेसे क्या फल है? हाय ! वह महातेजस्वी शत्रुसेनाको जलाते हुए मेरे रथके आगे चलते थे, मैं उस अच्युतको अब नहीं देखता हूं। (१८—२१)

हाय ! वह आगे निज तेजके सहारे शत्रुसेनाको जलाते थे, तिसके बाद मैं गाण्डीवसे छूटे हुए बाणोंसे शत्रुओंका नाश करता था। हे सत्तम ! इस समय उन्हें न देखकर मैं दुःखित होता हूं,

परिनिर्विण्णचेताश्च शान्तिं नोपलभेऽपि च ।
विना जनार्दनं वीरं नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ २३ ॥
श्रुत्वैव हि गतं विष्णुं ममापि मुमुहुर्दिशः ।
प्रनष्टज्ञातिवीर्यस्य शून्यस्य परिधावतः ॥ २४ ॥
उपदेष्टुं मम श्रेयो भवानर्हति सत्तम ।
व्यास उवाच— ब्रह्मशापविनिर्दग्धा वृष्ण्यन्धकमहारथाः ॥ २५ ॥
विनष्टाः कुरुशार्दूल न तान् शोचितुमर्हसि ।
भवितव्यं तथा तच्च दिष्टमेतन्महात्मनाम् ॥ २६ ॥
उपेक्षितं च कृष्णेन शक्तेनापि व्यपोहितुम् ।
त्रैलोक्यमपि गोविन्दः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ॥ २७ ॥
प्रसहेदन्यथा कर्तुं कुतः शापं महात्मनाम् ।
रथस्य पुरतो याति यः स चक्रगदाधरः ॥ २८ ॥
तव स्नेहात्पुराणर्षिर्वासुदेवश्चतुर्भुजः ।
कृत्वा भारावतरणं पृथिव्याः पृथुलोचनः ॥ २९ ॥

तथा मेरा अन्तःकरण ऐसा कातर होके घूर्णित होता है, कि कहीं भी मुझे शान्ति प्राप्त नहीं होती। जबसे जनार्दन विष्णु अन्तर्धान हुए हैं, इतनी बात सुननेके समयसे ही मुझे सब दिशा अन्धकारमय दीखती हैं, इसलिये कृष्णसे रहित होके अब मुझे जीवन धारण करनेका उत्साह नहीं होता है। हे श्रेष्ठ! मेरे पराक्रम तथा स्वजनोंके विनष्ट होनेसे चित्त घबडा रहा है और जगत्को सूना देखता हूं; इसलिये जिससे मेरा मङ्गल हो, आपको उचित है, कि मुझे वैसा ही उपदेश करें। (२२-२५)

वेदव्यास मुनि बोले; हे कुरुशार्दूल! वृष्णि और अन्धकवंशीय महारथगण ब्रह्मशापसे भस्म होकर विनष्ट हुए हैं, इसलिये उन लोगोंके निमित्त शोक मत करो। जो होनहार होता है, वह अवश्य हुआ करता है; इसलिये कृष्णने समर्थ होके भी महात्मा यदुवंशियोंके इस अवश्यम्भावी विनाशके विषयको जान सकनेपर भी निवारण करनेकी चेष्टा न की, बल्कि उपेक्षा ही की थी; नहीं तो इन यदुवंशीय महात्माओंके ब्रह्मशापकी तो कुछ बात ही नहीं है, गोविन्द इच्छा करनेसे स्थावर और जङ्गमके सहित तीनों लोकोंको भी अन्यथा कर सकते। (२५—२८)

वह शंख, चक्र, गदाधारी चतुर्भुज

मोक्षयित्वा तनुं प्राप्तः कृष्णः स्वस्थानमुत्तमम् ।
त्वयाऽपीह महत्कर्म देवानां पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥
कृतं भीमसहायेन यमाभ्यां च महाभुज ।
कृतकृत्यांश्च वो मन्ये संसिद्धान्कुरुपुङ्गव ॥ ३१ ॥
गमनं प्राप्तकालं व इदं श्रेयस्करं विभो ।
एवं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिश्च भारत ॥ ३२ ॥
भवन्ति भवकालेषु विपद्यन्ते विपर्यये ।
कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनञ्जय ॥ ३३ ॥
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया ।
स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः ॥ ३४ ॥
स एवेशश्च भूत्वेह परैराज्ञाप्यते पुनः ।
कृतकृत्यानि चास्त्राणि गतान्यद्य यथागतम् ॥ ३५ ॥
पुनरेष्यन्ति ते हस्ते यदा कालो भविष्यति ।
कालो गन्तुं गतिं मुख्यां भवतामपि भारत ॥ ३६ ॥

विशालनयन पुरातन ऋषि वासुदेव श्रीकृष्ण प्रीतिके वशमें होकर ही तुम्हारे रथके आगे चलते थे; इस समय पृथ्वी-का भार हरके शरीर छोडकर निज धाममें गये हैं। हे महाबाहो पुरुषपुङ्गव! तुमने भी भीमसेन और नकुल-सहदेव-की सहायताके देवताओंका उत्तम महत् कार्य सिद्ध किया है। हे विभु पुरुपुङ्गव भारत! तुम लोग जिस लिये इस पृथ्वीमें आये थे, उसमें कृतकृत्य हुए; अब तुम लोगोंका काल उपस्थित हुआ है, इसलिये मेरे विचारमें अब यहांसे गमन करना ही कल्याणकारी बोध होता है; क्यों कि सम्पत्कालमें बुद्धिका जो तेज तथा प्रतिपत्ति होती है, आपत्कालमें वह सभी विपन्न हुआ करता है। हे धनञ्जय! काल ही सबका मूल है; उसने ही बीजस्वरूप होके इस जगत्की सृष्टि की है, और वही इच्छानुसार फिर सब हरेगा; कालके वशसे बलवान् होके भी पुरुष फिर निर्बल होता है, तथा सबका ईश्वर होके भी फिर दूसरेकी आज्ञाके वशमें हुआ करता है; इसलिये उसके लिये शोक न करना चाहिये। (२८—३५)

तुमने समयके अनुसार जिन सब अस्त्रोंको पाया था, वे सब कृतकृत्य होकर इस समय निज निज स्थानमें गये हैं; युगान्तरमें फिर वे सब तुम्हारे हाथमें आवेंगे। हे भरतपुङ्गव! तुम

एतच्छ्रेयो हि वो मन्ये परमं भरतर्षभ ।
वैशम्पायन उवाच-एतद्वचनमाज्ञाय व्यासस्यामिततेजसः ॥ ३७ ॥
अनुज्ञातो ययौ पार्थो नगरं नागसाह्वयम् ।
प्रविश्य च पुरीं वीरः समासाद्य युधिष्ठिरम् ।
आचष्ट तद्यथावृत्तं वृष्ण्यन्धककुलं प्रति ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां मौसलपर्वणि व्यासार्जुन-संवादे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

मौसलपर्व समाप्तम् ।
अस्यानन्तरं महाप्रस्थानिकं पर्व भविष्यति ॥
तस्यायमाद्यः श्लोकः ॥
जनमेजय उवाच-एवं वृष्ण्यंधककुले श्रुत्वा मौसलमाहवम् ।
पांडवाः किमकुर्वन्त तथा कृष्णे दिवं गते ॥ १ ॥

लोगोंका भी अभिलषणीय महाप्रस्थानका समय उपस्थित हुआ है । इसलिये मेरे विचारमें अब वैसा ही अनुष्ठान करनेसे कल्याण लाभ कर सकोगे । (३५-३७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, वीरवर पृथानन्दन अमिततेजस्वी श्रीवेदव्यास मुनिका ऐसा वचन सुनके उनकी आज्ञा पाके हस्तिनापुरमें आये और नगरमें प्रवेश करके धर्मराजके समीप जाके वृष्णि तथा अन्धकवंशियोंके विनष्ट होनेका सारा वृत्तान्त आदिसे अन्ततक कह सुनाया । (३७-३८)

मौसलपर्वमें ८ अध्याय समाप्त ।

मौसलपर्व समाप्त ।

श्लोक-संख्या ।

१-१५ आश्रमवासिकपर्वके अन्ततक	८३५०८
१६ मौसलपर्व	२८७
सर्वयोग	८३७९५

मौसलपर्व की विषय--सूची।

मौसल पर्वका सूचीपत्र समाप्त ।



ॐ

श्री--महर्षि--व्यास--प्रणीत

महाभारत।

(१७) महाप्रस्थानिक पर्व।

(भाषाभाष्यसमेत।)

संपादक और प्रकाशक।
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

संवत् १९८९,
शक १८५४,
सन १९३२.

पांच पातक ।

भीतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः ।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥

म० भा० महाप्रस्थानिकपर्व ३।१६

धर्मराज कहते हैं—"हे इन्द्र ! शरणागत को भय दिखाना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मण का धन हरण करना, और मित्रका द्रोह करना ये जैसे चार पातक हैं, उसी प्रकार इनके समान ही मैं भक्तका त्याग करना भी बडा पाप मानता हूं ।"

ये पांच पातक हैं, मनुष्यको योग्य है कि वह इनमेंसे किसी भी पातक का आचरण न करे ।

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्यायमंडल,
भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम्

म हा भा र त म्।

१७ महाप्रस्थानिकपर्व।

श्रीगणेशाय नमः।

श्रीवेदव्यासाय नमः।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥
जनमेजय उवाच- एवं वृष्ण्यन्धककुले श्रुत्वा मौसलमाहवम्।
पाण्डवाः किमकुर्वन्त तथा कृष्णे दिवं गते ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच- श्रुत्वैवं कौरवो राजा वृष्णीनां कदनं महत्।
प्रस्थाने मतिमाधाय वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥
कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महामते।
कालपाशमहं मन्ये त्वमपि द्रष्टुमर्हसि ॥ ३ ॥

नारायण, नरोत्तम नर और सरस्वतीदेवीको प्रणाम करके जय कीर्तन करे। (१)

जनमेजय बोले, वृष्णि और अन्धक॰वंशियोंके इस प्रकारसे मुसलयुद्धमें मरने और श्रीकृष्णके निज धाममें जानेका संवाद सुनके पाण्डवोंने किस कार्यका अनुष्ठान किया ? आप वह सब मेरे निकट प्रकाश करके कहिये। (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कौरव॰राज युधिष्ठिरने वृष्णिवंशियोंके वैसे दारुण विनाशका विवरण सुनके सुरलोकमें जानेके लिये अभिलाषी होकर अर्जुनसे कहा -हे महाबुद्धिमान्! काल

इत्युक्तः स तु कौन्तेयः कालः काल इति ब्रुवन्।
अन्वपद्यत तद्वाक्यं भ्रातुर्ज्येष्ठस्य धीमतः ॥ ४ ॥
अर्जुनस्य मतं ज्ञात्वा भीमसेनो यमौ तथा।
अन्वपद्यन्त तद्वाक्यं यदुक्तं सव्यसाचिना ॥ ५ ॥
ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन् धर्मकाम्यया।
राज्यं परिददौ सर्वं वैश्यापुत्रं युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
अभिषिच्य स्वराज्ये च राजानं च परिक्षितम्।
दुःखार्तश्चाब्रवीद्राजा सुभद्रां पाण्डवाग्रजः ॥ ७ ॥
एष पुत्रस्य पुत्रस्ते कुरुराजो भविष्यति।
यदूनां परिशेषश्च वज्रो राजा कृतश्च ह ॥ ८ ॥
परिक्षिद्धास्तिनपुरे शक्रप्रस्थे च यादवः।
वज्रो राजा त्वया रक्ष्यो मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥९॥
इत्युक्त्वा धर्मराजः स वासुदेवस्य धीमतः।
मातुलस्य च वृद्धस्य रामादीनां तथैव च ॥ १० ॥

ही प्राणियोंको हरण किया करता है, मुझे बोध होता है, कि हम लोग भी उस ही कालपाशमें आवद्ध हुए हैं, इसलिये अब तुम लोगोंको भी इन सब विषयोंकी आलोचना करनी चाहिये। जेठे भाई बुद्धिमान् धर्मराजका ऐसा वचन सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने कालको अपरिहार्य कहके उनके वचनको स्वीकार किया। भीमसेन और नकुल सहदेवने भी सव्यसाची धनञ्जयका अभिप्राय जानके उन्होंने जैसा कहा, उसमें ही निज निज सम्मति प्रकाश की। अनन्तर पाण्डवोंमें जेठे राजा युधिष्ठिरने वैश्या-पुत्र युयुत्सुको बुलाकर धर्माचरणके निमित्त वनमें जानेका अभिप्राय प्रका-शित करके उन्हें सब राज्यभार प्रदान किया और राजा परिक्षितको निज राज्यपर अभिषिक्त करके दुःखित भावसे सुभद्रासे बोले। (२—७)

यादवोंमें बचे हुए वज्रको इन्द्रप्र-स्थके राज्यपदपर अभिषिक्त किया गया है और तुम्हारा यह पोता हस्तिनापुरमें कौरवोंका राजा हुवा। हे भद्रे! यदु-नन्दन वज्रको इन्द्रप्रस्थका राज्य दिया गया है, तुम उसके विषयमें किसी प्रकार अधर्माचरणकी अभिलाष न करके सदा उसकी रक्षा करना। धर्मात्मा धर्मराजने इतनी बात कहके भाइयोंके सहित धीमान् कृष्ण, बूढे मामा वसुदेव और राम प्रभृतिको जल देके विधि-

भ्रातृभिः सह धर्मात्मा कृत्वोदकमतन्द्रितः ।
श्राद्धान्युद्दिश्य सर्वेषां चकार विधिवत्तदा ॥ ११ ॥
द्वैपायनं नारदं च मार्कण्डेयं तपोधनम् ।
भारद्वाजं याज्ञवल्क्यं हरिमुद्दिश्य यत्नवान् ॥ १२ ॥
अभोजयत्स्वादु भोज्यं कीर्तयित्वा च शार्ङ्गिणम् ।
ददौ रत्नानि वासांसि ग्रामानश्वान् रथांस्तथा ॥ १३ ॥
स्त्रियश्च द्विजमुख्येभ्यस्तदा शतसहस्रशः ।
कृपमभ्यर्च्य च गुरुमथ पौरपुरस्कृतम् ॥ १४ ॥
शिष्यं परिक्षितं तस्मै ददौ भरतसत्तम ।
ततस्तु प्रकृतीः सर्वाः समानाय्य युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
सर्वमाचष्ट राजर्षिश्चिकीर्षितमथात्मनः ।
ते श्रुत्वैव वचस्तस्य पौरजानपदा जनाः ॥ १६ ॥
भृशमुद्विग्नमनसो नाभ्यनन्दन्त तद्वचः ।
नैवं कर्तव्यमिति ते तदोचुस्तं जनाधिपम् ॥ १७ ॥
न च राजा तथाऽकार्षीत्कालपर्यायधर्मवित् ।
ततोऽनुमान्य धर्मात्मा पौरजानपदं जनम् ॥ १८ ॥
गमनाय मतिं चक्रे भ्रातरश्चास्य ते तदा ।

पूर्वक सबका श्राद्ध किया । अनन्तर शार्ङ्गधारी केशवका नाम लेकर उनके उद्देश्यसे द्वैपायन, नारद, मार्कण्डेय, भरद्वाज और याज्ञवल्क्य प्रभृति तपोधन-श्रेष्ठ द्विजोंको यत्नपूर्वक अनेक प्रकारकी स्वादिष्ट भोज्य वस्तु भोजन कराके असंख्य रत्न, वस्त्र, घोडे, रथ और सैंकडों सहस्रों स्त्री तथा ग्राम दान किये । (८ — १४)

हे भरतसत्तम! तिसके अनन्तर उन लोगोंने पुरवासियोंसे पुरस्कृत गुरु कृपाचार्यकी पूजा करते हुए परीक्षितको शिष्यरूपसे उनके हाथमें सौंप दिया । अनन्तर राजर्षि युधिष्ठिरने प्रजापुञ्जको बुलाकर निज चिकीर्षित विषय कह सुनाया । पुरवासी तथा जनपदवासी लोग उनका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त दुःखितचित्त हुए और उस वचनको अनुमोदन न करके बार बार इस प्रकार कहने लगे, हे नरनाथ ! आपको ऐसा न करना चाहिये । परन्तु राजा युधिष्ठिरने कालके विपरीत धर्मको जान लिया था, इसलिये उन पुरवासियों और जनपदवासियोंके अभिलाषके अनुसार

ततः स राजा कौरव्यो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
उत्सृज्याभरणान्यङ्गाज्जगृहे वल्कलान्युत ।
भीमार्जुनयमाश्चैव द्रौपदी च यशस्विनी ॥ २० ॥
तथैव जगृहुः सर्वे वल्कलानि नराधिप ।
विधिवत्कारयित्वेष्टिं नैष्ठिकीं भरतर्षभ ॥ २१ ॥
समुत्सृज्याप्सु सर्वेऽग्नीन् प्रतस्थुर्नरपुङ्गवाः ।
ततः प्ररुरुदुः सर्वाः स्त्रियो दृष्ट्वा नरोत्तमान् ॥ २२ ॥
प्रस्थितान् द्रौपदीषष्ठान्पुरा द्युतजितान् यथा ।
हर्षोऽभवच्च सर्वेषां भ्रातॄणां गमनं प्रति ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरमतं ज्ञात्वा वृष्णिक्षयमवेक्ष्य च ।
भ्रातरः पञ्च कृष्णा च षष्ठी श्वा चैव सप्तमः ॥ २४ ॥
आत्मना सप्तमो राजा निर्ययौ गजसाह्वयात् ।
पौरैरनुगतो दूरं सर्वैरन्तःपुरैस्तथा ॥ २५ ॥
न चैनमशकत्कश्चिन्निवर्तस्वेति भाषितुम् ।
न्यवर्तन्त ततः सर्वे नरा नगरवासिनः ॥ २६ ॥
कृपप्रभृतयश्चैव युयुत्सुं पर्यवारयन् ।

कार्य करनेमें असम्मति प्रकाश करके सबकी अनुमति लेकर भाइयोंके सहित वनमें जानेकी इच्छा की। (१४—१९)

अनन्तर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने शरीरके सब आभूषणोंको उतारा। भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रुपदपुत्रीने भी भूषणोंको परित्याग करके वल्कलवस्त्र पहना। हे भरतपुङ्गव! तिसके अनन्तर उन पुरुषपुङ्गवोंने विधिपूर्वक उत्सर्गकालके अनुसार अन्तिम यज्ञ समाप्त करके अग्निको जलके बीच छोड दिया। पहले जूएके खेलमें हारनेपर जिस प्रकार गमन किया था, उस समय भी उन श्रेष्ठ पुरुषोंको द्रौपदीके सहित उस ही भांति जाते हुए देखके पुरकी स्त्रियें रोने लगीं। परन्तु वे भ्रातृगण वृष्णियोंका विनाश देखके तथा युधिष्ठिरके अभिप्रायको जानके गमन-विषयमें ही हर्ष प्रकाश करने लगे। (१९—२४)

अनन्तर राजा युधिष्ठिर, चारों भाइयों, द्रौपदी और एक कुत्ता, इन सात जनोंके सहित नगरसे बाहिर हुए। पुरवासियों तथा अन्तःपुरवासियोंने बहुत दूरतक उनका अनुगमन किया, परन्तु कोई भी उन्हें "निवर्तित होइये" ऐसा

विवेश गङ्गां कौरव्य उलूपी भुजगात्मजा ॥ २७ ॥
चित्राङ्गदा ययौ चापि मणिपूरपुरं प्रति ।
शिष्टाः परिक्षितं त्वन्या मातरः पर्यवारयन् ॥ २८ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानो द्रौपदी च यशस्विनी ।
कृतोपवासाः कौरव्य प्रययुः प्राङ्मुखास्ततः ॥ २९ ॥
योगयुक्ता महात्मानस्त्यागधर्ममुपेयुषः ।
अभिजग्मुर्बहून्देशान्सरितः सागरांस्तथा ॥ ३० ॥
युधिष्ठिरो ययावग्रे भीमस्तु तदनन्तरम् ।
अर्जुनस्तस्य चान्वेव यमौ चापि यथाक्रमम् ॥ ३१ ॥
पृष्ठतस्तु वरारोहा श्यामा पद्मदलेक्षणा ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा ययौ भरतसत्तम ॥ ३२ ॥
श्वा चैवानुययावेकः प्रस्थितान्पाण्डवान्वनम् ।
क्रमेण ते ययुर्वीरा लौहित्यं सलिलार्णवम् ॥ ३३ ॥
गाण्डीवं तु धनुर्दिव्यं न मुमोच धनञ्जयः ।
रत्नलोभान्महाराज ते चाक्षय्ये महेषुधी ॥ ३४ ॥
अग्निं ते ददृशुस्तत्र स्थितं शैलमिवाग्रतः ।

वचन कहनेमें समर्थ न हुआ । तिसके अनन्तर नगरवासियों तथा कृपाचार्य प्रभृति अनुयायी लोग लौटकर युयुत्सुके चारों और स्थित हुए, भुजगनन्दिनी उलूपीने गङ्गामें प्रवेश किया तथा चित्राङ्गदा मणिपुरकी ओर गई, दूसरी कुरु-स्त्रियें परीक्षितके निकट निवास करने लगीं । (२४—२८)

हे कुरुनन्दन ! इधर संन्यास–धर्मावलम्बी योगयुक्त महात्मा पाण्डवों तथा यशस्विनी द्रुपदनन्दिनीने उपवासी होकर पूर्वकी ओर चलकर अनेक जनपद, सागर तथा नदियोंको अतिक्रम किया । उस समय युधिष्ठिर सबके आगे और भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव यथाक्रमसे एक दूसरेके पीछे चलने लगे । हे भरतसत्तम ! कमलनयनी श्यामाङ्गिनी वरारोहा स्त्रियोंमें श्रेष्ठ द्रुपदनन्दिनी उन सबके पीछे चलने लगी, इसही प्रकार जब पाण्डुपुत्रोंने वनकी ओर प्रस्थान किया, तब एकमात्र कुत्ता ही उनका अनुगामी हुआ था । हे महाराज ! उस महाप्रस्थानके समयमें भी धनञ्जय रत्नलोभके वशमें होकर उत्तम महत् गाण्डीव नामक धनुष और उन दोनों अक्षय

मार्गमावृत्य तिष्ठन्तं साक्षात्पुरुषविग्रहम् ॥ ३५ ॥
ततो देवः स सप्तार्चिः पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
भो भो पाण्डुसुता वीराः पावकं मां निबोधत ॥३६॥
युधिष्ठिर महाबाहो भीमसेन परन्तप ।
अर्जुनाश्विसुतौ वीरौ निबोधत वचो मम ॥ ३७ ॥
अहमग्निः कुरुश्रेष्ठा मया दग्धं च खाण्डवम् ।
अर्जुनस्य प्रभावेण तथा नारायणस्य च ॥ ३८ ॥
अयं वः फाल्गुनो भ्राता गाण्डीवं परमायुधम् ।
परित्यज्य वने यातु नानेनार्थोऽस्ति कश्चन ॥ ३९ ॥
चक्ररत्नं तु यत्कृष्णे स्थितमासीन्महात्मनि ।
गतं तच्च पुनर्हस्ते कालेनैष्यति तस्य ह ॥ ४० ॥
वरुणादाहृतं पूर्वं मयैतत्पार्थकारणात् ।
गाण्डीवं धनुषां श्रेष्ठं वरुणायैव दीयताम् ॥ ४१ ॥
ततस्ते भ्रातरः सर्वे धनञ्जयमचोदयन् ।
स जले प्राक्षिपच्चैतत्तथाऽक्षय्ये महेषुधी ॥ ४२ ॥

तूणीरोंको परीत्याग न कर सके। २९-३४

हे भारत ! इसी प्रकार क्रमसे जाते जाते उन लोगोंने उदयाचलके पासमें स्थित लोहित्य समुद्रके तटपर उपस्थित होकर देखा, कि मूर्तिमान् अग्निदेव पुरुष विग्रह करते हुए पर्वतकी भांति मार्ग रोकके सामने निवास करते हैं। देवश्रेष्ठ सप्तार्चि पाण्डवोंको समागत देखकर बोले-हे वीर पाण्डुपुत्रो ! मुझे अग्नि जानो। हे महाबाहो युधिष्ठिर ! हे भीमसेन ! हे अरिन्दम अर्जुन ! हे वीर दोनों अश्विनीकुमार! तुम सब कोई मेरा वचन सुनो। हे कुरुश्रेष्ठगण ! मैं अग्नि हूं; मैंने उस नारायण और अर्जुनके प्रभावसे खाण्डववनको जलाया था। (३४—३८)

तुम लोगोंका भ्राता यह अर्जुन इस परमायुध गाण्डीवको परित्याग करके वनमें जावे, क्यों कि इस समय इससे इनका अब कुछ प्रयोजन नहीं है; महात्मा कृष्णके निकट जो चक्ररत्न था, वह इस समय प्रस्थित हुआ है, परन्तु अवतारान्तरमें फिर उनके हाथमें स्थित होगा। मैंने अर्जुनके निमित्त वरुणके समीपसे यह श्रेष्ठ धनुष गाण्डीव ला दिया था, इसलिये अब यह उन्हें ही दिया जावे। अग्निकी इतनी बात सुनके सब भाइयोंने अर्जुनसे अनुरोध

ततोऽग्निर्भरतश्रेष्ठ तत्रैवान्तरधीयत ।
ययुश्च पाण्डवा वीरास्ततस्ते दक्षिणामुखाः ॥ ४३ ॥
ततस्ते तूत्तरेणैव तीरेण लवणाम्भसः ।
जग्मुर्भरतशार्दूल दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ॥ ४४ ॥
ततः पुनः समावृत्ताः पश्चिमां दिशमेव ते ।
ददृशुर्द्वारकां चापि सागरेण परिप्लुताम् ॥ ४५ ॥
उदीचीं पुनरावृत्य ययुर्भरतसत्तमाः ।
प्रादक्षिण्यं चिकीर्षन्तः पृथिव्या योगधर्मिणः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारत शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां महाप्रस्थानिके पर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच— ततस्ते नियतात्मान उदीचीं दिशमास्थिताः ।
ददृशुर्योगयुक्ताश्च हिमवन्तं महागिरिम् ॥ १ ॥
तं चाप्यतिक्रमन्तस्ते ददृशुर्वालुकार्णवम् ।
अवैक्षन्त महाशैलं मेरुं शिखरिणां वरम् ॥ २ ॥
तेषां तु गच्छतां शीघ्रं सर्वेषां योगधर्मिणाम् ।

किया, तब उन्होंने धनुष और दोनों अक्षय तूणीर जलके बीच फेंक दिये । (३९—४२)

हे भरतश्रेष्ठ ! उसे देखकर अग्निदेव भी शीघ्रही उसी स्थानमें अन्तर्धान हुए और उन लोगोंनेभी दक्षिणकी ओर गमन किया । हे भरतशार्दूल ! अनन्तर वे लोग लवण समुद्रके उत्तर किनारेसे चलते हुए दक्षिण—पश्चिम दिशामें गये, तिसके अनन्तर वहांसे निवृत्त होकर पश्चिमकी ओर जाकर द्वारकामें उपस्थित होके देखा, कि महासागरने उस नगरी को डुबा दिया है । हे महाराज़ ! इस ही प्रकार वे योगावलम्बी भरतसत्तम गण पृथिवीकी प्रदक्षिणा करनेके लिये अभिलाषी होकर पश्चिमदिशासे लौटकर उत्तरकी ओर चले । (४३-४६)

महाप्रस्थानिकपर्वमें १ अध्याय समाप्त ।

महाप्रस्थानिकपर्वमें २ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, संयतचित्त पाण्डुपुत्रोंने इसही प्रकार तीनों दिशाओंकी प्रदक्षिण करके समाहित मनसे उत्तरकी ओर जाके महागिरि हिमवान् को देखा । वे लोग उस शैलराजको अतिक्रम करते हुए वालुकार्णव पार होकर शिखरश्रेष्ठ महाशैल सुमेरुमें उपस्थित हुए । हे महाराज ! वे योगधार्मिके गण सुमेरु शिखरपर शीघ्रतासे

याज्ञसेनी भ्रष्टयोगा निपपात महीतले ॥ ३ ॥
तां तु प्रपतितां दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
उवाच धर्मराजानं याज्ञसेनीमवेक्ष्य ह ॥ ४ ॥
नाधर्मश्चरितः कश्चिद्राजपुत्र्या परन्तप ।
कारणं किं नु तद्ब्रूहि यत्कृष्णा पतिता भुवि ॥ ५ ॥
युधिष्ठिर उवाच— पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनञ्जये ।
तस्यैतत्फलमद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्त्वाऽनवेक्ष्यैनां ययौ भरतसत्तमः ।
समाधाय मनो धीमान् धर्मात्मा पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥
सहदेवस्ततो विद्वान्निपपात महीतले ।
तं चापि पतितं दृष्ट्वा भीमो राजानमब्रवीत् ॥ ८ ॥
योऽयमस्मासु सर्वेषु शुश्रूषुरनहङ्कृतः ।
सोऽयं माद्रवतीपुत्रः कस्मान्निपतितो भुवि ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच— आत्मनः सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कंचन ।
तेन दोषेण पतितस्तस्मादेष नृपात्मजः ॥ १० ॥

चढ रहे थे, इतने ही समयमें द्रौपदी योगभ्रष्ट होकर पृथ्वीतलमें गिर पडी। द्रुपदपुत्रीको गिरती हुई देखकर महाबली भीमसेनने धर्मराज युधिष्ठिरसे पूछा—हे अरिन्दम! इस राजपुत्री कृष्णाने कभी अधर्माचरण नहीं किया, तोभी पृथ्वीतलमें गिर पडी, इसका क्या कारण है? मुझसे इसका कारण कहिये। (१—५)

युधिष्ठिर बोले, हे पुरुषोत्तम! हम सब लोगोंके तुल्य होनेपर भी अर्जुनके ऊपर विशेष रीतिसे इसका महत् पक्षपात था, यह आज उस ही फलको भोग करती है। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मात्मा धीमान् पुरुषपुङ्गव भरतसत्तम युधिष्ठिर इतनी बात कहके द्रौपदीकी ओर फिरके न देखकर ही समाहित चित्तसे चलने लगे; इतने ही समयके बीच विद्वान् सहदेव पृथ्वीतलमें गिरे। उसे देखकर भीमने धर्मराजसे पूछा—जो अहङ्काररहित होकर सदा हम सब लोगोंकी सेवा करते थे; यह वही माद्रीपुत्र किस निमित्त पृथ्वीपर गिरे? (६—९)

युधिष्ठिर बोले, यह राजपुत्र किसी पुरुषको ही अपने समान प्राज्ञ नहीं समझते थे, ये उस दोषसे ही इस समय गिरे हैं। (१०)

वैशम्पायन उवाच— इत्युक्त्वा तं समुत्सृज्य सहदेवं ययौ तदा ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयः शुना चैव युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥
कृष्णां निपतितां दृष्ट्वा सहदेवं च पाण्डवम् ।
आर्तो बन्धुप्रियः शूरो नकुलो निपपात ह ॥ १२ ॥
तस्मिन्निपतिते वीरे नकुले चारुदर्शने ।
पुनरेव तदा भीमो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥
योऽयमक्षतधर्मात्मा भ्राता वचनकारकः ।
रूपेणाप्रतिमो लोके नकुलः पतितो भुवि ॥ १४ ॥
इत्युक्तो भीमसेनेन प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
नकुलं प्रति धर्मात्मा सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ १५ ॥
रूपेण मत्समो नास्ति कश्चिदित्यस्य दर्शनम् ।
अधिकश्चाहमेवैक इत्यस्य मनसि स्थितम् ॥ १६ ॥
नकुलः पतितस्तस्मादागच्छ त्वं वृकोदर ।
यस्य यद्विहितं वीर सोऽवश्यं तदुपाश्नुते ॥ १७ ॥
तांस्तु प्रपतितान् दृष्ट्वा पाण्डवः श्वेतवाहनः ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर इतनी बात कहके ही उस समय सहदेवको परित्याग कर भाइयों तथा उस कुत्तेके सहित चलने लगे । परन्तु द्रौपदी और पाण्डुनन्दन सहदेव को गिरते हुए देखके भ्रातृप्रिय शूर नकुल शोकसे पीडित होके पृथ्वीतलमें गिर पडे, उस वीरश्रेष्ठ सुन्दर नकुलके गिरनेपर भीमसेनने राजा युधिष्ठिरसे पूछा– जो कभी धर्ममार्गसे विचलित नहीं हुए, सदा हम लोगोंके आज्ञानुवर्ती थे और तीनों लोकोंके बीच जिनके सदृश रूपवान् कोई नहीं है, यह वही भ्राता नकुल किस निमित्त पृथ्वीतलमें गिरे ? (११—१४)

धार्मिक पुरुषोंमें अग्रगण्य धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर भीमसेनका ऐसा प्रश्न सुनके बोले–नकुल सर्वदा मनमें ऐसी विवेचना करते थे, कि तीनों लोकोंके बीच मेरे समान रूपवान् कोई नहीं है, तथा मैंही सबसे अधिक रूपवान् हूं । हे वृकोदर ! ये इस समय उस ही गर्व-वशसे गिरे हैं । हे वीर ! जिसके लिये जिस प्रकार विहित हुआ है, वह अवश्य उसहीके अनुरूप फल भोग करेगा, इस-लिये इसके निमित्त शोक न करके आगमन करो । (१५–१७)

द्रौपदी और भाइयोंको इस प्रकार

पपात शोकसंतप्तस्ततोऽनु परवीरहा ॥ १८ ॥
तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे पतिते शक्रतेजसि ।
म्रियमाणे दुराधर्षे भीमो राजानमब्रवीत् ॥ १९ ॥
अनृतं न स्मराम्यस्य स्वैरेष्वपि महात्मनः ।
अथ कस्य विकारोऽयं येनायं पतितो भुवि ॥ २० ॥
युधिष्ठिर उवाच— एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत् ।
न च तत्कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत् ॥ २१ ॥
अवमेने धनुर्ग्राहानेष सर्वांश्च फाल्गुनः ।
तथा चैतन्न तु तथा कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच– इत्युक्त्वा प्रस्थितो राजा भीमोऽथ निपपात ह ।
पतितश्चाब्रवीद्भीमो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २३ ॥
भो भो राजन्नवेक्षस्व पतितोऽहं प्रियस्तव ।
किं निमित्तं च पतनं ब्रूहि मे यदि वेत्थ ह ॥ २४ ॥
युधिष्ठिर उवाच— अतिभुक्तं च भवता प्राणेन च विकत्थसे ।

गिरते हुए देखकर पाण्डुपुत्र परवीर-निषूदन श्वेतवाहन पार्थ शोकसे सन्तापित होकर गिर पडे । सुरराजसदृश तेजस्वी दुराधर्ष पुरुषसिंह अर्जुनको गिरते तथा मरते देखकर भीमने फिर राजासे पूछा, मुझे ऐसा स्मरण होता है, कि इन्होंने कभी परिहासके छलसे भी मिथ्या वचन नहीं कहा था, तथापि किस कर्मविकारसे इस समय ये पृथ्वीमें गिरे ? (१८--२०)

युधिष्ठिर बोले, अर्जुनने कहा था, कि मैं एक ही दिनके बीच शत्रुओंको जला दूंगा; परन्तु कार्यसे उसे पूरा नहीं किया । हे वीर ! ये शूरताभिमानी इस समय उस मिथ्या प्रतिज्ञासे ही गिरे । विशेष करके फाल्गुन धनुर्धारियोंमें अग्रगण्य थे, इसलिये सदा दूसरे धनुर्धरोंकी अवज्ञा करते थे, यह भी उनके गिरनेका दूसरा कारण है । (२१–२२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा युधिष्ठिर इतनी बात कहके ही चलने लगे, उस ही समय भीमसेन गिरे और गिरते गिरते धर्मराज युधिष्ठिरसे बोले–भो भो राजन् ! यह देखिये, मैं तुम्हारा प्रिय होके भी गिरता हूं । हे महाराज ! मैं किस निमित्त गिरता हूं ? यदि आपको यह मालूम हो, तो प्रकाश करके शीघ्र कहिये । (२३–२४)

युधिष्ठिर बोले, हे पार्थ ! तुम बहुतसा भोजन करते और दूसरेके बलको

अनवेक्ष्य परं पार्थं तेनासि पतितः क्षितौ ॥ २५ ॥
इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्जगामानवलोकयन् ।
श्वाऽप्येकोऽनुययौ यस्ते बहुशः कीर्तितो मया ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां महाप्रस्थानिके पर्वणि द्रौपद्यादिपतने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततः सन्नादयन् शक्रो दिवं भूमिं च सर्वशः ।
रथेनोपययौ पार्थमारोहेत्यब्रवीच्च तम् ॥ १ ॥
स्वभ्रातॄन् पतितान् दृष्ट्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीच्छोकसंतप्तः सहस्राक्षमिदं वचः ॥ २ ॥
भ्रातरः पतिता मेऽत्र गच्छेयुस्ते मया सह ।
न विना भ्रातृभिः स्वर्गमिच्छे गन्तुं सुरेश्वर ॥ ३ ॥
सुकुमारी सुखार्हा च राजपुत्री पुरन्दर ।
साऽस्माभिः सह गच्छेत तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ४ ॥

शक्र उवाच— भ्रातॄन् द्रक्ष्यसि स्वर्गे त्वमग्रतस्त्रिदिवं गतान् ।

न देखकर सदा अपने बलकी बडाई करते थे, इस ही निमित्त पृथ्वीमें गिरे हो। (२५)

महाबाहु युधिष्ठिर इतनी बात कहके उनकी ओर न देखकर ही चलने लगे। मैंने जिसका विषय वारंवार तुम्हारे निकट वर्णन किया है, उस समय वह एकमात्र कुत्ता ही उनका अनुगमन करने लगा। (२६)

महाप्रस्थानिकपर्वमें २ अध्याय समाप्त।

महाप्रस्थानिकपर्वमें ३ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर देवराजने रथपर चढके पृथ्वी और आकाशमण्डलको सन्नादित करते हुए उस स्थानमें आकर युधिष्ठिरको रथमें चढनेके लिये कहा। परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंको गिरे हुए देखके शोकसे सन्तापित होकर सहस्रलोचनसे यह वचन बोले, हे सुरेश्वर! भ्रातृवृन्द मेरे सङ्ग चलें, यही मुझे अत्यन्त अभिलषणीय था, परन्तु वे लोग इस स्थानमें गिरे हुए हैं, इसलिये मैं अपने भाइयोंसे रहित होकर स्वर्गमें जानेकी इच्छा नहीं करता। कोमलांगी और सुख भोगनेयोग्य राजपुत्री द्रौपदीको हमारे साथ चलनेकी आपको अनुमति देना उचित है। (१—३)

इन्द्र बोले, हे भरतपुङ्गव! उनके निमित्त शोक मत करो; वे तुमसे पहले ही सुरलोकमें गये हैं, तुम स्वर्गमें जाके

कृष्णया सहितान्सर्वान्मा शुचो भरतर्षभ ॥ ५ ॥
निक्षिप्य मानुषं देहं गतास्ते भरतर्षभ ।
अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गं गन्ता न संशयः ॥ ६ ॥
युधिष्ठिर उवाच — अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव ह ।
स गच्छेत मया सार्धमानृशंस्या हि मे मतिः ॥ ७ ॥
शक्र उवाच- अमर्त्यत्वं मत्समत्वं च राजन् श्रियं कृत्स्नां महतीं चैव सिद्धिम् ।
संप्राप्तोऽद्य स्वर्गसुखानि च त्वं त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥ ८ ॥
युधिष्ठिर उवाच— अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्य ।
मा मे श्रिया संगमनं तयाऽस्तु यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम् ॥ ९ ॥
इन्द्र उवाच- स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्यमिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति ।
ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥१०॥
युधिष्ठिर उवाच— भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापं तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन ।

ही द्रौपदीके सहित उन लोगोंको देखोंगे। हे भारत! वे लोग मनुष्य शरीर परित्याग करके स्वर्गमें गये हैं, परन्तु तुम निःसंदेह इस शरीरसे ही स्वर्गमें जाओगे। (५—६)

युधिष्ठिर बोले, हे भूतभव्यगणके ईश्वर! यह कुत्ता मेरा चिरभक्त है, इस लिये इसे अपने सङ्ग स्वर्गमें ले जानेकी इच्छा करता हूं, क्योंकि ऐसा न करनेसे मेरे विचारमें इसके ऊपर निर्दय व्यवहार करना सिद्ध होगा। (७)

इन्द्र बोले, हे राजन्! इस समय तुम मर्त्य भावसे रहित होके मेरे सदृश हुए हो और समग्र लक्ष्मी, महती सिद्धि तथा स्वर्गसुख प्राप्त किया है, इसलिये इस कुत्तेको परित्याग करो, उसमें तुम्हारी किसी प्रकार निर्दयता प्रकाश करनी न होगी। (८)

युधिष्ठिर बोले, हे आर्य सहस्रलोचन! आर्य होके इस प्रकारके अनार्य कार्यको करना दुष्कर है; आप जिस ऐश्वर्यकी बात कहते हैं, उसके सहित मेरा सम्मिलन न हो, तोभी मैं इस प्रकार भक्तजनको परित्याग न कर सकूंगा। (९)

इन्द्र बोले, जिन लोगोंके यहां कुत्ता रहता है, उन अपवित्र लोगोंको स्वर्गमें स्थान नहीं मिलता, क्यों कि क्रोधवश नाम देवगण उनके इष्टापूर्तके फलको हरण किया करते हैं; हे धर्मराज! इसलिये तुम विचार करके इस कुत्तेको परित्याग करो, उसमें तुम्हारी निर्दयता न होगी। (१०)

युधिष्ठिर बोले, हे महेन्द्र! मुनि लोग भक्तत्यागको ब्रह्महत्याके सदृश महा-

तस्मान्नाहं जातु कथञ्चनाद्य त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र ॥ ११ ॥
भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्तं प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम् ।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं यतेयं वै नित्यमेतद्व्रतं मे ॥ १२ ॥
इन्द्र उवाच— शुना दृष्टं क्रोधवशा हरन्ति यद्दत्तमिष्टं विवृतमथो हुतं च ।
तस्माच्छुनस्त्यागमिमं कुरुष्व शुनस्त्यागात्प्राप्स्यसे देवलोकम् ॥१३॥
त्यक्त्वा भ्रातॄन् दयितां चापि कृष्णां प्राप्तो लोकः कर्मणा स्वेन वीर ।
श्वानं चैनं न त्यजसे कथं नु त्यागं कृत्स्नं चास्थितो मुह्यसेऽद्य ॥१४॥
युधिष्ठिर उवाच-न विद्यते सन्धिरथापि विग्रहो मृतैर्मर्त्यैरिति लोकेषु निष्ठा ।
न ते मया जीवयितुं हि शक्यास्ततस्त्यागस्तेषु कृतो न जीवताम् ॥१५॥
भीतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः ।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥ १६ ॥
वैशंपायन उवाच- तद्धर्मराजस्य वचो निशम्य धर्मस्वरूपी भगवानुवाच ।

पातक कहा करते हैं, इसलिये मैं निज सुखकी अभिलाषसे इस भक्तको किसी प्रकार भी परित्याग न कर सकूंगा। विशेष करके यदि मेरा प्राण जाय, तोभी जो संसारमें और किसीकोभी नहीं जानता तथा निज प्राणरक्षाके निमित्त अत्यन्त कातर हुआ है, मैं ऐसे शरणागत क्षणिबल भक्तको किसी प्रकार भी परित्याग न करूंगा, यही मेरा नित्यव्रत है। (११—१२)

इन्द्र बोले, हे धर्मराज! जो दत्त, इष्ट, विवृत अथवा हुत हो, वह सारमेयके द्वारा दीखनेपर क्रोधवश नाम देवगण यह सब हरण करते हैं, इसलिये तुम इस कुत्तेको परित्याग करो, क्यों कि इस कुत्तेको परित्याग करनेसे ही देवलोकमें जा सकोगे। हे वीर! तुम भाइयों तथा दयिता द्रौपदीको परित्याग करते हुए निज कर्मके सहारे इस लोकको प्राप्त करके भी जो आज मोहयुक्त होते हो, यह अत्यन्त आश्चर्यका विषय है। (१३-१४)

युधिष्ठिर बोले, हे सुरेश्वर! मरे हुए लोगोंको फिर नहीं जिलाया जा सकता और मरे मनुष्योंके सङ्ग मर्त्य लोगोंकी सन्धि, विग्रह तथा दूसरे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता; मैंने इस लोकस्थितिके वशमें होके ही उन्हें परित्याग किया है, उन्हें जीवित रहते नहीं छोडा है। हे शक्र! शरणागतको भय दिखाना, स्त्रीवध, ब्रह्मस्वहरण और मित्रद्रोह ये जो चार पातक हैं, मैं भक्तत्यागको भी उन्हींके सदृश समझता हूं। (१५-१६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मरूपी

युधिष्ठिरं प्रीतियुक्तो नरेन्द्रं श्लक्ष्णैर्वाक्यैः संस्तवसंप्रयुक्तैः ॥ १७ ॥

धर्मराज उवाच– अभिजातोऽसि राजेन्द्र पितुर्वृत्तेन मेधया ।
अनुक्रोशेन चानेन सर्वभूतेषु भारत ॥ १८ ॥
पुरा द्वैतवने चासि मया पुत्र परीक्षितः ।
पानीयार्थे पराक्रान्ता यत्र ते भ्रातरो हताः ॥ १९ ॥
भीमार्जुनौ परित्यज्य यत्र त्वं भ्रातरावुभौ ।
मात्रोः साम्यमभीप्सन्वै नकुलं जीवमिच्छसि ॥२०॥
अयं श्वा भक्त इत्येवं त्यक्तो देवरथस्त्वया ।
तस्मात्स्वर्गे न ते तुल्यः कश्चिदस्ति नराधिप ॥ २१ ॥
अतस्तवाक्षया लोकाः स्वशरीरेण भारत ।
प्राप्तोऽसि भरतश्रेष्ठ दिव्यां गतिमनुत्तमाम् ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततो धर्मश्च शक्रश्च मरुतश्चाश्विनावपि ।
देवा देवर्षयश्चैव रथमारोप्य पाण्डवम् ॥ २३ ॥
प्रययुः स्वैर्विमानैस्ते सिद्धाः कामविहारिणः ।
सर्वे विरजसः पुण्याः पुण्यवाग्बुद्धिकर्मिणः ॥ २४ ॥

भगवान् धर्मराजका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त प्रसन्न हुए और स्तवयुक्त मधुर वाणीमें नरेन्द्र युधिष्ठिरसे कहने लगे। (१७)

धर्म बोले, हे राजेन्द्र भारत ! तुमने निज बुद्धि और सब प्राणियोंमें ऐसी दया प्रकाश करके कुलीनता तथा पिता की समानता प्राप्त की है। हे पुत्र ! जलके निमित्त पराक्रम प्रकाश करके तुम्हारे भाईयोंके मरनेपर तुमने जिस स्थानमें सहोदर भीम तथा अर्जुनको परित्याग करके मातृकुलके साम्याभिलापसे नकुलको जीवित करनेकी इच्छा की थी, मैंने पहले उस द्वैतवनमें एक बार तुम्हारी परीक्षा की थी। हे नरनाथ ! बोध होता है, स्वर्गमें तुम्हारे समान कोई नहीं है; क्यों कि इस सारमेयको भक्त कहके तुम इसके अनुरोधसे देव-रथको भी परित्याग करनेके लिये उद्यत हुए हो। हे भरतश्रेष्ठ ! इस ही कारण तुमने सशरीर ही अक्षय स्वर्ग-लोक और अनुत्तम दिव्य गति प्राप्त की। (१८—२२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर धर्म, इन्द्र, मरुद्गण और जिनके वचन, बुद्धि तथा कर्म पवित्र हैं, वे रजोविहीन पुण्यात्मा देव, देवर्षि और कामविहारी सिद्धगण पाण्डुनन्दनको रथपर चढाके

स तं रथं समास्थाय राजा कुरुकुलोद्वहः ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे शीघ्रं तेजसाऽऽवृत्य रोदसी ॥ २५ ॥
ततो देवनिकायस्थो नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचोच्चैस्तदा वाक्यं बृहद्वादी बृहत्तपाः ॥ २६ ॥
येऽपि राजर्षयः सर्वे ते चापि समुपस्थिताः ।
कीर्तिं प्रच्छाद्य तेषां वै कुरुराजोऽधितिष्ठति ॥ २७ ॥
लोकानावृत्य यशसा तेजसा वृत्तसंपदा ।
स्वशरीरेण संप्राप्तं नान्यं शुश्रुम पाण्डवात् ॥ २८ ॥
तेजांसि यानि दृष्टानि भूमिष्ठेन त्वया विभो ।
वेश्मानि भुवि देवानां पश्यामूनि सहस्रशः ॥ २९ ॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा राजा वचनमब्रवीत् ।
देवानामन्त्र्य धर्मात्मा स्वपक्षांश्चैव पार्थिवान् ॥ ३० ॥
शुभं वा यदि वा पापं भ्रातॄणां स्थानमद्य मे ।
तदेव प्राप्तुमिच्छामि लोकानन्यान्न कामये ॥ ३१ ॥
राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा देवराजः पुरन्दरः ।

अपने अपने विमानोंमें चढकर चलने लगे । कुरुकुलश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर भी उस रथपर चढके निज तेजसे पृथ्वी और स्वर्गको परिपूरित करते हुए शीघ्र ही ऊपरको उठने लगे । उस समय सुरपुरमें स्थित सर्वलोकवित् बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ तपस्वी नारद मुनि ऊंचे स्वरसे यह वचन बोले– जो सब राजर्षि हैं, वे सभी उपस्थित हैं, परन्तु राजा युधिष्ठिर उन सबकी कीर्तिको आच्छादित करके आरहे हैं । मैंने ऐसे किसी राजर्षिकी कथा नहीं सुनी, जिसने निज यश, तेज, सच्चरित और सम्पत्तिसे लोकोंको आवृत करते हुए सशरीर ही स्वर्गलोक प्राप्त किया है । भूमिपर रहनेके समय तुमने जिन तेजस्वी स्थानोंको देखा था, उन देवप्रासादोंको देखो । (२३—२९)

नारद मुनिका वचन सुनके धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर देवताओं तथा अपने पक्षके राजाओंको आमन्त्रण करते हुए बोले– जिस स्थानमें मेरे भ्रातृवृन्द गये हैं, वह शुभ हो अथवा अशुभ ही होवे, मैं उस ही स्थानमें जानेकी इच्छा करता हूं; दूसरे लोकमें मेरी अभिलाष नहीं है । (३०—३१)

धर्मराजका वचन सुनकर देवराज पुरन्दर दयालुहृदय युधिष्ठिरसे बोले,

आनृशंस्यसमायुक्तं प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ ३२ ॥
स्थानेऽस्मिन्वस राजेन्द्र कर्मभिर्निर्जिते शुभैः ।
किं त्वं मानुष्यकं स्नेहमद्यापि परिकर्षसि ॥ ३३ ॥
सिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ।
नैव ते भ्रातरः स्थानं संप्राप्ताः कुरुनन्दन ॥ ३४ ॥
अद्यापि मानुषो भावः स्पृशते त्वां नराधिप ।
स्वर्गोऽयं पश्य देवर्षीन् सिद्धांश्च त्रिदिवालयान् ॥३५॥
युधिष्ठिरस्तु देवेन्द्रमेवंवादिनमीश्वरम् ।
पुनरेवाब्रवीद्धीमानिदं वचनमर्थवत् ॥ ३६ ॥
तैर्विना नोत्सहे वस्तुमिह दैत्यनिबर्हण ।
गन्तुमिच्छामि तत्राहं यत्र मे भ्रातरो गताः ॥ ३७ ॥
यत्र सा बृहती श्यामा बुद्धिसत्त्वगुणान्विता ।
द्रौपदी योषितः श्रेष्ठा यत्र चैव गता मम ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां महाप्रस्थानिके पर्वणि युधिष्ठिरस्वर्गारोहणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

॥ महाप्रस्थानिकं पर्व समाप्तम् ॥

हे राजेन्द्र ! अबतक भी किस निमित्त मानुष सुलभ स्नेहभाव ढोरहे हो ? निज शुभकर्मोंके सहारे जो लोक जय किया है, इस समय उसमें ही वास करो। हे कुरुनन्दन ! जो और किसी पुरुषको ही नहीं प्राप्त हुई, तुमने वैसी परम सिद्धि पाई है, परन्तु तुम्हारे भाइयोंको कोई स्थान प्राप्त न हुआ। हे नरनाथ ! इस समय भी जो मनुष्यभाव तुम्हें परित्याग नहीं करता है, उसका क्या कारण है ? इस स्वर्ग, इन त्रिदिवनिवासी देवर्षियों तथा सिद्धोंको देखो। (३२-३५)

सर्वभूतेश्वर देवेन्द्रके ऐसी बात कहते रहनेपर धीमान् युधिष्ठिर फिर यह अर्थयुक्त वचन बोले– हे दैत्यनिषूदन ! मैं भाइयोंसे रहित होके इस स्थानमें वास करनेकी इच्छा नहीं करता; इस लिये जहां मेरे भ्रातृगण गये हैं, मैं उसी स्थानमें जाऊंगा। हाय ! जिस स्थानमें मेरी वह बुद्धिसत्त्व तथा गुणान्विता श्यामाङ्गिनी वरवर्णिनी द्रुपदनन्दिनी गई है, मैं उस स्थानमें ही जाऊंगा। (३६—३८)

महाप्रस्थानिकपर्वमें ३ अध्याय समाप्त।

महाप्रस्थानिक पर्व समाप्त।

॥ अतःपरं स्वर्गारोहणपर्व ॥

॥ तस्यायमाद्यः श्लोकः ॥

जनमेजय उवाच- स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्वपितामहाः ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च कानि स्थानानि भेजिरे ॥ १ ॥

श्लोक-संख्या ।

१-१६ मौसलपर्वके अन्ततक	८३७९५
१७ महाप्रस्थानिकपर्व	११०
	८३९०५



महाप्रस्थानिक पर्वकी विषय-सूची ।

महाप्रस्थानिकपर्वका सूचीपत्र समाप्त ।

श्री–महर्षि--व्यास--प्रणीत

महाभारत।

(१८) स्वर्गारोहणपर्व।

(भाषाभाष्यसमेत।)

संपादक और प्रकाशक।
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा.)

संवत् १९८९,
शक १८५४,
सन १९३२.

महाभारत-श्रवणका फल ।

त्रिभिर्वर्षैरिदं पूर्णं कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
अखिलं भारतं चेदं चकार भगवान् मुनिः ॥ ४८ ॥
आकर्ण्य भक्त्या सततं जयाख्यं भारतं महत् ।
श्रीश्च कीर्तिस्तथा विद्या भवन्ति सहिताः सदा ॥ ४९ ॥
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥ ५० ॥

म० भा० स्वर्गा० अ० ५

" श्रीमान् प्रभु कृष्णद्वैपायन मुनिने इस संपूर्ण महाभारतकी तीन वर्षोंमें रचना की। इस जयनामक महाभारतका भक्तिसे श्रवण करनेपर सदा श्री, कीर्ति और विद्या प्राप्त होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषयमें जो ज्ञान इस ग्रंथमें है, वही दूसरे ग्रंथोंमें है, परंतु जो यहां नहीं है वह कहीं भी नहीं है। " ऐसा यह महाभारत ग्रंथ सर्वांग-पूर्ण है।

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्यायमंडल,
भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम्

म हा भा र त म् ।

१८ स्वर्गारोहणपर्व ।

श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीवेदव्यासाय नमः ॥

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

जनमेजय उवाच–स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्वपितामहाः ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च कानि स्थानानि भेजिरे ॥ १ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वविचासि मे मतः ।
महर्षिणाऽभ्यनुज्ञातो व्यासेनाद्भुतकर्मणा ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच–स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य तव पूर्वपितामहाः ।
युधिष्ठिरप्रभृतयो यदकुर्वत तच्छृणु ॥ ३ ॥

नारायण, नरोत्तम नर और सरस्वती देवीको प्रणाम करके जय कीर्तन करे। (१)

जनमेजय बोले, फलके उत्कर्षसे त्रिभुवन जिसके अन्तर्भूत होता है, वह त्रिविष्टप स्वर्गलोक लाभ करनेपर मेरे पूर्व पितामह पाण्डवों तथा धार्तराष्ट्रोंको कौनसे स्थान पाए हुए थे ? मैं इसे ही सुननेकी इच्छा करता हूं। आचार्य कर्मशील महर्षि व्यासदेवके द्वारा अनुज्ञात होनेसे आप सर्वज्ञ हुए हैं, यही मुझे अभिमत है। (१–२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तुम्हारे पूर्व पितामह युधिष्ठिर प्रभृतिने त्रि-

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
दुर्योधनं श्रिया जुष्टं ददर्शासीनमासने ॥ ४ ॥
भ्राजमानमिवादित्यं वीरलक्ष्म्याऽभिसंवृतम् ।
देवैर्भ्राजिष्णुभिः साध्यैः सहितं पुण्यकर्मभिः ॥ ५ ॥
ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा दुर्योधनममर्षितः ।
सहसा सन्निवृत्तोऽभूच्छ्रियं दृष्ट्वा सुयोधने ॥ ६ ॥
ब्रुवन्नुच्चैर्वचस्तान्वै नाहं दुर्योधनेन वै ।
सहितः कामये लोकाँल्लुब्धेनादीर्घदर्शिना ॥ ७ ॥
यत्कृते पृथिवी सर्वा सुहृदो बान्धवास्तथा ।
हताऽस्माभिः प्रसह्याजौ क्लिष्टैः पूर्वं महावने ॥ ८ ॥
द्रौपदी च सभामध्ये पाञ्चाली धर्मचारिणी ।
पर्याकृष्टाऽनवद्याङ्गी पत्नी नो गुरुसन्निधौ ॥ ९ ॥
अस्ति देवा न मे कामः सुयोधनमुदीक्षितुम् ।
तत्राहं गन्तुमिच्छामि यत्र ते भ्रातरो मम ॥ १० ॥
नैवमित्यब्रवीत्तं तु नारदः प्रहसन्निव ।
स्वर्गे निवासे राजेन्द्र विरुद्धं चापि नश्यति ॥ ११ ॥

विष्टप स्वर्गलाभ करके जो किया था, उसे सुनो। धर्मराज युधिष्ठिरने त्रिविष्टपमें जाके श्रीसम्पन्न दुर्योधनको दीप्यमान दिवाकरकी भांति आसनपर बैठे हुए देखा, वह उस समय वीरश्रीसे परिपूरित तथा दिप्तिमान् देवताओं और पुण्यकर्मशील पुरुषोंके सहित बैठे थे। अनन्तर युधिष्ठिर दुर्योधनको देखकर अमर्षके वशमें होकर तथा उनकी श्री देखनेसे सहसा सन्निवृत्त हुए; अनन्तर ऊंचे स्वरसे उन लोगोंसे बोले, मैं अदीर्घदर्शी लोभी दुर्योधनके सङ्ग स्वर्गलोकमें वास करनेकी कामना नहीं करता। जिसके निमित्त हम लोगोंनें पहले महावनके बीच महाकष्ट भोगकर अन्तमें पृथ्वीपरके सब सुहृदों तथा बान्धवोंको बलपूर्वक संग्राममें संहार किया है। धर्मचारिणी पाञ्चालराजपुत्री अनवद्याङ्गी द्रौपदी हम लोगोंकी पत्नी होकर सभाके बीच गुरुजनोंके समीप आकृष्ट हुई थी। हे देवगण! इसलिये उस दुर्योधनकी ओर देखनेकी मुझे इच्छा नहीं है, मेरे वे भ्राता लोक जिस स्थानमें हैं, मैं वहीं जानेकी इच्छा करता हूं। (२—१०)

नारद मुनि उस समय मानो हंसी

युधिष्ठिर महाबाहो मैवं वोचः कथञ्चन ।
दुर्योधनं प्रति नृपं शृणु चेदं वचो मम ॥ १२ ॥
एष दुर्योधनो राजा पूज्यते त्रिदशैः सह ।
सद्भिश्च राजप्रवरैर्य इमे स्वर्गवासिनः ॥ १३ ॥
वीरलोकगतिं प्राप्ता युद्धे हुत्वाऽऽत्मनस्तनुम् ।
यूयं सर्वे सुरसमा येन युद्धे समासिताः ॥ १४ ॥
स एष क्षत्रधर्मेण स्थानमेतदवाप्तवान् ।
भये महति योऽभीतो बभूव पृथिवीपतिः ॥ १५ ॥
न तन्मनसि कर्तव्यं पुत्र यद्द्यूतकारितम् ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं न चिन्तयितुमर्हसि ॥ १६ ॥
ये चान्येऽपि परिक्लेशा युष्माकं ज्ञातिकारिताः ।
संग्रामेष्वथ वाऽन्यत्र न तान्संस्मर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥
समागच्छ यथान्यायं राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
स्वर्गोऽयं नेह वैराणि भवन्ति मनुजाधिप ॥ १८ ॥
नारदेनैवमुक्तस्तु कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄन्पप्रच्छ मेधावी वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १९ ॥

करते हुए बोले, हे राजेन्द्र ! आप ऐसा न कहिये, स्वर्गवासमें विरुद्ध भावका नाश होता है । हे महाबाहु युधिष्ठिर ! इसलिये आप राजा दुर्योधनके विषयमें किसी प्रकार ऐसी बात न कहिये, मेरा यह वचन सुनिये । ये जो सब साधु राजा लोग स्वर्गवासी हुए हैं, वे देवताओंके सहित राजा दुर्योधनकी पूजा किया करते हैं । ये समरमें अपना शरीर आहुति करके वीरलोकमें आये हैं, आप सब कोई देवतुल्य हैं, इन्होंने सदा आप लोगोंकी हिंसा की है । जो भूपति महाभयसे नहीं डरते थे, उन्होंने ही क्षत्रधर्मके अनुसार यह स्थान पाया है, हे तात ! द्यूतक्रीडाके समय जो हुआ था, उसे मनमें लाना उचित नहीं है और द्रौपदीको जो सब क्लेश हुए थे उसकी भी चिन्ता करनी अनुचित है । (११-१६)

संग्राममें अथवा अन्य स्थानमें तुम लोगोंको स्वजनोंके द्वारा दूसरे जो सब क्लेश हुए थे, उसे अब स्मरण करना योग्य नहीं है । इस समय न्यायपूर्वक राजा दुर्योधनके सङ्ग मिलो । हे नरनाथ! यह स्वर्गलोक है, इस स्थानमें कुछ वैर नहीं होता । जब नारदमुनिने

यदि दुर्योधनस्यैते वीरलोकाः सनातनाः ।
अधर्मज्ञस्य पापस्य पृथिवीसुहृदद्रुहः ॥ २० ॥
यत्कृते पृथिवी नष्टा सहया सनरद्विपा ।
वयं च मन्युना दग्धा वैरं प्रतिचिकीर्षवः ॥ २१ ॥
ये ते वीरा महात्मानो भ्रातरो मे महाव्रताः ।
सत्यप्रतिज्ञा लोकस्य शूरा वै सत्यवादिनः ॥ २२ ॥
तेषामिदानीं के लोका द्रष्टुमिच्छामि तानहम् ।
कर्णं चैव महात्मानं कौन्तेयं सत्यसङ्गरम् ॥ २३ ॥
धृष्टद्युम्नं सात्यकिं च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजान् ।
ये च शस्त्रैर्वधं प्राप्ताः क्षत्रधर्मेण पार्थिवाः ॥ २४ ॥
क नु ते पार्थिवा ब्रह्मन्नैतान्पश्यामि नारद ।
विराटद्रुपदौ चैव धृष्टकेतुमुखांश्च तान् ॥ २५ ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
अभिमन्युं च दुर्धर्षं द्रष्टुमिच्छामि नारद ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्वर्गारोहणपर्वणि स्वर्गे नारदयुधिष्ठिरसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

कुरुराज युधिष्ठिरसे इतनी बात कही, तब उस मेधावी राजाने भाइयोंका विषय पूछते हुए यह वचन कहा। जिसके निमित्त घोडे, हाथी और मनुष्योंके सहित भूमण्डल विनष्ट हुआ है और हमलोग भी वैर-प्रतिचिकीर्षु होकर क्रोधमें जलते थे, उस अधर्मज्ञ पापाचारी पृथ्वी और सुहृदोंके द्रोही दुर्योधनको यदि ये सब सनातन लोक प्राप्त हुए, तो मेरे जो सब भाई वीर महात्मा महाव्रत सत्यप्रतिज्ञ लोकोंके बीच अत्यन्त शूर और सत्यवादी थे, उन लोगोंको इस समय किस प्रकारके लोक प्राप्त हुए हैं? उन सब लोकोंको देखनेकी इच्छा करता हूं! हे ब्रह्मन् नारद! सत्यसङ्गर महात्मा कुन्तीपुत्र कर्ण, धृष्टद्युम्न, सात्यकि, धृष्टद्युम्नके पुत्रगण और जो सब राजा क्षत्रधर्मके अनुसार शस्त्रोंसे मरे हैं, वे सब राजा लोग कहां हैं? उन लोगोंको नहीं देखता हूं। हे नारद! विराट, द्रुपद और धृष्टकेतु प्रभृति तथा पाञ्चालपुत्र शिखण्डी, द्रौपदीके पुत्रों और दुर्धर्ष अभिमन्युको देखनेकी अभिलाष करता हूं। (१७-२६)

स्वर्गारोहणपर्वमें १ अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच-नेह पश्यामि विबुधा राधेयममितौजसम् ।
भ्रातरौ च महात्मानौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ १ ॥
जुहुवुर्ये शरीराणि रणवह्नौ महारथाः ।
राजानो राजपुत्राश्च ये मदर्थे हता रणे ॥ २ ॥
क्व ते महारथाः सर्वे शार्दूलसमविक्रमाः ।
तैरप्ययं जितो लोकः कच्चित्पुरुषसत्तमैः ॥ ३ ॥
यदि लोकानिमान्प्राप्तास्ते च सर्वे महारथाः ।
स्थितं वित्त हि मां देवाः सहितं तैर्महात्मभिः ॥ ४ ॥
कच्चिन्न तैरवाप्तोऽयं नृपैर्लोकोऽक्षयः शुभः ।
न तैरहं विना रंस्ये भ्रातृभिर्ज्ञातिभिस्तथा ॥ ५ ॥
मातुर्हि वचनं श्रुत्वा तदा सलिलकर्मणि ।
कर्णस्य क्रियतां तोयमिति तप्यामि तेन वै ॥ ६ ॥
इदं च परितप्यामि पुनः पुनरहं सुराः ।
यन्मातुः सदृशौ पादौ तस्याहममितात्मनः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वैव तौ नानुगतः कर्णं परबलार्दनम् ।
न ह्यस्मान्कर्णसहितान् जयेच्छक्रोऽपि संयुगे ॥ ८ ॥

स्वर्गारोहणपर्वमें २ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे देवगण ! मैं इस स्थानमें अमित तेजस्वी कर्ण, महानुभाव दोनों भाई युधामन्यु और उत्तमौजाको नहीं देखता हूं ? जिन सब महारथ राजा और राजपुत्रोंने मेरे निमित्त युद्धरूपी अग्निमें शरीरकी आहुति प्रदान किया तथा मेरे निमित्त मारे गये, वे सिंहसदृश विक्रमशाली सब महारथ कहां हैं ? उन पुरुषसत्तमोंने क्या इस स्वर्गलोकको जय नहीं किया? हे देवगण ! यदि उन महारथोंने इन लोकोंको जय किया हो, तो मुझे भी प्रस्तावित महात्माओंके सहित इस स्थानमें स्थित जानिये। क्या उन राजाओंने इस शुभ लोकमें निवासलाभ नहीं किया? यदि ऐसा ही हो, तो मैं उन भाइयों तथा स्वजनोंके विना इस स्थानमें निवास न करूंगा । (१–५)

जलाञ्जलि देनेके समय "कर्णका तर्पण करो" जननीकी ऐसी बात सुनके मैंने सूर्यनन्दनको जलाञ्जलि दान की । हे देवगण ! इस समय मैं बार बार यह परिताप करता हूं, कि मैं उस परबलपीडनकारी कर्णके दोनों चरणोंके सदृश देखकर भी उनके

तमहं यत्र तत्रस्थं द्रष्टुमिच्छामि सूर्यजम् ।
अविज्ञातो मया योऽसौ घातितः सव्यसाचिना ॥९॥
भीमं च भीमविक्रान्तं प्राणेभ्योऽपि प्रियं मम ।
अर्जुनं चेन्द्रसंकाशं यमौ चैव यमोपमौ ॥ १० ॥
द्रष्टुमिच्छामि तां चाहं पाञ्चालीं धर्मचारिणीम् ।
न चेह स्थातुमिच्छामि सत्यमेवं ब्रवीमि वः ॥ ११ ॥
किं मे भ्रातुर्विहीनस्य स्वर्गेण सुरसत्तमाः ।
यत्र ते मम स स्वर्गो नायं स्वर्गो मतो मम ॥ १२ ॥
देवा ऊचुः— यदि वै तत्र ते श्रद्धा गम्यतां पुत्र माचिरम् ।
प्रिये हि तव वर्तामो देवराजस्य शासनात् ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच- इत्युक्त्वा तं ततो देवा देवदूतमुपादिशन् ।
युधिष्ठिरस्य सुहृदो दर्शयेति परन्तप ॥ १४ ॥
ततः कुन्तीसुतो राजा देवदूतश्च जग्मतुः ।
सहितौ राजशार्दूल यत्र ते पुरुषर्षभाः ॥ १५ ॥
अग्रतो देवदूतश्च ययौ राजा च पृष्ठतः ।

अनुमत न हुआ। हम लोग कर्णके सङ्ग मिले रहते, तो देवराज भी हमें युद्धमें जय करनेमें समर्थ नहीं थे। मुझे मालूम न रहनेसे ही वह सव्यसाचीके द्वारा मारे गये, वह सूर्यपुत्र चाहे किसी स्थानमें क्यों न हों, मैं उन्हें देखनेकी इच्छा करता हूं। मैं प्राणसे भी प्रिय भीमविक्रमी भीमसेन, इन्द्रसदृश अर्जुन, यमके समान यमज नकुल-सहदेव और उस धर्मचारिणी द्रुपदपुत्रीको देखनेकी अभिलाष करता हूं। मैं इस स्थानमें निवास करनेकी इच्छा नहीं करता, आप लोगोंसे सत्य ही कहता हूं। हे सुरसत्तमगण! भाइयोंसे रहित रहनेसे मुझे स्वर्गसे क्या प्रयोजन है? वे लोग जिस स्थानमें हैं, वही मेरा स्वर्ग है, यह स्थान स्वर्गरूपसे मुझे सम्मत नहीं है (६—१२)

देवगण बोले, हे तात! यदि उस ही स्थानमें तुम्हारी श्रद्धा हो तो वहां जाओ, विलम्बका प्रयोजन नहीं है। देवराजकी आज्ञासे हम लोग तुम्हारा प्रिय कार्य करेंगे। (१३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे शत्रु-तापन! देवताओंने उनसे इतनी बात कहके देवदूतसे कहा, "युधिष्ठिरके सुहृदोंको दिखाओ।" हे नृपवर! अनन्तर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर जिस

पन्थानमशुभं दुर्गं सेवितं पापकर्मभिः ॥ १६ ॥
तमसा संवृतं घोरं केशशैवलशाद्वलम्।
युक्तं पापकृतां गन्धैर्मांसशोणितकर्दमम् ॥ १७ ॥
दंशोत्पातकभल्लूकमक्षिकामशकावृतम्।
इतश्चेतश्च कुणपैः समन्तात्परिवेष्टितम् ॥ १८ ॥
अस्थिकेशसमाकीर्णं कृमिकीटसमाकुलम्।
ज्वलनेन प्रदीप्तेन समन्तात्परिवेष्टितम् ॥ १९ ॥
अयोमुखैश्च काकाद्यैर्गृध्रैश्च समभिद्रुतम्।
सूचीमुखैस्तथा प्रेतैर्विन्ध्यशैलोपमैर्वृतम् ॥ २० ॥
मेदोरुधिरयुक्तैश्च च्छिन्नबाहूरुपाणिभिः।
निकृत्तोदरपादैश्च तत्र तत्र प्रवेरितैः ॥ २१ ॥
स तत्कुणपदुर्गन्धमशिवं लोमहर्षणम्।
जगाम राजा धर्मात्मा मध्ये बहु विचिन्तयन् ॥२२॥
ददर्शोष्णोदकैः पूर्णां नदीं चापि सुदुर्गमाम्।
असिपत्रवनं चैव निशितं क्षुरसंवृतम् ॥ २३ ॥
करम्भवालुकास्तप्ता आयसीश्च शिलाः पृथक्।

स्थानमें वे पुरुषपुङ्गवगण स्थित थे, देवदूतके सङ्ग वहीं ही गये। देवदूत आगे और राजा पीछे पीछे पापकर्मवाले पुरुषोंसे सेवित उस अशुभ पथमें शीघ्रही जाने लगे। वह मार्ग अन्धकारसे परिपूरित, घोर केश शैवल शाद्वल समन्वित, पापियोंकी गन्धयुक्त, मांस-रुधिरके कीचड-विशिष्ट, दंश उत्पात, भालू मक्खियों और मच्छडोंसे आवृत, इधर उधर सर्वत्र मृत शरीरोंसे घिरे हड्डियों तथा केशोंसे भरे, कृमि तथा कीटोंसे परिपूर्ण, प्रज्वलित अग्निसे समन्तात् परिवेष्टित, अयोमुख कौवे प्रभृति और सूचीमुख गिद्धगण वहां दौडते हैं। (१४—२०)

विन्ध्याचल पर्वतके समान प्रेतोंसे वह मार्ग परिवृत, चर्बी और रुधिरयुक्त कटे हुए बाहु, जंघा, हाथ कटे हुए उदर और कटे पांववाले मुर्दे इधर उधर पडे हैं। धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर उन मृत शरीरोंके दुर्गन्धयुक्त अमङ्गल लोमहर्षण मार्गसे बहुत चिन्ता करते हुए चलने लगे। मार्गके बीच उष्णजलसे भरी हुई दुर्गम नदी और चोखे क्षुरसंवृत असिपत्रवन देखा। जलते हुए सूक्ष्म बालू, आयसी शिला और

लोहकुम्भीश्च तैलस्य क्वाथ्यमानाः समन्ततः ॥ २४ ॥
कूटशाल्मलिकं चापि दुःस्पर्शं तीक्ष्णकण्टकम् ।
ददर्श चापि कौन्तेयो यातनाः पापकर्मिणाम् ॥२५ ॥
स तं दुर्गन्धमालक्ष्य देवदूतमुवाच ह ।
कियदध्वानमस्माभिर्गन्तव्यमिममीदृशम् ॥ २६ ॥
क्व च ते भ्रातरो मह्यं तन्ममाख्यातुमर्हसि ।
देशोऽयं कश्च देवानामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ २७ ॥
स सन्निवधृते श्रुत्वा धर्मराजस्य भाषितम् ।
देवदूतोऽब्रवीच्चैनमेतावद्गमनं तव ॥ २८ ॥
निवर्तितव्यो हि मया तथाऽस्म्युक्तो दिवौकसैः ।
यदि श्रान्तोऽसि राजेन्द्र त्वमथागन्तुमर्हसि ॥ २९ ॥
युधिष्ठिरस्तु निर्विण्णस्तेन गन्धेन मूर्च्छितः ।
निवर्तने धृतमनाः पर्यावर्तत भारत ॥ ३० ॥
स संनिवृत्तो धर्मात्मा दुःखशोकसमाहतः ।
शुश्राव तत्र वदतां दीना वाचः समन्ततः ॥ ३१ ॥
भो भो धर्मज्ञ राजर्षे पुण्याभिजन पाण्डव ।
अनुग्रहार्थमस्माकं तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥ ३२ ॥

तेलसे भरे हुए लोहेके घडे चारों ओर सज्जित हैं, कुन्तीनन्दनने उस समय तीक्ष्ण कांटेयुक्त दुःस्पर्शकूट सेमलके वृक्षों तथा पापियोंकी पीडा देखी। वह उस दुर्गम स्थानको देखकर देवदूतसे बोले, हम लोगोंको इस प्रकार कितना मार्ग चलना होगा? मेरे वे भ्रातृगण कहां है? वह तुम मुझसे कहो और देवताओंका यह कौनसा स्थान है, उसे भी जाननेकी इच्छा करता हूं। (२०—२७)

देवदूत धर्मराजका इतना वचन सुनके निवृत्त हुआ और उनसे बोला, यहांतक ही तुम्हें आना योग्य है, इसके अनन्तर निवृत्त होना उचित है; देवताओंने मुझे ऐसा ही कहा था। हे राजेन्द्र! यदि तुम थके हुए हो, तो लौट सकते हो। हे भारत! युधिष्ठिरने निर्विण्ण तथा उस गन्धसे मूर्च्छित होकर लौटनेमें मन स्थिर किया, तथा वहांसे लौटे। उस धर्मात्माने दुःख-शोक सहित निवृत्त होके वहांपर चारों ओरसे चिल्लानेवाले मनुष्योंका दीन-वचन सुना। हे धर्मज्ञ पुण्याभिजनराजक

आयाति त्वयि दुर्धर्ष वाति पुण्यः समीरणः ।
तव गन्धानुगस्तात येनास्मान् सुखमागतम् ॥ ३३ ॥
ते वयं पार्थ दीर्घस्य कालस्य पुरुषर्षभ ।
सुखमासादयिष्यामस्त्वां दृष्ट्वा राजसत्तम ॥ ३४ ॥
संतिष्ठस्व महाबाहो मुहूर्तमपि भारत ।
त्वयि तिष्ठति कौरव्य यातनास्मान्न बाधते ॥ ३५ ॥
एवं बहुविधा वाचः कृपणा वेदनावताम् ।
तस्मिन्देशे स शुश्राव समन्ताद्वदतां नृप ॥ ३६ ॥
तेषां तु वचनं श्रुत्वा दयावान्दीनभाषिणाम् ।
अहो कृच्छ्रमिति प्राह तस्थौ स च युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥
स ता गिरः पुरस्ताद्वै श्रुतपूर्वाः पुनः पुनः ।
ग्लानानां दुःखितानां च नाभ्यजानत पाण्डवः ॥ ३८ ॥
अबुध्यमानस्ता वाचो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच के भवन्तो वै किमर्थमिह तिष्ठथ ॥ ३९ ॥
इत्युक्तास्ते ततः सर्वे समन्तादवभाषिरे ।
कर्णोऽहं भीमसेनोऽहमर्जुनोऽहमिति प्रभो ॥ ४० ॥

पाण्डव ! आप हम लोगोंके विषयमें अनुग्रहके निमित्त मुहूर्त भर निवास करिये, आपके आनेसे पवित्र वायु बहता और तुम्हारे गन्धके अनुगत होता है, उस ही कारण हम सुखी होरहे हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ राजसत्तम पार्थ ! हम लोग बहुत समयके अनन्तर आपको देखकर सुखी हुए हैं; हे महाबाहु भारत! इसलिये आप मुहूर्तभर निवास करिये, हे कौरव्य ! आपके खडे रहते समस्त यातना हम लोगोंको पीडा न दे सकेंगी। हे महाराज ! उन्होंने उस स्थानमें निवास करते हुए विलाप करनेवाले मनुष्योंके इसही भांति अनेक प्रकारके दीन वचन सुने । (२८—३६)

दयालु युधिष्ठिर उन दीन वचन कहनेवालोंकी वाणी सुनके " क्या कष्ट है ।" ऐसा कहके स्थित रहे। पाण्डुपुत्र अग्रभागमें ग्लानियुक्त दुःखी लोगोंके यह सब वचन बार बार सुनके यह न समझ सके, कि वे किनके वचन हैं ? धर्मपुत्र युधिष्ठिर वह सब वचन न समझ सकनेपर बोले, 'आप लोग कौन हैं और किस निमित्त इस स्थानमें निवास करते हैं ?' वे लोग ऐसा सुनकर चारों ओरसे कहने लगे । मैं कर्ण हूं,

नकुलः सहदेवोऽहं धृष्टद्युम्नोऽहमित्युत ।
द्रौपदी द्रौपदेयाश्च इत्येवं ते विचुक्रुशुः ॥ ४१ ॥
ता वाचः स तदा श्रुत्वा तद्देशसदृशीर्नृप ।
ततो विममृशे राजा किं त्विदं दैवकारितम् ॥ ४२ ॥
किं नु तत्कलुषं कर्म कृतमेभिर्महात्मभिः ।
कर्णेन द्रौपदेयैर्वा पाञ्चाल्या वा सुमध्यया ॥ ४३ ॥
य इमे पापगन्धेऽस्मिन्देशे सन्ति सुदारुणे ।
नाहं जानामि सर्वेषां दुष्कृतं पुण्यकर्मणाम् ॥ ४४ ॥
किं कृत्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो राजा सुयोधनः ।
तथा श्रिया युतः पापैः सह सर्वैः पदानुगैः ॥ ४५ ॥
महेन्द्र इव लक्ष्मीवानास्ते परमपूजितः ।
कस्येदानीं विकारोऽयं य इमे नरकं गताः ॥ ४६ ॥
सर्वधर्मविदः शूराः सत्यागमपरायणाः ।
क्षत्रधर्मरताः सन्तो यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥ ४७ ॥
किं नु सुप्तोऽस्मि जागर्मि चेतयामि न चेतये ।
अहो चित्तविकारोऽयं स्याद्वा मे चित्तविभ्रमः ॥ ४८ ॥

हे प्रभु ! मैं भीमसेन हूं, मैं अर्जुन हूं, मैं नकुल, मैं सहदेव, मैं धृष्टद्युम्न, मैं द्रौपदी और हम लोग द्रौपदीके पुत्र हैं, इस ही प्रकार वे लोग चिल्लाने लगे। (३७—४१)

हे राजन् ! उस समय राजा युधिष्ठिरने उन लोगोंके अनुरूप वह सब वचन सुनके विचारा। हाय ! दैवने यह क्या किया है। महात्मा कर्ण तथा द्रौपदी, द्रौपदेय आदिने कौनसा पापकर्म किया था, जो इस पापगन्धसे परिपूर्ण दारुण स्थानमें निवास करते हैं ? मैं इन सब पुण्यकर्म करनेवालोंका कुछ दुष्कृत नहीं जानता। धृतराष्ट्रका पुत्र राजा सुयोधन कौनसा कर्म करके पदानुग पापाचारियोंके सहित वैसा श्रीसम्पन्न हुआ है और महेन्द्रकी भांति लक्ष्मीवान् तथा परम पूजित होरहा है ? और सर्वधर्मज्ञ, शूर सत्यागमपरायण, क्षत्रधर्ममें रत, याज्ञिक तथा बहुतसी दक्षिणादान करके भी ये लोग इस समय नरकगामी हुए हैं, यह किस पापका विकार है ? क्या मैं सोया हूं अथवा जागता हूं, मुझे चेत है वा अचेत हुआ हूं, कैसा आश्चर्य है। (४२—४८)

क्या यह मेरा चित्तविकार अथवा

एवं बहुविधं राजा विममर्श युधिष्ठिरः ।
दुःखशोकसमाविष्टश्चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियः ॥ ४९ ॥
क्रोधमाहारयच्चैव तीव्रं धर्मसुतो नृपः ।
देवांश्च गर्हयामास धर्मं चैव युधिष्ठिरः ॥ ५० ॥
स तीव्रगन्धसंतप्तो देवदूतमुवाच ह ।
गम्यतां तत्र येषां त्वं दूतस्तेषामुपान्तिकम् ॥ ५१ ॥
न ह्यहं तत्र यास्यामि स्थितोऽस्मीति निवेद्यताम् ।
मत्संश्रयादिमे दूताः सुखिनो भ्रातरो हि मे ॥ ५२ ॥
इत्युक्तः स तदा दूतः पाण्डुपुत्रेण धीमता ।
जगाम तत्र यत्रास्ते देवराजः शतक्रतुः ॥ ५३ ॥
निवेदयामास च तद्धर्मराजचिकीर्षितम् ।
यथोक्तं धर्मपुत्रेण सर्वमेव जनाधिप ॥ ५४ ॥ [६०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्वर्गारोहणपर्वणि
युधिष्ठिरनरकदर्शने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच- स्थिते मुहूर्तं पार्थे तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
आजग्मुस्तत्र कौरव्य देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ १ ॥
स च विग्रहवान्धर्मो राजानं प्रसमीक्षितुम् ।

चित्तविभ्रम हुआ है ? राजा युधिष्ठिर इस ही भांति अनेक प्रकार विचारने लगे। धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर शोक-दुःखसे युक्त तथा चिन्तासे व्याकुलेन्द्रिय होकर बहुत ही क्रुद्ध हुए और देवताओं तथा धर्मकी निन्दा करने लगे। वह तीव्र गन्धसे सन्तापित होके देवदूतसे बोले, तुम जिन लोगोंके दूत हो, उनके समीप जाओ, मैं वहां न जाऊंगा, इस ही स्थानमें रहूंगा, उन लोगोंसे ऐसा ही निवेदन करो। मेरे आश्रयसे ये मेरे दुःखित भाई सुखी हुए हैं। देवदूत उस समय धीमान् पाण्डुपुत्रका ऐसा वचन सुनके जिस स्थानमें देवराज शतक्रतु निवास करते थे, वहां गया। हे जननाथ ! धर्मराजने जो किया था, तथा धर्मपुत्रने जो कहा था, उसने वह सब देवराजके निकट कह सुनाया। (४८—५४)

स्वर्गारोहणपर्वमें २ अध्याय समाप्त।

स्वर्गारोहणपर्वमें ३ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे कौरव! पृथानन्दन युधिष्ठिरके मुहूर्तभर निवास करनेके अनन्तर इन्द्रको आगे करके

तत्राजगाम यत्रासौ कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥
तेषु भासुरदेहेषु पुण्याभिजनकर्मसु ।
समागतेषु देवेषु व्यगमत्तत्तमो नृप ॥ ३ ॥
नादृश्यन्त च तास्तत्र यातनाः पापकर्मिणाम् ।
नदी वैतरणी चैव कूटशाल्मलिना सह ॥ ४ ॥
लोहकुम्भ्यः शिलाश्चैव नादृश्यन्त भयानकाः ।
विकृतानि शरीराणि यानि तत्र समन्ततः ॥ ५ ॥
ददर्श राजा कौरव्यस्तान्यदृश्यानि चाभवन् ।
ततो वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः ॥ ६ ॥
ववौ देवसमीपस्थः शीतलोऽतीव भारत ।
मरुतः सह शक्रेण वसवश्चाश्विनौ सह ॥ ७ ॥
साध्या रुद्रास्तथाऽऽदित्या ये चान्येऽपि दिवौकसः ।
सर्वे तत्र समाजग्मुः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ८ ॥
यत्र राजा महातेजा धर्मपुत्रः स्थितोऽभवत् ।
ततः शक्रः सुरपतिः श्रिया परमया युतः ॥ ९ ॥
युधिष्ठिरमुवाचेदं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
युधिष्ठिर महाबाहो लोकाश्चाप्यक्षयास्तव ॥ १० ॥

सब देवता उस स्थानमें आये और कुरुराज राजा युधिष्ठिर जिस स्थानमें थे, मूर्तिमान् धर्म उस राजाको देखनेके लिये वहां समागत हुए। हे महाराज! उन प्रकाशमान शरीर, पवित्र जन्मकर्म-युक्त देवताओंके वहां समागत होनेसे वह अन्धकार दूर हुआ। वहां उन पापियोंकी यातना, वैतरणी नदी और कूट शाल्मलि वृक्ष न दीख पडे। वडे भयानक लोहेके घडे और समस्त शिला अदृश्य हुई तथा वहांपर चारों ओर जो सब विकृत शरीर थे, वे भी न दीख पडे। (१—५)

राजाने देखा, कि वे सब अदृश्य हुए। हे भारत! अनन्तर देवताओंके समीपसे शीतल पवित्र पुण्यगन्धयुक्त सुखस्पर्श वायु बहने लगा। जिस स्थानमें परम तेजस्वी राजा धर्मपुत्र स्थित थे, वहां इन्द्रके सहित मरुद्गण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार, साध्य-गण, रुद्रगण, आदित्यगण, इनके अतिरिक्त सुरपुरवासी समस्त सिद्ध और महर्षिवृन्द आये। अनन्तर परम श्रीसम्पन्न सुरराज इन्द्र सान्त्वनापूर्वक युधि-

एह्येहि पुरुषव्याघ्र कृतमेतावता विभो ।
सिद्धिः प्राप्ता महाबाहो लोकाश्चाप्यक्षयास्तव ॥ ११ ॥
न च मन्युस्त्वया कार्यः शृणु चेदं वचो मम ।
अवश्यं नरकस्तात द्रष्टव्यः सर्वराजभिः ॥ १२ ॥
शुभानामशुभानां च द्वौ राशी पुरुषर्षभ ।
यः पूर्वं सुकृतं भुङ्क्ते पश्चान्निरयमेव सः ॥ १३ ॥
पूर्वं नरकभाग्यस्तु पश्चात्स्वर्गमुपैति सः ।
भूयिष्ठं पापकर्मा यः स पूर्वं स्वर्गमश्नुते ॥ १४ ॥
तेन त्वमेवं गमितो मया श्रेयोऽर्थिना नृप ।
व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति ॥ १५ ॥
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव ।
यथैव त्वं तथा भीमस्तथा पार्थो यमौ तथा ॥ १६ ॥
द्रौपदी च तथा कृष्णा व्याजेन नरकं गताः ।
आगच्छ नरशार्दूल मुक्तास्ते चैव कल्मषात् ॥ १७ ॥
स्वपक्ष्याश्चैव ये तुभ्यं पार्थिवा निहता रणे ।
सर्वे स्वर्गमनुप्राप्तास्तान्पश्य भरतर्षभ ॥ १८ ॥

ष्ठिरसे यह वचन बोले, हे महाबाहु युधिष्ठिर ! देवगण तुम्हारे विषयमें प्रसन्न हुए हैं । हे पुरुषप्रवर ! आओ, यहांतक ही भला है, तुन्हें सब अक्षयलोक तथा सिद्धि प्राप्त हुई है; तुम क्रोध मत करो, मेरा यह वचन सुनो । (६—१२)

हे तात ! सब राजाओंको ही नरक देखना होता है । हे पुरुषवर ! शुभ और अशुभकी दो राशि हैं, उसके बीच जो लोग पहले सुकृत भोग करते हैं, वे पीछे नरकलोग किया करते हैं और जो लोग पहले नरकभागी होते हैं, वे पश्चात् स्वर्गलाभ करते हैं । जो लोग बहुतसे पाप कर्म करते हैं, वे पहले स्वर्गभोग किया करते हैं, इस ही निमित्त मैंने तुम्हारे कल्याणके निमित्त ऐसा कराया है । हे राजन् ! तुमने छलपूर्वक द्रोणकी सन्तानके निमित्त प्रतारणा की थी, इसही लिये मैंने तुम्हें छल-क्रमसे नरक दिखाया है । तुमने जिस प्रकार कपटनरक देखा, उस ही प्रकार भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रुपद-राजपुत्री द्रौपदीने छलक्रमसे नरकमें गमन किया था । हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे पक्षके जो सब राजा लोग युद्धमें मरे हैं

कर्णश्चैव महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
स गतः परमां सिद्धिं यदर्थं परितप्यसे ॥ १९ ॥
तं पश्य पुरुषव्याघ्रमादित्यतनयं विभो ।
स्वस्थानस्थं महाबाहो जहि शोकं नरर्षभ ॥ २० ॥
भ्रातॄंश्चान्यांस्तथा पश्य स्वपक्ष्यांश्चैव पार्थिवान् ।
स्वं स्वं स्थानमनुप्राप्तान् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥२१॥
कृच्छ्रं पूर्वं चानुभूय इतःप्रभृति कौरव ।
विहरस्व मया सार्धं गतशोको निरामयः ॥ २२ ॥
कर्मणां तात पुण्यानां जितानां तपसा स्वयम् ।
दानानां च महाबाहो फलं प्राप्नुहि पार्थिव ॥ २३ ॥
अद्य त्वां देवगन्धर्वा दिव्याश्चाप्सरसो दिवि ।
उपसेवन्तु कल्याणं विरजोऽम्बरभूषणाः ॥ २४ ॥
राजसूयजिताँल्लोकान् स्वयमेवाभिवर्द्धितान् ।
प्राप्नुहि त्वं महाबाहो तपसश्च महाफलम् ॥ २५ ॥
उपर्युपरि राज्ञां हि तव लोका युधिष्ठिर ।
हरिश्चन्द्रसमाः पार्थ येषु त्वं विहरिष्यसि ॥ २६ ॥
मान्धाता यत्र राजर्षिर्यत्र राजा भगीरथः ।

देखो, वे सभी स्वर्गमें आये हैं। १२–१८

तुम जिसके निमित्त परिताप करते हो, उस शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर कर्णको परम सिद्धि प्राप्त हुई है। हे नर-श्रेष्ठ महाबाहो! सूर्यपुत्रको निज स्थान में देखो। हे पुरुषश्रेष्ठ! शोक परित्याग करो, तुम अपने अन्यान्य भाइयों तथा स्वपक्षके राजाओंको निज निज स्थानमें देखो, तुम्हारे मनका शोक दूर होवे। हे कौरव! पहले कष्ट अनुभव करके इस के अनन्तर शोकरहित तथा निरामय होकर मेरे सङ्ग विहार करो। हे तात महाबाहु महाराज! तुम अपनी तपस्या से उपार्जित पुण्यकर्म तथा दानके फल-को स्वयं प्राप्त करो। आज रजोहीन वस्त्रभूषणयुक्त देव गन्धर्व तथा दिव्य अप्सरावृन्द स्वर्गमें तुम्हारी सेवा करें। (१९—२४)

हे महाबाहो! तुमने राजसूय यज्ञसे जिन लोगोंको स्वयं वृद्धियुक्त किया है, उन सब लोकों तथा तपस्याके फलको पाओ। हे युधिष्ठिर! राजाओंके ऊपर तुम्हारे लोक प्रस्तुत हैं। हे पार्थ! तुम जिन लोकोंमें विहार करोगे, वे हरिश्चन्द्र

दौष्यन्तिर्यत्र भरतस्तत्र त्वं विहरिष्यसि ॥ २७ ॥
एषा देवनदी पुण्या पार्थ त्रैलोक्यपावनी ।
आकाशगङ्गा राजेन्द्र तत्राप्लुत्य गमिष्यसि ॥ २८ ॥
अत्र स्नातस्य भावस्ते मानुषो विगमिष्यति ।
गतशोको निरायासो मुक्तवैरो भविष्यसि ॥ २९ ॥
एवं ब्रुवति देवेन्द्रे कौरवेन्द्रं युधिष्ठिरम् ।
धर्मो विग्रहवान् साक्षादुवाच सुतमात्मनः ॥ ३० ॥
भो भो राजन्महाप्राज्ञ प्रीतोऽस्मि तव पुत्रक ।
मद्भक्त्या सत्यवाक्यैश्च क्षमया च दमेन च ॥ ३१ ॥
एषा तृतीया जिज्ञासा तव राजन् कृता मया ।
न शक्यसे चालयितुं स्वभावात्पार्थ हेतुतः ॥ ३२ ॥
पूर्वं परीक्षितो हि त्वं प्रश्नाद् द्वैतवने मया ।
अरणीसहितस्यार्थे तच्च निस्तीर्णवानसि ॥ ३३ ॥
सोदर्येषु विनष्टेषु द्रौपद्या तत्र भारत ।
श्वरूपधारिणा तत्र पुनस्त्वं मे परीक्षितः ॥ ३४ ॥
इदं तृतीयं भ्रातॄणामर्थे यत्स्थातुमिच्छसि ।

के लोकके सदृश हैं। जिस स्थानमें राजर्षि मान्धाता, राजा भगीरथ और दुष्यन्तपुत्र भरत निवास करते हैं, तुम वहां विहार करोगे। हे राजेन्द्र पार्थ! यह त्रैलोक्यपावनी पवित्र देवनदी आकाशगङ्गा है, इसमें स्नान करके चलना। इसमें स्नान करनेसे तुम्हारा मनुष्यभाव छूट जायगा, तुम शोकहीन, निरायास और वैररहित होगे। (२५-२९)

हे कौरवेन्द्र! जब देवराज युधिष्ठिर से इस प्रकार कह रहे थे, तब मूर्तिमान् साक्षात् धर्मने अपने पुत्रसे कहा, हे महाप्राज्ञ राजेन्द्र! हे पुत्र! मुझमें भक्ति, सत्य वचन, क्षमा और दमसे मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं। हे राजन्! मैंने तुम्हारी यह तीसरी बार परीक्षा की है। हे पार्थ! किसी कारणसे तुम्हें स्वभावसे विचलित करनेमें किसीका भी सामर्थ्य नहीं है। पहले द्वैतवनमें अरणीसहित ब्राह्मणके निमित्त मैंने तुम्हारी प्रश्न-जिज्ञासा हेतु परीक्षा की थी, तुम उससे निस्तीर्ण हुए हो। हे भारत! हे पुत्र! द्रौपदीको आरम्भ करके सहोदरोंके विनष्ट होते रहनेपर मैंने वहां कुत्तेका रूप धरके दूसरी बार तुम्हारी परीक्षा की थी। हे महाभाग! यह मेरी तीसरी

विशुद्धोऽसि महाभाग सुखी विगतकल्मषः ॥ ३५ ॥
न च ते भ्रातरः पार्थ नरकार्हा विशांपते ।
मायैषा देवराजेन महेन्द्रेण प्रयोजिता ॥ ३६ ॥
अवश्यं नरकास्तात द्रष्टव्याः सर्वराजभिः ।
ततस्त्वया प्राप्तमिदं मुहूर्तं दुःखमुत्तमम् ॥ ३७ ॥
न सव्यसाची भीमो वा यमौ वा पुरुषर्षभौ ।
कर्णो वा सत्यवाक् शूरो नरकार्हाश्चिरं नृप ॥ ३८ ॥
न कृष्णा राजपुत्री च नरकार्हा कथञ्चन ।
एह्येहि भरतश्रेष्ठ पश्य गङ्गां त्रिलोकगाम् ॥ ३९ ॥
एवमुक्तः स राजर्षिस्तव पूर्वपितामहः ।
जगाम सह धर्मेण सर्वैश्च त्रिदिवालयैः ॥ ४० ॥
गङ्गां देवनदीं पुण्यां पावनीमृषिसंस्तुताम् ।
अवगाह्य ततो राजा तनुं तत्याज मानुषीम् ॥ ४१ ॥
ततो दिव्यवपुर्भूत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
निर्वैरो गतसन्तापो जले तस्मिन्समाप्लुतः ॥ ४२ ॥
ततो ययौ वृतो देवैः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।

परीक्षा है; जब तुम भाइयोंके लिये निवास करनेकी इच्छा करते हो, तब तुम अत्यन्त पवित्र, सुखी और पापरहित हो; हे नरश्रेष्ठ पार्थ! तुम्हारे भाईलोग नरकके योग्य नहीं हैं, देवराज महेन्द्रके द्वारा यह माया प्रयुक्त हुई थी। हे राजेन्द्र! सब राजाओंको अवश्य नरक देखना होता है, इसलिये तुम्हें मुहूर्तभर यह कष्टकर दुःख प्राप्त हुआ। हे राजन्! सव्यसाची, भीमसेन, पुरुषश्रेष्ठ नकुल, सहदेव और सत्यवादी शूरवर कर्ण, ये लोग बहुत समयतक नरकभोगके उपयुक्त नहीं हैं। हे युधिष्ठिर! राजपुत्री द्रौपदी भी नरकके योग्य नहीं है। हे भरतश्रेष्ठ! आओ त्रिलोकगामिनी गङ्गाको देखो। ३०–३९

तुम्हारे पूर्वपितामह वह राजर्षि धर्म सब देवताओंके सहित ऋषियोंसे स्तुतियुक्त पावनी पवित्रजलवाली देवनदी गङ्गाके समीप गये। अनन्तर राजा युधिष्ठिरने उसमें स्नान करके मानुषी मूर्ति परित्याग की। अन्तमें धर्मराज युधिष्ठिर उस गङ्गाजलमें स्नान करके दिव्य देहयुक्त तथा सन्तापरहित होके शोभित होने लगे। अनन्तर धीमान् कुरुराज युधिष्ठिर देवताओंसे

धर्मेण सहितो धीमान्स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ४३ ॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शूरा विगतमन्यवः ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च स्वानि स्थानानि भेजिरे ॥ ४४ ॥ [१०४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्वर्गारोहणपर्वणि
युधिष्ठिरतनुत्यागे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततो युधिष्ठिरो राजा देवैः सर्षिमरुद्गणैः ।
स्तूयमानो ययौ तत्र यत्र ते कुरुपुङ्गवाः ॥ १ ॥
ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम् ।
तेनैव दृष्टपूर्वेण साद‍ृश्येनैव सूचितम् ॥ २ ॥
दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम् ।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः ॥ ३ ॥
उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा ।
तथास्वरूपं कौन्तेयो ददर्श मधुसूदनम् ॥ ४ ॥
तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ समुद्वीक्ष्य युधिष्ठिरम् ।
यथावत्प्रतिपेदाते पूजया देवपूजितौ ॥ ५ ॥
अपरस्मिन्नथोद्देशे कर्णं शस्त्रभृतां वरम् ।
द्वादशादित्यसहितं ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ६ ॥

घिरके ऋषियोंके द्वारा स्तुतियुक्त होकर जिस स्थानमें वे पुरुषश्रेष्ठ शोकरहित शूरवीर पाण्डवों तथा धार्तराष्ट्रगणोंने निज निज स्थान प्राप्त किया, धर्मके सहित वहां गये। (४०–४४)

स्वर्गारोहणपर्वमें ३ अध्याय समाप्त ।

स्वर्गारोहणपर्वमें ४ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर राजा युधिष्ठिर ऋषियोंके सहित मरुद्गणसे स्तुतियुक्त होकर जिस स्थानमें कुरु-पाण्डवगण निवास करते थे, देवताओंके सङ्ग वहां गये। वहां पहले देखे हुए साद‍ृश्यके द्वारा सूचित ब्राह्मशरीरयुक्त गोविन्दका दर्शन किया। वह उस समय निज शरीरकी शोभासे दीप्यमान थे, चक्रप्रभृति पुरुषविग्रह घोर दिव्य अस्त्र उनकी उपासना करते थे; सुन्दर तेजशाली वीरश्रेष्ठ फाल्गुन उनकी उपासना करते थे। कुन्तीनन्दनने वैसे स्वरूपयुक्त मधुसूदनका दर्शन किया। (१—३)

उन पुरुषश्रेष्ठ देवताओंसे पूजित नर-नारायणने युधिष्ठिरको देखकर यथावत् पूजा करते हुए सम्मान प्रदर्शित किया। दूसरी ओर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने शस्त्र-

अथापरस्मिन्नुद्देशे मरुद्गणवृतं विभुम् ।
भीमसेनमथापश्यत्तेनैव वपुषाऽन्वितम् ॥ ७ ॥
श्रिया परमया युक्तं सिद्धिं परामिकां गतम् ॥ ८ ॥
अश्विनोस्तु तथा स्थाने दीप्यमानौ स्वतेजसा ।
नकुलं सहदेवं च ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ९ ॥
तथा ददर्श पाञ्चालीं कमलोत्पलमालिनीम् ।
वपुषा स्वर्गमाक्रम्य तिष्ठन्तीमर्कवर्चसम् ॥ १० ॥
अखिलं सहसा राजा प्रष्टुमैच्छद्युधिष्ठिरः ।
ततोऽस्य भगवानिन्द्रः कथयामास देवराट् ॥ ११ ॥
श्रीरेषा द्रौपदीरूपा त्वदर्थे मानुषं गता ।
अयोनिजा लोककान्ता पुण्यगन्धा युधिष्ठिर ॥ १२ ॥
रत्यर्थं भवतां ह्येषा निर्मिता शूलपाणिना ।
द्रुपदस्य कुले जाता भवद्भिश्चोपजीविता ॥ १३ ॥
एते पञ्च महाभागा गन्धर्वाः पावकप्रभाः ।
द्रौपद्यास्तनया राजन् युष्माकममितौजसः ॥ १४ ॥
पश्य गन्धर्वराजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।

धारीश्रेष्ठ कर्णको द्वादश आदित्यके समान देखा। अनन्तर दूसरे स्थानमें मरुद्गणसे घिरे हुए विभु भीमसेनको वैसे ही शरीरयुक्त अवलोकन किया। वह उस समय मूर्तिमान् वायुके समीप दिव्य मूर्तियुक्त, परम श्रीसम्पन्न तथा परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। अनन्तर कुरुनन्दनने दोनों अश्विनीकुमारोंके निकट निज तेजके सहारे दीप्यमान नकुल और सहदेवको देखा और सूर्यकी भांति तेजशालिनी कमलमालिनी द्रौपदीको शरीरकीं सुघराईसे सुरपुरको आक्रमण करती हुई देखा; राजा युधिष्ठिरने उसे देखते ही सहसा पूछनेकी इच्छा की। (४—१०)

अनन्तर भगवान् इन्द्रने उनसे कहा हे युधिष्ठिर ! यह लक्ष्मी है, द्रौपदीरूपसे तुम लोगोंके निमित्त मनुष्यलोकमें गई थी। यह अयोनिजा, सर्वलोककान्ता और पुण्यगन्धशालिनी है, तुम लोगोंके रतिके निमित्त इसे महादेवने बनाया था। इसने द्रुपदकुलमें जन्म लेकर तुम लोगोंको उपजीवित किया था। हे राजन् ! ये अग्निप्रभासदृश अमित तेजस्वी महाभाग पांच गन्धर्व द्रौपदीके गर्भसे तुम लोगोंके

एनं च त्वं विजानीहि भ्रातरं पूर्वजं पितुः ॥ १५ ॥
अयं ते पूर्वजो भ्राता कौन्तेयः पावकद्युतिः ।
सूतपुत्राग्रजः श्रेष्ठो राधेय इति विश्रुतः ॥ १६ ॥
आदित्यसहितो याति पश्यैनं पुरुषर्षभम् ।
साध्यानामथ देवानां विश्वेषां मरुतामपि ॥ १७ ॥
गणेषु पश्य राजेन्द्र वृष्ण्यन्धकमहारथान् ।
सात्यकिप्रमुखान्वीरान् भोजांश्चैव महाबलान् ॥१८ ॥
सोमेन सहितं पश्य सौभद्रमपराजितम् ।
अभिमन्युं महेष्वासं निशाकरसमद्युतिम् ॥ १९ ॥
एष पाण्डुर्महेष्वासः कुन्त्या माद्र्या च संगतः ।
विमानेन सदाऽभ्येति पिता तव ममान्तिकम् ॥२० ॥
वसुभिः सहितं पश्य भीष्मं शान्तनवं नृपम् ।
द्रोणं बृहस्पतेः पार्श्वे गुरुमेनं निशामय ॥ २१ ॥
एते चान्ये महीपाला योधास्तव च पाण्डव ।
गन्धर्वसहिता यान्ति यक्षपुण्यजनैस्तथा ॥ २२ ॥
गुह्यकानां गतिं चापि केचित्प्राप्ता नराधिपाः ।

पुत्ररूपसे जन्मे थे। इस गन्धर्वराज मनीषी धृतराष्ट्रका दर्शन करो, इन्हेंही तुम अपने पिताका पूर्वज भ्राता जानो, ये अग्निसदृश तेजस्वी कुन्ती-नन्दन सूर्य—पुत्र राधेय तुमसे ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठरूपसे विख्यात हैं। आदित्यसदृश कर्ण जा रहे हैं, उस पुरुषश्रेष्ठको देखो। (११—१७)

हे राजेन्द्र! साध्यगण, विश्वदेवगण और मरुद्गणके बीच वृष्णि तथा अन्धक-वंशीय महारथोंको और सात्यकी प्रभृति भोजवंशीय वीरवर महाबली पुरुषोंको देखो। चन्द्रमासदृश तेजस्वी महा धनुर्धर सुभद्रापुत्र अपराजित अभिमन्युको चन्द्रके सहित देखो। ये तुम्हारे पिता महाधनुर्धर पाण्डु कुन्ती तथा माद्रीके सङ्ग विमानके सहारे सदा मेरे समीप आते हैं। हे राजन्! शान्तनुपुत्र भीष्मको देवता-ओंके सहित देखो और बृहस्पतिके निकट अपने गुरु द्रोणको अवलोकन करो। हे पाण्डव! ये सब तथा इनके अतिरिक्त अन्यान्य राजा और तुम्हारे योद्धा लोग गन्धर्व, यक्ष और पुण्यात्मा लोगोंके सहित गमन करते हैं। हे नरनाथ! किसी किसीने देह त्यागके

त्यक्त्वा देहं जितः स्वर्गः पुण्यवाग्बुद्धिकर्मभिः ॥२३॥ [१२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्वर्गारोहणपर्वणि द्रौपद्यादिस्वस्वस्थानगमने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

जनमेजय उवाच– भीष्मद्रोणौ महात्मानौ धृतराष्ट्रश्च पार्थिवः ।
विराटद्रुपदौ चोभौ शङ्खश्चैवोत्तरस्तथा ॥ १ ॥
धृष्टकेतुर्जयत्सेनो राजा चैव स सत्यजित् ।
दुर्योधनसुताश्चैव शकुनिश्चैव सौबलः ॥ २ ॥
कर्णपुत्राश्च विक्रान्ता राजा चैव जयद्रथः ।
घटोत्कचादयश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ३ ॥
ये चान्ये कीर्तिता वीरा राजानो दीप्तमूर्तयः ।
स्वर्गे कालं कियन्तं ते तस्थुस्तदपि शंस मे ॥ ४ ॥
अहो स्विच्छाश्वतं स्थानं तेषां तत्र द्विजोत्तम ।
अन्ते वा कर्मणां कां ते गतिं प्राप्ता नरर्षभाः ॥ ५ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं प्रोच्यमानं द्विजोत्तम ।
तपसा हि प्रदीप्तेन सर्वं त्वमनुपश्यसि ॥ ६ ॥
सौतिरुवाच– इत्युक्तः स तु विप्रर्षिरनुज्ञातो महात्मना ।
व्यासेन तस्य नृपतेराख्यातुमुपचक्रमे ॥ ७ ॥

पवित्र वचन, बुद्धि और कर्मसे स्वर्ग जय करके गुह्यकगणकी गति प्राप्त की है । (१७–२३)

स्वर्गारोहणपर्वमें ४ अध्याय समाप्त ।

स्वर्गारोहणपर्वमें ५ अध्याय ।

जनमेजय बोले, महानुभाव भीष्म, द्रोण, महाराज धृतराष्ट्र, विराट, द्रुपद, शङ्ख, उत्तर, धृष्टकेतु, जयत्सेन और राजा सत्यजित, दुर्योधनके पुत्रगण, सुबलनन्दन शकुनि, कर्णके पराक्रमी पुत्रगण; राजा जयद्रथ और घटोत्कच प्रभृति जिन लोगोंका नाम नहीं कहा गया तथा जिन राजाओंका वर्णन किया गया है, उन्होंने कितने समयतक स्वर्गमें वास किया था, वह भी मेरे समीप वर्णन करिये। हे द्विजोत्तम! क्या स्वर्ग ही उन लोगोंका शाश्वत स्थान है ? अथवा कर्मफल भोगनेके अनन्तर श्रेष्ठ पुरुषोंको कौनसी गति प्राप्त हुई ? इसे मैं सुननेकी इच्छा करता हूं, आप प्रदीप्त तपस्याके सहारे सब अवलोकन करते हैं । (१––६)

सौति बोले, उस विप्रर्षि वैशम्पायन मुनिनें राजाका ऐसा प्रश्न सुनके

वैशम्पायन उवाच– न शक्यं कर्मणामन्ते सर्वेण मनुजाधिप ।
प्रकृतिं किं नु सम्यक्ते पृच्छैषा संप्रयोजिता ॥ ८ ॥
शृणु गुह्यमिदं राजन्देवानां भरतर्षभ ।
यदुवाच महातेजा दिव्यचक्षुः प्रतापवान् ॥ ९ ॥
मुनिः पुराणः कौरव्य पाराशर्यो महाव्रतः ।
अगाधबुद्धिः सर्वज्ञो गतिज्ञः सर्वकर्मणाम् ॥ १० ॥
तेनोक्तं कर्मणामन्ते प्रविशन्ति स्विकां तनुम् ।
वसुदेव महातेजा भीष्मः प्राप महाद्युतिः ॥ ११ ॥
अष्टावेव हि दृश्यन्ते वसवो भरतर्षभ ।
बृहस्पतिं विवेशाथ द्रोणो ह्याङ्गिरसां वरम् ॥ १२ ॥
कृतवर्मा तु हार्दिक्यः प्रविवेश मरुद्गणान् ।
सनत्कुमारं प्रद्युम्नः प्रविवेश यथागतम् ॥ १३ ॥
धृतराष्ट्रो धनेशस्य लोकान्प्राप दुरासदान् ।
धृतराष्ट्रेण सहिता गान्धारी च यशस्विनी ॥ १४ ॥
पत्नीभ्यां सहितः पाण्डुर्महेन्द्रसदनं ययौ ।

महात्मा व्यासदेवकी आज्ञानुसार उनके निकट सब वर्णन करनेकी इच्छा की । (७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे नरनाथ! कर्मकी समाप्ति होनेपर सब लोग प्रकृतिको नहीं प्राप्त हो सकते; यदि जीवमात्र ही प्रारब्ध कर्मोंके शेष होनेपर प्रकृतिको प्राप्त हों, तो सब लोग ही मुक्त हो जावें, संसार भी खाली हो जाय; इसलिये कोई कोई कर्म शेष होनेपर निज प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, सब कोई नहीं; यही विचारकर तुम्हारा प्रश्न पूरी रीतिसे प्रयोजित हुआ है । हे भरतश्रेष्ठ कुरुकुलधुरन्धर महाराज! महातेजस्वी प्रतापवान् अगाधबुद्धि सर्वज्ञ सर्वगतिज्ञ दिव्यचक्षु पुराण मुनि पराशरसुतने जो कहा है, देवताओंके गोपनीय उस वृत्तान्तको सुनो । (८—१०)

हे भरतश्रेष्ठ! जो आठों वसु दीखते हैं, महातेजस्वी महाद्युति भीष्मको उन वसुगणका लोक प्राप्त हुआ है । द्रोण आङ्गिरसप्रवर बृहस्पतिके शरीरमें प्रविष्ट हुए, हार्दिक्य कृतवर्मोने मरुद्गणमें प्रवेश किया । प्रद्युम्न जहांसे आयें थे, उस ही सनत्कुमारमें प्रविष्ट हुए । धृतराष्ट्रने दुरासद कुबेरके लोकोंमें गमन किया, उनके सङ्ग यशस्विनी गान्धारी-

विराटद्रुपदौ चोभौ धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ॥ १५ ॥
निशठाक्रूरसाम्बाश्च भानुः कम्पो विदूरथः ।
भूरिश्रवाः शलश्चैव भूरिश्च पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥
कंसश्चैवोग्रसेनश्च वसुदेवस्तथैव च ।
उत्तरश्च सह भ्रात्रा शङ्खेन नरपुङ्गवः ॥ १७ ॥
विश्वेषां देवतानां ते विविशुर्नरसत्तमाः ।
वर्चा नाम महातेजाः सोमपुत्रः प्रतापवान् ॥ १८ ॥
सोऽभिमन्युर्नृसिंहस्य फाल्गुनस्य सुतोऽभवत् ।
स युद्ध्वा क्षत्रधर्मेण यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ॥१९॥
विवेश सोमं धर्मात्मा कर्मणोऽन्ते महारथः ।
आविवेश रविं कर्णो निहतः पुरुषर्षभ ॥ २० ॥
द्वापरं शकुनिः प्राप्य धृष्टद्युम्नस्तु पावकम् ।
धृतराष्ट्रात्मजाः सर्वे यातुधाना बलोत्कटाः ॥ २१ ॥
ऋद्धिमन्तो महात्मानः शस्त्रपूता दिवं गताः ।
धर्ममेवाविशत्क्षत्ता राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
अनन्तो भगवान्देवः प्रविवेश रसातलम् ।
पितामहनियोगाद्धि यो योगाद्गामधारयत् ॥ २३ ॥

को भी उक्त लोक प्राप्त हुए। पाण्डुने दोनों पत्नियोंके सहित महेन्द्रके स्थानमें गमन किया। विराट, द्रुपद, राजा धृष्टकेतु, निशठ, अक्रूर, साम्ब, भानु, कम्प, विदूरथ, भूरिश्रवा, शल, पृथ्वी-पति भूरि, कंस, उग्रसेन और वसुदेव, नरश्रेष्ठ उत्तर तथा उनके भाई शङ्ख प्रभृति श्रेष्ठ पुरुषोंने विश्वदेवगणोंमें प्रवेश किया। (११—१८)

वर्चा नाम महातेजस्वी प्रतापवान् चन्द्रमाके पुत्र जो अभिमन्युरूपसे नर-श्रेष्ठ अर्जुनका पुत्र हुआ था, उस धर्मात्मा महारथने अनन्यसाधारण पुरुषोंकी भाँति क्षत्रियधर्मके अनुसार संग्राम करके शेष कर्म होनेपर चन्द्र-मण्डलमें प्रवेश किया है। पुरुषश्रेष्ठ कर्ण मरके सूर्यमण्डलमें प्रविष्ट हुए हैं। शकुनि द्वापरको और धृष्टद्युम्न अग्निको प्राप्त हुए। धृतराष्ट्रके सब पुत्र बलोत्कट राक्षस थे, उन महाबलियोंने समृद्धि-सम्पन्न तथा शस्त्रसे मरकर स्वर्गमें गमन किया है। विदुर और राजा युधिष्ठिर धर्ममें प्रविष्ट हुए। जिन्होंने पितामहके नियोगके अनुसार योगबलसे

यः स नारायणो नाम देवदेवः सनातनः ।
तस्यांशो वासुदेवस्तु कर्मणोऽन्ते विवेश ह ॥ २४ ॥
षोडश स्त्रीसहस्राणि वासुदेवपरिग्रहः ।
अमज्जंस्ताः सरस्वत्यां कालेन जनमेजय ॥ २५ ॥
तत्र त्यक्त्वा शरीराणि दिवमारुरुहुः पुनः ।
ताश्चैवाप्सरसो भूत्वा वासुदेवमुपाविशन् ॥ २६ ॥
हतास्तस्मिन्महायुद्धे ये वीरास्तु महारथाः ।
घटोत्कचादयश्चैव देवान्यक्षांश्च भेजिरे ॥ २७ ॥
दुर्योधनसहायाश्च राक्षसाः परिकीर्तिताः ।
प्राप्तास्ते क्रमशो राजन् सर्वे लोकाननुत्तमान् ॥ २८ ॥
भवनं च महेन्द्रस्य कुबेरस्य च धीमतः ।
वरुणस्य तथा लोकान्विविशुः पुरुषर्षभाः ॥ २९ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं विस्तरेण महाद्युते ।
कुरूणां चरितं कृत्स्नं पाण्डवानां च भारत ॥ ३० ॥
सौतिरुवाच– एतच्छ्रुत्वा द्विजश्रेष्ठाः स राजा जनमेजयः ।
विस्मितोऽभवदत्यर्थं यज्ञकर्मान्तरेष्वथ ॥ ३१ ॥
ततः समापयामासुः कर्म तत्तस्य याजकाः ।

पृथ्वीको धारण किया था, वह भगवान् अनन्तदेव रसातलमें प्रविष्ट हुए हैं। देवदेव सनातन नारायणके अंशसे जो श्रीकृष्णरूपसे जन्मे थे, वह कर्म शेष होनेपर नारायणमें प्रविष्ट हुए। (१८-२४)

हे जनमेजय! श्रीकृष्णकी जो सोलह हजार स्त्रियें थीं, वे कालक्रमसे सरस्वती नदीमें डूबीं, उन्होंने वहां शरीर छोडके फिर सुरपुरमें आरोहण किया, वेही अप्सरा होकर श्रीकृष्णके समीप गईं। उस महा संग्राममें जो घटोत्कच प्रभृति वीर मारे गये थे, वे देवताओं तथा यक्षोंको प्राप्त हुए। हे राजन्! दुर्योधन के सहायक राक्षसरूपसे कहे गये हैं, तोभी उन लोगोंने क्रमसे उत्तम लोकोंको पाया था। उन श्रेष्ठ पुरुषोंने महेन्द्रके भवन, धीमान् कुबेर और वरुणके स्थानमें प्रवेश किया था। हे महाद्युतिमान भारत! यह मैंने तुम्हारे समीप कुरु-पाण्डवोंका समस्त चरित्र विस्तारपूर्वक वर्णन किया। (२५—३०)

सौति बोले, हे द्विजश्रेष्ठगण! राजा जनमेजय यज्ञकार्यके बीच इसे सुनके अत्यन्त विस्मित हुए। अनन्तर यज्ञ

आस्तीकश्चाभवत्प्रीतः परिमोक्ष्य भुजङ्गमान् ॥ ३२ ॥
ततो द्विजातीन्सर्वांस्तान् दक्षिणाभिरतोषयत् ।
पूजिताश्चापि ते राज्ञा ततो जग्मुर्यथागतम् ॥ ३३ ॥
विसर्जयित्वा विप्रांस्तान् राजाऽपि जनमेजयः ।
ततस्तक्षशिलायाः स पुनरायाद्गजाह्वयम् ॥ ३४ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं वैशम्पायनकीर्तितम् ।
व्यासाज्ञया समाज्ञातं सर्पसत्रे नृपस्य हि ॥ ३५ ॥
पुण्योऽयमितिहासाख्यः पवित्रं चेदमुत्तमम् ।
कृष्णेन मुनिना विप्र निर्मितं सत्यवादिना ॥ ३६ ॥
सर्वज्ञेन विधिज्ञेन धर्मज्ञानवता सता ।
अतीन्द्रियेण शुचिना तपसा भावितात्मना ॥ ३७ ॥
ऐश्वर्ये वर्तता चैव साङ्ख्ययोगवता तथा ।
नैकतन्त्रविबुद्धेन दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥ ३८ ॥
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम् ॥ ३९ ॥
यश्चेदं श्रावयेद्विद्वान्सदा पर्वणि पर्वणि ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४० ॥

करानेवालोंने उनके उस यज्ञकार्यको समाप्त किया; आस्तिक मुनि भी सापोंको छुडाके अत्यन्त प्रसन्न हुए, अन्तमें राजाने उन द्विजातियोंको दक्षिणा देके परितुष्ट किया; वे लोग राजासे पूजित होकर निज निज स्थानपर गये। महाराज जनमेजय ब्राह्मणोंको बिदा करके तक्षशिलासे फिर हस्तिनापुरमें आये। राजा जनमेजयके सर्पयज्ञमें व्यासदेवकी आज्ञानुसार श्रीवैशम्पायन मुनिके द्वारा कहे हुए ये सब विषय तुम्हारे निकट वर्णित हुए। यह इतिहास अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त उत्कृष्ट है। (३१—३६)

हे विप्र! सत्यवादी, सर्वज्ञ, विधिज्ञ, धर्मज्ञानवान्, साधु, अतीन्द्रिय, पवित्र और पवित्र तपस्यासे शुद्धचित्त ऐश्वर्यसम्पन्न सांख्ययोगवान् अनेकतन्त्रविशुद्ध कृष्णद्वैपायनमुनि (वेदव्यास)-ने दिव्य दृष्टिके सहारे देखकर लोकमें महानुभाव पाण्डवों तथा अन्यान्य अधिक धन तथा तेजसम्पन्न क्षत्रियोंकी कीर्ति विस्तार करते हुए इसकी रचना की है। जो विद्वान् पुरुष सदा पर्व पर्व

काष्णं वेदमिमं सर्वं शृणुयाद्यः समाहितः ।
ब्रह्महत्यादिपापानां कोटिस्तस्य विनश्यति ॥ ४१ ॥
यश्चेदं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान्पादमन्ततः ।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितृंस्तस्योपतिष्ठते ॥ ४२ ॥
अह्ना यदेनः कुरुते इन्द्रियैर्मनसाऽपि वा ।
महाभारतमाख्याय पश्चात्सन्ध्यां प्रमुच्यते ॥ ४३ ॥
यद्रात्रौ कुरुते पापं ब्राह्मणः स्त्रीगणैर्वृतः ।
महाभारतमाख्याय पूर्वां सन्ध्यां प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥
महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४५ ॥
अष्टादशपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ।
वेदाः साङ्गास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम् ॥ ४६ ॥
श्रूयतां सिंहनादोऽयमृषेस्तस्य महात्मनः ।
अष्टादशपुराणानां कर्तुर्वेदमहोदधेः ॥ ४७ ॥
त्रिभिर्वर्षैरिदं पूर्णं कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।

इसे सुनाता है, वह पाप नष्ट तथा स्वर्ग जय करके ब्रह्मस्वरूपताको प्राप्त होता है । (३६-४०)

जो लोग सावधान होकर कृष्ण-द्वैपायनके रचे हुए यह समस्त वेद सुनते हैं, उनके ब्रह्महत्यादिजनित कोटिसंख्यक पाप विनष्ट होते हैं, जो लोग श्राद्धकालमें ब्राह्मणोंको कमसे कम इसका एक पाद सुनाते हैं, उनके पितरोंके निकट अक्षय अन्न जल उपस्थित होता है । दिनमें इन्द्रियों अथवा मनसे जो पाप किये जाते हैं, महाभारत पाठ करके सायंसन्ध्याके समय मनुष्य उन पापोंसे छूट जाता है । ब्राह्मण स्त्रियोंके बीच घिरके रात्रिमें जो पाप करता है, प्रातःसन्ध्याके समय महाभारतका पाठ करके उस पापसे छूटता है । भरतवंशियोंका उत्तम महत् जन्मवृत्तान्त इसमें वर्णित है, इस निमित्त इसे भारत कहते हैं और महत्त्व तथा भारवत्त्व हेतुसे इसका महाभारत नाम हुआ करता है । (४१-४५)

हे भरतश्रेष्ठ ! जो लोग इस महाभारतके निरुक्तको जानते हैं, वे सब पापों से रहित हुआ करते हैं । अठारह पुराण, सब धर्मशास्त्र, सब साङ्ग वेद मिलकर एक ओर और दूसरी ओर अकेला महाभारत बराबर है । अठारह पुराणोंके

अखिलं भारतं चेदं चकार भगवान् मुनिः ॥ ४८ ॥
आकर्ण्य भक्त्या सततं जयाख्यं भारतं महत्।
श्रीश्च कीर्तिस्तथा विद्या भवन्ति सहिताः सदा ॥४९॥
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥ ५० ॥
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता।
ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता ॥ ५१ ॥
स्वर्गकामो लभेत्स्वर्गं जयकामो लभेज्जयम्।
गर्भिणी लभते पुत्रं कन्यां वा बहुभागिनीम् ॥ ५२ ॥
अनागतश्च मोक्षश्च कृष्णद्वैपायनः प्रभुः।
सन्दर्भं भारतस्यास्य कृतवान्धर्मकाम्यया ॥ ५३ ॥
षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम्।
त्रिंशच्छतसहस्राणि देवलोके प्रतिष्ठितम् ॥ ५४ ॥
पित्र्ये पञ्चदशं ज्ञेयं यक्षलोके चतुर्दश।
एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रभाषितम् ॥ ५५ ॥
नारदो श्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन्।

कर्ता श्रीवेदव्यासजीका यह महान् सिंहनाद सुनिये। श्रीमान् प्रभु कृष्ण-द्वैपायन व्यासमुनिने यह संपूर्ण महाभारत तीन वर्षोंमें तैयार किया। 'जय' नामक इस महत् भारत का भक्तिसे श्रवण करनेसे सदा श्री, कीर्ति और विद्या प्राप्त होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षमें सिद्धि होती है। जो इसमें है, वह अन्यत्र भी है; जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। यह 'जय' नामक इतिहास मुमुक्षु मनुष्योंको सुनना चाहिये; ब्राह्मण, क्षत्रिय और गर्भिणी स्त्रियोंको इसे अवश्य सुनना योग्य है। इसे सुनके स्वर्गकी इच्छा करनेवाला मनुष्य स्वर्ग पाता है, जयके अभिलाषीको जय प्राप्त होती, गर्भिणीको पुत्र प्राप्त होता अथवा अत्यन्त भाग्यवती कन्या प्राप्त हुआ करती है। (४५-५२)

नित्यसिद्ध मोक्षस्वरूप सर्वशक्तिमान् मुनिने धर्मकामनासे इस भारतकी रचना की है। उन्होंने चारों वेदोंसे पृथक्भूत दूसरी साठ लाख श्लोकोंकी संहिता रची, उसमें तीस लाख देवलोक, पन्दरह लाख पितृलोक, चौदह लाख यक्षलोक और केवल एक लाख श्लोक मनुष्यलोकमें प्रतिष्ठित हुए हैं। नारद मुनिने इसे

रक्षोयक्षान् शुको मर्त्यान्वैशम्पायन एव तु ॥ ५६ ॥
इतिहासमिमं पुण्यं महार्थं वेदसंमितम् ।
व्यासोक्तं श्रूयते येन कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ॥ ५७ ॥
स नरः सर्वकामांश्च कीर्तिं प्राप्येह शौनक ।
गच्छेत्परमिकां सिद्धिमत्र मे नास्ति संशयः ॥ ५८ ॥
भारताध्ययनात्पुण्यादपि पादमधीयतः ।
श्रद्धया परया भक्त्या श्राव्यते चापि येन तु ।
य इमां संहितां पुण्यां पुत्रमध्यापयच्छुकम् ॥ ५९ ॥
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥ ६० ॥
हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ६१ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥ ६२ ॥
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।

देवताओंको सुनाया, असित देवल मुनिने पितरोंको, शुकदेवने यक्ष तथा राक्षसोंको और श्रीवैशंपायन मुनिने मनुष्योंको सुनाया है । हे शौनक ! जो लोग ब्राह्मणोंको आगे करके इस वेद-तुल्य पवित्र महार्थ व्यासदेवके कहे हुए इतिहासको सुनते हैं, वे मनुष्य इस लोकमें सब कामना तथा कीर्ति लाभ करके अन्तमें परम सिद्धि पाते हैं, इस विषयमें मुझे कुछ सन्देह नहीं है। ५३-५८

पवित्र भारतका सारा पाठ करना तो दूर रहे, जो लोग इसका एक पाद-भी पाठ करते हैं, उन श्रद्धावान् मनुष्योंके सब पाप छूट जाते हैं । धर्मात्मा महर्षि व्यासदेवने पहले इस संहिताकी रचना करके अपने पुत्र शुकदेवको पढाया था । सहस्रों मातापिता, सहस्रों स्त्रीपुत्र संसारमें अनुभूत हुए हैं, किसी किसीको प्राप्त हुए हैं, दूसरे लोगोंको प्राप्त होंगे । सहस्रों हर्षके स्थान और सैकडों भयके स्थान दिन दिन मूढ मनुष्योंमें आवेश करते हैं, परन्तु पण्डितोंमें प्रवेश नहीं कर सकते । मैं ऊर्ध्व-बाहु होकर चिल्ला रहा हूं, कोई मेरा चिल्लाना नहीं सुनता, इसलिये धर्मके कारण अर्थ और कामकी सेवा क्यों न करेगा ? काम, भय, लोभ अथवा जीवनके निमित्त कदापि धर्मको न छोडे,

नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥६३॥
इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ६४ ॥
यथा समुद्रो भगवान्यथा हि हिमवान् गिरिः ।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥ ६५ ॥
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वान् श्रावयित्वार्थमश्नुते ।
इदं भारतमाख्यानं यः पठेत्सुसमाहितः ।
स गच्छेत्परमां सिद्धिमिति मे नास्ति संशयः ॥ ६६॥
द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥६७॥
यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति विप्राय वेदविदुषे सुबहुश्रुताय ।
पुण्यां च भारतकथां सततं शृणोति तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥६८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्वर्गारोहणपर्वणि
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ [१९५]

॥ समाप्तं स्वर्गारोहणपर्व ॥

॥ इति महाभारतं समाप्तम् ॥

धर्म ही नित्य है; सुख और दुःख अनित्य मात्र हैं; जीव नित्य है, जीवके हेतु शरीरादि अनित्य हैं। (५८-६३)

जो लोग भोरके समय उठके इस भारतसंहिताका पाठ करते हैं, वे भारत का फल पाके परब्रह्म लाभ करते हैं। सर्व ऐश्वर्यशाली समुद्र और हिमवान् पर्वत जिस प्रकार रत्ननिधि कहके विख्यात हैं, भारत भी वैसा ही है; विद्वान् मनुष्य कृष्णद्वैपायन मुनिके रचे हुए इस वेदको सुनाकर अर्थ भोग करता है। जो लोग भली भांति सावधान होके इस भारत आख्यानका पाठ करते हैं, उन्हें परम सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें मुझे सन्देह नहीं है। जो लोग वेदव्यास मुनिके ओठसे निकले हुए अप्रमेय पुण्य पवित्र पाप हरनेवाले तथा कल्याणकारी इस महाभारतका पाठ सुनते हैं, उन्हें पुष्करतीर्थमें जलसे अभिषेकका क्या प्रयोजन है ? जो मनुष्य वेदशास्त्रज्ञ बहुश्रुत विप्रको सुवर्ण-शृंगमय सौ गौ दान करता है, और दूसरा एक इस पुण्यमयी भारतकथाका सतत श्रवण करता है, इन दोनोंका पुण्य समसमान है। (६४—६८)

स्वर्गारोहणपर्वमें ५ अध्याय समाप्त।

जनमेजय उवाच- भगवन्केन विधिना श्रोतव्यं भारतं बुधैः ।
फलं किं के च देवाश्च पूज्या वै पारणेऽपिह ॥ १ ॥
देयं समाप्ते भगवन्किं च पर्वाणि पर्वाणि ।
वाचकः कीदृशश्चात्र एष्टव्यस्तद्ब्रवीहि मे ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच- शृणु राजन् विधिमिमं फलं यच्चापि भारतात् ।
श्रुताद्भवति राजेन्द्र यत्त्वं मामनुपृच्छसि ॥ ३ ॥
दिवि देवा महीपाल क्रीडार्थमवनिं गताः ।
कृत्वा कार्यमिदं चैव ततश्च दिवमागताः ॥ ४ ॥
हन्त यत्ते प्रवक्ष्यामि तच्छृणुष्व समाहितः ।
ऋषीणां देवतानां च संभवं वसुधातले ॥ ५ ॥
अत्र रुद्रास्तथा साध्या विश्वेदेवाश्च शाश्वताः ।
आदित्याश्चाश्विनौ देवौ लोकपाला महर्षयः ॥ ६ ॥
गुह्यकाश्च सगन्धर्वा नागा विद्याधरास्तथा ।
सिद्धा धर्मः स्वयम्भूश्च मुनिः कात्यायनो वरः ॥ ७ ॥
गिरयः सागरा नद्यस्तथैवाप्सरसां गणाः ।
ग्रहाः संवत्सराश्चैव अयनान्यृतवस्तथा ॥ ८ ॥

६ अध्याय ।

फलश्रुति ।

जनमेजय बोले, हे भगवन् ! पण्डित लोग किस विधिके अनुसार महाभारत सुनें ? इसके सुननेसे क्या फल होता है और पारणके समय किन किन देवताओंकी पूजा करनी होगी ? हे भगवन् ! पर्व समाप्त होनेपर क्या दान करना चाहिये और इसे पाठ करनेवाला कैसा अभिलषणीय हो ? यह सब आप मेरे समीप वर्णन करिये । (१—२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे भारत-वंशधर राजेन्द्र ! तुमने मुझसे जो पूछा है, उस विषयमें इसकी विधि और इसके सुननेसे जो फल होता है, उसे सुनो । हे महीपाल ! सुरपुरवासी देवगण क्रीडा करनेके लिये भूमण्डलमें आये थे, वे कार्य शेष करके फिर स्वर्गमें गये हैं । अच्छा, ऋषियों और देवताओंके पृथ्वीतलमें उत्पत्तिविषयक जो तुमसे संक्षेप कथा कहता हूं, उसे सुनो । हे भारत ! रुद्रगण, साध्यगण, शाश्वत विश्वदेवगण, आदित्यगण, दोनों अश्विनीकुमार, सब लोकपाल, महर्षिवृन्द, गुह्यकगण, गन्धर्व, नाग, विद्याधर, सिद्धगण, धर्म स्वयम्भू, मुनिगण, कात्यायन, पर्वत, समुद्र और

स्थावरं जङ्गमं चैव जगत्सर्वं सुरासुरम् ।
भारते भरतश्रेष्ठ एकस्थमिह दृश्यते ॥ ९ ॥
तेषां श्रुत्वा प्रतिष्ठानं नामकर्मानुकीर्तनात् ।
कृत्वापि पातकं घोरं सद्यो मुच्येत मानवः ॥ १० ॥
इतिहासमिमं श्रुत्वा यथावदनुपूर्वशः ।
संयतात्मा शुचिर्भूत्वा पारं गत्वा च भारते ॥ ११ ॥
तेषां श्राद्धानि देयानि श्रुत्वा भारत भारतम् ।
ब्राह्मणेभ्यो यथाशक्त्या शक्त्या च भरतर्षभ ॥१२॥
महादानानि देयानि रत्नानि विविधानि च ।
गावः कांस्योपदोहाश्च कन्याश्चैव स्वलङ्कृताः ॥ १३ ॥
सर्वकामगुणोपेता यानानि विविधानि च ।
भवनानि विचित्राणि भूमिर्वासांसि काञ्चनम् ॥ १४ ॥
वाहनानि च देयानि हया मत्ताश्च वारणाः ।
शयनं शिबिकाश्चैव स्यन्दनाश्च स्वलङ्कृताः ॥ १५ ॥
यद्यद्गृहे वरं किञ्चिद्यद्यदस्ति महद्वसु ।
तत्तद्देयं द्विजातिभ्य आत्मा दाराश्च सूनवः ॥ १६ ॥

नदियें, अप्सरावृन्द, ग्रहगण, संवत्सर, अयन, सब ऋतु तथा सुरासुरोंके सहित स्थावरजङ्गमयुक्त जगत् इस भारतके एक स्थानमें उत्तम रीतिसे दिखाई देता है। (३—९)

सबके नाम तथा कर्मानुकीर्तन-निबन्धन प्रतिष्ठा सुनके मनुष्य घोर पाप करके भी उस ही समय मुक्त होता है। हे भारत! विधिपूर्वक पूरी रीतिसे इस इतिहासको संयतचित्त तथा पवित्र हो भारतके पारगामी होकर महाभारत सुननेके अनन्तर श्रद्धापूर्वक दान करना उचित है। भारत सुनके ब्राह्मणोंको भक्तिपूर्वक शक्तिके अनुसार महादान विविध रत्न, कांसेकी दोहनी-युक्त गऊ, कामगुणप्रसन्न उत्तम रीतिसे अलंकृत कन्या, अनेक प्रकारकी सवारियें, विचित्र गृह, भूमि, वस्त्र, सुवर्ण, घोडे, मतवारे हाथी प्रभृति वाहन, शय्या, पालकी, अलंकृत रथ और गृहमें जो सब उत्तम वस्तु तथा मूल्यवान् धन हो, वह सब द्विजातियोंको दान करना योग्य है; और कहांतक कहें, आत्मा दारा तथा पुत्रोंको परम श्रद्धापूर्वक दान करते करते क्रमसे उस विषयमें पारग होवे। (१०-१६)

श्रद्धया परया युक्तं क्रमशस्तस्य पारगः।
शक्तितः सुमना हृष्टः शुश्रूषुरविकल्पकः ॥ १७ ॥
सत्यार्जवरतो दान्तः शुचिः शौचसमन्वितः।
श्रद्दधानो जितक्रोधो यथा सिध्यति तच्छृणु ॥ १८ ॥
शुचिः शीलान्विताचारः शुक्लवासा जितेन्द्रियः।
संस्कृतः सर्वशास्त्रज्ञः श्रद्दधानोऽनसूयकः ॥ १९ ॥
रूपवान् सुभगो दान्तः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दानमानगृहीतश्च कार्यो भवति वाचकः ॥ २० ॥
अविलम्बमना यस्तमद्रुतं धीरमूर्जितम्।
असंसक्ताक्षरपदं स्वरभावसमन्वितम् ॥ २१ ॥
त्रिषष्टिवर्णसंयुक्तमष्टस्थानसमीरितम्।
वाचयेद्वाचकः स्वस्थः स्वासीनः सुसमाहितः॥ २२ ॥
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ २३ ॥
ईदृशाद्वाचकाद्राजन् श्रुत्वा भारत भारतम्।
नियमस्थः शुचिः श्रोता शृण्वन्स फलमश्नुते ॥ २४ ॥
पारणं प्रथमं प्राप्य द्विजान्कामैश्च तर्पयन्।

शक्तिके अनुसार प्रसन्नचित्त होकर हृष्ट, शुश्रूषु, सङ्कल्परहित, सत्य और सरलतामें रत, दान्त, पवित्र, शौचयुक्त, श्रद्धावान् और जितक्रोध होकर मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि लाभ करता है, उसे सुनो। शुचिशीलसम्पन्न, सदाचारी, सफेद वस्त्रधारी, जितेन्द्रिय, संस्कार-संपन्न, सर्वशास्त्रज्ञ, श्रद्धालु, असूयारहित, सौंदर्ययुक्त, भाग्यशाली, दमनशील, सत्यवादी, जितेन्द्रिय दान तथा मानशील पाठक नियुक्त करना उचित है। पाठ करनेवाला अच्छे आसनपर बैठके स्वस्थ तथा सावधान होकर विलम्ब न करके अद्भुत धीर उर्जस्वल असंयुक्त अक्षर और पदयुक्त स्वर तथा भाव सम्पन्न तिरसठ वर्णान्वित कण्ठताल प्रभृति आठों स्थानोंसे वर्णोच्चारपूर्वक पाठ करे। नारायण, नरोत्तम नर और सरस्वती देवीको प्रणाम करके जय कीर्तन करे। (१७-२३)

हे भरतवंश—प्रदीप महाराज! नियममें रहनेवाला पवित्र श्रोता ऐसे पाठकके मुखसे भारत सुनके फल पाता है, पहले भारत पारणसमाप्ति होनेपर

आग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं वै लभते नरः ॥ २५ ॥
अप्सरोगणसंकीर्णं विमानं लभते महत् ।
प्रहृष्टः स तु देवैश्च दिवं याति समाहितः ॥ २६ ॥
द्वितीयं पारणं प्राप्य सोऽतिरात्रफलं लभेत् ।
सर्वरत्नमयं दिव्यं विमानमधिरोहति ॥ २७ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धविभूषितः ।
दिव्याङ्गदधरो नित्यं देवलोके महीयते ॥ २८ ॥
तृतीयं पारणं प्राप्य द्वादशाहफलं लभेत् ।
वसत्यमरसङ्काशो वर्षाण्ययुतशो दिवि ॥ २९ ॥
चतुर्थे वाजपेयस्य पञ्चमे द्विगुणं फलम् ।
उदितादित्यसंकाशं ज्वलन्तमनलोपमम् ॥ ३० ॥
विमानं विबुधैः सार्धमारुह्य दिवि गच्छति ।
वर्षायुतानि भवने शक्रस्य दिवि मोदते ॥ ३१ ॥
षष्ठे द्विगुणमस्तीति सप्तमे त्रिगुणं फलम् ।
कैलासशिखराकारं वैदूर्यमणिवेदिकम् ॥ ३२ ॥
परिक्षिप्तं च बहुधा मणिविद्रुमभूषितम् ।

मनुष्य इच्छानुसार द्विजगणको तृप्त करे, उसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है। परिणाममें वह अप्सराओंसे युक्त उत्तम महत् विमान पाता है और प्रहृष्ट तथा सावधान होकर देवताओंके सहित सुरलोकमें गमन किया करता है। द्वितीय पारण प्राप्त होनेसे अतिरात्र यज्ञका फल पाके रत्नमय दिव्य विमानमें आरोहण किया करता है, दिव्य मालाम्बरधारी, दिव्य गन्धविभूषित तथा सदा दिव्य गन्धको धारण करते हुए देवलोकमें निवास करता है। तीसरे पारणको प्राप्त होके द्वादशाहसाध्य यज्ञका फल पाता और देवसदृश होकर दश हजार वर्षतक देवलोकमें निवास किया करता है। चौथे और पांचवें पारणमें वाजपेय यज्ञका दूना फल होता है, वह मनुष्य उदित आदित्य तथा जलते हुए अग्नितुल्य विमानमें चढके देवताओंके सहित स्वर्गमें जाता है और वहां दस हजार वर्षतक इन्द्रके भवनमें प्रमुदित होके रहता है। (२५-३१)

छठें पारणमें दूना और सातवेंमें तिगुना फल होता है; वह पुरुष कैलास के शिखरकी भांति वैदूर्य मणिकी वेदीयुक्त अनेक प्रकारके मणियोंसे

विमानं समधिष्ठाय कामगं साप्सरोगणम् ॥ ३३ ॥
सर्वाँल्लोकान्विचरते द्वितीय इव भास्करः।
अष्टमे राजसूयस्य पारणे लभते फलम् ॥ ३४ ॥
चन्द्रोदयनिभं रम्यं विमानमधिरोहति।
चन्द्ररश्मिप्रतीकाशैर्हयैर्युक्तं मनोजवैः ॥ ३५ ॥
सेव्यमानो वरस्त्रीणां चन्द्रात्कान्ततरैर्मुखैः।
मेखलानां निनादेन नूपुराणां च निःस्वनैः ॥ ३६ ॥
अङ्के परमनारीणां सुखसुप्तो विबुध्यते।
नवमे क्रतुराजस्य वाजिमेधस्य भारत ॥ ३७ ॥
काञ्चनस्तम्भनिर्यूहवैदूर्यकृतवेदिकम्।
जाम्बूनदमयैर्दिव्यैर्गवाक्षैः सर्वतो वृतम् ॥ ३८ ॥
सेवितं चाप्सरःसङ्घैर्गन्धर्वैर्दिवि चारिभिः।
विमानं समधिष्ठाय श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ३९ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यचन्दनरूषितः।
मोदते दैवतैः सार्धं दिवि देव इवापरः ॥ ४० ॥
दशमं पारणं प्राप्य द्विजातीनभिवन्द्य च।
किङ्किणीजालनिर्घोषं पताकाध्वजशोभितम् ॥ ४१ ॥

खचित विद्रुमविभूषित उत्तम अप्सराओंसे युक्त कामगामी विमानमें चढके द्वितीय सूर्यकी भांति सब लोकोंमें विचरता है। आठवें पारणमें पुरुषको राजसूय यज्ञका फल मिलता है और चन्द्रकिरणसदृश मनोजव घोडोंसे युक्त चन्द्रोदयसमान रमणीय विमानमें चढता है, वह विमान चन्द्रमासे भी अधिक कान्ततर सुखयुक्त उत्तम स्त्रियोंसे सेवित है; वह पुरुष सुन्दरी स्त्रियोंकी गोदीमें सुखसे सोते हुए मेखला तथा नूपुरके शब्दसे जागता है। (३२—३६)

हे भारत! नवें पारणमें अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है; सोनेके स्तम्भ और वैदूर्यनिर्मित वेदीयुक्त स्वर्णमय दिव्य गवाक्षके सहारे सब भांतिसे परिवृत द्युलोकचारी गन्धर्व तथा अप्सराओंसे सेवित विमानपर चढके परम श्रीसम्पन्न मनुष्य दिव्य माला धारण कर दिव्य चन्दनसे विभूषित देवलोकमें अन्य एक देवताकी भांति देवताओंके सहित प्रमुदित हुआ करता है। (३६—४०)

दशवें पारणको प्राप्त होनेसे द्विजातियोंकी वन्दना करके मनुष्य किङ्किणी-

रत्नवेदिकसंबाधं वैदूर्यमणितोरणम् ।
हेमजालपरिक्षिप्तं प्रवालवलभीमुखम् ॥ ४२ ॥
गन्धर्वैर्गीतकुशलैरप्सरोभिश्च शोभितम् ।
विमानं सुकृतावासं सुखेनैवोपपद्यते ॥ ४३ ॥
मुकुटेनाग्निवर्णेन जाम्बूनदविभूषिणा ।
दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गो दिव्यमाल्यविभूषितः ॥ ४४ ॥
दिव्यान् लोकान् विचरति दिव्यैर्भोगैः समन्वितः ।
विबुधानां प्रसादेन श्रिया परमया युतः ॥ ४५ ॥
अथ वर्षगणानेवं स्वर्गलोके महीयते ।
ततो गन्धर्वसहितः सहस्राण्येकविंशतिम् ॥ ४६ ॥
पुरन्दरपुरे रम्ये शक्रेण सह मोदते ।
दिव्ययानविमानेषु लोकेषु विविधेषु च ॥ ४७ ॥
दिव्यनारीगणाकीर्णो निवसत्यमरो यथा ।
ततः सूर्यस्य भवने चन्द्रस्य भवने तथा ॥ ४८ ॥
शिवस्य भवने राजन् विष्णोर्याति सलोकताम् ।
एवमेतन्महाराज नात्र कार्या विचारणा ॥ ४९ ॥
श्रद्दधानेन वै भाव्यमेवमाह गुरुर्मम ।

जालके शब्दयुक्त पताका ध्वजासे शोभित रत्नमय वेदी सनाथ वैदूर्य मणिमय तोरणयुक्त सोनेके तारोंसे खचित प्रवाल वलभीमुख गीतमें निपुण गन्धर्व तथा अप्सराओंसे शोभित पुण्यवानोंके निवास स्थान विमानको सहजमें ही पाता है। सुवर्णविभूषित अग्निवर्ण मुकुट धारण करके अङ्गमें दिव्य चन्दन लगाये हुए दिव्य आभूषणोंसे भूषित और दिव्य भोगयुक्त होकर दिव्य लोकोंमें विचरता तथा देवताओंकी कृपासे परम श्रीसम्पन्न होता है। (४०—४५)

अनन्तर इस ही प्रकार वह अनेक वर्षतक स्वर्गलोकमें निवास करता है, वह गन्धर्वोंके सहित इक्कीस हजार वर्ष रमणीय इन्द्रपुरीमें इन्द्रके सहित प्रमुदित होता है। दिव्य यान वा विमानोंमें तथा विविध लोकोंमें दिव्य स्त्रियोंसे घिरके देवताकी भांति निवास करता है। हे राजन्! अनन्तर वह सूर्यके स्थानमें, फिर चन्द्रमाके स्थान तथा महादेवके स्थानमें वास करके विष्णुके समान लोक पाता है। हे महाराज! इस विषयमें विचार करना उचित नहीं

वाचकस्य तु दातव्यं मनसा यद्यदिच्छति ॥ ५० ॥
हस्त्यश्वरथयानानि वाहनानि विशेषतः ।
कटके कुण्डले चैव ब्रह्मसूत्रं तथा परम् ॥ ५१ ॥
वस्त्रं चैव विचित्रं च गन्धं चैव विशेषतः ।
देववत्पूजयेत्तं तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ ५२ ॥
अतःपरं प्रवक्ष्यामि यानि देयानि भारते ।
वाच्यमाने तु विप्रेभ्यो राजन् पर्वणि पर्वणि ॥ ५३ ॥
जातिं देशं च सत्यं च माहात्म्यं भरतर्षभ ।
धर्मं वृत्तिं च विज्ञाय क्षत्रियाणां नराधिप ॥ ५४ ॥
स्वस्ति वाच्य द्विजानादौ ततः कार्यं प्रवर्तिते ।
समाप्ते पर्वणि ततः स्वशक्त्या पूजयेद् द्विजान् ॥५५॥
आदौ तु वाचकं चैव वस्त्रगन्धसमन्वितम् ।
विधिवद्भोजयेद्राजन् मधुपायसमुत्तमम् ॥ ५६ ॥
ततो मूलफलप्रायं पायसं मधुसर्पिषा ।
आस्तीके भोजयेद्राजन् दद्याच्चैव गुडौदनम् ॥ ५७ ॥
अपूपैश्चैव पूपैश्च मोदकैश्च समन्वितम् ।
सभापर्वणि राजेन्द्र हविष्यं भोजयेद् द्विजान् ॥५८॥

है, इसमें इस ही प्रकार श्रद्धावान् होना चाहिये, मेरे गुरुने ऐसा ही कहा है। मनही मन जो इच्छा हो, वह पाठ करनेवालेको दान करे; विशेष करके हाथी, घोडे, रथ, यान तथा समस्त वाहन, सोनेके कुण्डल, ब्रह्मसूत्र, विचित्र वस्त्र तथा सुगन्ध दान करे और उसकी देवताके समान पूजा करे, तो विष्णुलोक प्राप्त होगा। (४६-५२)

हे महाराज! इसके अनन्तर प्रति पर्वके पाठमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको जो जो देना चाहिये, उसे कहता हूं। हे भरतश्रेष्ठ नरनाथ! क्षत्रियलोग जाति, देश, सत्य, माहात्म्य और धर्मवृत्ति मालूम करके पहले ब्राह्मणोंसे स्वस्ति-वाचन कराके शेषमें कार्य करनेमें प्रवृत्त होवें, पर्व समाप्त होनेपर निज शक्तिके अनुसार पूजा करें। हे महाराज! वस्त्र और गन्धयुक्त करके पहले पाठकको विधिपूर्वक उत्तम मधु तथा दूध भोजन करावे। हे राजन्! अनन्तर आस्तीक-पर्वमें बहुतसा फल, मूल और मधुघृतके सहित पायस भोजन करावे और अपूप, पूप तथा मोदकयुक्त गुडौदन दान

आरण्यके मूलफलैस्तर्पयेत्तु द्विजोत्तमान् ।
अरणीपर्व चासाद्य जलकुम्भान्प्रदापयेत् ॥ ५९ ॥
तर्पणानि च मुख्यानि वन्यमूलफलानि च ।
सर्वकामगुणोपेतं विप्रेभ्योऽन्नं प्रदापयेत ॥ ६० ॥
विराटपर्वणि तथा वासांसि विविधानि च ।
उद्योगे भरतश्रेष्ठ सर्वकामगुणान्वितम् ॥ ६१ ॥
भोजनं भोजयेद्विप्रान्गन्धमाल्यैरलङ्कृतान् ।
भीष्मपर्वणि राजेन्द्र दत्त्वा यानमनुत्तमम् ॥ ६२ ॥
ततः सर्वगुणोपेतमन्नं दद्यात्सुसंस्कृतम् ।
द्रोणपर्वणि विप्रेभ्यो भोजनं परमार्चितम् ॥ ६३ ॥
शराश्च देया राजेन्द्र चापान्यसिवरास्तथा ।
कर्णपर्वण्यपि तथा भोजनं सार्वकामिकम् ॥ ६४ ॥
विप्रेभ्यः संस्कृतं सम्यग्दद्यात्संयतमानसः ।
शल्यपर्वणि राजेन्द्र मोदकैः सगुडौदनैः ॥ ६५ ॥
अपूपैस्तर्पणैश्चैव सर्वमन्नं प्रदापयेत ।
गदापर्वण्यपि तथा मुद्गमिश्रं प्रदापयेत ॥ ६६ ॥
स्त्रीपर्वणि तथा रत्नैस्तर्पयेत्तु द्विजोत्तमान् ।

करे । हे राजेन्द्र ! सभापर्वमें ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन करावे । (५३–५८)

वनपर्वमें ब्राह्मणोंको फलमूलोंसे तृप्त करे । अरण्यपर्वमें जलभरे घडे प्रदान करे और ब्राह्मणोंको मुख्य तृप्तिजनक वन्य मूल फल तथा सर्वकामगुणयुक्त अन्न दान करे । विराटपर्वमें विविध वस्त्र प्रदान करे। हे भरतश्रेष्ठ ! उद्योगपर्वमें ब्राह्मणोंको गन्धमालासे अलंकृत करके सर्वकामगुणान्वित अन्न भोजन करावे । हे राजेन्द्र ! भीष्मपर्वमें उत्तम सवारी प्रदान करके सर्वगुणमय संस्कार युक्त अन्न दान करे । हे राजेन्द्र द्रोणपर्वमें ब्राह्मणोंको परमार्चित भोजन, बाण, धनुष और उत्तम तलवार दे करनी चाहिये । कर्णपर्व समाप्त होनेप संयतचित्त होकर ब्राह्मणोंको सर्वकाम सम्पन्न संस्कारयुक्त अन्न पूरी रीति दान करे । (५९—६५)

हे राजेन्द्र ! शल्यपर्व समाप्त होनेप गुडोदनके सहित लड्डू तथा तृप्तिजनक अपूपके सहित समस्त अन्न दान करे गदापर्वमें मुद्गमिश्रित ऊपर कही हु सब वस्तु दान करे । स्त्रीपर्व समा

घृतौदनं पुरस्ताच्च ऐषीके दापयेत्पुनः ॥ ६७ ॥
ततः सर्वगुणोपेतमन्नं दद्यात्सुसंस्कृतम् ।
शान्तिपर्वण्यपि तथा हविष्यं भोजयेद् द्विजान्॥ ६८॥
आश्वमेधिकमासाद्य भोजनं सार्वकामिकम् ।
तथाश्रमनिवासे तु हविष्यं भोजयेद् द्विजान् ॥ ६९॥
मौसले सार्वगुणिकं गन्धमाल्यानुलेपनम् ।
महाप्रस्थानिके तद्वत्सर्वकामगुणान्वितम् ॥ ७० ॥
स्वर्गपर्वण्यपि तथा हविष्यं भोजयेद् द्विजान् ।
हरिवंशसमाप्तौ तु सहस्रं भोजयेद् द्विजान् ॥ ७१ ॥
गामेकां निष्कसंयुक्तां ब्राह्मणाय निवेदयेत् ।
तदर्धेनापि दातव्या दरिद्रेणापि पार्थिव ॥ ७२ ॥
प्रतिपर्वसमाप्तौ तु पुस्तकं वै विचक्षणः ।
सुवर्णेन च संयुक्तं वाचकाय निवेदयेत् ॥ ७३ ॥
हरिवंशे पर्वाणि च पायसं तत्र भोजयेत् ।
पारणे पारणे राजन्यथावद्भरतर्षभ ॥ ७४ ॥
समाप्य सर्वाः प्रयतः संहिताः शास्त्रकोविदः ।
शुभे देशे निवेश्याथ क्षौमवस्त्राभिसंवृताः ॥ ७५ ॥

होनेपर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको रत्नोंसे परितृप्त करे। ऐषीकपर्वमें पहले घृतौदन दान करे; अनन्तर सर्वगुणसम्पन्न उत्तम रीतिसे संस्कारयुक्त अन्न प्रदान करे। शान्तिपर्व समाप्त होनेपर ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन करावे। अश्वमेधपर्व सम्पूर्ण होनेपर सर्वकामसम्पन्न भोजन प्रदान करे। आश्रमवासिकपर्व समाप्त होनेपर ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन करावे। (६५—६९)

मौसल और महाप्रस्थानिकपर्व समाप्त होनेपर सर्वगुणसम्पन्न गन्धमालानुलेपन प्रदान करे। स्वर्गारोहण पर्व समाप्त होनेपर ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन करावे। हरिवंश समाप्त होनेपर सहस्र ब्राह्मणों-को भोजन करावे और ब्राह्मणोंको निष्कयुक्त एक एक गऊ दान करे। हे राजन्! दरिद्रको इसका आधा दान करना चाहिये; सब पर्वोंके समाप्त होनेपर बुद्धिमान् मनुष्य पाठ करने-वालेको सुवर्णसंयुक्त पुस्तक प्रदान करे। हरिवंश पर्वमें ब्राह्मणोंको पायस भोजन करावे। हे भरतश्रेष्ठ महाराज! प्रति पारणमें शास्त्र जाननेवाला मनुष्य साव-

शुक्लाम्बरधरः स्रग्वी शुचिर्भूत्वा स्वलङ्कृतः ।
अर्चयेत यथान्यायं गन्धमाल्यैः पृथक् पृथक् ॥ ७६ ॥
संहितापुस्तकान् राजन्प्रयतः सुसमाहितः ।
भक्ष्यैर्माल्यैश्च पेयैश्च कामैश्च विविधैः शुभैः ॥ ७७ ॥
हिरण्यं च सुवर्णं च दक्षिणामथ दापयेत् ।
सर्वत्र त्रिपलं स्वर्णं दातव्यं प्रयतात्मना ॥ ७८ ॥
तदर्धं पादशेषं वा वित्तशाठ्यविवर्जितम् ।
यद्यदेवात्मनोऽभीष्टं तत्तद्देयं द्विजातये ॥ ७९ ॥
सर्वथा तोषयेद्भक्त्या वाचकं गुरुमात्मनः ।
देवताः कीर्तयेत्सर्वा नरनारायणौ तथा ॥ ८० ॥
ततो गन्धैश्च माल्यैश्च स्वलङ्कृत्य द्विजोत्तमान् ।
तर्पयेद्विविधैः कामैर्दानैश्चोचावचैस्तथा ॥ ८१ ॥
अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।
प्राप्नुयाच्च क्रतुफलं तथा पर्वाणि पर्वाणि ॥ ८२ ॥
वाचको भरतश्रेष्ठ व्यक्ताक्षरपदस्वरः ।
भविष्यं श्रावयेद्विद्वान् भारतं भरतर्षभ ॥ ८३ ॥

धान होके विधिपूर्वक सारी संहिता समाप्त करके पवित्र स्थानमें क्षौम वस्त्र पहरके सफेद अम्बरमालाधारी उत्तम रीतिसे अलंकृत तथा समाहित होकर पृथक् पृथक् संहिता पुस्तककी गंधमालाके सहारे पूजा करे। भक्ष्य, माला, पीने योग्य तथा विविध पवित्र वस्तुओंके सहित हिरण्य और सुवर्णकी दक्षिणा देवे। वित्तशाठ्यसे रहित तीन पल, इसका अर्ध या चतुर्थ भाग, संयतात्मा होकर सबको दान करना चाहिये। और जो जो वस्तु आपको अभीष्ट है, वह ब्राह्मणोंको प्रदान करें। भक्तियुक्त होकर आपके पाठक और गुरुको संतुष्ट करें। अनन्तर सब देवताओं तथा नर-नारायणका कीर्तन करे; अन्तमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको गंधमालासे अलंकृत करके विविध काम्य विषय तथा अनेक प्रकारके दानसे परितृप्त करे, तो मनुष्यको अतिरात्र यज्ञका फल मिलता है और प्रतिपर्वमें यज्ञका फल प्राप्त हुआ करता है। (७०-८२)

हे भरतश्रेष्ठ! जिससे अक्षर, पद और स्वरोंका स्पष्ट रीतिसे उच्चारण होसके, वैसा विद्वान् पाठक भविष्य-भारत सुनावे। श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके भोजन

भुक्तवत्सु द्विजेन्द्रेषु यथावत्संप्रदापयेत् ।
वाचकं भरतश्रेष्ठ भोजयित्वा स्वलङ्कृतम् ॥ ८४ ॥
वाचके परितुष्टे तु शुभा प्रीतिरनुत्तमा ।
ब्राह्मणेषु तु तुष्टेषु प्रसन्नाः सर्वदेवताः ॥ ८५ ॥
ततो हि वरणं कार्यं द्विजानां भरतर्षभ ।
सर्वकामैर्यथान्यायं साधुभिश्च पृथग्विधैः ॥ ८६ ॥
इत्येष विधिरुद्दिष्टो मया ते द्विपदां वर ।
श्रद्दधानेन वै भाव्यं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ८७ ॥
भारतश्रवणे राजन्पारणे च नृपोत्तम ।
सदा यत्नवता भाव्यं श्रेयस्तु परमिच्छता ॥ ८८ ॥
भारतं शृणुयान्नित्यं भारतं परिकीर्तयेत् ।
भारतं भवने यस्य तस्य हस्तगतो जयः ॥ ८९ ॥
भारतं परमं पुण्यं भारते विविधाः कथाः ।
भारतं सेव्यते देवैर्भारतं परमं पदम् ॥ ९० ॥
भारतं सर्वशास्त्राणामुत्तमं भरतर्षभ ।
भारतात्प्राप्यते मोक्षस्तत्त्वमेतद्ब्रवीमि तत् ॥ ९१ ॥
महाभारतमाख्यानं क्षितिं गां च सरस्वतीम् ।

करनेपर उन्हें विधिपूर्वक दान करना उचित है । हे भरतश्रेष्ठ ! उत्तम रीतिसे अलंकृत वाचकको भोजन कराके परितुष्ट करनेसे उत्तम कल्याणदायिनी प्रीति हुआ करती है । ब्राह्मणोंके परितुष्ट होनेसे सब देवता प्रसन्न होते हैं । हे भरतश्रेष्ठ ! इसलिये सुन्दर तथा विविध सर्व कामके द्वारा न्यायके अनुसार ब्राह्मणोंका भरण करना उचित है। (८३-८६)

हे नरश्रेष्ठ ! यह मैंने तुम्हारे समीप भारतपाठकी विधि कही है, इसलिये तुमने मुझसे जो पूछा था, उस विषयमें श्रद्धावान् होना उचित है । हे नृपवर ! जो लोग परम कल्याण चाहते हैं, उन्हें भारत सुनने तथा पारणमें यत्नवान् होना उचित है । सदा भारत सुने, सदा भारत कहे; जिसके गृहमें भारत रहता है, जय उसके हस्तगत है । भारत परम पवित्र है, भारतमें विविध कथा विद्यमान हैं, देवतालोग भारतकी सेवा करते हैं, भारत ही परम पद है । हे भरतश्रेष्ठ ! भारत सब शास्त्रोंसे उत्कृष्ट है, भारतसे मोक्ष प्राप्त होती है, यह तत्त्व कथा कहता हूं, महाभारत आख्यान, पृथ्वी,

ब्राह्मणान् केशवं चैव कीर्तयन्नावसीदति ॥ ९२ ॥
वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥ ९३ ॥
यत्र विष्णुकथा दिव्याः श्रुतयश्च सनातनाः ।
तच्छ्रोतव्यं मनुष्येण परं पदमिहेच्छता ॥ ९४ ॥
एतत्पवित्रं परममेतद्धर्मनिदर्शनम् ।
एतत्सर्वगुणोपेतं श्रोतव्यं भूतिमिच्छता ॥ ९५ ॥
कायिकं वाचिकं चैव मनसा समुपार्जितम् ।
तत्सर्वं नाशमायाति तमः सूर्योदये यथा ॥ ९६ ॥
अष्टादशपुराणानां श्रवणाद्यत्फलं भवेत् ।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः ॥ ९७ ॥
स्त्रियश्च पुरुषाश्चैव वैष्णवं पदमाप्नुयुः ।
स्त्रीभिश्च पुत्रकामाभिः श्रोतव्यं वैष्णवं यशः ॥९८॥
दक्षिणा चात्र देया वै निष्कपञ्चसुवर्णकम् ।
वाचकाय यथाशक्त्या यथोक्तं फलमिच्छता ॥ ९९ ॥
स्वर्णशृङ्गीं च कपिलां सवत्सां वस्त्रसंवृताम् ।

गऊ, सरस्वती, ब्राह्मणों तथा केशवका कीर्तन करनेसे मनुष्य अवसन्न नहीं होता। (८७—९२)

हे भरतश्रेष्ठ! वेद, रामायण, पवित्र पुराण भारत, आदि, अन्त और मध्यमें हरि सर्वत्र कीर्तित होते हैं। जिस स्थानमें पवित्र विष्णुकथा तथा श्रुति कीर्तित होती है, परमपदकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको उसे अवश्य सुनना चाहिये। यह परम पवित्र है, यही धर्मका निदर्शन तथा यही सर्वगुणसम्पन्न है; इसलिये ऐश्वर्यके अभिलाषी लोगोंको अवश्य सुनना चाहिये। जैसे सूर्यके उदय होनेसे अन्धकार दूर होता है, वैसे ही इसके सुननेसे कायिक, वाचिक और मानसिक सब पाप नष्ट हुआ करते हैं। अट्ठारहों पुराणोंके सुननेसे जो फल होता है, वैष्णव मनुष्य महाभारत सुननेसे वही फल पाता है, इस विषयमें सन्देह नहीं है। (९३—९७)

स्त्रियें तथा पुरुषवृन्द इसे सुननेसे वैष्णवपद प्राप्त करते हैं। पुत्रकी इच्छा करनेवाली स्त्रियोंको यह वैष्णव यश सुनना योग्य है। यथोक्त मानाभिलाषी मनुष्य इसे सुनके पाठ करनेवालेको शक्तिके अनुसार पांच निष्क सुवर्ण मूल्य

वाचकाय च दद्याद्धि आत्मनः श्रेय इच्छता ॥ १०० ॥
अलङ्कारं प्रदद्याच्च पाण्योश्च भरतर्षभ।
कर्णस्याभरणं दद्याद्धनं चैव विशेषतः ॥ १०१ ॥
भूमिदानं समादद्याद्वाचकाय नराधिप।
भूमिदानसमं दानं न भूतं न भविष्यति ॥ १०२ ॥
शृणोति श्रावयेद्वापि सततं चैव यो नरः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो वैष्णवं पदमाप्नुयात् ॥ १०३ ॥
पितॄनुद्धरते सर्वानेकादशसमुद्भवान्।
आत्मानं ससुतं चैव स्त्रियं च भरतर्षभ ॥ १०४ ॥
दशांशश्चैव होमोऽपि कर्तव्योऽत्र नराधिप।
इदं मया तवाग्रे च प्रोक्तं सर्वं नरर्षभ ॥ १०५ ॥ [३००]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्वर्गारोहणपर्वणि
हरिवंशोक्तभारतश्रवणविधावध्यायः ॥ ६ ॥

दक्षिणा देवे। जो लोग अपने कल्याणकी इच्छा करते हैं, वे पाठ करनेवालेको सोनेके सींगयुक्त सवत्सा कपिला गऊ वस्त्र उढाके दान करें। (९८-१००)

हे भरतश्रेष्ठ! पवित्र मनुष्य हाथके अलंकार और विशेष करके कानका आभरण और धन दान करे, हे नरनाथ! पाठ करनेवालेको भूमि दान करे; भूमिदानके समान दान न हुआ और न होगा; जो मनुष्य सदा महाभारत सुनता अथवा सुनाता है, वह सब पापोंसे छूटके वैष्णवपद पाता है, वह ग्यारह पुरुषोंतक पितृलोकका, अपनी पत्नी और पुत्रका उद्धार करता है। हे नरनाथ! महाभारत सुनके दशांश होम करना चाहिये ॥ (१०१-१०५)

हे नरश्रेष्ठ! आपके समीप मेरे द्वारा यह सब वर्णित हुआ। (१०५)

फलश्रुति ६ अध्याय समाप्त।
स्वर्गारोहणपर्व संपूर्ण।

श्लोक-संख्या।

१—१७ महाप्रस्थानिकपर्वके अन्ततक	८३७९५
१८ स्वर्गारोहणपर्व	३००
	८४०९५

स्वर्गारोहणपर्वकी विषयसूची।

स्वर्गारोहणपर्व की विषयसूची समाप्त।